की जीवनधारा

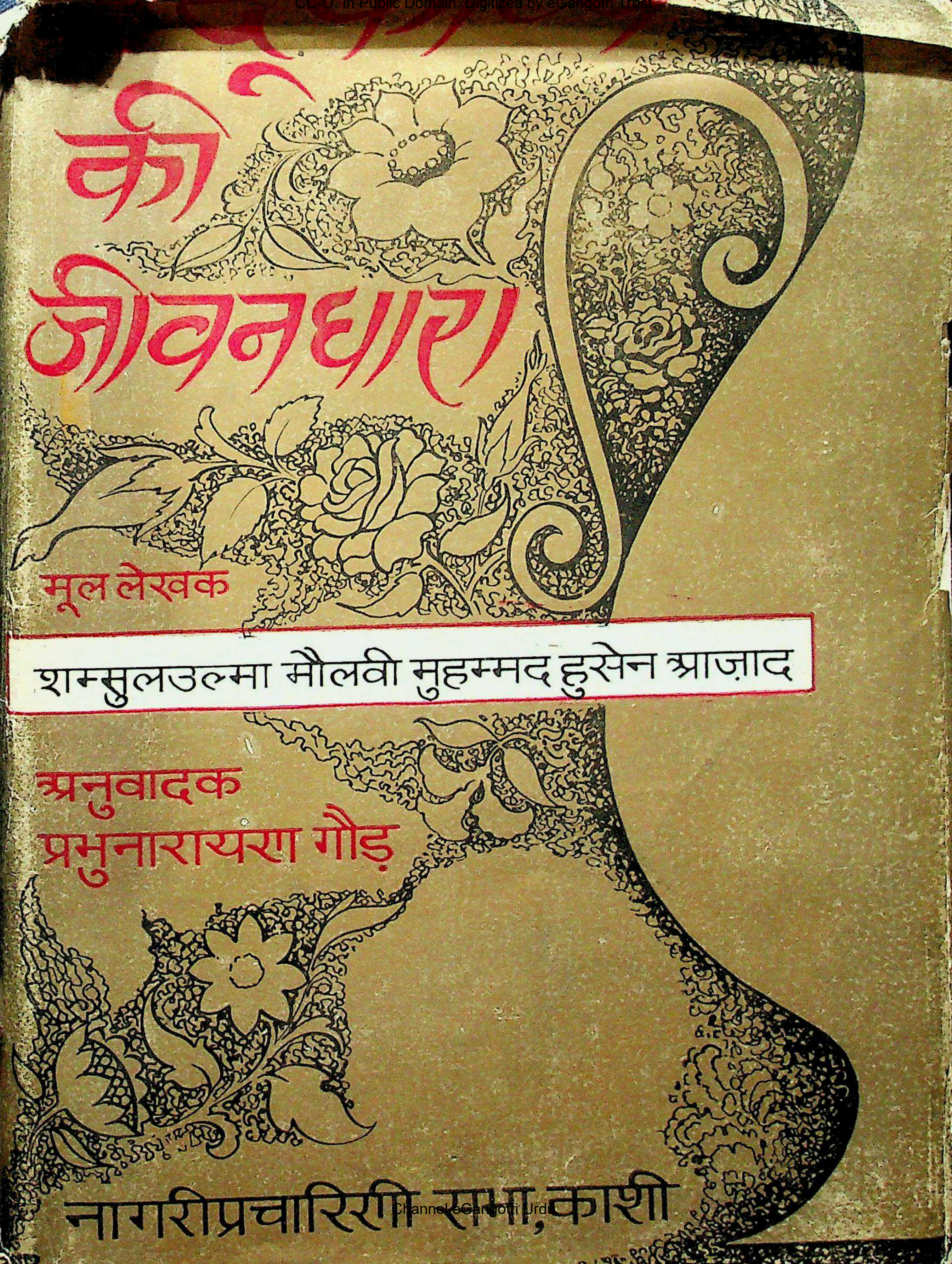

मूल लेखक

शम्सुलउल्मा मौलवी मुहम्मद हुसेन आज़ाद

अनुवादक

प्रभुनारायण गौड़

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

Recd
27/9/84

उर्दू काव्य की जीवनधारा

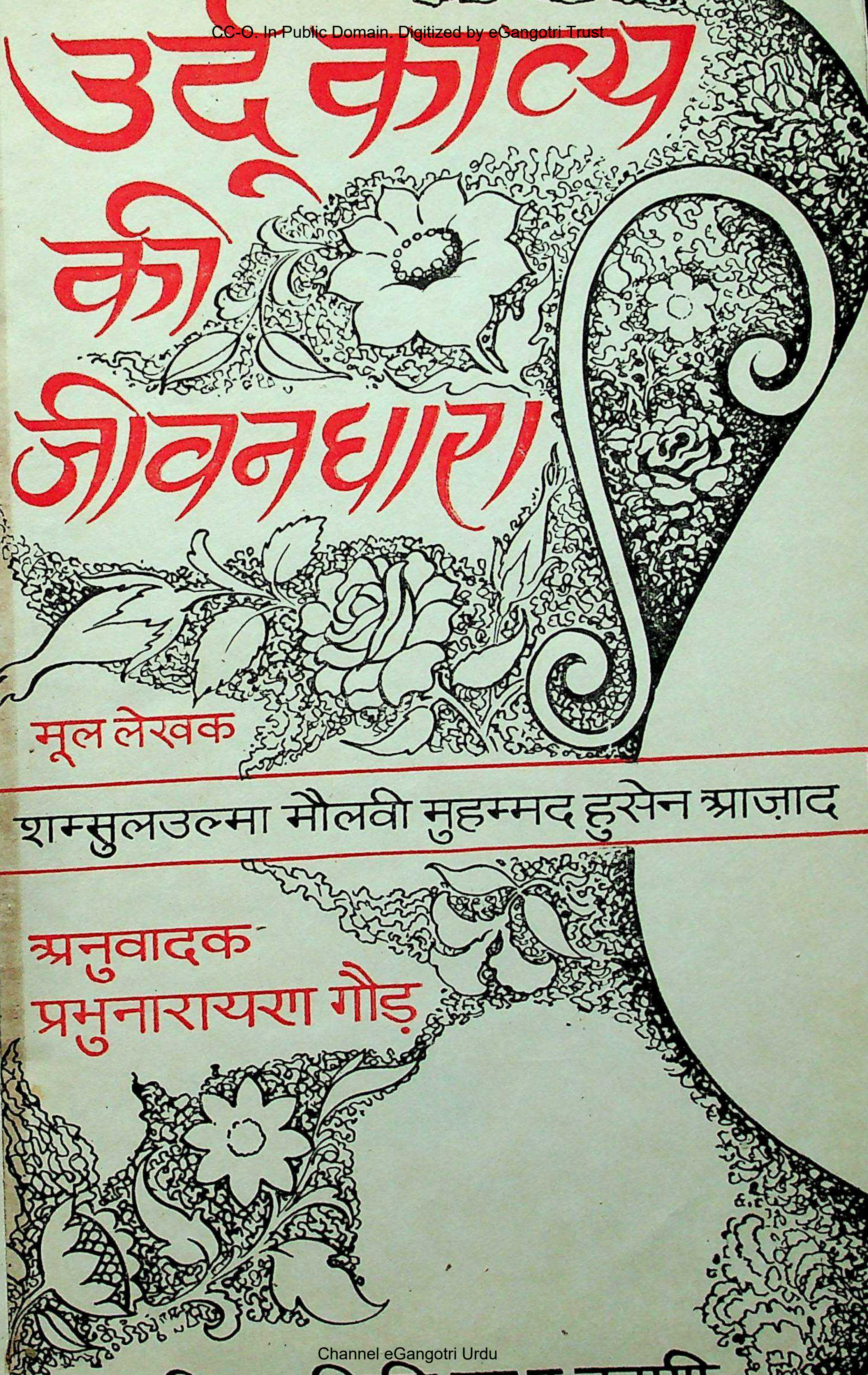

मूल लेखक

शम्सुलउल्मा मौलवी मुहम्मद हुसेन आज़ाद

अनुवादक

प्रभुनारायण गौड़

नागरीप्रचारिणी सभा काशी

नवभारत ग्रंथमाला--३

उर्दू काव्य की जीवनधारा

शम्सुल उलेमा मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद
की अमर कृति 'आबे-हयात'
का
अक्षुण्ण अनुवाद

अनुवादक
प्रो० प्रभुनारायण गौड़

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
मुद्रक : शंभुनाथ वाजपेयी, नागरी मुद्रण, वाराणसी
प्रथम संस्करण : ११०० प्रतियाँ सं० २०३६ वि०
मूल्य : ७५-००

नागरी प्रचारिणी सभा
वाराणसी
संशोधित मूल्य ११८........

प्रकाशकीय

नवभारत ग्रंथमाला की स्थापना सं० १९९९ वि० में कलकत्ता के प्रसिद्ध व्यवसायी श्री सेठ बाबूलाल राजगढ़िया जी द्वारा प्रदत्त १००१ रु० के दान द्वारा हुई थी। श्री राजगढ़िया जी ने इस ग्रंथमाला के लिये अन्य व्यक्तियों से भी सहायता दिलाने का आश्वासन दिया था। परंतु बाद में किसी अन्य व्यक्ति से कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई।

इस ग्रंथमाला में सर्वप्रथम श्री काशीप्रसाद जायसवाल के प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिंदू पालिटी' का हिंदी अनुवाद 'हिंदू राज्यतंत्र' (द्वितीय खंड) के नाम से प्रकाशित हुआ था। इसके पूर्व इस अनुवाद का प्रथम खंड सूर्यकुमारी पुस्तक माला में प्रकाशित हो चुका था। सं० २००९ में श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव की पुस्तक 'आदर्श और यथार्थ' का प्रकाशन हुआ। इन दोनों पुस्तकों के बाद बहुत दिनों तक कोई तीसरा ग्रंथ इस ग्रंथमाला में प्रकाशित नहीं हो सका।

कई वर्ष बाद अब इस ग्रंथमाला में उर्दू के प्रख्यात ग्रंथ 'आबे हयात' के हिंदी अनुवाद 'उर्दू काव्य की जीवनधारा' का प्रकाशन हो रहा है। शम्सुल उलेमा मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आजाद' की यह कृति अपने ढंग की अद्वितीय रचना है। इसमें केवल उर्दू काव्य का ही इतिहास नहीं है, उर्दू भाषा का इतिहास भी है। इसका अनुवाद प्रो० प्रभुनारायण गौंड़ ने किया है। आपने अपने अनुवाद में मूल ग्रंथ की रोचकता एवं मौलिकता को बनाए रखने का सफल प्रयास किया है। हमें आशा है, उर्दू साहित्य की इस अमूल्य निधि का हिंदी जगत् में भी यथेष्ट स्वागत होगा।

करुणापति त्रिपाठी
प्रकाशन मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा,
वाराणसी

विषय सूची

अनुवादकीय भूमिका १
आजाद द्वारा लिखित भूमिका ११
उर्दू भाषा का इतिहास १
ब्रजभाषा पर अरबी और फारसी का प्रभाव १८
उर्दू कविता का इतिहास ५५

उर्दू शायरी का पहला दौर ७१–९८
शम्स वली उल्लाह ७२
शाह मुबारक आबरू ८१
मुहम्मद शाकिर नाज़ी ८९
मुहम्मद अहसन 'अहसन' ९३
गुलाम मुस्तफ़ा खाँ 'यकरंग' ९४
अंतिम शब्द ९८

दूसरा दौर ९९–११७
शाह हातिम १००
सिराजुद्दीन अली 'खाने आरज़ू' १०९
अशरफ खाँ 'फुगां' ११२
अंतिम शब्द ११६

तीसरा दौर ११८
भूमिका ११८
मिर्ज़ा जाने जानाँ 'मज़हर' १२९
सैयद इंशा अल्लाह खाँ और जाने जानां 'मज़हर' की मुलाकात १३३
मिर्जा मोहम्मद रफ़ी 'सौदा' १३९
'सौदा' की कुछ गज़लें १६६
मीर ज़ाहिक १७२
ख़्वाजा मीर 'दर्द' १७४
गज़लें १७९
सय्यद मुहम्मद मीर 'सोज़' १८४
इनके दीवान की कुछ गजलें १९०
मीर मुहम्मद तक़ी 'मीर' १९४
मीर साहिब की ग़ज़लें २१३

चौथा दौर २२४–३३८
भूमिका २२४

शेख़ बुलंदर बख़्श जुर्अत २२६

जुरअ्त की ग़ज़लें २३८

मीर हसन २४८

गजलें २५२

सैयद इंशा अल्लाह ख़ाँ इंशा २६१

मस्नवी शीर बिरंज २७६

शिकारनामा २७७

आशिकाना मस्नवी २७६

विविध रचनाएँ २७६

कशीदः २८३

ग़ज़लें २६६

शेख़ ग़ुलाम हम्दानी मस्हफ़ी ३१०

मस्हफ़ी के क़सीदे और नात ३३२

ग़ज़लें ३३३

अंतिम चरण ३३७

पाँचवाँ दौर ३३६–५२६

भूमिका ३३६

शेख़ इमाम बख़्श 'नासिख़' के जीवन वृत्तांत की भूमिका ३४१

शेख़ इमाम बख़्श 'नासिख़' का जीवन विवरण ३४२

ग़ज़लें ३७२

मीर मुस्तहसन 'ख़लीक़' ३७७

ख़्वाजा हैदर अल्ली 'आतिश' ३८५

ग़ज़लें ३६५

शाह नसीर ४००

ग़ज़लें ४१२

मोमिन ख़ान साहिब 'मोमिन' ४१३

मोमिन ख़ाँ साहिब का जीवन वृत्त ४१४

ग़ज़लें ४२६

मलिकुश शुअरा ख़ाक़ानिए हिंद शेख इब्राहीम 'ज़ौक' ४३३

सामान्य रचना शैली ४६२

आलोचनाएँ ४६४

ग़ज़लें ४८२

नज्मुद्दौला दबीरुलमुल्क मिर्ज़ा असदुल्लाह ख़ाँ 'ग़ालिब' ४८६

मिर्ज़ा साहिब की जीवन परिस्थिति और स्वभाव ४६२

फारसी भाषा में मिर्ज़ा ग़ालिब की रचनाएँ ५०३

सेहरा ५०५
क़ित्अ दर माज़रत ५०८
फारसी शायरी के लतीफे ५०९
फ़ाकामस्ती के लतीफ़े ५१०
कुछ अन्य मनोरंजक लतीफ़े ५११
ग़ज़लें ५१३
मिर्ज़ा सलामतअली 'दबीर' ५२०

उपसंहार ५३०

चित्रावली

प्रो० मुहम्मद हुसेन 'आजाद' १
जनाब अमीर खुसरो 'देहलवी' २
जनाब शम्स वली उल्लाह 'वली' २
जनाब मिर्ज़ा जाने जानाँ 'मजहर' २
जनाब मिर्ज़ा मोहम्मद रफी 'सौदा' २
जनाब ख़्वाजा मीर 'दर्द' ३
जनाब मीर मुहम्मद तक़ी 'मीर' ३
जनाब मीर गुलाम हसन 'हसन' ३
पंडित दयाशंकर नसीम ३
जनाब सैयद इंशा अल्लाह खाँ 'इंशा' ४
जनाब शेख़ गुलाम हम्दानी 'मस्हफी' ४
जनाब शेख़ इमाम बख़्श 'नासिख़' ४
जनाब ख़्वाजा हैदर अली 'आतिश' ४
जनाब हकीम मोमिन ख़ान साहिब 'मोमिन' ५
जनाब शेख़ इब्राहीम 'जौक़' ५
जनाब मिर्ज़ा असदुल्लाह ख़ाँ 'ग़ालिब' ५
जनाब मिर्ज़ा सलामत अली 'दबीर' ५
जनाब मीर बाबर अली 'अनीस' ६

अनुवादकीय भूमिका

शम्सुलउलेमा मौलवी मुहम्मद हुसेन आज़ाद की साहित्यिक रचना 'आबेहयात' उर्दू भाषा की एक अनुपम पुस्तक है। भाषा, भाव और शैली का इतना भव्य संगम न सिर्फ उर्दू भाषा में बल्कि किसी और भारतीय भाषा के साहित्य में मुश्किल से मिलेगा। विषयनिरूपण की रोचकता, भाषा की प्रांजलता, मुहावरों का मौज़ूँ और सुंदर प्रयोग, अपने जमाने के सामाजिक जीवन का सच्चा और जीवंत निरूपण, कल्पनाओं को बुलंद परवाज़ी, प्राकृतिक दृश्यों का मनोहर चित्रण, मानवीय भावनाओं और अनुभूतियों को व्यक्त करने में विलक्षण प्रवीणता--ये सभी गुण जो इस पुस्तक में पाए जाते हैं, वे शायद ही किसी और पुस्तक में मिलें।

ज़ाहिर है कि किसी ऐसी पुस्तक का, जिसकी रचना में इतनी खूबियाँ हों, उसका उसकी मूल भाषा से किसी दूसरी भाषा में तर्जुमा करना एक वैसा ही दुश्वार और दुःसाध्य काम है, जैसे एक ख़ास जलवायु और मिट्टी में उगाए गए किसी सुंदर फूल के पौधे को उसकी फुलवारी से उखाड़कर किसी दूसरी फुलवारी में उगाने की कोशिश करना।

अंग्रेजी के मशहूर कवि शेली ने यूनानी भाषा की कुछ कविताओं का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने की चेष्टा की थी। इस सिलसिले में उन्होंने अपने मायूसी भरे तजुर्बे को बड़े सुंदर शब्दों में ज़ाहिर किया है। वे कहते हैं :—'किसी उम्दा साहित्यिक रचना को अपनी मूल भाषा से किसी दूसरी भाषा में रूपांतरित करना एक वैसा ही बुद्धिहीन प्रयास है, जैसा कि किसी सुंदर वॉयलेट (नीलपुष्प) को एक रासायनिक कुठाली में डाल कर उसके रंग और सुगंध के तत्वों को निचोड़ उन्हें अन्यत्र प्रयोग करने की कोशिश करना'।

वस्तुतः किसी उत्कृष्ट साहित्यिक रचना का पूर्णतः पर्याप्त और उपयुक्त अनुवाद एक असंभव और असाध्य कल्पना है। क्योंकि किसी भी अनुवाद को अपनी अनूदित कृति में अपेक्षित रचना-सौंदर्य और सुष्ठुता का संचार करने के लिये न सिर्फ मूल-रचना के भाषा लालित्य की पुनरावृत्ति करनी पड़ती है, बल्कि उसे एक प्रकार से मूल लेखक के जज़्बातों (भावात्मक) और सौंदर्यबोधात्मक तजुर्बों को भी दुबारा ज़ाहिर करना जरूरी होता है। यह कोई सहज कौशल नहीं है, क्योंकि इस काम को कुशलतापूर्वं अंजाम देने में कई तरह की बाधाएँ और दुश्वारियाँ सामने आती हैं।

सबसे पहली कठिनाई दोनों भाषाओं की भिन्नता की वजह से होती है। ज़ाहिर है कि हरेक भाषा के शब्द-प्रतीक और उनमें निहित आशय अलग अलग होते हैं। इसके अलावा उनके प्रयोग की प्रविधियाँ और उनकी अभिव्यंजन शैलियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं।

फिर भी भाषा संबंधी बाधाओं को पार करना इतना कठिन नहीं है। क्योंकि एक विद्वान् और कुशल भाषा का जानकार ऐसी दुश्वारियों पर किसी हदतक हावी हो सकता है। किसी अनुवादक की वास्तविक कठिनाई तो उसके काम में जो एक तरह की जज़्बाती और दिमाग़ी गुत्थियाँ पड़ती रहती हैं, उनके सुलझाने में होती है। मस्लन, किसी अनुवादक के अवचेतन मानस में लाज़िमी तौर पर एक ऐसी भावना बनी रहती है कि उसकी अनूदित कृति तो मूलकृति की केवल एक छायामात्र है। इसलिये वह कितनी भी बढ़िया हो, मूल कृति से घटिया ही मानी जाएगी। और फिर यह तो मानी हुई बात है कि किसी तर्जुमे की अदबी ज़िंदगी उसके मूल की तुलना में थोड़ी और कम टिकाऊ ही होगी, क्योंकि अनुवाद का मूल्य और महत्व तो अधिकतर सीमित और सामयिक ही होता है। इन कारणों से अनुवादक के मनमें अपने साहित्य प्रयास के विषय में बराबर एक हीनता की भावना सी बनी रहती है।

और, फिर, अनुवाद करने में अनुवादक को ख़ुद अपने मनोगत भावों और दिमाग़ी कैफ़ियतों को ज़ाहिर करने की गुंजायश कम ही होती है। क्योंकि उसका उद्देश्य तो महज़ मूल-लेखक के मानसिक और बौद्धिक उद्गारों को एक भाषा से दूसरी भाषा में रूपांतरण मात्र होता है। इसके लिये उसे अपनी मानसिक क्रियाओं और कल्पनात्मक अनुभूतियों से निरपेक्ष, केवल मूल-लेखक की ही विचारधाराओं और कल्पनाओं की तह तक पहुँचने का प्रयास पर्याप्त होता है। जिन सँकरी और टेढ़ी मेढ़ी बीथियों में मूल लेखक की कल्पनाएँ बिचरी होंगी, उन्हीं में, उसके पदचिह्नों को खोजकर, उनका अनुसरण करना ही उसके लिये अपेक्षित होता है।

वास्तव में बुनियादी तौर पर, अनुवाद-कला को साहित्य-रचना-संबंधी एक अकृतार्थ और कुंठित कला की ही परिभाषा दी जा सकती है। क्योंकि प्रत्येक कला का चरम लक्ष्य किसी अभिलक्षित विषय-वस्तु की वास्तविकता, उसकी बुनियादी हक़ीक़त को उस कला के ज़रिये अदा करना, यानी उसे ज़ाहिर करना होता है। लेकिन अनुवाद कला का अस्लियत या हक़ीक़त से क्या निस्बत? वह तो बस असल की नक़ल, लिपि की प्रतिलिपि, बिंब का प्रतिबिंबमात्र हो सकता है। उसमें अंगूरी शराब की मादकता भले ही हो, पर अंगूर की मिठास कहाँ?

और ग़ज़ब तो यह है कि मूल रचना भी तो एक प्रकार का अनुवाद ही होती है भाव का भाषा में अनुवाद, कल्पनाओं और सौंदर्यपरक अनुभूतियों का शब्द-प्रतीकों में अनुवाद, अमूर्त विचारों को मूर्त शब्दों में अनुवाद। फिर इस मौलिक अनुवाद का एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद? अनुवादानुवाद? कैसा अपरितोषी और तत्वहीन साहित्यिक उपक्रम है यह!

तो आप शायद यह पूछें कि फिर इतनी दुश्वार और मायूसकुन अदबी ज़िम्मेदारी को अंजाम देने की, यानी 'आबेहयात' जैसे बेनज़ीर साहित्यिक रचना के अनुवाद करने की मुझ जैसे अनाड़ी व्यक्ति ने अनधिकार चेष्टा क्यों किया? तो भई

बात तो यह है कि मुझे इंशा परदाजी (साहित्य-सर्जन) के लिये अकसर दिमागी खुजलाहट महसूस होती रहती है, लेकिन बदकिस्मती से मुझे अपने में मौलिक रचना की क्षमता की कमी मालूम होती है। इसलिए मैंने अपने साहित्यिक अभिरुचि को अनुवाद के ज़रिये ही संतुष्ट करने का इरादा किया। आशा है कि उदारमना विद्वज्जन मेरे इस साहित्यिक प्रयास को असल की नकल उतारने या साहित्य का स्वांग भरने, या किसी दूसरे की नाट्य-रचना की भूमिका में अभिनय करने, या अपनी अमौलिकता को एक छद्मावरण से ढकने की अभिलाषा न समझेंगे। गुस्ताख़ी माफ़ हो तो कहूँ कि हमारे कुछेक हिंदी लेखक और कवि जो तथाकथित मौलिक साहित्य-रचना में अपने समय और श्रम का अपव्यय करते रहते हैं, शायरी के शौक में रगेगुल से बुलबुल के पर बाँधते रहते हैं, चाँद की किरनों से कविता की चटाई बुनने की उधेड़-बुन में व्यस्त रहते हैं, छंदहीन, तत्वहीन और अर्थहीन काव्य-रचना में मस्त रहते हैं, या प्रगतिवादिता और यथार्थवादिता की ओट में अश्लील और अर्धश्लील कथा कहानियों को रच कर जनरुचि को दूषित करते रहते हैं, यानी अलूल जुलूल साहित्यिक रचना द्वारा ही एक अमर साहित्यकार होने का दिवास्वप्न देखते रहते हैं, यदि वे अन्य भाषाओं के कुछ चुने हुए गौरव-ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद करते, तो उनकी साहित्यिक अभिरुचि का कहीं अधिक सार्थक और सर्जनात्मक उपयोग होता। हिंदी में साहित्यिक अनुवाद-परंपरा अत्यंत क्षीण रही है। संसार की अन्य प्रमुख भाषाओं की तुलना में हिंदी-साहित्य की हीनता और क्षीणता का एक यह भी विशेष कारण है कि हिंदी-साहित्यकारों ने बहुत कम संख्या में अन्य भाषाओं के परिनिष्ठित और गौरव-ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद करने का प्रयास अथवा चेष्टा की।

अंत में, प्रस्तुत अनुवाद के विषय में जो मेरा निजी रहस्य है, उसे ज़ाहिर करने की कोशिश करूँगा। कहते हैं कि कुछ संवेदनशील व्यक्तियों में एक प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्ति उनके अवचेतन मानस में (किसी योगभ्रष्ट व्यक्ति की योगसिद्धि की जिज्ञासा की तरह) दबी रहती है, जो अनुकूल परिस्थिति पाकर आप से आप उभर आती है। किशोरावस्था में मेरे पितामह स्वर्गीय मुं० रामरतन लाल 'काफिर' जो उर्दू और फारसी के एक अच्छे विद्वान् थे[१] मुझे घर पर उर्दू की तालीम उस वक्त के रस्मियाँ ढंग से, यानी गोश्माली के साथ, दिया करते थे और उसी सिल्सिले में उन्होंने मुझे 'आबेहयात' से वाक़िफयत हासिल कराई। उन्होंने इस किताब को हमें इतने चाव से पढ़ाया कि उनकी आलिमानः, बुज़ुर्गानः और मुहब्बतानः शब्दों की गूंज, उसकी प्रतिध्वनि मेरे अवचेतन मानस में बराबर बनी रही। जीवन के अंतिम

---

[१] उर्दू और फ़ारसी ज़बानों में महारत हासिल करने में कायस्थों की अव्वलियत खुद मुहम्मद हुसेन आज़ाद साहिब ने स्वीकारा है। आबेहयात के शुरू में ही उर्दू की तारीख के सिल्सिले में उन्होंने यह कहा है: "इतना हुआ कि अव्वल कायथ फारसी पढ़कर शाही दफ़्तर में दाखिल हुए और अब इन लफ़्ज़ों को इनके ज़बान पर आने का ज्यादा मौका मिला" —आबेहयात, पृ० १६

शिक्षण काल में जब मैं भागलपुर विश्वविद्यालय में था, वहाँ कुछ उर्दू और फ़ारसी के विद्वानों से घनिष्ठ साहचर्य का अवसर मिला, जिसके परिणामस्वरूप 'आबेहयात' की स्मृति फिर जाग्रत हो गई । उन लोगों से हमें इस ग्रंथ का हिंदी अनुवाद करने में बड़ी प्रेरणा मिली । कभी कभी इस सिलसिले में, ख़ास आबेहयात की चर्चा के लिये हमारे यहाँ निशस्तें भो हुआ करती थीं । इन मेहरबान अदीबों ने मेरे तर्जुमें को सराहा और हिमायत की और इसे अपने पसंदीदगी की सनद दी । इसलिये ख़्वाहिश हुई कि विरासत में मिली इस अमूल्य साहित्यिक कृति से हिंदी-भाषा-भाषियों को भी परिचित कराऊँ ।

मैंने यथासंभव 'आबेहयात' का लफ़्ज़ी अनुवाद करने का प्रयास किया है, लेकिन भला मुहम्मद हुसेन 'आजाद' जैसे कुशल संगीतकार और गायक की स्वर-रचना दूसरे के स्वर में कैसे अदा की जा सकती है ? रचना उनकी, स्वर मेरा, इसका सामंजस्य कैसे हो ? भला उनके स्वर का गांभीर्य और माधुर्य कहाँ से लाता ? मैंने केवल उनके स्वर की याद में अपने स्वर को मिला देने और भुला देने का प्रयास किया है । कहते हैं, आत्मविलोपन भी आत्मानुभूति का, आत्मपरितृप्ति का एक साधन होता है । शायद सच्चे अनुवादक की कला का यही मर्म है ।

इस कारे ख़ैर के शुरू में, जब मैं आबेहयात के तर्जुमे की पेशबंदी ही कर रहा था, मुझसे मेरे एक नीमफ़ारसीदाँ दोस्त ने पूछा, "लालजी, दर ज़बान उर्दू दख़ल अस्त ?" मैंने कहा "खूब दर ज़बान उर्दू दख़्ल ? ई जानिब दर ज़बान हिंदी ख़लल अस्त" । मैं अपनी इल्मी ख़ामियों के बावजूद, हिंदी, उर्दू और उनके मेल, यानी गंगा, जमुना और संगम तीनों में अपने एतिकाद के भरोसे आबेहयात के इस हिंदी तर्जुमें को दोनों जबानों के विद्वानों और अदीबों की ख़िदमत में बड़ी झिझक और इनकसारी से पेश करने को जुर्अत कर रहा हूँ । उम्मीद है कि वे इसकी ख़ामियों के बावजूद इसे क़बूल करेंगे । शायद इस अहम मशग़लएअदबी में मेरी जो सबसे बड़ी दुश्वारी थी, उसका उन्हें भी एहसास होगा । और वह थी, आज़ाद की ज़बादानी, और उसका इज़हार हिंदी की ज़बानी :

उनकी गुफ़्तगू, और हिंदी के हर्फ़
वह शोलाफ़िशानी, यह दरियाए बर्फ़

मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' और 'आबेहयात'

शम्शुलउलेमा मौलवी मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' का जन्म दिल्ली में सन् १८३१ ई० में हुआ । इनके पिता मौलवी मुहम्मद बाक़र दिल्ली के एक प्रसिद्ध और गण्य मान्य नागरिक थे और अपने ज़माने के एक प्रभावशाली विद्वान् और धार्मिक नेता माने जाते थे । उर्दू भाषा का पहला समाचारपत्र 'उर्दू अख़बार' इन्होंने ही दिल्ली में निकाला था । 'आज़ाद' ने अरबी और फ़ारसी की औपचारिक शिक्षा शुरू से पुराने दिल्ली कालेज के ओरिएंटल विभाग में पाई । उर्दू भाषा में काव्य और गद्य रचना

के प्रति अभिरुचि और उसमें अभ्यास का सूत्रपात इनको कालेज के जीवन में ही हुआ। शायरी में अभ्यस्तता और कौशल तो उन्हें शेख इब्राहीम 'ज़ौक़' की सरपरस्ती में हासिल हुआ, जिनके कि ये शागिर्दे रशीद (मुख्य शिष्य) कहे जाते थे।

सन् १८५७ ई० के ग़दर में मौलवी मुहम्मद बाक़र शहीद हो गए और गोरे सिपाहियों ने इनका घर-बार लूट लिया। इस घटना के बाद आज़ाद बेसरो सामानी की हालत में सिर्फ़ अपने उस्ताद 'ज़ौक' का बचाखुचा कलाम लेकर घर से निकल पड़े और वतन छोड़कर दिल्ली से लखनऊ और वहाँ से दकन गए। एक अर्से की अवारागर्दी के बाद सन् १८६४ में इनको लाहौर आना नसीब हुआ और वहाँ ये शिक्षा-विभाग के दफ़्तर में पंद्रह रुपए माहवार पर मुलाज़िम हो गए। यहाँ इनके एक सरपरस्त राय बहादुर प्यारेलाल की सिफ़ारिश और शिक्षा-विभाग के निदेशक मेजर फुलर की गुणग्राहकता के कारण इनकी पदोन्नति हुई और इन्हें अपने साहित्यिक क्षमताओं को मान्यता प्राप्त कराने का अवसर मिला। उस समय पंजाब में अंग्रेज सरकार की ओर से एक पत्रिका प्रकाशित की जाती थी। आज़ाद ने कुछ दिनों इस पत्रिका के उपसंपादक का काम किया। सन् १८६६-६७ में इन्हें पंजाब गर्वनमेंट के मीर मुंशी पंडित मनफूल के साथ काबुल और बदख़्शाँ जाने का सुअवसर मिला। लौटने के बाद ये लाहौर के गर्वनमेंट कालेज में अरबी के प्रोफेसर हो गए। सन् १८८६ में ये एक बार विदेश यात्रा पर फिर गए। इस बार इनको ईरान का सफ़र करना पड़ा, जिसकी चर्चा इनकी एक रचना 'सखुंदाने फ़ारस' में पाई जाती है। विदेशों में कई बार भ्रमण के कारण इन्हें अरबी, फ़ारसी और इनसे संबंधित भाषाओं के अलग अलग और तुलनात्मक अध्ययन का बहुमूल्य अवसर मिला, जिससे इनकी भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक प्रतिभा और निखार पर आ गई।

उसी समय लाहौर में उर्दू-साहित्य के प्रोन्नति के लिये 'अंजुमने पंजाब' नाम की एक संस्था स्थापित हुई। इसी संस्था ने उर्दू कविता में मुशायरे की बुनियाद डाली। इस संस्था की गतिविधियों में 'आज़ाद' और इनके एक समसामयिक और लब्धप्रतिष्ठ शायर मौलाना 'हाली' ने बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान दिया। जिसके फलस्वरूप उर्दू-साहित्य, विशेषकर उर्दू-शायरी के इतिहास में एक नए अध्याय का शुभारंभ हुआ। मौलाना हाली 'मजमूए नज़्म हाली' के दीबाचः में लिखते हैं :—

'सन् १८७४ में जब राक़िम पंजाब गर्वनमेंट बुकडिपो से मुतअल्लिक और लाहौर में मुक़ीम था, मौलवी मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' की तहरीक और कर्नल हालरौयड, डाइरेक्टर, सरिश्ते तालीम पंजाब, की ताईद से 'अंजुमने पंजाब' ने एक मुशायरा क़ायम किया, जो हर महीने एक बार अंजुमन के मकान में मुनअक़िद होता था। इन मुशायरों का मक़सद यह था कि एशियाई शायरी, जो कि दर्दइश्क और मुबालग़ः की जागीर हो गई थी, उसको जहाँ तक मुमकिन हो वस्अत दिया जाय।'

इन मुशायरों में आज़ाद ने स्वयं अपनी कुछ नए ढंग की और प्रगतिवादी कविताएँ जैसे 'शबेकद्र' 'मौसिमें-ज़बिस्तां', 'सुब्हे उम्मीद', हुब्बेवतन' इत्यादि प्रस्तुत की। ये कविताएँ 'आज़ाद' के दिवानों में अभी भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार आहिस्तः आहिस्तः 'आज़ाद' की गिनती उर्दू-साहित्य के अग्रणियों में होने लगी।

सन् १८८७ ई० में मलिका विक्टोरिया की पहली जुब्ली के अवसर पर आपको बृटिश गर्वनमेंट की ओर से 'शम्शुले-उलेमा' की पदवी अता दी गई।

'आज़ाद', सर सय्यद, हाली, नज़ीर अहमद और शिब्ली के साथ उर्दू के साहित्य के पंचभूतों में एक महत्वपूर्ण तत्त्व माने गए हैं। इन्होंने आजीवन उर्दू भाषा और साहित्य की सेवा एक धार्मिक और पुनीत कर्तव्य की भाँति संपन्न किया और इसमें कोई संदेह नहीं कि अपने ज़ौक और लगन के कारण इन्होंने उर्दू के दामन को नए इल्मी ख़ज़ानों से मालामाल कर दिया। 'आज़ाद' की मृत्यु सन् १९१० में लाहौर में हुई।

'आबेहयात' †

आज़ाद ने अनेक उत्कृष्ट साहित्यिक ग्रंथों की रचना की। किंतु एक लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक के रूप में उनकी शुहरत चार पुस्तकों पर आधारित है। वे हैं: "सुखुंदाने फ़ारस"; "दरबारे अकबरी", "नैरंगे ख़याल" और "आबेहयात"। इन चारों में भी जितनी ख्याति 'आबेहयात' को मिली, वह इनकी किसी अन्य पुस्तक को नहीं मिली। उर्दू-साहित्य और ख़ासकर उर्दू-शायरी के इतिहास और आलोचना विषयक पुस्तकों में आबेहयात ही सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है।

'आबेहयात' उर्दू के शायरों और उर्दू शायरी का पहला तज़्किरः है, जिसमें इसके लेखक ने उर्दू शायरी का उसकी आरंभिक काल से मौजूदः ज़माने तक निश्चित काल-विभाजन करके प्रत्येक काल की भाषा और शायरी की विशिष्टता का विवरण देते हुए उस ज़माने के नामी शायरों के जीवनचरित्र का इतने रोचक ढंग से वर्णन किया है कि उनकी चलती-फिरती, बोलती-चालती तस्वीरें पढ़ने वालों के सामने आ जाती हैं। और साथ ही उस ज़माने का जन-जीवन और सामाजिक वातावरण भी नज़रों में फिर जाता है, जिसमें उनकी शायरी पनपी और फूली फूली। आबेहयात की यह ख़ूबी उर्दू के किसी और साहित्यिक इतिहास में नहीं पाई जाती।

इसमें कोई शक नहीं कि आबेहयात के ज़रिए आज़ाद ने उर्दू के पुराने शायरों को नई ज़िनगी दी, उर्दू में अदबी तज़्किरों की रचना के पुराने लचर ढर्रे को बदला और सही मानी में भविष्य के लिये उर्दू-भाषा के मुतल्लिक़ अदबी छानबीन और साहित्यिक इतिहासकारिता के प्रवर्तक हुए।

† आबेहयात का एक संक्षिप्त किंतु विद्वता मूल्यांकन प्रो० सय्यद मसूद हसन रिज़्वी द्वारा लिखित 'आबेहयात का तनक़ीदी मुताल:' किताबनगर, लखनऊ से प्रकाशित हुआ है।

इसके अलावा आबेहयात में और जो कई मार्के की खूबियाँ पाई जाती हैं उनका ज़िक्र इस प्रसंग में कर देना मौज़ूँ और मुनासिब होगा।

उर्दू-भाषा ने फारसी-साहित्य-रचना से जो लाभ उठाए, उसका. जिक्र करते हुए आबेहयात ने ही पहलेपहल फ़ारसी भाषा के अतिरंजित और अति काल्पनिक साहित्यिक शैली के अनुकरण को ग़ल्ती से बचने की ओर उर्दू साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित किया। उस ज़माने का उर्दू-गद्य-साहित्य-रूपकों और अत्युक्तियों की बहुतायत से बोझिल हो रहा था। इसमें सादगी और स्वाभाविकता का संचार करने में आबेहयात को ही श्रेय दिया जा सकता है। आज़ाद ने फ़ारसी साहित्यिक शैली की कृत्रिमता और औपचारिकता और हिंदी साहित्य-रचना शैली की नैसर्गिक सरलता और सुबोधता की तुलना कर उर्दू गद्य के सुधार की आवश्यकता सुझाई।

अज़ाद ने न केवल उर्दू की गद्य-रचना की शैली में संशोधन की ओर ध्यान दिलाया, बल्कि इसके साथ साथ हिंदी और उर्दू दोनों के पारस्परिक संबंध के तत्वों पर ज़ोर देकर उर्दू में साहित्य-रचना का एक नया मार्गदर्शन किया। आज़ाद के अनुवर्त्ती साहित्यकारों की शैली में उनके इस. इस्लाह की साफ झलक दिखाई देती है।

उर्दू गद्य की तरह इस भाषा की शायरी के तर्ज़ में भी आवश्यक परिवर्तन लाने का 'आबेहयात' को श्रेय है। उर्दू-शायरी और विशेष कर उर्दू-ग़ज़ल जो ज्यादातर आशिकाना मज़मूनों पर ही हुआ करती थी, उसके सामान्य दोषों और उसकी रचना-शैली की त्रुटियों पर सबसे पहले आज़ाद ने ही ध्यान आर्कषित किया। उर्दू-साहित्यकारों ने फ़ारसी-साहित्य की परंपरा को अपना कर और अपनी शायरी को अधिकांशतः उसी का अनुकरण करने में अपनी स्वतंत्र प्रगति में जो बाधा पहुँचाई उसपर भी आज़ाद ने ज़ोर दिया।

इसमें कोई संदेह नहीं कि आज़द के इन सुधारवादी विचारों का उर्दू-साहित्यकारों पर काफी प्रभाव पड़ा और उनकी और साथ साथ मौलाना हाली, इक़बाल, और अकबर की बदौलत उर्दू-शायरी में युग-परिवर्तन का आभास दिखाई देने लगा और गुलशन के तमाशे, बुलबुल की फ़रियाद, महफ़िल की आफ़त, और क़ब्र और कफ़न के नज़्ज़ारों से हट कर उर्दू शायरी में स्वाभाविकता और यथार्थता का संचार होने लगा और उनके समय से अनेक उर्दू गद्य और पद्य के रचयिता समसामयिक विषयों को भी साहित्य-रचना का आधार बनाने लगे।

आबेहयात ने उर्दू शायरी में एक और भी मौलिक सुधार की ओर ध्यान आकृष्ट किया। आज़ाद ही ने पहलेपहल आबेहयात में इस बात पर ज़ोर दिया कि उर्दू के साहित्यकार उर्दू की शायरी को केवल विनोदप्रियता का साधन न समझें, बल्कि उसे अपनी सामाजिक, सांस्कृति और राजनैतिक व्यवस्था के लिये भी एक उपयोगी साधन बनाएँ। इस संबंधमें उन्होंने उर्दू-साहित्य की प्रचलित परंपरा को त्याग देने की सलाह दी।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि आबेहयात को ही उर्दू शायरों की जीवनी और उनकी शायरी को एक सुसंबद्ध और क्रमिक इतिहास के रूप में प्रस्तुत करने वाली पहली रचना कहे जाने का श्रेय दिया जा सकता है। लेकिन यह ग्रंथ कोरा साहित्यिक इतिहास अथवा आलोचनात्मक विवरण नहीं है। आबेहयात में आज़ाद ने उर्दू-साहित्य का इतिहास और उर्दू शायरों और शायरी-संबंधी विवरण पेश करने के साथ साथ शायरों की समसामयिक परिस्थिति, विशेष कर उसके बौद्धिक और इल्मी पक्ष का ऐसा यथार्थ नक्शा खींचा है, जैसा अन्य किसी पुस्तक में उपलब्ध नहीं। आबेहयात में आज़ाद जिस जिस ज़माने की शायरी और उसके प्रमुख शायरों की चर्चा करते हैं, उस वक्त का समा एक कुशल चित्रकार की भाँति चित्रण करते हैं। आज़ाद ने उन दृश्यों के शब्दचित्र इस तरह खींचें हैं कि वहीं समय और उसी समय के लोग हमारी आँखों के सामने आ मौजूद होते हैं। हम जिस युग का हाल पढ़ते हैं, मानों उसी युग में पहुँच जाते हैं। और उसके मुशायरों और अन्य साहित्यिक गोष्ठियों में भाग लेते हैं। उस युग के लब्धप्रतिष्ठ शायरों को चलते-फिरते, हँसते-बोलते देखते हैं। उनकी ज़बान समझते हैं। साहित्यिक और सांस्कृतिक चित्रण में ऐसी कुशलता उर्दू के किसी और लेखक में नहीं पाई जाती।

मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' ने अपने अमर कृति 'आबेहयात' के द्वारा न केवल अपने पूर्वज और समसामयिक उर्दू-शायरों का एक अत्यंत रोचक जीवन-वृत्त लिखकर उनके स्मृति-चित्रों को अमिट बनाया, बल्कि उर्दू-साहित्य-संबंधी अपने स्वस्थ समीक्षात्मक विचारों द्वारा उर्दू-साहित्यकारों का प्रभावकारी मार्ग-दर्शन भी किया। आज़ाद एक स्पष्ट वक्ता और स्वतंत्र विचारों वाले साहित्यकार थे और उन्होंने जो कुछ लिखा निरपेक्ष भाव से लिखा। इसलिये कुछ संकीर्ण विचार वाले और पक्षधर अदीबों ने आबेहयात की अनुदार आलोचनाएं भी कीं। कुछ ने तो आबेहयात में दिए गये शायरों के जीवन-संबंधी विवरणों को आज़ाद के क़यासी तोता मैंना तक कह डाला और उन्हें मनगढंत अफसानों की परिभाषा दी। खेद की बात तो यह है कि बहुत से उर्दू अदीब उर्दू भाषा को मुसलमानों की एक दीनी और एख़लाक़ी विरासत समझने की गल्ती करते हैं और उसे किसी तरह की हिंदी या हिंदुस्तानी मिलावट से बचाना चाहते हैं। आज़ाद ने स्पष्ट शब्दों में ब्रजभाषा को ही उर्दू भाषा का उद्गम कहा है और इस प्रकार उर्दू और हिंदी के घनिष्ठ पारस्परिक संबंध का प्रमाण दिया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आज़ाद ने उर्दू वालों को विदेशी कृत्रिम परंपरा त्याग कर भारतीय सरलता और स्वाभाविकता को अपनाने का अनुरोध किया। ये बातें कुछ पूर्वाग्रही, संकीर्ण दृष्टि वाले और तंग ज़र्फ़ उर्दू अदीबों को नहीं जँचती और इसी कारण बहुत से उर्दू वाले आबेहयात के ऐसे उत्कृष्ट ग्रंथ को उचित मान्यता देने का विरोध करते हैं। फिर भी इंसाफ़पसंद उर्दू के अदीब अभी भी उसे अपनी विरासत का एक अनमोल रतन समझते हैं और ख़ुद आज़ाद को एक अदबी बुज़ुर्ग की हैसियत से परस्तिश करते हैं।

आज़ाद की यह दिली ख्वाहिश थी कि उर्दू और हिंदी, जो एक ही परिवार की बहनें हैं, और जो एक दूसरे बिछुड़ सी गई हैं, एक दूसरे से फिर मिल जाएँ और उनके संबंध और घनिष्ट हो जायँ। आशा है कि आबेहयात के इस हिंदी अनुवाद के ज़रिये हिंदी भाषी न केवल उर्दू के शायरों, उनकी शायरी और उसकी सांस्कृतिक भूमिका से और अधिक परिचित हो सकेंगे, बल्कि किसी अंश में इस अनुवाद के द्वारा आज़ाद के उपर्युक्त कामना की पूर्ति भी हो सकेगी।[३]

आभासरोक्ति

प्रस्तुत अनुवाद आभारोक्ति पूर्णत: मेरा निजी प्रयास है। इसलिये इसमें जो कुछ ग़लतियाँ या खामियाँ हैं, उनका मैं अकेला जिम्मेदार हूँ। हाँ, अनुवाद-क्रम में, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, कुछ महानुभावों ने प्रोत्साहित कर और आशीर्वचन प्रदान कर हमें अनुगृहीत, किया। इनमें भागलपुर विश्वविद्यालय के प्रो० सदरुद्दीन, डा० मुज़फ़्फ़र इक़बाल और प्रो० लुत्फुर्रहमान विशेष उल्लेखनीय हैं। उनका मैं आभारी हूँ। हमारे मित्र और हमारे जिस्मानी और दिमागी सेहत के मुहाफ़िज़ हकीम मुश्ताक अहमद 'गुबारभाट्टी' ने भी इस तर्जुमें की सरसरी तौर से नज़रसानी करके हमें कुछ सुझाव दिए, जिसके लिए हम उनके खासतौर से मश्कूर हैं।

इस आभारोक्ति के साथ हम अपने मोहतरम हमवतन, उर्दू और हिंदी दोनों के एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान्, श्रद्धेय प्रो० एहतशाम हुसैन के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना चाहेंगे, जिन्होंने भी इस अनुवाद के कुछ अंशों को सुन कर इसे बहुत सराहा था और इसके पुनरावलोकन के लिए हमने उन्हें पाण्डुलिपि भी सुपुर्द कर दी थी। लेकिन हमारे दुर्भाग्यवश वे हमारे बीच न रहे। ईश्वर उनकी दिवंगत आत्मा को चिर शांति प्रदान करें।

––प्रभुनारायण गौड़

आज़ाद द्वारा लिखित भूमिका

मेरे पूर्वज फ़ारसी भाषा भाषी थे और उस भाषा के अच्छे विद्वान् भी थे। किंतु लगभग सौ वर्षों से मेरे घरवालों की भाषा उर्दू है। भाषात्मक अनुसंधान और खोजबीन में रुचि और प्रवृत्ति मेरी कुल-परंपरा रही है। गत कुछ वर्षों से ऐसा लग रहा है कि इस देश में उर्दू भाषा अब बराबर प्रगतिशील दिशा की ओर बढ़ रही है। ऐसा लगता है कि यह संसार की आधुनिक उन्नत भाषाओं की परिधि के निकट आती जा रही है और धीरे-धीरे उनके समकक्ष प्रतिष्ठा पाने का प्रयास कर रही है। एक दिन इन्हीं विचारों में मग्न मैं अपनी कल्पनारूपी नेत्रों के सामने मानो एक चलचित्र देख रहा था कि इस भाषा का कैसे आविर्भाव हुआ, कैसे यह पग-पग आगे बढ़ी, और कालोपरांत कैसे आज यह इस मंजिल तक पहुँची। कैसे आश्चर्य की बात है कि एक बच्चा शाहजहानी बाज़ार में फिरता मिले, शायर उसे अपनी गोद में उठा लें, और देश की भाषा रूपी दूध से उसको पोसें, उसका लालन पालन करें और अंत में नौबत यहाँ तक पहुँचे कि वही बच्चा इस देश के साहित्य-साम्राज्य पर अपना आधिपत्य जमा ले।

इसी चिंतनशील वृत्ति में मैं यह भी देख रहा था कि कैसे कैसे प्रत्येक युग में इस भाषा में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहा। प्रत्येक युग के उन विद्वानों और कुशल साहित्यकारों की जीवन-दृश्य भी आँखों के सामने से गुज़रे, जिनके रुचि-लालित्य और शैली-कौशल ने इस बच्चे की अँगुली पकड़ कर इसे पग-पग आगे बढ़ाया और धीरे-धीरे इस संमानित स्थान तक पहुँचाया, जहाँ अब वह आसीन है। यह साफ़ दिखाई दिया कि प्रत्येक युग में इसके परिवेश में परिवर्तन होता रहा, उसका रंग रूप बदलता रहा और इसके कुशल अभिभावक समय समय पर अपनी शैली की रुचिरता और शब्दों के सुंदर प्रयोग के द्वारा इसे सुधारते और सँवारते रहे। इस दृश्य-परिवर्तन में पाँच युगों के समारोह मेरी नज़र के सामने आए, जिन्हें उन युगों के शायरों और साहित्यकारों ने आयोजित किया और सजाया। ये समारोह एक के बाद एक आँखों के सामने गुज़रे। एक एक युग के बाद दृश्य बदला और दूसरे दृश्य ने अपना नया रंग जमाया। यहाँ तक कि यह पाँचवाँ समारोह भी आ पहुँचा, जो इस वक्त हमारी आँखों के सामने से गुजर रहा है।

हर एक समारोह के अध्यक्ष और आगंतुकों पर भी नज़र डाली और यह देखा कि प्रत्येक युग के लोगों की चालढाल, बोलचाल, वेषभूषा सभी जुदा जुदा थीं। किंतु वे सभी इसके लिये लालायित थे कि इस भाषा रूपी बालक को कैसे सुसंस्कृत और सुरुचिसंपन्न बनाएँ और कैसे उसका सौंदर्य निखार पर लाएँ। बल्कि वे सभी इस दायित्व को अपना एक पावन कर्तव्य समझते थे। इन समारोहों में भाग लेने वाले इन महानुभावों के स्वागत के लिये बड़ी प्रतीक्षा से अपनी पलकें बिछाए रहते थे और उनके भाषा-संबंधी सुधारों को अपने सर आँखों पर रखते थे।

उर्दू भाषा रूपी इस बच्चे का हर समारोह में एक नया ही आकार-प्रकार दिखाई दिया। कभी तो वह बालक, कभी किशोर और कभी प्रौढ़ युवक के रूप में सामने आया, किंतु उसके प्रत्येक जीवनकाल में ऐसा प्रतीत होता था कि वह देखता था तो बस अपने सरपरस्तों की ही आँखों से, और बोलता था तो उन्हीं की ज़बान में।

ग़रज़ कि इस भाषा के रंग में उस समय की बोलचाल, तौरतरीक़े, बल्कि वे सभी आचार व्यवहार, सारी संस्कृति दिखाई देती थी, जिसमें इस बच्चे का सारा जीवन गुज़रा और जिसके आधार पर इसकी जीवनचर्या में परिवर्तन होता रहा। उन समारोहों की मनोरंजक घटनाएँ, उनके नायकों की आपसी नोक-झोंक और प्रतिद्वंद्विता, जिसने उनके औपचारिक पारस्परिक व्यवहार का परदा हटाकर उनके असली जौहर दिखलाए, उनके उन्मुक्त विचार और भावनाएँ, उनकी समयोचित प्रेरणाएँ और विवशताएँ, उनकी प्रवृत्तियों का लालित्य, रुचियाँ आवेग, उनमें कहीं ऊष्मा कहीं आद्रता, कहीं गर्मी, कहीं नमी, कहीं हर्ष, कहीं विषाद—यह सब बातें दृष्टिगोचर हुईं। मानो मेरी आँखों में एक ऐसा अद्‌भुत आँजन लगा हो कि वही समय और उसी समय के लोग मेरी नज़रों के सामने गुज़र रहे हों और मैं उन्हें देख रहा हूँ।

चूँकि मेरा, बल्कि मेरी ज़बान का भी ऐसे ही महानुभावों की सेवा में लालन-पालन हुआ था इसलिये इन विचारों से मन में इतना उल्लास होता था कि इस भावुक आवेग को न मैं कह कर न लिख कर व्यक्त कर सकता हूँ। लेकिन इस विचार से एक हीनता सी महसूस हुई कि जिन जौहरियों से ये जवाहिरात मुझे प्रसाद की तरह मिले, उनमें से बहुतेरे तो पंचमहाभूत में मिल गए। जो लोग जीवित हैं वे मंद दीपों की तरह ऐसे वीरानों में पड़े हैं कि इनकी शिखाओं को फिर से प्रदीप्त करने और इनसे रोशनी पाने की किसी को परवा नहीं। मेरे मन में यह आशंका हुई कि उर्दू के पुराने शायरों के काव्य-कौशल का विवरण और जीवन-दशा की घटनाएँ जो अभी तक लोगों की ज़बानों पर केवल किंवदंतियों के रूप में चली आ रही है, कुछ दिनों के बाद एकदम विस्मृत हो जाएँगी। सच तो यह है कि ये बातें तो शायद कहानियों की तरह लोगों को याद रहें, किंतु हमारे पूर्वज शायर हमारी स्मृति में केवल नाम के शायर रह जाएँगे और उनके साथ उनकी ज़िंदगी या उनकी शायरी के ऐसे कोई सही चर्चे न मिलेंगे, जो हमारे बाद आनेवाली पीढ़ी श्रद्धा और विश्वास से स्वीकार करे। अभी तक उनकी जो रचनाएँ उनकी यादगार के रूप में मौजूद हैं और जो केवल उनके दीवान की शक्ल में बाज़ारों में बिकती फिरती हैं, उनमें उनके जीवन-दशा की कोई चर्चा नहीं मिलती। इसलिये वे इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकते और न ही उनके ज़माने का आलम हमें इस ज़माने में दिखा सकते हैं। और उनमें जब यही नहीं तो कुछ भी नहीं।

सच तो यह है कि 'सौदा' और 'मीर' जैसे बुज़ुर्गों के लिये जो श्रद्धा और आदर का भाव हमारे दिलों में है, वह नई पीढ़ी के लोगों के दिलों में नहीं। अगर

आप इसकी वजह पूछें तो जवाब यही है कि आजकल के लोगों को उनके व्यक्तित्व उनकी जीवन-दशा के और उनके जीवनकाल की घटनाओं के बारे में जिनसे उनकी शायरी संजोई और सँवारी गई कोई वाक़िफ़यत नहीं है। और सच पूछो तो इन्हीं खूबियों के आधार मिर्जा रफ़ी और मीर तक़ी 'सौदा' और 'मीर' के तख़ल्लुस से समाहत हुए। वर्ना ये लफ़्ज़ी तख़ल्लुस तो जिसका जी चाहे रख ले। वर्ना लफ़्ज़ी तौर पर 'सौदा' के मानी है पागलपन और 'मीर' 'ताश के पत्ते' को कहते हैं।

मेरे दोस्तो, ज़िंदगी के माने केवल खाना-पीना, चलना-फिरना, सो रहना और मुँह से बोले जाना नहीं है। ज़िंदगी के माने तो यह है कि आदमी में जो खास गुण हों, उनके ज़रिए लोगों में वह ऐसी ख्याति प्राप्त करे, जिससे उसके ज़िंदगी की यादगार अमिट हो जाय। अब आप इंसाफ़ करें कि क्या यह कम अफ़सोस की बात है कि हमारे सुयोग्य पूर्वज, जिन्होंने अपने गुणों से हमें इतना लाभ पहुँचाया और वे गुण ऐसे जो अमरता के रस से भीने हों, फिर भी उनके कीर्तिमय जीवन की उपलब्धियों से कोई परिचित न हो। वे पूर्वज जो ऐसे प्रतिष्ठित पूर्वज हों, जिनके साहित्यिक प्रयासों से हमारे देश में प्रचलित भाषा के प्रत्येक शब्द और प्रत्येक अक्षर ऋण से लदे हों। ऐसे बुजुर्गों की कृतियों को इस गुमनाम दशा में छोड़ देना कैसे शर्म की बात है और हमारे लिये यह कितनी कृतघ्नता है। सच तो यह है कि उनकी वह मौत, जिस पर उनके बाल बच्चों और घरवालों ने चार आँसू बहाए, उनका मरना न था। उनकी असल मौत तो उनके साहित्यिक कौशल-संबंधी बातों और तज्किरों के भुला देने में है। और उनकी इस प्रकार की मृत्यु हम लोगों के लिये वास्तव में एक अत्यंत दुःख और लज्जास्पद बात होगी।

ऐसे विद्वान और गुनी बुजुर्गों की जीवनियाँ, उनके आचार-व्यवहार, उनकी गति-प्रगति का विवरण प्रस्तुत करने से मानों वे हम लोगों कि आँखों के सामने भी फिर जी उठेंगे। और उनके अनुकरण से हमें दुनिया के टेढ़े और पेचीदा रास्तों से बचकर चलने और स्वयं अपने जीवन को उन्हीं की तरह प्रशस्त बनाने के लिये मार्ग-निर्देशन भी मिलेगा।

हमारे नवोदित साहित्यकार और विद्वान् जिनके दिमाग़ों में आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा का प्रकाश पहुँच रहा है। वे यह कहते हैं, और सही कहते हैं, कि हमारे पुराने शायरों के साहित्यिक विवरणों से न किसी शायर के जीवन के संबंध में कोई बात मालूम होती है और न उनके आस्थाओं और स्वाभाविक विचार अथवा प्रवृत्तियों का ही पता चलता है। और न ही उनकी रचनाओं की विशिष्टताएँ अथवा उनके गुण और दोष की कैफ़ियत ही खुलती है। और न यह मालूम होता है कि उनमें और उनके समकालीन शायरों में किन किन बातों में समरूपता या सामंजस्य था। कितना आश्चर्य है कि उन वृत्तों से उन शायरों के जन्म और मृत्यु की तारीखों तक का पता नहीं चलता। इन लोगों के इस प्रकार के एतराज़ बिल्कुल न्यायोचित और सही हैं। किंतु बात यह है कि इस प्रकार की जानकारी चाहे तो

उन शायरों के परिवार के लोगों से मिल सकती है या उन लोगों से मिल सकती है, जिन्हें उनके साहचर्य और संपर्क का सुअवसर मिला हो। किंतु इनमें से बहुतेरे तो ज़माने के उलट फेर से निराश और निरुत्साह होकर साहित्यरचना में अपनी रुचि खो बैठे हैं और कुछ का यह विचार है कि विद्या और ज्ञान का तात्विक रूप और साहित्य-रचना के ढंग, उनकी विधाएँ, परिवर्तनशील जनजीवन के अनुभवों के अनुसार दिनोंदिन बदलती रहती हैं। अरबी और फ़ारसी में तो इस प्रकार के परिवर्तन और प्रगति का रास्ता कुछ अरसे से रुका हुआ सा है। जबकि अंग्रेजी भाषा ने मानों अपने उन्नतिशील और संपन्न भंडार का एक नया तिलिस्म ही खड़ा कर दिया है। यह समझते हुए भी शुरू शुरू में बहुत से ख़ांदानी लोग अपनी औलाद को अंग्रेज़ी पढ़ाना एक गुनाह समझते थे और हमारी पहले की साहित्यिक रचना का कुछ ढंग भी ऐसा होता था कि पुस्तकों में साहित्यकारों के निजी जीवन संबंधी बातों को न कोई महत्व देते थे और न उन्हें इस बात का बोध था कि उनके जानकारी से क्या कुछ लाभ होता है।

फिर उन्हें यह भी क्या मालूम था कि इतनी जल्द ज़माने के इतिहास का पृष्ठ उलट जायगा। पुराने घराने तबाह हो जायँगे और उनकी औलाद ऐसी जाहिल रहेगी कि उसे अपने घर की बातों की भी ख़बर न होगी और न उन्हें उनकी जानकारी की चेष्टा होगी। और यदि उनसे कोई उन बुज़ुर्गों के किसी जीवन-घटना-विशेष की चर्चा करेगा तो उसे वे अविश्वास की दृष्टि से देखेंगे और उसके सच झूठ का प्रमाण तक माँगेंगे।

ग़रज़ यह कि मैंने यह महसूस किया कि हमारा यह एक पावन कर्तव्य है कि इन बुज़ुर्गों के जीवन की जो बातें हमें निजी तौर पर मालूम हैं, उन्हें और जिन पुस्तकों में उनके विषय में चर्चा की गई है, उनसे उनका संकलन करके एक जगह लिखूँ और जहाँ तक संभव हो उन बातों को इस ढंग से लिखूँ कि उनके जीवन की बोलती-चालती, चलती-फिरती तस्वीरें आँखों के सामने आ खड़ी हों और वे हमारी स्मृति-पटल पर सदा के लिये अमिट बन जायँ। इस प्रकार सोचते-सोचते कुछ ही दिनों में हमारे ये सारे बिखरे हुए विचार स्रोत एक ही धार में बँध गए। इसीलिये अपनी इस पुस्तक का नाम मैंने 'आबे-हयात' रखा। मैंने इसमें उर्दू भाषा के कालानुकाल परिवर्तन के आधार पर इस भाषा के इतिहास को पाँच युगों में इस प्रकार विभाजित किया है कि प्रत्येक युग ही अपने समय की भाषा और समकालीन जीवन की अलग-अलग विशेषताएँ उनमें स्पष्ट दिखाई दें। ईश्वर से प्रार्थना है कि उन बुज़ुर्गों की कीर्ति और कौशल के पुण्य-प्रसाद से मेरा यह साहित्यिक प्रयास सर्वसाधारण को रुचिकर लगे और वे इसे स्वीकार करें।

समर्पण

श्रद्धेय पितामह मुंशी रामरतन लाल 'काफ़िर'
(जिन्होंने मुझे 'आबेहयात' में दिलचस्पी दिलाई)
और
पूज्य पिता श्री भैरव प्रसाद
(जिन्होंने इसके अनुवाद के लिये प्रेरणा दी)
उनकी पुण्य स्मृति में श्रद्धापूर्वक समर्पित

उर्दू भाषा का इतिहास

यह बात तो सभी जानते हैं कि उर्दू भाषा का उद्गम ब्रजभाषा है और ब्रजभाषा ख़ास भारतीय भाषा है, लेकिन यह भारत की आदिकालीन भाषा नहीं है। यह केवल आठ सौ बरस से ही इस देश में प्रचलित है और ब्रज की हरियाली भूमि इसकी मातृभूमि है। आप किंचित यह सोचें कि शायद हमारी इस पुरातन थाती का आदिस्रोत संस्कृत से प्रवाहित हुआ हो। संस्कृत भाषा से ही ऐसा कोई बीज निकला हो, जो यहीं फूटा हो और यहीं फला फूला हो। लेकिन नहीं, इसका ठीक पता निशान लगाने के लिये इससे भी पहले का इतिहास जाँचना होगा। सब कोई जानते हैं कि हिंदोस्तान यद्यपि पौरुषहीनता और आलसी मनोवृत्ति के कारण बदनाम रहा है, फिर भी विदेश की प्रगतिशील और साहसी क़ौमें बराबर इसकी ओर ललचाई आंखों से देखतीं रही हैं। इसलिये इसकी हरित और उर्वरा भूमी और इसके समशीतोष्ण और संतुलित जलवायु ने इसकी जान का जंजाल बनकर सदा इसे दूसरे राष्ट्रों की घुड़दौड़ का मैदान बनाए रखा। अंग्रेज़ी विद्वान् जो कि हर बात का पता पाताल तक से ढूंढ निकालने की कोशिश करते हैं, विभिन्न भाषाओं, प्राचीन चिह्नों और प्रतीकों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस देश के आदिम वासी तो कोई और लोग थे। लेकिन समय बीतने पर एक किसी जबरदस्त विदेशी क़ौम ने आकर धीरे धीरे इस सारे देश पर कब्जा कर लिया।

यह विजयी क़ौम किंचित जैहून-सैहून के मैदानों से उठकर और उत्तरी पर्वतों को पारकर इस देश में आई होगी। उस समय के गीत और बची खुची निशानियों को देखकर यह भी पता चलता है कि वे लोग दिल के बहादुर, हिम्मत के पूरे, सूरत के रोबीले और रंग के गोरे रहे होंगे। और उस जमाने के हिसाब से शिक्षित भी होंगे। खुली जगह और हरी भरी भूमि देखकर यहीं बस गए। इस क़ौम का नाम आर्य था। और आश्चर्य नहीं कि इनकी भाषा वही हो, जो अपने मौलिक रूप से कुछ कुछ बदलकर अब संस्कृत कहलाती है। यही लोग हैं, जो हिंदोस्तान में आकर आगे चलकर यहाँ के शासकों के पद पर पहुँचे और राजा महाराजाओं की उपाधियों से विभूषित हुए। इसी क़ौम ने उधर ईरान में क़यानी ताज पर क़ावेयानी झंडा लहराया। अपने धर्म के एक निराले पंथ के द्वारा चीन में सुंदर मूर्त्तिगृह बनवाए। यूनान की धरती को विज्ञान की दौलत दी। रोम के विश्वव्यापी साम्राज्य की नींव डाली। अंदलस पहुँच कर चाँदी निकाली। यूरोप से खबर आई कि कहीं उन्हें नदी से मछलियाँ निकालते निकालते सल्तनत के मोती मिल गए। कहीं पहाड़ों से धात खोदते खोदते रतन और जवाहिर मिल गए।

तब प्रश्न यह उठता है कि इस देश के असली निवासी कौन थे? और उनकी भाषा क्या थी? अनुमान किया जा सकता है कि जैसे पंजाब में हर प्रखंड की

भाषाओं में कहीं कम कहीं अधिक विभिन्नता पाई जाती है और यही दशा देश के अन्य भागों में भी है। भाषा संबंधी इसी प्रकार की विभिन्नता उस आदिम काल में भी रही होगी। और इस काल की प्रमुख भाषाएँ वे होंगी, जिनके अवशेष के रूप में आजकल भी भारत के दक्षिण और पूरब के भागों में तमिल, उड़िया, तेलगू भाषाएँ अभी तक प्रचलित हैं। बल्कि इस हालत में भी इनके काव्य और अन्य साहित्यिक रचनाएँ यह प्रमाणित करती हैं कि यह गुठली किसी स्वादिष्ट मेवे की ही है। और संस्कृत से इसका कोई लगाव नहीं है।

विजयी आर्यों ने हिंदूकुश पर्वत को पारकर पहिले तो पंजाब ही में डेरे डाले होंगे। फिर ज्यों ज्यों बढ़ते गए होंगे यहाँ के आदिम निवासी कुछ तो लड़ते मरते, दाएँ बाएँ, जंगलों की गोद और पहाड़ों के अंचल में घुसते गए होंगे। कुछ जो भागे होंगे, वे दक्षिण और पूरब को हटते गए होंगे। कुछ ने बिजयी लोगों के अधीन दासता और सेवावृत्ति ग्रहण कर ली होगी। वही शूद्र कहलाए होंगे। चुनांचे उनकी सूरतें अबतक कहे देती हैं कि यह किसी और शरीर की हड्डियाँ हैं।

ज़ाहिर है कि काफी अर्से तक इन नवागन्तुक आर्य भाइयों के कारबार, रहन सहन यहाँ के आदिम निवासी भाइयों के साथ मिले जुले रहे होंगे। यही कारण है कि ईरान के प्राचीन इतिहास में यह आबाद और उसके युगों का विभाजन ब्रह्मा के युगों से मिलता है और उसके रीति रिवाजों में एकरूपता दिखाई देती है, और चारों वर्णों के होने का भी पता लगाता है। यहाँ गौतम बुद्ध ने इनके धार्मिक और सामाजिक विधानों को तोड़ा। वहाँ जरथुस्त द्वारा प्रवर्तित धर्म ने उसे जला कर राख कर दिया। मगर हिंदुओं ने बुद्ध के बाद फिर अपनी दशा संभाल ली लेकिन ईरानी अपनी दुर्दशा को न सुधार सके।

समाज का चार वर्णों में बटवारा और उनका एक दूसरे से अलग थलग रहने की व्यवस्था दूर के देखने वालों को सामाजिक ऊँच नीच और असहिष्णुता के रूप में दिखाई देता है, लेकिन सच पूछो तो यह ऐसी कोई बुरी बात न थी। इसी की बरकत है कि आज तक चारों श्रेणियाँ साफ अलग अलग चली आ रही हैं। जो कुलीन हिंदू होगा, माता पिता दोनों की ओर से कुलीन होगा और निश्चित रूप से अपने वर्ण का पता बता सकेगा। जो वर्णसंकर होगा, उसकी कौटुंबिक परंपरा अलग हो जायगी। यदि यह प्रतिबंध इतनी कठोरता से न बरता जाता, तो सभी भावी संतानें संकर हो जातीं और शुद्ध कुलीन व्यक्ति कहीं ढूंढे न मिलता। विजेताओं के इस सामाजिक प्रतिबंधों ने पारस्परिक संबंध में एक और अजीब गुत्थी डाली। जब वर्णव्यवस्था के द्वारा उन्होंने अपनी कुलीनता को सुरक्षित कर लिया, तो उन्हें यह आशंका हुई कि शुद्रों के साथ आठ पहर बातचीत करने, रहने सहने और लेन देन करने में कहीं उनकी पैतृक भाषा मिलावट से अशुद्ध न हो जाय। इसलिये उन्होंने यह दावा किया कि हमारी भाषा देवभाषा (जबाने इलाही) है, और आदिकाल से इसी रूप में चली आई है। चुनांचे इसी आधार पर उसके व्याकरण और अन्य भाषा

वैज्ञानिक सिद्धांतों को इतनी कुशलता और सूक्ष्मता से बाँधे, जिससे उनमें एक बिंदु का भी अंतर न आ सके। इसकी विशुद्धता ने अन्य किसी भाषा के शब्द या उसके प्रयोग को अपनी आँचल पर एक नापाक धब्बा समझा। यहाँ तक कि ब्राह्मणों के अलावा किसी और से उसका उच्चारण बल्कि सुनना तक भी वर्जित समझा जाता था। इस कड़े नियम से एक बहुत बड़ा फायदा यह मालूम होता है कि संस्कृत भाषा पूर्वजों के सांस्कृतिक स्मारक के एक पावन प्रतीक के रूप में सदा विशुद्ध बनी रही और शायद चिरकाल तक बनी रहेगी। इसके विपरीत ईरानी भाइयों के पास तो उनकी आदिकालीन भाषा का कोई अवशेष भी अब मौजूद नहीं है।

विजेताओं की उच्चदर्शिता ने इसीलिए इस भाषा का नाम 'संस्कृत' रखा, जिसके शाब्दिक अर्थ सुसज्जित, प्रमाणित अलंकृत, पवित्र, शुद्ध जो चाहो समझ लो। इस भाषा का व्याकरण भी ऐसा पवित्र समझा जाने लगा कि धर्मनिष्ठ विद्वान् ब्राह्मण ही उसे पढ़ाएँ तो पढ़ाएं। यहाँ तक कि इसे इतने ऊँचे स्वर में पढ़ना भी वर्जित समझा जाता था कि उसकी ध्वनि किसी दूसरे के कानों में पड़े। इस भाषा को 'देववानी' भी कहते थे। भाषा का सबसे परिष्कृत रूप वेदों में आया और इसकी कालावधि ईसा से १४०० वर्ष पूर्व मानी जाती है। उस समय आर्य विजेताओं के इस देश और देशवासियों से पारस्परिक संबंध की वही परिस्थिति समझनी चाहिए, जैसे हिंदोस्तान में पहले पहल आने वाले मुसलमानों की। उनके (आर्यों के) संस्कृत भाषा के उच्चारण यहाँ के लोगों में आकर कुछ और हो गए होंगे। इसलिये घरों और बाजारों में आपसी वार्तालाप के लिये अलग अलग भूखंड में स्थानीय प्राकृत भाषाएँ स्वत: पैदा हो गई होंगी, जैसे इस्लामी आगमन के बाद उर्दू पैदा हुई। इस तरह मागधी (पाली) शूरसेनी, महाराष्ट्री इत्यादि प्राचीन प्राकृत भाषाएँ अब भी अपनी प्राचीनता का पता देती हैं। उनकी कृतियों में सैकड़ों संस्कृत शब्द साफ दिखाई देते हैं। किंतु उनका रूप अपभ्रंश है। देखा, 'प्रकृति' का अर्थ है 'स्वभाव'। इसलिए 'प्राकृत' वह भाषा हुई, जो स्वभावत: निकली। हेमचंद के संस्कृत कोश में भी यही अर्थ दिया गया है। इसके अलावा संस्कृत सभ्य और विशुद्ध आर्यों की और प्राकृत निम्नवर्गीय अल्पसंस्कृत और असंस्कृत लोगों की भाषा भी कही जाती है। ऐसी बातों से प्रतीत होता है कि आर्य लोग काफी बुद्धिमान थे और हर बात को खूब समझते थे और जो कुछ उन्होंने किया वह समझ बूझ कर ही किया।

राजा भोज के समय की नाटक की पुस्तकों से पता चलता है कि उस समय में विद्वानों द्वारा बोली जाने वाली और साहित्य-रचनाओं में प्रयुक्त और राजदरबारी भाषा संस्कृत थी। लेकिन चूँकि ऊँचे वर्गों का जनसाधारण से संपर्क अनिवार्य था, इसलिये आपसी बोलचाल में पंडितों को भी प्राकृत ही बोलनी पड़ती थी। प्राकृत स्पष्ट रूप से संस्कृत की दुहिता (बेटी) मालूम होती है, क्योंकि इसमें हजारों शब्द संस्कृत के हैं, और इसके पद व्याख्या और वाक्य विश्लेषण के नियम भी वैसे ही हैं।

संस्कृत भाषा इतनी सुरक्षित रही, फिर भी मनुस्मृति की भाषा में जो वेदों से कई सौ वर्ष बाद लिखी गई थी, और वेद की भाषा में साफ़ अंतर है, और समय बीतने

पर यह अंतर और भी बढ़ता गया। किंतु राजकाज और शुद्ध साहित्य रचना दोनों पर धर्म का चौकीदार बैठा था, इसलिये भाषा के भ्रष्ट और अमर्यादित होने की विशेष आशंका न थी।

कालोपरांत ईसा से पूर्व ५४३ ई० में बौद्ध धर्म के प्रवर्तक शाक्यमुनी का जन्म हुआ। इस धर्म के प्रवर्तन और प्रचार का आदि क्षेत्र था मगध देश। इसलिए गौतम बुद्ध ने वहाँ की लोक भाषा (प्राकृत) में प्रवचन देना शुरु किया, क्योंकि उनका प्रचार क्षेत्र अधिकतर जनसाधारण में ही था, और उस समय स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढ़े सभी यहीं भाषा बोलते थे। इनके ओजस्वी भाषणों के फलस्वरूप बौद्ध धर्म ऐसा फलने लगा जैसे बन में आग लगे। देखते देखते इसने पूर्व प्रचलित धर्म, प्रशासन, रस्म और रिवाज, विधि और विधान सबको जला कर राख कर दिया और मागधी प्राकृत राज दरबार और राजकीय कारबार की भी भाषा हो गई। परिस्थिति भी इस भाषा की उन्नति और प्रगति में सहायक हुई, क्योंकि उस समय विद्या और कला के प्रचार में ऐसी अभूतपूर्व उन्नति हुई कि थोड़े ही दिनों में इस भाषा में बहुविषयी उच्चस्तरीय पुस्तकें लिखी जाने लगीं और वे विद्वानों के ग्रंथसंग्रह को अलंकृत करने लगीं। उद्योग और कला के कारख़ाने भी स्थापित किए गए और उनके द्वारा भी मागधी जनप्रिय हुई। कहीं कहीं कोने अँतरे में जहाँ के शासक वेदों को मानते रहे, वहाँ तो वेदों का कुछ प्रभाव बना रहा। लेकिन अन्य स्थानों में राज दरबार और विद्वानों के अधिकृत क्षेत्र सब मागधी ही मागधी हो गए। इस प्रगति से इनके हौसले और बढ़े और मागधी भाषा भाषी ऊँचे स्वर से यह दावा करने लगे कि सृष्टि के आदिकाल से सभी भाषाओं का असली रूप मागधी ही था। ब्राह्मण और अन्य द्विज इसका प्रतिवाद भी न कर सकते थे, क्योंकि उस समय उनकी और भगवान् बुद्ध की भाषा भी यही थी। इस भाषा के व्याकरण की पुस्तकें भी लिखी जाने लगीं। भगवान् की माया देखा। जो लौंडी थी वह रानी बन बैठी और रानी मुँह छिपा कर कोने में बैठ गई!

जमाने ने अपने स्वभाव के अनुसार लगभग पंद्रह सौ वर्ष बाद पलटा खाया और बौद्ध धर्म का लोप हो गया और उसी के साथ उसके धर्म ग्रंथों की भाषा प्राकृत भी हो गई। वैदिक धर्म का डूबा हुआ सितारा फिर उभर कर चमका और संस्कृत फिर अपने प्राचीन ओज को प्राप्त हुई। राजा विक्रमादित्य के राज्यकाल में इस भाषा के अपूर्व लालित्य और ओज ने जो प्रकाश फैलाया, वह आज तक अपनी आभा बिखेर रहा है।

समकालीन साहित्य से भी यही प्रमाणित होता है कि उस समय भी राज दरबार में और उच्च वर्ग के लोगों के लिये संस्कृत बोलना अधिकार और गौरव का प्रमाण समझा जाता था, और प्राकृत जनसाधारण की भाषा मानी जाती थी। उस समय के युगकवि कालिदास ने शाकुंतल नाम के जिस प्रसिद्ध नाटक की रचना की, उसमें राजसभा के सदस्य, धनी मानी और पंडित लोग तो संस्कृत बोलते हैं, किंतु निम्न-वर्ग के या साधारण व्यक्ति यदि कुछ कहते हैं तो प्राकृत में ही कहते हैं।

ग्यारहवीं सदी ईस्वी से पूर्व राजा भरत के राज्य काल में ब्रजक्षेत्र की भाषा को ही हम आज के ब्रजभाषा का असली रूप कह सकते हैं। उस समय भी प्रत्येक क्षेत्र में साधारण लोगों की बोली अलग अलग थी और संस्कृत केवल साहित्य-रचना और उच्च वर्ग के व्यक्तियों के उपयोग में आती थी। सहसा काल रूपी बाजीगर ने एक और रंग बदला यानी इस्लाम का भारत में प्रवेश हुआ। इसने फिर इस देश के समाज और धर्म में एक नई क्रांति पैदा की, और इसी समय से एक भाषा का प्रभाव दूसरी भाषा पर पड़ना आरंभ हो गया।

संस्कृत और आदि फ़ारसी भाषा, जो ज़ेन्द अवस्ता की भाषा थी, आर्यों के रिश्ते से एक दादा की संतान हैं। किंतु समय का उलटफेर देखो कि कितने सौ वर्ष या कितने हज़ार वर्ष की बिछुड़ी हुई बहनें ऐसी परिस्थिति में आकर मिलीं कि एक दूसरे की शकल तक नहीं पहचान सकतीं।

हिंदुस्तानी बहन की कहानी तो सुन चुके, अब ईरानी की दास्तान भी सुनिए कि इस पर वहाँ अपने देश में क्या घटनाएँ घटीं। पहले तो यह अनुमान किया जा सकता है कि इस देश ने जो ईरान नाम पाया शायद वह शब्द 'आर्यन' ही की देन हो। फिर यह भी कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं है कि जिस तरह हिंदोस्तानी बहन के लिये समय समय पर गौतम बुद्ध इत्यादि के कारण भाषा संबंधी उथल पुथल होती रही, वैसे ईरान में भी भाषा संबंधी क्रांतियाँ बराबर होती रहीं। फिर भी आजतक हज़ारों फ़ारसी और संस्कृत के शब्द साफ़ मिलते जुलते दिखाई देते हैं।

ईरानी बहन जब ईरान में जाकर बसी होगी तो शुरू में एक लंबे अरसे तक उससे संबंधित धर्म, रीति रिवाज, और भाषा जैसे थे, वैसे ही बने रहे होंगे। मगर उस समय की कोई साहित्यिक रचना हमें उपलब्ध नहीं। उसका कुछ बचा खुचा अवशेष मिलता है, तो जरथुस्त के समय से मिलता है, जिसे आज लगभग चौबीस सौ वर्ष हुए। जरथुस्त द्वारा प्रवर्त्तित ज्वलंत एकेश्वरवादी धर्म ने अपनी अग्नि ज्वाला के परदे में अद्वैतवाद का प्रदर्शन किया। इस धर्म को समकालीन राज्य का आश्रय मिला और उसके जोर पर ईरान से निकलकर दो सौ वर्ष तक आसपास के देशों पर यह अपना आधिपत्य जमाता रहा। कालोपरांत यूनान से सिकंदर आँधी की तरह उठा और उसने एशिया की सारी शांति और व्यवस्था को अस्त व्यस्त कर दिया। जो दुर्दशा बुद्ध के द्वारा वेदशास्त्र की हुई थी, वहाँ वही दुर्दशा जेंद अवस्ता की हुई। जिस अग्नि ने जरथुस्त और जामास्प के पवित्र हाथों से अग्निकुंडों को प्रज्वलित किया था, जिसके आगे गुश्तास्ब ने ताज उतार कर रख दिया था, जिसकी दरगाह में इसफंदयार ने अपनी गदा और तलवार चढ़ाई, वह अग्नि यूनान की तलवार के आब से बुझ गई और अग्निकुंड राख होकर उड़ गए। अफ़सोस यह है कि उसी के साथ-साथ जिंद और पाजिंद के पन्ने पन्ने बरबाद कर दिए गए और हजारों ब्रह्मतत्व विषयक और बहुतेरे विद्या और कला संबंधी ग्रंथ नष्ट कर दिए गए। जब कि यूनानियों ने ईरान पर विजय प्राप्त की, तो उनकी भाषा ने स्थानीय भाषा पर भी जोर

दिखाया होगा। थोड़े ही दिनों में ईरान में पार्थिया वालों का पूर्ण आधिपत्य हो गया। वह ईरान जिसे हजारों वर्षों से विजय के झंडे सलामी उतारते थे, और संस्कृति और सभ्यता इसके दरबार में सर झुकाते थे, पाँच सौ वर्षों तक विजेताओं के अधीन रहा। और इसी कालावधि में यूनानियों द्वारा इसके पवित्र ग्रंथ ढूँढ़ ढूँढ़ कर नष्ट कर दिए गए।

२०० ई० में फिर इस निष्प्राण शरीर में साँस आई और सासानियों की तलवारों में उसके प्राचीन ओज ने चमक दिखाई। सासानी बादशाहों ने अपने मुल्क और सल्तनत के प्राचीन गौरव के साथ अपने निष्प्रभ धर्म को भी पुनरुद्दीप्त किया। भग्न अग्निमंदिरों का जीर्णोद्धार किया। और जहाँ जहाँ से फटे चिथे धर्मग्रंथ के पृष्ठ हाथ आए इकट्ठा किया। इन्हीं की कोशिशों की कमाई थी, जो एक बार फिर साढ़े चार सौ बरस बाद इस्लाम के झंडे के आगे बलिदान हुई। इस मामले में हमें नेकनीयत पारसियों का आभार मानना चाहिए। क्योंकि अपनी और अपने घरबार और धन दौलत की तबाही के बावजूद जो प्राचीन पोथियाँ किसी धर्मनिष्ठ पारसी के हाथ आईं, वह जान के साथ ईमान को भी हमारे देश में लेता आया, जिनके प्रकाश से सूरत के बंदरगाह और गुजरात आदि देशों में अग्निमंदिर अभी भी प्रज्वलित हैं। जो कुछ इनके पास है, वह उन धार्मिक कृतियों का अवशेष है, जिनकी रचना सासानियों के शासनकाल में हुई। उपर्युक्त धर्मग्रंथ दोनों भाषाओं के शब्दों का अंतर्संबंध ही नहीं प्रमाणित करते, बल्कि उनके एकत्त्वता व धार्मिक विश्वासों की समानता की भी गवाही देते हैं। जो चार वर्ण हिंदोस्तान में थे, वही ईरान में भी थे। दोनों में आकाश संबंधी प्राकृतिक तत्त्वों की प्रतिष्ठा की जाती थी। निरोग पशुओं की हत्या महापाप समझा जाता था। आवागमन में आस्था दोनों में यक्साँ थीं। अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु, बादल, बिजली इत्यादि तत्वों के लिये अलग अलग अधिष्ठित देवता थे, जिनके माहात्म्य को व्यक्त करने के लिये भिन्न भिन्न धार्मिक विधाएँ थीं। ईश्वर की प्रार्थना के गीत थे, जिनको वह अपनी परिभाषा में 'गाथा' कहते थे। शायद इसी शब्द के नाम पर यहाँ हिंदुओं ने अपने एक धर्म ग्रंथ का नाम 'गीता' रखा क्योंकि इसमें भी भगवान् के उपदेश और स्तुतिगान हैं। प्रचलित फ़ारसी के कुछ शब्द यहाँ मिसाल के रूप लिखता हूँ, जो संस्कृत से मिलते हुए मालूम होते हैं——

फ़ारसी	**संस्कृत**	**फ़ारसी**	**संस्कृत**
पिदर	पितृ	बरादर	भ्रातृ
पूर	पुत्र	दुख़्तर	दुहितृ
मादर	मातृ	अंगुश्त	अंगुष्ठ
जानूं	जानु	पा	पाँव
बार	भार	बीम	भय
बूम	भूमि	ख़ाशाक (कूड़ा करकट)	कुश
अस्प	अश्व	खर	खर

ईरानी भाषा पर ईरान में पहले इस्लाम के प्रभाव से उसके आकार प्रकार में वैसे ही परिवर्तन हुआ, जैसे कि हिंदोस्तान में यहाँ की भाषा में दो सौ बरस बाद हुए। इसलिये हिंदोस्तान में वह ऐसी शक्ल में पहुँची कि अरबी और तुर्की शब्द की मिलावट और बहुतेरे शाब्दिक और संरचनात्मक परिवर्तन के कारण उसकी सूरत भी नहीं पहिचानी जाती थी। जो ईरानी मुसलमान आए, वह आपस में उस समय की वही प्रचलित और रूपांतरित फारसी बोलते थे, और हिंदुओं से हिंदी के कुछ शब्द मिला जुला कर अपना काम चला लेते थे।

इधर संस्कृत तो देवबानी यानी 'ज़बाने आसमानी' थी। इसमें मलेच्छों की दख़ल कहाँ? उनकी भाषा को कैसे पनाह देती? अलबत्ता ब्रजभाषा ने इस बिन बुलाए मेहमान को प्रश्रय दिया। लेकिन धर्मनिष्ठ हिंदू अनेकानेक वर्षों तक इसे म्लेच्छ भाषा समझ कर इस विदेशी भाषा से घृणा करते रहे। मगर भाषा का क़ानून धर्म और हुकूमत के क़ानून से ज्यादा शक्तिशाली होता है, क्योंकि इसे घड़ी और पल पल की ऐसी आवश्यकताओं के लिये प्रयोग में लाना पड़ता है, जिसकी उपेक्षा असंभव है। तात्पर्य यह है कि अतिथि और गृहस्थ को आठ पहर एक ही जगह रहना सहना, खाना पीना, लेन देन करना रहता था। लफ्ज़ों के बोले बिना काम नहीं चल सकता था। जब दो क़ौमों से इस प्रकार का संपर्क होता है तो एक दूसरे की भाषाओं का मेलजोल और अंतर-आदान-प्रदान अनिवार्य हो जाता हैं। इसके कई कारण हैं। पहले तो यह कि अक्सर विदेशियों के साथ कुछ नई चीज़ें ऐसी आती हैं, जो अपने नाम अपने साथ लाती हैं। दूसरे अक्सर शब्दों के अर्थ ऐसे होते हैं कि उन्हें उन्हीं की भाषा में कहें तो एक ही शब्द से काम बन जाता है और यदि उनका अनुवाद करें तो पूरा एक जुमला बनाना पड़े। फिर भी न वह मजा आए न पूरा मतलब निकले। ऐसी परिस्थिति में मानों भाषा संबंधी नियम और उसके बोलने की सुविधा दोनों इसके लिये बाध्य करते हैं कि मूल शब्द का ही प्रयोग करें। अनूदित शब्दों या पदों का नहीं। तीसरे, जिन लोगों को दूसरे देशों में यात्रा करने का अवसर मिला हो, उन्हें प्रायः ऐसा कुछ अनुभव हुआ होगा कि जब दो विभिन्न भाषा भाषी एक स्थान पर रहते सहते हैं तो उन्हें कभी कभार काम काज की व्यस्तता में, या कोई आवश्यक बात जल्दी कह देने के उद्देश्य से, या कभी अपना आशय जल्द समझाने की गरज से एक दूसरे की भाषा के शब्द अनायास इस तरह बोल जाते हैं, जैसे वही उनके आपसी बोलचाल के शब्द हों। चौथे, जब दो देशों के लोग एक जगह रहकर दूध और शक्कर की तरह मिल जाते हैं तो कभी प्यार से, कभी आपस की दिल्लगी में एक दूसरे की भाषा के शब्द बोलकर उनका जी खुश होता है। वे चाहे 'मुहब्बत' कहें या 'प्रेम' कहें दोनों समझ लेते हैं। जिस तरह दोस्त को दोस्त प्यारा होता है, उसी तरह उसकी बोल के शब्द भी प्यारे मालूम होते हैं। या यों समझो कि जिस तरह देशवासी अपने अपने मेहमानों के रहने के लिये जगह देते हैं, उसी तरह उनकी भाषा भी आगंतुक शब्दों को

आश्रय देती है। और पाँचवीं और ख़ास बात यह है कि विजेताओं का गौरव उनकी हरेक बात को अर्थात् उनकी वेष भूषा, चाल ढाल, बोल चाल, रहन सहन इन सभी को ऐसी आकर्षक भाषा से भाषित कर देती है कि वही सब की आँखों में भले लगने लगते हैं और लोग उन्हें केवल अपना ही नहीं लेते बल्कि उनके अपनाने में गर्व भी करने लगते हैं। और तब तर्क-वितर्क के द्वारा इस प्रकार उन्हें स्वीकृत और संमानित करने में लाभ भी बताते हैं।

उस कालावधि की कोई हिंदी रचना अब उपलब्ध नहीं है। इसलिए समय पर जो उसमें परिवर्तन हुए हों, उनका पूरा विवरण नहीं मिलता। हाँ, जब सन् ११९३ में शहाबुद्दीन गोरी ने राज पिथौरा पर विजय पाई तो चंद कवि ने जो एक ख्याति प्राप्त कवि थे 'पृथ्वीराज रासो' लिखा। इसे पढ़कर आश्चर्य होता है कि हिंदी भाषा ने कितनी जल्दी अरबी फारसी के प्रभाव को स्वीकार कर लिया। इसके हरेक पृष्ठ में अनेकों ऐसे शब्द दिखाई देते हैं जो साफ़ उन्हीं भाषाओं के हैं। साथ ही यह भी मालूम होता है कि इस समय की हिंदी भाषा आजकल की हिंदी से भिन्न थी। मैं इस रचना की हस्तलिखित प्रति का एक अंश यहाँ नमूने के तौर देता हूँ:—

"पत्र उठि महल प्रिथीराज भंगे आरोह निवाजीय.... ....
..... पत्र परवरदिगार पैग़ाम रदबलाल करीम के बार सरतान जलालदीन जाया
सरिता न सहाबदीन अलह उपाया मुसलमान मद मिदान भी मद इतनीक हैरक
हवलागी पतिशाह सैतान परवरे देवरौं दीवान छड या जादव निवैर मंडया
पालक आलम अलोई जीवते वहुवामवीई इजरति पुदायषअ आस मरदां सैल सिध
वासवाह साँई देय चार उचाई.... ......इतने मुलक को करमान पेस कजल-
विलास कैलास रोहषंधारगषर १५२ पत्र पाववलि प्रिथीराज वाँहदिनि सुलितान
करसिलाम तिहिवार परी अँगुलि सूलितान"

यह उद्धरण उस पुस्तक के भिन्न भिन्न स्थानों से हैं और इनका आशय पुस्तक के अध्ययन से ही स्पष्ट हो सकता है। मगर अक्षर पहिचाननेवाला आदमी भी जान सकता है कि अमुक अमुक अरबी फ़ारसी के शब्द इसमें मौजूद हैं। जैसे, महल, परवरदिगार, पगाम (पैग़ाम), करीम सुरतान (सुल्तान) 'बातशाह (बादशाह), दीवान, खलक (ख़ल्क़), आलम, हजूरत (हज़रत), मुल्क, फ़रमान सलाम इत्यादि।

अनुभवी अनुवादक और साहित्यकार जानते हैं कि हरेक भाषा में कोई कोई मौलिक शब्द ऐसे होते हैं कि उनमें जो अर्थ निहित होता है, उसे किसी दूसरी भाषा में यदि अनुवाद करना चाहे तो उसका आशय एक शब्द के बजाय कई वाक्यों में भी पूरी तरह नहीं किया जा सकता। जो विचार और भाव उसके सुनने वालों के के सामने वह केवल एक शब्द आइने की तरह साफ़ दिखलाई देता है, वह किसी दूसरी भाषा के पूरे वाक्य से भी पूरा नहीं होता। उदाहरण के लिये चंद कवि अपनी कविता में 'सुल्तान' की जगह यदि 'राजा' बल्कि 'महाराजा' लिख देता तो भी जो

गुण अथवा अवगुण बुरा या भला, करुणा अथवा निर्दयता, जोर या जुल्म का भाव इस शब्द (सुल्तान) में दिखाई देता है, वह बात राजा, महाराजा में संभव नहीं। इसी तरह 'सलाम' शब्द है, जिसके मतलब का हक चाहे 'दंडवत' कहें चाहे 'प्रणाम' कहें, ये शब्द अदा नहीं कर सकते। इसकी मिलास आज अँग्रेजी के सैंकड़ों शब्द हैं। जैसे एक हिंदोस्तानी अपने मित्र से कहता है, "लाट साहिब छः बजे स्टेशन पर पहुँचेंगे। प्रोग्राम के बमूजिब शहर की सैर करेंगे। पाँच बजे आना। वहीं चलकर तमाशा देखेंगे।" अब चाहे वे शुद्ध हों या अशुद्ध। मगर जो मूल शब्द आप अपने सुननेवाले को समझा रहे हैं, कई कई पंक्तियों में उनका अनुवाद किया जाय, तो भी ठीक ठीक मतलब न बता सकेंगे।

आगे चल कर पंद्रह सदी ईस्वी में, जब सिकदर लोदी का शासन काल था, पहले पहल कायस्थ फ़ारसी पढ़कर शाही दफ़्तर में दाखिल हुए, और अब इन शब्दों को उनकी ज़बानों पर आने का ज़्यादा अवसर मिला। धीरे धीरे अकबर के शासन काल में जब कि मुसलमान हिंदुओं से धुलमिल गए, यह नौबत हुई कि इधर बादशाह और उसके उच्चाधिकारी दरबारियों ने जुब्बा और दस्तार के साथ दाढ़ियों से विदा माँगी, और जामे पहनकर खिड़कीदार पगड़ियाँ बाँध बैठे, उधर हिंदू भद्र बल्कि राजे महराजे तक ईरानी लिबास पहने फ़ारसी बोलने लगे, और उसमें अपना गौरव समझने लगे। बल्कि मिर्ज़ा के खिताब को भी बड़े चाव से स्वीकार करने लगे।

अब जहाँ तक संभव है मैं कालानुक्रम से भाषाओं के कुछ नमूने पेश करता हूँ। अमीर खुसरो जिनकी मृत्यु १३२५ ई० में हुई, उनकी एक ग़ज़ल जो उर्दू कविता के इतिहास में अपना महत्व रखती है देखा। इसका पहला मिसरा है 'ज़ेहाल मिस्कीं मकुन तग़ाफुल दरआए नैना बनाय बतियाँ'। इससे आपको कुछ कुछ हाल उस वक़्त की ज़बान का भी मालूम होगा। 'खालिक-बारी' भी इन्हीं की कल्पना की उपज से है। सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति उससे भी बहुत से शब्द और फ़िक़रे देखकर इन बारीकियों को समझ सकते हैं।

"बया बिरादर आओ रे भाई, बनशी मादर बैठ री भाई"

एक परीक्षित नुस्खा आँखों के रोग का दोहरों की बहर में कहते हैं--

लोद फिटकरी मुर्दासंग। हल्दी जीरा एक एक टंक।
अफ़ीम चना भर मिरचे चार। उरद बराबर थोता डार॥
पोस्त के पानी पोटली करे। तुरत पीर नैनों को हरे।

इसके पहले उर्दू कविता के ऐतिहासिक विवरण के सिलसिले में मैंने इनकी उम्दा पहेलियों, मुकरियों, सुख़नों अनमेलों की चर्चा की थी। आप देखेंगे कि उनके ये पद दोहरों के हैं, किंतु उनमें फ़ारसी भाषा का पुट कितनी ज़ोर का है।

२

हिंदू कवियों के दोहरे ब्रजभाषा में हैं। मगर यहाँ कालानुक्रम से भाषा विवेचन किया जा रहा है। सिकन्दर लोदी के समय में कबीर नाम के एक कवि बनारस के रहनेवाले थे। यह अनपढ़ थे। गुरु रामानंद के चेले होकर ऐसे पहुँचे हुए संत हुए कि स्वयं एक अलग पंथ, 'कबीर पंथी मत' का प्रवर्तन किया। इनकी रचनाएँ इकट्ठी की जायँ तो कई जिल्द इकट्ठी हों। उनके दोहरों में फ़ारसी अरबी के शब्दों को देखो :—

दीन गंवायो दुनी से, दुनी न आयो हाथ।
पैर कुल्हाड़ी मारियो गाफिल अपने हाथ
कबीर सरीर सराय है क्यों सोए सुख चैन।
कूच नगारा सांस का बाजत है दिन रैन॥

गुरु नानक की भी बहुत सी रचनाएँ हैं। यद्यपि इनकी भाषा पंजाबी है, मगर जिस बहुतायत से उनकी कविताओं में अरबी फ़ारसी के शब्द हैं, उतने किसी की कविता में नहीं और चूंकि इनकी मृत्यु सन् १५०० ई० के लगभग हुई, इसलिए इनके पदों से चार सौ बरस के पहले की पंजाबी भाषा का भी नमूना मालूम हो सकता है।

दोहरा :— सास मास सब जीव तुम्हारा, तू है खारा प्यारा।
नानक सायर एओ कहत है, सच्चे परवरदिगारा॥

प्रायः इनकी कविताएँ भजन और ईशप्रार्थना विषयक हैं। इनमें भी फारसी के शब्द इसी बहुतायत से नज़र आते हैं। जपजी के दो पदों को देखो :—

वारियाँ न जावाँ एक बार। तू सदा सलामत निरंकार॥

मुसलमान लोग भी इस जमाने में यहाँ की भाषा से मुहब्बत रखते थे। सोलहवीं सदी ईस्वी में शेरशाह के शासन काल में मलिक मुहम्मद जायसी नाम के एक कवि हुए। इन्होंने पद्मावत की कथा पद्य में लिखी। इससे केवल उस समय की भाषा का ही पता नहीं लगता, बल्कि इसका सबूत मिलता है कि मुसलमान इस देश में रह कर यहाँ की भाषा किस प्यार से बोलने लगे थे। पद्मावत के छंद भी हिंदी के हैं, और इसके पन्ने के पन्ने उलटते चले जाओ, फ़ारसी अरबी का एक शब्द नहीं मिलता।

हुमायूँ ने जब गुजरात (दकन) पर चढ़ाई की तो सुल्तान बहादुर वहाँ का बादशाह था। उसका जापनेर नाम का एक सुदृढ़ किला था। सुल्तान स्वयं भी अक्सर वहाँ रहता था और अपना सारा खजाना और सारी गड़ी हुई दौलत वहीं रखता था। किले के घेरे के समय रुमी ख़ां मीर आतिश जो कि सुल्तान का एक बड़ा विश्वास पात्र और अत्यन्त प्रिय मुसाहिब था, हुमायूँ से मिल गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सारी बहुमूल्य सम्पत्तियाँ और बे हिसाब खजानों के समेत वह किला हुमायूँ के कब्जे में आ गया। सुल्तान बहादुर के पास एक तोता था, जो कि न केवल आदमी की तरह बातें करता था, बल्कि समझ कर बात का जवाब भी देता था। सुल्तान इसे इतना

चाहता था कि सोने के पिंजरे में रखता था, और बराबर इसे अपने पास रखता था। वह तोता भी लूट में आया। जब वह दरबार में लाया गया तो रुमी ख़ां भी वहीं मौजूद था। तोते ने उन्हें देख कर पहचाना और कहा, "फट पापी रुमी ख़ां नमक-हराम"। सबको ताज्जुब हुआ और हुमायूं ने कहा, "रुमी ख़ां, चे कुनम के जानवर अस्त वरना ज़बानश मी बुरीदम"। (रुमी ख़ां, क्या करूँ? यह जानवर है, वरना इसकी ज़बान मैं काट देता)। रुमी ख़ां ने शरमा कर आँखें नीची कर लीं। इस चुटकुले का तात्पर्य यह है कि उस वक़्त भी लोगों की ज़बान पर अरबी फारसी के लफ्ज़ ज़रुर चढ़े हुए होंगे, जभी तोते की ज़बान से भीं नमकहराम का लफ़्ज़ निकला। पक्षी तो जो सुनता होगा, वही बोलता होगा।

सत्रहवीं सदी ईस्वी में संत तुलसीदास, एक ब्राह्मण, जिला बाँदा के रहनेवाले थे। ये पंडित भी थे, कवि भी थे, फकीर भी थे। उन्होंने रामायण की कथा की भाषा में एक ऐसी रचना की कि उनके इस अनुपम ग्रंथ का साधारण जनता और विद्वान् सभी ने स्वागत किया। इनके दोहरों में और उपरोक्त ग्रंथ में भी कहीं कहीं अरबी और फ़ारसी के शब्द मिलते हैं।

दोहरा रामायणः—

सनकारे सेवक सकल, चले स्वामि रुख पाइ।
घर तरुवर सर बाग वन बास बनाएन्हि जाइ॥
घर बिसवास बचन हट बोले।
कितनी भनक कुलह भी खोले॥
नाम गरीब अनेक निवाजे।
लोक बेद वर विरद विराजे॥
गुनी गरीव ग्राम नरनागर।
पंडित मोटे मिले उजागर॥
माया को माया मिले कत कर लंबे हाथ।
तुलसीदास गरीव को कोई न पूछे बात॥

इन्हीं दिनों सूरदास जी की श्री कृष्ण भक्ति संबंधी कविता भी अत्यन्त जनप्रिय हुई। इनकी कविताओं में शायद ही कोई पद होगा, जो कि फारसी अरबी शब्दों से खाली होगा:—

माया धाम बनिता। बोध्यो हूं इस साज॥
सुनत सभी जानक हूँ। तू न आइयो बाज॥
खेत वहुत का है तुम ताने। सबन सुनी आवाज़॥
देवन जात पार उतर आए। चाहत चढ़ें जहाज॥

लीजे पार उतार सूर को। महाराज बृजराज ॥
नई करत कहत प्रभु तुम सों। सर गरीब निवाज ॥

विचार करो कि जब कि तुलसी दास जैसे धर्मनिष्ठ कवि अपनी रचनाओं में फारसी के शब्द प्रयोग कर जाते थे तो क्या आपस की बात चीत में हिंदू जनसाधारण इससे कुछ अधिक ऐसे शब्दों का प्रयोग न करते होंगे ?

अन्त में ब्रजभाषा का रूपसौंदर्य राजा जयसिंह सवाई की गुणग्राहकता और दानशीलता के कारण और निखार पर आया। उन्होंने गुणवान कवियों को प्रति दोहरे एक अशर्फी पुरस्कार के रूप में देकर दिल्ली और आसपास के प्रदेशों में ब्रजभाषा के प्रति रुचि बढ़ाया और इस भाषा के प्रचार को प्रोत्साहित किया।

उस समय मुसलमानों की भाषा की क्या दशा होगी ? स्पष्ट है कि इस देश में इस्लाम को आए हुए कई सौ वर्ष बीत चुके थे। जिन मुसलमानों के बाप दादा कई कई पीढ़ी यहीं की मिट्टी में जन्मे और उसी के नीचे दफन किए गए, उन्हें पारस्परिक संबंध और व्यवहार के कारण जरूर यहाँ की भाषा यानी ब्रजभाषा बोलनी होती होगी। जो विदेशी थे, वे आधी अपनी आधी उनकी मिलाकर टूटी फुटी भाषा बोलते होंगें। इन भाषाओं में कोई गद्य साहित्य अब उपलब्ध नहीं है। वही अमीर खुसरों की एक गज़ल और पहेलियाँ और मुकरियाँ और गीत पता बताते हैं कि सन् १३०० ई० में यहाँ के मुसलमान अच्छी खासी भाषा बोलते होगे। बल्कि इनकी रचनाओं से साफ़ पता चलता है कि मुसलमान भी अब यहीं की ज़बान को अपनी ज़बान समझने लगे थे और इस ज़बान को बड़ी चाव और प्रेम से बोलते थे। शायद हिंदुओं की अपेक्षा अरबी फारसी शब्द उनकी ज़बान पर अधिक संख्या में आ जाते होंगें। और जितना ही यहाँ रहना सहना और यहीं जीवन निर्वाह करना बढ़ता गया होगा, उतना ही दिन प्रतिदिन उनकी भाषा में फ़ारसी तुर्की का कम और यहाँ की भाषा का अधिक प्रयोग होता गया होगा। धीरे धीरे शाहजहाँ के जमाने में तैमूरी वंश का प्रताप ओज के शिखर पर था। शहर और उसके प्राचीर का निर्माण हो जाने पर नई दिल्ली राजधानी हुई। बादशाह और राज्य के प्रमुख पदाधिकारी अधिकतर वहीं रहने लगे। फौजा लोग, लेखक और साहित्यकार, शिल्पी, व्यापारी इत्यादि और देश विदेश और शहर शहर के आदमी एक जगह इकट्ठा हुए। तुर्की में 'उर्दू' लश्कर के बाजार को कहते हैं। शाही लश्कर के बाजार शाही दरबार में लोग अधिकतर इसी प्रकार की मिली जुली भाषा का प्रयोग करते थे। इसी भाषा का नाम 'उर्दू' हो गया। इसे केवल शाहजहाँ का प्रताप कहना चाहिए की इस जबान को सभी स्तर के लोगों में मान्यता मिली। यों तो जो गद्य और पद्य के उदाहरण प्रस्तुत किए गए, उनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जिस समय से मुसलमान हिंदोस्तान में आए होंगे, उसी समय से उनकी ज़बान ने यहाँ की ज़बान पर प्रभाव डालना आरंभ कर दिया होगा। चंद कवि कि रचना जिससे एक उद्धरण दिया जा चुका है उसमें विदेशी शब्द मौजूद हैं। महमूद के समय की कोई कविता या पद्य रचना यदि मिल जाय तो उसमें भी ऐसे शब्द अवश्य मिलेंगे।

उपर्युक्त विवरण से यह भी प्रमाणित होता है कि जो कुछ इस भाषा (ब्रज-भाषा) में परिवर्तन हुए, वह किसी आन्दोलन या पूर्व कल्पित आयोजन से नहीं हुआ। बल्कि इस भाषा की तबियत ऐसी मिलनसार है कि हर अन्य भाषा से मिल जुल जाती है। संस्कृत आई उससे मिल गई। अरबी फ़ारसी आई उसका स्वागत किया। अब अंग्रेजी शब्द को इस तरह प्रश्रय दे रही है, मानो उसकी प्रतीक्षा में बैठी थी।

इसी ज़बान को 'रेख्ता' भी कहते हैं, क्योंकि विभिन्न भाषाओं ने इसे रेख्ता (जिसके लफ्जी मानी है चूने की बनी हुई दीवार या इमारत) किया है, जैसे किसी दीवार को ईंट, मिट्टी, चूना, इत्यादि सामग्री से पक्का करते हैं। या यह कि रेख्ता के अर्थ हैं गिरी पड़ी, बिखरी हुई चीजें। चूंकि इसमें शब्दों को इधर उधर से चुनकर जमा किया है, इसलिए इसे रेख्ता कहते हैं। स्पष्ट दिखाई देता है कि इसमें अरबी, फ़ारसी, तुर्की इत्यादि कई भाषाओं के शब्द शामिल हैं और अब अंग्रेजी शब्दों का भी समावेश होता जाता है। और संभव है कि एक समय आए, जबकि अरबी, फ़ारसी की तरह इस पर अंग्रेजी भाषा हावी हो जाय। इस प्रसंग में एक कुलीन नवाबज़ादे की वार्ता सुनिए, जिसका लालन पालन और शिक्षा दीक्षा घरेलू है। यानी न अरबी फ़ारसी की मुखरता ने इसपर रंग चढ़ाया है न अंग्रेजी ने रौग़न फेरा है। केवल दोस्ताना अनौपचारिक बातें है :—

"बड़े आका की पेन्शन लेने कल कचहरी गया था। डिप्टी साहिब के कमरे के आगे कुछ कुरकी का माल नीलाम हो रहा था। कर्मरियां कोट और वास्केटें नई थी। कंटर और गिलास भी विलायती थे। कुर्सियां, मेजें, चिके बारीक खुश-रग थीं। मैंने कहा 'चलो कोई ढब की चीज हो तो ले लें। मझले आका बोले, 'जाने भी दो। जिस माल ने मालिक से वफा न की, हमसे क्या वफ़ा करेगा ? 'आते हुए रेलस्टेशन के पास देखता हूँ खुब्बे मिर्ज़ाजान चले आ रहे हैं। शिकरम ठहराकर बड़े तपाक से मिले। बुढ़ापे ने बेचारे का रंग रूप सब खो दिया। वह शकल ही नहीं। वह सूरत ही नहीं। वैसे गोरे चिट्टे सजीले जवान थे। लोग तस्वीरें उतरवाते थे। मैंने कहा 'मियाँ, हमने तो जाना था तुम दकन से खूब चाक चौबन्द (हृष्टपुष्ट), सुर्ख सफेद होकर आओगे। तुम तो सूख कर काक (कमज़ोर) हो गए। ग़जब किया अगला जोबन भी गँवा आए"। ठंडी सांस भर कर, बोले, "हाय जवानी"।

इस उद्धरण में फ़ारसी अरबी के शब्द तो साफ़ दिख जाते हैं। मगर ख्याल कीजिए कि 'कुर्क', 'चिक', 'चाकू', 'काक', 'आका', तुर्की है। 'मेज़' किस भाषा का है यह नहीं मालूम। 'नीलाम' पुर्तगाली है। 'कमरा' इतालवी है। 'डिप्टी', 'रेल', 'स्टेशन', 'कोट', 'ग्लास', अंग्रेजी हैं। 'चिट्टा', 'खुब्बा' पंजाबी है। मगर इतना है कि हम (चिट्टा 'बग़ैर गोरे' के; (जैसे, गोरा चिट्टा) और उसी तरह 'चंगा' बग़ैर 'भले' के (जैसे, भला-चंगा) नहीं बोलते। पंजाबी में इस शब्द को अकेला ही बोलते

हैं। 'खब्बा' पंजाबी में साधारण प्रयोग में है। किंतु इसे 'खास' विशेषण के साथ बोलते हैं। 'भंडा फोड़ना' उर्दू में किसी बात या भेद को खोल देने को कहते हैं। पंजाबी में वर्तन को भाँडा ही कहते हैं। 'गला घोंटना' उर्दू में बोलते हैं। पंजाबी में खींच कर बाँधने को या मजबूत पकड़ने को कहते हैं। जैसे, 'घुटकर बाँधो' या 'घुटकर पकड़ो'। 'भन्ना', 'भनाना' (का अर्थ तोड़ना या तुड़वाना है। और इसी वजह से पंजाबी में रुपये के लिये भी भुनना कहते हैं। उर्दू में पहले का अर्थ तिरस्कृत हो गया है, दूसरे ही अर्थ में प्रयोग किया जाता है। वह भी 'भ' को 'भु' करके कि 'जाओ, रुपये के टके भुना लाओ'। और इस असलियत का पता यों लगा कि फ़ारसी में रुपये के लिये 'खुर्दः करदन' यानी रेज़कारी भनाना बोलते हैं और उर्दू में भी कहते हैं। 'सुबह को रुपआ खुर्दः किया था। दोपहर को देखो तो बरकत!' यानी सब पैसे ख़र्च हो गए।

कसौटी घिसना उर्दू में ज़ेर के साथ बोलते हैं। पंजाबी में इस तरह बोलते हैं कि 'क' पर ज़बर लगा हुआ मालूम होता है। 'ह' का उच्चारण पंजाबी में विचित्र ढंग से होता है। जैसे वह उच्चारण इन्हीं के लिये बनाया गया हो। इसलिये इसका नाम 'कसबट्टी' (घिसने की बटिया) हुआ और उर्दू में यही शब्द 'कसौटी' हो गया।

'रूप', 'सजीला', 'जोबन', गंवाया', ब्रजभाषा हैं। इनके अलावा रोज़मर्रः की बातों पर ख़याल करो। 'यूसुफ़', 'हरुँ', 'मूसा', 'ईसा' इत्यादि ईरानी हैं। 'कीमियाँ', 'फैलसूफ़', 'उस्तरलाब' यूनानी हैं। उर्दू यानी माश तमिल है। 'नन्हाँ' यानी खुर्द गुजराती है। 'बड़ा' जो कढ़ाई में तलते हैं तेलगू है। 'गोदाम' मलाया की ज़बान है। 'तम्बाकू' अमरीका का शब्द है, जो यूरोप के रास्ते से होकर अकबर के समय यहाँ पहुँचा।

उर्दू में उस समय गद्य की कोई ऐसी पुस्तक नहीं लिखी गई, जिससे इन शब्दों में परिवर्तन का क्रम मालूम हो। किंचित मीर जाफ़र 'ज़टल' की रचना को मैं मुहम्मदशाही बल्कि इससे भी पहले ज़माने का नमूना कहता हूँ। मगर जो नाम का ही 'ज़टल' (निम्न कोटि का) है, उसके काम का भरोसा क्या? अलबत्ता मुहम्मदशाह के राज्यकाल (स० ११४५ ई०) से 'कजली' उपनाम के एक बुज़ुर्ग ने एक पुस्तक 'दहे मजलिस' लिखी। इसकी भूमिका में उस पुस्तक के संपादन के कारण की चर्चा की है। संभवतः उर्दू गद्य की यही पहली रचना है।

"फिर दिल में गुज़रा कि ऐसे काम को अक़्ल चाहिए तामिल और मदद कसू तरफ़ की होय शामिल क्योंकि 'बे ताईदे समदी और बे मददे जनाब अहमदी'। यह मुश्किल सूरत पज़ीर न होवे। और गौहरे मुराद रिश्तए उमीद में न आवे। लेहाज़ा कोई इस सन्अत का नहीं हुआ। मुख़्तरः। और अब तक तरजुमए फ़ारसी, बएबारते हिंदी नस्र नहीं हुआ। मुस्तम्अ। पस इस अंदेशए अमीक़ में ग़ोता खाया और बयाबाने ताम्मुलोले तदबीर में सरगश्तः हुआ। लेकिन राह मक़सूद की न पाई।

नागाह नसीमे इनायते इलाही दिले अफ़्गार पर एहतेज़ाज़ में आया। यह बात आईनए ख़ातिर में मुँह दिखलाई।[1]

'मीर' की मस्नवी 'शोलए इश्क़' के मूल पाठ को भी मिर्जा रफ़ी ने गद्य में रूपांतरित किया। खेद है कि वह इस समय उपलब्ध नहीं। इसकी शैली भी बिल्कुल 'कजली' के उपर्युक्त उद्धरण जैसी ही है। इसके कुछ अंश सौदा की लिखी एक भूमिका से उद्धृत करता हूँ जो उसके संग्रह में मौजूद है :—

नस्र मिर्ज़ा रफ़ी :—"ज़मीरे मुनीर पर आईना दारा ने माना के मुबरहन हो के महज़ इनायत हक़-तआला की है तो तूलिए नातक़ा शीरीं सुख़न हो। पस यह चंद मिस्रे के अज़ क़बील रेख़ता दर रेख़ता ख़ामए दो ज़बान अपनी से सफ़हे कागज़ पर तहरीर पाए। लाज़िम है कि तहवीले सुख़न सामए संजान रोजगार करूँ। ता ज़बानी इन अख़ास की हमेशा मुरिदे तहसीन व आफ़रीन रहूँ।

कीमतो क़द्रे-शिनासा[2] ही पहुचे है वहम[3]
वर्ना दुनिया में खज़फ़[4] भी नहीं गौहर[5] से कम।।

मज़मूने सीना में बेश-अज़-मुर्ग़-असीर नहीं कि हो बीच क़फ़स के। जिस वक़्त ज़बान पर आया फ़र्यादे बुलबुल है वास्ते गोश दादरस के। ग़रज जिस अहले सुख़न का दुरे मुन्सफ़ी ज़ीनते लब ह सर रिश्तए हुस्त मानी का इस कलाम के इससे इन्साफ़ तलब है। अगर हक़ ताला ने सुबह कागज़ सफ़ेद की मानिन्द शाम स्याह करने को यह ख़ाकसार ख़ल्क़ क्या है तो हर हर इन्सान के फ़ानूस दिमाग़ में चिराग़ होश दिया है। चाहिए कि देख कर नुक्ता-चीनी करे वर्ना गज़न्द ज़हर आलूद से बेअजल काहे को मरे"।

इस रचना से लगभग ३० बरस के बाद जब कि मीर इन्शा-अल्लाह ख़ाँ और मिरज़ा जाने-जानां मज़हर की दिल्ली में भेंट हुई तो उनके वार्तालाप की कुछ पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं। सैयद इन्शा मिर्ज़ा जाने-जानां से कहतें हैं :—

"इब्तदाए सने सब्रा से ता अवायले रयान और अवायले रयान से इश्तयाक़े मालायुताक़ तक़बील उतबा आलिया न बहदे था। कि सिल्क तहरीर व तक़रीर में मुन्तज़िम हो सके। लेहाज़ा बे-वास्ता व वसीला हाज़िर हुआ हूँ।"

---

१. "फिर मन में यह बात आई कि ऐसे काम के लिये बहुत अक़्ल चाहिए और साथ साथ इसके लिये खुदाई मदद भी मिलनी चाहिए, क्योंकि बिना इस मदद के यह मुश्किल काम पूरा नहीं किया जा सकता और न हि इस मामले में हमारी ख्वाहिश ही पूरी हो सकती है। इन्हीं वज़हों से कोई ऐसा आलिम न हुआ, जो फ़ारसी भाषा को हिंदी भाषा में तर्जुमा करे। इसी गौर और फ़िक्र में डूबता उतराता रहा। और इस बारे में फ़िक्र बराबर बनी रही लेकिन कोई माकूल रास्ता दिखाई न दिया। इत्तिफ़ाक़न ख़ुदा के फ़ज़ल से हमें उस रास्ते की एक झलक मिली और इस मसले के हल की शकल मानों आईने की परछाई की तरह सामने आई।"

२. गुणग्राही ३. परस्पर ४. ठिकरा ५. मोती

मिर्ज़ा साहब उसके जवाब में कहते हैं :—

"अपने तई कौन भी बद्‌बेतिफ्ली से तुम्हीं ऐसे अश्ख़ास के साथ मवानसत और और मजालसन रहा की है।"

लेकिन ग़फ़र ग़नी के नाम से एक वार्त्ता सैयद इन्शा ने 'दरियाए लताफ़त' में लिखी है, जिसे पढ़कर आश्चर्य होता है कि इस सुयोग्य व्यक्ति ने यह भाषा कैसी सुबोध और सरल साँचे में ढाली है कि उपर्युक्त उद्धरण की भाषा और इसमें ज़मीन-आसमान का अंतर मालूम होता है। शायद मिर्ज़ा जाने-जानां और सौदा वग़ैरह बुज़र्गों के लिखने का ढंक कुछ और होगा, बातचीत की शैली कुछ और होगी।

समसामयिक उर्दू साहित्य रचनाओं की खोजबीन से पता चलता है कि उस समय तक उर्दू गद्य की कोई ऐसी पुस्तक नहीं लिखी गई थी, जिससे शब्दों के आदान प्रदान और उनके परिवर्तन क्रम का कुछ ठीक पता लग सके। लेकिन इतना तो निर्विवाद है कि इस समय तक उर्दू की साहित्य रचना, इसकी प्रगति और इसका विस्तार केवल कवियों की भाषा पर आधारित थी, जिनकी रचनाएँ प्रायः आशिक़ाना ग़ज़लें और प्रशंसात्मक क़सीदे होते थे। और इनका उद्‌देश्य केवल इतना था कि या तो क़सीदे लिखकर धनी मानी व्यक्तियों से इनाम लेकर जीवन निर्वाह करें, या कविता पाठ से मनोरंजन के लिए एकत्रित हुए लोगों या दोस्तों से प्रशंसा और शाबाशी प्राप्त करें। गद्य की ओर किसी का बिल्कुल ध्यान न था, क्योंकि मतलब के सब आवश्यक काम काज फ़ारसी में होते थे। मगर ईश्वर की माया देखो कि थोड़े समय में ही आप से आप कुछ ऐसी दैवी परिस्थितियाँ इकट्ठी हो गईं, जिससे कि यह भाषा जन साधारण में प्रचलित हो गई। इसका मुख्य कारण था इस भाषा में सरलता और सुबोधता का समावेश। इसलिए लेखकों को इस भाषा में लिखकर लोकप्रियता हासिल करने की लालसा हुई। मीर मुहम्मद अता हुसैन ख़ां 'तहसीन' ने चार दरवेश का क़िस्सा उर्दू में लिखकर 'नौतर्ज़े मुरस्सा' नाम रखा।

इधर तो यह नवनिर्मित भाषा एक चंचल और चपल बालक के रूप में शायरों की महफ़िल में और अमीरों के दर्बार में अपने बचपने की शोख़ियों से सब का मन बहलाने लगा, उधर बुद्धिमान् अंग्रेज़ ने जो कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम के क़िले पर दूरबीन लगाए बैठा था, इसे देखा। वह पैनी दृष्टि वाला ताड़ गया कि लड़का होनहार है, मगर इसे शिक्षा दीक्षा की ज़रुरत है। उसने यह सोचा कि जिस देश पर शासज करते हैं, उसकी भाषा सीखना उचित और आवश्यक है। चुनांचे सन् १७९९ ई० में मीर शेर अली 'अफ़सोस' ने 'बाग़े उर्दू' और सन् १९०५ ई० में 'आरायशे महफ़िल' लिखी। मीर अमर देहलवी ने सन् १८०८ ई० (१२१७ हि०) में 'बाग़ो-बहार' को रचा और इन्हीं दिनों 'अख़्लाक़ मुहसनी' का अनुवाद किया। साथ ही जान गिल्क्रस्ट साहिब ने अंग्रेज़ी में उर्दू का व्याकरण लिखा। सन् १९०३ ई० में श्री लल्लू जी लाल कवि ने प्रेमसागर लिखा और बैताल पचीसी जो मुहम्मद शाह के समय में संस्कृत से ब्रज भाषा में आई थी, अब सरल उर्दू होकर नागरी में लिखी गई। धीरे धीरे उर्दू की

गौरव दुंदुभी का स्वर ऊँचा उठता ही गया। कि मीर इन्शा अल्लाह ख़ाँ पहले व्यक्ति थे, जिन्हों ने सन् १८०७ ई० में उर्दू का व्याकरण लिखा। इस तरह उर्दू भाषा में एक नए विषय को विनोदपूर्ण ढंग से लिखना मानो एक नई टहनी में फूलों का खिलना था।

मज़े की बात यह है कि उर्दू भाषा को जनसाधारण के लिए सुबोध होने के कारण इस्लामी मज़हब ने भी इसकी सरपरस्ती शुरू की। यानी सन् १८०७ ई० में मौलवी शाह अब्दुल क़ादिर साहब ने कुरान शरीफ का अनुवाद उर्दू में किया। इसके पश्चात् मौलवी इस्माइल साहब ने कुछ साधारण पत्रिकाएँ मुसलमानों के लिये उर्दू में प्रकाशित किए।

सन् १८३५ ई० से सरकारी दफ़तरों का काम भी उर्दू में होना शुरू हुआ। कुछ वर्षों के बाद सभी दफ़तरों में उर्दू ज़बान प्रचलित हो गई। इसी सन् में अख़बारों को प्रकाशित करने में कुछ स्वतंत्रता मिली। सन् १८३६ ई० में उर्दू का 'हक' अख़बार दिल्ली में प्रकाशित किया गया। यह भाषा का पहला अखबार था, जो कि मेरे (मौलाना मूहम्मद हुसेन आजाद के) स्वर्गवासी पिता के क़लम से निकला।

तात्पर्य यह कि सरल और सुबोध होने के कारण और यह समझ कर कि देश की भाषा यही है, दफ़्तरों की भाषा भी यही हो गई। उर्दू ने धीरे धीरे फ़ारसी को पीछे हटाना और अपना पग आगे बढ़ाना शुरू किया। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेज़ी सरकार ने यह उचित समझा कि इस मुल्क के लोगों को अँग्रेज़ी विज्ञान और कला भी इन्हीं की भाषा में सिखाया जाय। इसलिये सन् १८४२ ई० से दिल्ली में एक सोसाइटी की स्थापना की गई, जिसके द्वारा अनुवाद का काम होने लगा और आवश्यकतानुसार इल्मी और वैज्ञानिक शब्द भी संकलित किए जाने लगे। विचार करें कि जिस भाषा का मौलिक आधार इतना सीमित हो, वह भाषा क्या! और उसकी फैलाव का क्षेत्र क्या? अल्बत्ता अब यह आशा की जा सकती थी कि किंचित् इस भाषा को भी ज्ञान और विज्ञान की भाषाओं की परंपरा में कोई स्थान मिल सके।

उर्दू इतनी शीघ्रता से रंग बदलती रही है कि एक लेखक यदि स्वयं अपनी एक वर्ष की रचना की दूसरे वर्ष की रचना से तुलना करे तो वह अपनी भाषा में अंतर पाएगा। बावजूद इसके अबतक भी इस भाषा में इतनी क्षमता नहीं आ पाई है कि हर प्रकार के विषयों का यथोचित वर्णन कर सके, या ज्ञान के सभी शाखा के या हर भाषा के पुस्तक का निःसंकोच अनुवाद कर दे। इसका कारण यह है कि पाश्चात्य देशों में ज्ञान और ज्ञान संबंधी हजारों समस्याएँ ऐसी निकलती रही हैं, जिनकी जानकारी प्राचीन समय में बिल्कुल न थी। इस कारण अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, ब्रजभाषा इत्यादि, जो कि उर्दू की पूर्ववर्ती भाषाएँ हैं. उनके भंडार में भी उन विषयों के निरूपण के लिये उपयुक्त और पर्याप्त शब्दराशि नहीं

थी। और इसलिये हम उर्दू बिचारी की दरिद्रता पर आश्चर्य नहीं कर सकते, विशेष कर जबकि हिंदू-मुसलमान सभी अपने पूर्वजों की थाती को हाथ से खो बैठे थे।

व्रजभाषा पर अरबी और फ़ारसी का प्रभाव

जब दो विभिन्न भाषाभाषी क़ौम आपस में मिलती हैं तो एक के रंग रूप का दूसरे पर अवश्य प्रभाव पडता है। और यह प्रभाव बातचीत, वेष-भूषा, भोजन, उठना-बैठना और रीति-रिवाजों इत्यादि में भी व्यक्त होता है। लेकिन चूंकि इस पुस्तक के अंतर्विषय के प्रसंग में हमारा प्रयोजन केवल भाषासंबंधी समस्याओं से है इसलिये इसी विषय की चर्चा अपेक्षित होगी। स्पष्ट है कि जब एक विदेशी क़ौम किसी अन्य देश की क़ौम के संपर्क में आती है तो अपने देश से सैकड़ों वस्तुएँ ऐसी लाती है, जो वहाँ पहले से नहीं होतीं। ऐसी वस्तुएँ कभी आवश्यक और कभी इतनी सुविधाजनक होती हैं कि इन्हें उपयोग में लाना जीवन के लिये अनिवार्य मालूम होने लगता है। इसलिये देशी लोग इन्हें एक उपयोगी वस्तु समझकर ग्रहण कर लेते हैं और उन्हें खुशी के साथ काम में लाते हैं। इन वस्तुओं में बहुतेरे पदार्थ तो अपना नाम अपने साथ लाते हैं और बहुतेरे नए ढंग से या अदल बदल कर यहाँ एक नया नाम पाते हैं। संपर्क के आरंभ काल में देशी भाषा विदेशी भाषा से इसी प्रकार प्रभावित होती है। इसके अतिरिक्त जब यह दोनों क़ौम साथ रहते सहते दूध शक्कर की तरह मिल जाती हैं तो एक भाषा में दूसरी भाषा के शब्द भी उसी तरह घुल मिल जाते हैं।

जब मेहमान (अतिथि) और मेज़बान (आतिथेयी) एक दूसरे की भाषा समझने लगते हैं तो उनकी भाषाओं में एक सुंदर और उपयोगी विनिमय और परिवर्तन के लिये रास्ता पैदा होता है। क्योंकि मानवीय प्रकृति की मौलिक एकरूपता के कारण उनके विचारों में सामंजस्य या निकट सामंजस्य होता है; किंतु उन्हें वर्णन करने का तर्ज़ और अंदाज़ सबका भिन्न-भिन्न होता है; और मनुष्य की तबियत सदा नए अंदाज़ को ग्रहण करना चाहती है; इसलिये अपने तात्पर्य को व्यक्त करने के लिये वह एक दूसरे के बात कहने के ढंग से भी लाभ उठाता है। फिर नई नई उपमाएँ, मज़ेदार रूपक लेकर पुरानी उपमाओं और रूपकों का रंग बदलते हैं। और जिस मात्रा में किसी भाषा में ग्रहणशीलता होती है, वह दूसरे के विचार और कल्पनाओं और नई रचना-प्रणाली को लेकर अपने में नया लालित्य पैदा करती हैं।

सच तो यह है कि ऐसा क्रांतिमय परिवर्तन समय समय पर हर एक भाषा में घटित होता रहता है। इसी तरह अरबी जाति ने, जो एक ज़माने में रूम, यूनान और हस्पानियाँ इत्यादि के संपर्क में आकर ख़िल्त मिल्त हुई थी, हज़ारों शब्द वहाँ से लिए। इसी तरह फ़ारसी भाषा अरबी और तुर्की इत्यादि से समृद्ध हुई। अंग्रेजी भाषा तो अपनी भाषात्मक ग्रहणशीलसा के लिये प्रसिद्ध है। इसका शब्द भांडार तो अन्य भाषाओं के शब्दों से भरा पड़ा है। इतना कहना पर्याप्त है कि जिस तरह एक

समय और सुविस्तृत साम्राज्य के अधिकारियों को प्रशासन संबंधी सभी साधन भिन्न भिन्न देशों से ग्रहण करना आवश्यक होता है, उसी तरह अँग्रेज़ी भाषा में सभी प्रकार के शब्द और विचारों के व्यक्त करने के ढंग मौजूद हैं।

अब मुझे उर्दू भाषा के विषय में चर्चा करनी चाहिए। लेकिन इतना फिर याद दिलाना उचित है कि उर्दू कहाँ से निकली और क्योंकर निकली। उर्दू भाषा पहले लेन-देन और रहन-सहन की आवश्यकताओं के लिये पैदा की गई। हिंदुओं के साथ भारतीय मुसलमान, जो प्रायः ईरानियों और तुर्कों के वंशज थे, भारत को अपनी मातृभूमि और इस भाषा को अपनी भाषा समझने लगे। यह भी ज़ाहिर है कि जिस तरह पृथ्वी किसी प्रकार के वनस्पति के बिना ख़ाली नहीं रह सकती उसी तरह कोई भाषा कविता के बिना नहीं रह लकती। मुहम्मदशाही शासनकाल था और लोग विलासिता में डबे हुए थे। सुशिक्षित पुरुषों ने यह विचार किया होगा कि जिस तरह उनके पूर्वजों ने फ़ारसी साहित्य-रचना में फूल सजाए थे, उसी तरह वह उर्दू में जो कि अब उन्होंने निजी भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया था, कुछ रंग दिखाएँ। चुनांचे वही फ़ारसी की रूपरेखा उर्दू में उतार कर ग़ज़ल ख़्वानी आरंभ कर दिया और क़सीदे भी कहने लगे। और इसमें कोई संदेह नहीं कि जो कुछ रचना-कौशल या शब्द-लालित्य, शैली-सौंदर्य, या उपमा और रुपकों की रंगीनी शुरू उर्दू भाषा को मिली, वह उर्दू कवियों की बदौलत मिली। और यही कारण है कि जो कुछ सामग्री एक सार्वजनिक और टकसाली भाषा के लिये दरकार होती है, उसका इस भाषा में अभाव सा रहा। क्योंकि उस काल में यदि साहित्य और कला, इतिहास और दर्शन गणित और ज्योतिष इत्यादि की जन-साधारण में चर्चा होती तो उसके लिये भी शब्द रचना हो जाती। जिन जिन बातों की चर्चा थी, उन्हीं के संबंध में शब्द और विचारों का निर्माण हुआ। हाँ, यह कहना उचित होगा कि जो कुछ हुआ अपने रंग पर खूब हुआ।

अब हमें फिर मतलब पर आना चाहिए कि हमारी ज़बान ने उर्दू के कपड़े पहनने के लिये फ़ारसी से क्या क्या लिया :—

(१) उन वस्तुओं के नाम लिए, जो अरब और फ़ारस से आए और अपने नाम अपने साथ लाए। जैसे, वेश-भूषा में फ़रग़ल, लबादा, कुरता, क़बा, चोग़ा, आस्तीन, गरेबां, पायजामा, ईज़ार, अमामा, रूमाल, शाल, दोशाला, तकिया, गाव-तकिया, बुर्क़ा, पोस्तीन इत्यादि। खाद्य सामग्री के संबंध में——दस्तरख़्वान, चपाती, शीरमाल, बाक़रख़ानी, पुलाव, ज़र्दा, क़लिया, क़ोरमा, मुतंजन, फ़िरनी, माकूती, हरीरा, हरीसः, लौज़, मुरब्बा, अचार, फ़ालूदा, गुलाब, बेद-मुश्क, ख़ान, तबक़, रेकाबी, तश्तरी, कफ़गीर, चमचा, सेनी, किश्ती, चायनोश इत्यादि।

प्रकीर्णक शब्द जैसे :——हम्माम, कीसः, साबुन, शीशा, शमा, शमादान, फ़ानूस, गुलगीर, तनूर, रफ़ीदः, मशक, नमाज़, रोज़ा, ईद, शबे-बरात, क़ार्ज़ा, साक़ी, हुक्का, नैचा, चिलम, तफ़िंग, बंदूक़, तख़्ता-नर्द, गंजफ़ा और इनकी परिभाषाएँ। यह सब

चीज़ें अपने नाम साथ लेकर आईं। बहुत सी चीज़ें ऐसी आईं, जिनके लिये भाषा में नाम नहीं। शायद संस्कृत की किताबों में हों। जैसे पिस्ता, बादाम, मुनक़्क़े, शहतूत, बीदाना, ख़ूबानी, अंजीर, सेब, बही, नाशपाती, अनार इत्यादि।

(२) बहुत से अरबी फ़ारसी के शब्द साधारण प्रयोग में आ जाने के कारण इस तरह जगह पकड़ बैठे हैं कि अब इनकी जगह कोई संस्कृत या अन्य किसी प्राचीन भाषा का शब्द ढूँढ़ना पड़ता है। मगर इसमें या तो उनके मौलिक अर्थ का अनर्थ हो जाता है या भाषा ऐसी क्लिष्ट हो जाती है कि जन-साधारण तो क्या सुशिक्षित हिंदुओं की समझ में भी नहीं आती; जैसे, दलाल, फ़र्राश, मज़दूर, वकील, जल्लाद, सर्राफ़, मसख़रा, नसीहत, लिहाफ़, तोशक, चादर, सूरत, शक्ल, चेहरा, तबीयत, मिज़ाज, बर्फ़, फ़ाख़्ता, कुमरी, कबूतर, बुलबुल, तोता, पर, दवात, क़लम, स्याही, जुलाब, रुक़्क़ा, ऐनक, सन्दूक़, कुर्सी, तख़्त, लगाम, रकाब, ज़ीन, तंग, पोज़ी, नाल, कोतल, अक़ीदा, वफ़ा, जहाज़, मस्तूल, बाद बान, तोहमत, दर पर्दा, दालान, तहख़ाना, तनख़ाह, मल्लाह, ताज़ा, ग़लत, सही, रसद, सरबारी, कारीगर, तराज़ू। शतरंज के बारे में आश्चर्य है कि हिंदुस्तान का ही आविष्कार है, मगर अरब और फ़ारस से जो फिर कर आई तो अपने सभी मुहरों के नाम और अपनी परिभाषाएँ बदल आई।

सैंकड़ों शब्द अरबी फ़ारसी के यहाँ आए मगर यहाँ का वातावरण उनके अनुकूल न मिला, इसलिये उनकी प्रकृति और आकृति दोनों बिगड़ गई। जैसे, मुर्ग़ा इत्यादि। व्याकरण में फ़ारसी से कुछ नहीं लिया। बस इतना किया कि 'ओं' जो हिंदी में बहुवचन का चिह्न है उसे अरबी, फ़ारसी शब्दों पर भी लगा लिया जैसे, आदमियों, इन्सानों, दरख़्तों, मेवों इत्यादि।

इस्मे-फ़ायल—यानी कर्ता फ़ारसी और अरबी के अनगिनित लिए और उनमें 'शतरंज बाज़' के अन्दाज़ पर 'चोपड़-बाज़' और 'वफ़ादार' के अन्दाज़ पर समझदार जिसे कभी-कभी समझनाक भी बोल देते थे। बाग़बान के अन्दाज़ पर गाड़ीवान, हाथी-वान, बहलवान।

इस्मेज़र्फ़—यानी स्थान और समय वाचक संज्ञा जैसे क़लमदान इत्यादि के अन्दाज़ पर ख़ासदान, पानदान, नागरदान, पीकदान, मोदीख़ाना, पैख़ाना इत्यादि इत्यादि।

बाबे हुरूफ़ (अव्यय) का भी यही हाल है। उदाहरण के लिये उपमासूचक शब्द कोई नहीं लिये। किंतु 'चूंकि' और 'चुनांचे' इन शब्दों को अपना लिया और हिंदी में भी इनका अन्य कोई पर्यायवाची शब्द नहीं मिलता।

हर्फ़े शर्त्त में 'अगर' और इसी से व्युत्पन्न 'अगरचः' भी लिया।

वाव आतिफ़ः (संयोजक शब्द) भी कुछ उर्दू इबारत में ले लिया, जैसे, आबोहवा, शबोरोज़, सुबहोशाम, ज़ोरोशोर इत्यादि।

हर्फ़े इस्तिना (मगर इत्यादि अव्यय) में से 'मगर', 'सिवा', 'लेकिन' इत्यादि ले लिए। इनके लिये अपने अव्यय कौन थे, इनका पता नहीं।

हुरूफ़नफ़ी (नकारात्मक अव्यय)–'ना' और 'बिना' की जगह 'न' और 'ने' आगए। वर्त्तमान भाषा के शब्द न रहे।

हुरूफ़ ईजाब (स्वीकारात्मक अव्यय) से आशय केवल आदर सूचक शब्दों का रहा, जैसे 'बजा', 'दुरुस्त', 'वाक़ई', 'बेशक' 'बसरोचश्म' इत्यादि शब्दों का समावेश हुआ। उस समय की भाषा में प्रचलित शब्द जो थे, वे न रहे।

हुरूफ़ ताकीद (आज्ञावाचक अव्यय) के स्थान में 'हरगिज़', 'जिनहार', 'ज़रूर' अल्बत्ता आगए, प्रचलित शब्द गुम हो गए।

हुरूफ़ तरदीद (विकल्पात्मक अव्यय) के स्थान में 'या' 'ख्वाह' आए। इत्यादि इत्यादि।

हिंदी में क्रियावाचक शब्द मौजूद थे, फिर भी सैंकड़ों नई क्रियाएँ फ़ारसी शब्दों और मुहावरों से मिला जुलाकर बना लिए; जैसे,

हम **मानना** कहते हैं। 'हरचंद समझाया, उसने मंजूर न किया। किसी ढंग से क़ुबूल न किया यानी न माना।

हम **मुकरना** कहते हैं। 'पहले तो क़ुबूल किया। फिर इन्कार कर गया'। यानी मुकर गया।

हम अब **सोचना** कहते हैं। 'हर चंद फ़िक्र करता हूँ (यानी सोचता हूँ) अक़्ल काम नहीं करती'।

'पछताना'––अपने किए पर बहुत पशेमान (पश्चात्ताप) हुआ। 'मगर अब क्या हो सकता है।' यानी पछताना।

इसी तरह ख़ुश होना, गुस्से होना, ख़फ़ा होना, तंग होना, दिक़ होना, ग़मगीन होना, तमाशा देखना, सैर करना, इंतज़ार करना, राह देखना––यहाँ तक कि बहुतेरे क्रियाओं का असल हिंदी रूप गुम हो गया। इससे बढ़कर यह कि अरबी फ़ारसी के धातु शब्द लेकर हिंदी के तद्भव धातु बना लिया।

गुज़श्तन से गुज़रना और संबंधित क्रियाएँ। मुहावरा है कि 'गई गुज़री बात का अब क्या कहना'।

फ़रमूदन से फ़रमाना और संबंधित क्रियाएँ।

क़ुबूल से क़ुबूलना। मुहावरा है 'बड़ा बादी चोर था। हरगिज़ न क़ुबूला'।

बदल से बदलना और इसकी बहुत सी क्रियाएँ। मुहावरा है 'अदले का बदला है, साहेब!

बख़्शीदन से बख़शना। **लरज़ीदन** से लरज़ना। **नवाख़्तन** या **नवाज़िश** से नवाज़ना। **शरम** से शरमाना। **काहिली** से कहलाना।

मियाँ मजबूर एक पुराने शायर थे। हमारे स्वर्गीय उस्ताद उनकी बातें किया करते थे कि ये बहुत बूढ़े थे। मकतब (पाठशाला) में पढ़ाया करते थे। एक दफ़ा मुशायरे में ग़ज़ल पढ़ी। ज़रा देखिए कि किस सुन्दरता से तद्भव क्रिया को बिठाया है:–

बातें देख जमाने की – जी बात से भी कहलाता है।
ख़ातिर से सब यारों की 'मजबूर' ग़ज़ल कह लाता है॥

इसी प्रकार फ़ारसी के व्याकरण की और तरकीबों को उर्दूभाषा में समावेश हो गया और वे सब हिंदी भाषा पर भी छा गईं।

इससे पहला लाभ यह हुआ कि शब्दों का प्रसार सीमित हो गया, जिसके परिणामस्वरूप भाषा में अपेक्षित संक्षिप्तता और सुगठन आ गई। दूसरे, पहले बहुवचन विशेष्य के लिये विशेषण भी बहुवचन प्रयोग करते थे। अब एकवचन का ही प्रयोग करने लगे।

मुलायम हो गई दिल पर विरह की साअतें कड़ियाँ।
पहर कटने लगे उन बिन न कटती जिन बिना घड़ियाँ॥

अब 'घड़ी' साअतें बोलते हैं।
तीसरे, समाविष्ट उपमाओं और अलंकारों के द्वारा भाषा रंगीन हो गई :—

नाला सीने से करे अज़्मे सफ़र आख़िर शब।
राह-रौ[1] चलने पे बाँधे है कमर आख़िर शब॥—सौदा

और उपमा और रूपकों के रंग से सीधी सादी भाषा भी रंगीन हो गई। चुनांचे भाषा में कहना हो तो कहेंगे : 'राजकुँअर के दिल के कली की कुंम्हलाहट अहल दरबार से न देखी गई'।

वली इत्यादि प्राचीन लेखकों की रचनाओं में ऐसी तरकीबें बहुत हैं, बल्कि आधे आधे, यहाँ तक कि कहीं कहीं पूरे मिस्रे फ़ारसी के हैं। मगर कुछ और ढंग से। मेरे ख़याल से भाषा के शब्द और उसकी तरकीबें भी अधिक हैं। और इस तरह है, जैसे कि आज के लोगों को सरल और सुबोध नहीं मालूम होती। इसका उदाहरण ऐसा है, जैसे दूध में मिस्री मिलाई मगर वह अभी अच्छी तरह घुली नहीं, एक घूंट काफी मीठा और एक बिल्कुल फ़ीका है। फिर एक में मिस्री की डली दाँत तले आ गई। हाँ अब घुल मिल कर वह बात आ गई, जिसे 'शीरो शकर' कहते हैं। कुछ लोग यह कहते हैं कि शुद्ध भाषा में कुछ मज़ा नहीं। उर्दू बरबस तबीयत को भली मालूम होती है। मगर मेरी अक़्ल इन दोनों बातों से हैरान होती है। क्योंकि जब कोई कहे, 'आज एक शख़्स आया था' या यह कहे कि 'एक मनुष्य आया था' तो हमें दोनों यकसां मालूम होते हैं? क्योंकर कहूँ कि 'मनुष्य' स्वाभाविक नहीं मालूम होता। यह भी तो हो सकता है कि हम बचपन से 'शख़्स' सुनते हैं, इसलिए हमें 'मनुष्य' या 'मानस' नामानूस (अरुचिकर) मालूम होता है। इसी तरह और भी अनगिनित शब्द हैं।

---

[1] मुसाफ़िर

इससे अधिक आश्चर्य यह है कि बहुत से शब्द स्वयं तो प्रयोग में नहीं रहते, किंतु दूसरे किसी शब्द के साथ मिलकर ऐसे हो जाते हैं कि सरल और सुंदर शब्दों के बोलने और लिखनेवालों के मुहावरों में जान डाल देते हैं। जैसे, यही 'मानस', कि अकेला मुहावरे में नहीं मगर सब बोलते हैं कि अहमद ज़ाहिर (प्रत्यक्ष) में तो भलामानस मालूम होता है, बातिन (दिल) की ख़बर नहीं।

'बंधु' भाषा में भाई या दोस्त को कहते हैं। अब मुहावरे में भाई-बंद कहते हैं, न सिर्फ़ 'बन्धु', ना 'भाई-बन्धु'। और ऐसे प्रयोगों को मान्यता दिए जाने के लिये किसी के पास कोई कारण या तर्क नहीं। जो कुछ जिस समय प्रचलित हो गया, वही सुबोध हो गया। भविष्य में एक समय ऐसा भी आयेगा कि हमारे आजकल के बोलचाल के मुहावरों को भी लोग बेमुहावरा कह कर हसेंगे।

यद्यपि यह बात बिना किसी उदाहरण से प्रमाणित किए हुए भी सब कोई स्वीकार करता है कि संस्कृत और ब्रजभाषा की मिट्टी से ही उर्दू का पुतला बना है और अन्य भाषाओं ने इसकी बनावट में केवल ऊपरी बनाव सिंगार का काम किया है। फिर भी मैं यहाँ कुछ शब्द उदाहरण के रूप में लिखता हूँ। देखो, संस्कृत शब्द जब उर्दू में आए तो उनमें समय के परिवर्तन के साथ कैसा रूपांतर हो गया !

(१) 'चूर्ण' संस्कृत है यानी आटा। भाषा में 'चून' कहते हैं, उर्दू में चूरन पिसी हुई दवा को कहते हैं। और कुटी हुई चीज़ के नीचे जो बारीक पदार्थ रह जाए वह 'चूरा' है।

(२) 'पिष्ट' संस्कृत है। ब्रजभाषा में 'पिसान' इसी से है। 'पिसनहारी' उर्दू में। 'पीठी' पिसी हुई दाल के लिये एक विशेष शब्द है। और 'पीसना' क्रिया हो गई।

(३) 'अट्ट' जिसे ब्रजभाषा और उर्दू दोनों में 'आटा' कहते हैं।

(४) 'वार्ता' उर्दू में 'बात' हो गई।

(५) 'चंद्र' संस्कृत है। उर्दू में चाँद और 'चाँदनी' हो गई।

(६) छत्रधर' उर्दू में 'चौधरी' हो गया।

(७) गढ' या 'गढ़'-घर यानी ख़ाना। और क्या अजब है कि फ़ारसी में 'कद' या 'कदा' भी यही हो।

(८) 'हस्त' हाथ है।

(९) 'हस्ती' का 'हाथी' हो गया।

(१०) 'बारिद' संस्कृत है। भाषा 'बादर' और उर्दू 'बादल' यानी 'अब्र' हो गया।

(११) 'दल' एक एक चीज़ के दो दो टुकड़े करने को कहते हैं। भाषा और उर्दू में 'दाल' एक ख़ास गल्ले के लिये प्रयोग करते हैं और 'दलना' क्रिया निकल आई।

(१२) 'क्षीर' (दूध) की भाषा में 'खीर' या 'छीर' और उर्दू में दूध चावल से तैयार होती है।

(१३) 'दुग्ध' संस्कृत है। भाषा 'दूध हुआ'। अब उर्दू में 'दूद' कहते हैं

(१४) 'मास या 'माख'। 'मास' उर्दू में महीना हो गया।

(१५) 'गाण्डा' उर्दू में 'गन्ना' हो गया। मगर गंडेरी में ड' बाक़ी रही।

बहुतेरे शब्द ऐसे हैं, जो कि अरबी फ़ारसी ने उर्दू को दिए। उर्दू भाषा ने कहीं तो उन शब्दों का उपयोग किया और उनके अर्थ भी वही रखे, किंतु कहीं शब्दों को तो ज्यों का त्यों रखा किंतु माने कुछ से कुछ कर लिए। जैसे:—

फ़ील, सूफ़ यूनानी शब्द है—जिसका अर्थ है वैद्य जिसे अरबी में हकीम और अंग्रेजी में डाक्टर या फ़िलास्फ़र कहते हैं। मगर उर्दू वाले फ़ीलसूफ़ दग़ाबाज़ और मक्कार को कहते हैं। और फीलसूफ़ी का अर्थ हो गया—मक्करी

अब्बा और अम्मा 'आब' और उम से निकले हैं।

ख़सम अरबी में प्रतियोगी या दुश्मन के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। मगर उर्दू में खसम ख़ाविन्द (पति) को कहते हैं, जिससे अधिक दुनिया में कोई प्रिय नहीं।

'तमाशा', 'सैर' अरबी में केवल 'रफ़तार' (गति) के अर्थ में प्रयोग होता है, उर्दू में कहते हैं, 'चलो बाग़ की सैर देख आएँ। वहाँ अजब तमाशा है।

इख्लास अरबी में विशुद्ध करने को कहते हैं। उर्दू में इख़लास, 'प्यार' 'मुहब्बत' समानार्थी है।

खैरात अरबी शब्द है और इसका अर्थ है 'नेकियाँ'। उर्दू में कहते हैं 'खैरात' (दान) दो, 'सदक़े उतारो'।

तकरार अरबी में दोबार कहने या काम करने को कहते हैं। उर्दू में झगड़े को कहते हैं।

तूफ़ान अरबी शब्द है। फ़ारसी में किसी वस्तु के बहुतायत को कहते हैं। उर्दू में 'तुहमत' (मिथ्यारोप) के अर्थ में भी आता है।

खफ़ीफ़ अरबी में किसी हल्की चीज़ को कहते हैं। उर्दू में कहते हैं, 'वह मुझसे ज़रा मिले तो सही। देखो कैसा खफ़ीफ़ (अर्थात् 'लज्जित') करता हूँ।

मसालह 'मस्लेहत' का बहुवचन या मास्लह का संक्षिप्त रूप है। उर्दू में गरम मसाला इत्यादि और घर बनाने के सामान को भी मसाला कहते हैं।

ख़ातिर अरबी फ़ारसी में हृदय या विचार के लिये बोलते हैं। उर्दू में कहते हैं कि 'भला एक घूँट तो हमारी ख़ातिर से पीलो' या 'इनकी बड़ी ख़ातिर की।'

दस्तूरी जिस अर्थ में यहाँ बोलते हैं. वह यहीं प्रयोग किया जाता है। पंजाबी में 'झोंगा' कहते हैं।

रोज़गार फ़ारसी में 'ज़माने' को कहते हैं। हिंदी में 'रोज़गार' नौकरी है।

रूमाल जिस अर्थ में यहाँ बोलते हैं, वह यहीं का प्रयोग है। फ़ारसी में उसे रुपाक' या 'दस्तपाक' कहते हैं।

ख़ैरो-सलाह जन-साधारण 'ख़ैर-सल्ला' कहते हैं, यानी स्वास्थ्य और कुशलता की ख़ैर पूछते हैं।

रसद अरबी शब्द है और इसके अर्थ हैं अंश या हिस्सा। उर्दू में यह खाद्य सामग्री के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। यद्यपि फ़ारसी शब्द मालूम होता है, मगर फ़ारस से लोग इसको इस अर्थ में नहीं बोलते।

बहुत से शब्द इस तरह लूटे गए कि उनके अर्थ के साथ उनकी आकृति भी बदल गई। उनमें से अधिकतर तो जनसाधारण द्वारा प्रयोग किए जाते हैं, मगर कुछ शब्द शिष्ट लोग भी प्रयोग करते हैं। जैसे--

रूपांतरित शब्द	मूल शब्द	रूपांतरित शब्द	मूल शब्द
'अर्दाबह'	जो असल आरदाबह था	'पजावा'	'पंजाब' पज़ीदन से
'शुरुआ'	शोरवा या शोरबः	'टाटबाफ़ी'	तारबाफ़ी
'ख़ीसा'	कीसा	'ज़रीकोना'	ज़री कहना
'कहगल'	कागल	'तारतल्ला'	तारतलानी, ज़री कोहना
'इमाम दस्ता'	'हावनदस्ता'	'तानेतिश्ने'	तानव तिश्नी
'बज़ाज़'	'बज़्ज़ाज़'	'बकबक, भकभक'	ज़क़ज़क़ बक़बक़
'कबूर'	करबूस	तौबातंसूहा	तोबएनसूहा
'दस्पनाह'	दस्तपनाह' यहीं की फ़ारसी है	सहबंदी	सिपहबंदी
मुरदारसंग'	मुरदसंग	'गुरफिश'	ग़ुरिश
'गुडरी'	'गुजरी' यानी संध्या समय का बाज़ार		

अफ़रातफ़री (अर्थात् अफ़रात व तफ़रीत) अस्ल में अत्यन्त बहुतायत और अत्यन्त कमी के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। अब कहते हैं, 'अज़ब अफ़रातफ़री पड़ रही है। यानी हलचल पड़ रही है।

कुलाँच--'कुलाश' या 'कुलाच'। तुर्की में दोनों हाथों के फैलाव को कहते हैं। इसलिए वहाँ कपड़ा नापने के पैमाने के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। यहाँ ख़रगोश या हिरन इत्यादि जानवर दौड़ते हों तो कहेंगे कि कुलाँचे भरते हैं।

बहशी को देखा हमने उस आहू निगाह के
जंगल में भर रहा था क़ुलाँचें हिरन के साथ—ज़ौक़

आक़ा—तुर्की में बड़े भाई को कहते हैं। यहाँ आका यार दोस्त को बोलते हैं। और इसमें कुछ बांकपन का भी भाव है।

क़यूरक़--तुर्की में सुरक्षित वस्तु को कहते हैं। यहां जो चीज़ हाकिम की ज़ब्ती में आए उसे ,क़ुर्क़' कहते हैं।

मश्शात--अरबी में कंघी को 'मुस्त' कहते हैं। फ़ारसी में मुशातः उस स्त्री को कहते हैं, जो स्त्रियों का शृंगार करवाए, जैसे हिंदोस्तान में नायन (नाई की स्त्री)। उर्दू में मुशातः उस स्त्री को कहते हैं, जो विवाह संबंध स्त्री-पुरुष की खोज में रहे और उनका विवह करवा दे।

मुर्ग़ा--फ़ारसी में मुर्ग़ का अर्थ केवल चिड़िया है। उर्दू में मुर्ग़ा और मुर्ग़ी एक ख़ास चिड़िए के नर और मादा को कहते हैं। और इनके यहाँ हर जुमा को मुर्ग़ी की पाली बंधती है।

चिग या चिक़--तुर्की में महीन पर्दे को कहते हैं। यहां चिलमन (बाँस के फट्टियों का पर्दा) को चिक़ कहते हैं।

कत्ता--तुर्की में बड़े को कहते हैं। यहाँ 'कट्टा' मोटे को कहते हैं। 'हट्टा-कट्टा' एक मुहावरा है।

नज़र--एक वचन में बोलेंगे। लेकिन बहुवचन में 'नज़्र' कहेंगे:--

तिरछी नज़्रों से न देखो आशिके दिलगीर को
कैसे तीरन्दाज़ हो सीधा तो कर लो तीर को--वज़ीर

'ख़त्त' में संयुक्त 'त' का प्रयोग होता है। किंतु अब कहते हैं: 'आजकल खतों में आल अल्क़ाब (पत्र में पद और मर्यादा आदि के सूचक शब्द) का दस्तूर ही न रहा'। किसी उस्ताद का शेर है:--

साफ़ था जब तक कि ख़त तब तक जवाबे साफ़ था
अब तो ख़त आने लगा शायद कि ख़त आने लगा॥

'ग़म' में भी अरबी में संयुक्त 'म' का प्रयोग होता है। किंतु फ़ारसी और उर्दू में एक ही 'म' का प्रयोग करते हैं।

'तरह' अरबी में 'तर्ह' है। किंतु उर्दू में कवि और सुघर लेखक भी उसे तरह कहते हैं।

'महल' महल्ल है। किंतु कहते हैं 'कल बोली भटियारी के महलों पर बसंत है'। "बोली भटियारी" किसी 'बू अली बख़्तियारी' का संक्षिप्त और रूपांतरित नाम है। कोई कहते हैं "भूली भटी' का।

'बजे मंडल' बदीय मंजिल का संक्षिप्त और रूपांतरित नाम है। यह दिल्ली के बाहर पुराने बादशाहों की बनाई एक इमारत है।

'मिर्ज़ा हसन' को प्यार से 'मिर्ज़ा हस्नू' कहते हैं। और यहाँ 'स' को संयुक्त ही बोलना अच्छा लगता है।

'कलिमः' में 'ल' इकारांत है । किंतु मुहावरे में 'ल' को संयुक्त भी बोलते हैं और वही भला मालूम होता है । 'जुर्अत' ने क्या ख़ूब कहा है :--

कल्मा भरे तेरा जिसे देखे तू भर नज़र ।
काफ़िर असर है यह तेरी काफ़िर निगाह का ।।

'नशअः'--अच्छे मुहारों में भी इसे 'नशा' कहते हैं । ज़ौक़ ने क्या ख़ूब कहा है :--

जितने नशे हैं याँ रविशे नशअए शराब ।
हो जाते बदमज़ा हैं जो बढ़ जाते हद से हैं ।।

इस तरह सैकड़ों शब्द हैं जिनका विस्तृत उल्लेख अनावश्यक और निरर्थक होगा ।

इसी तरह अंग्रेज़ी भाषा भी अपना आधिपत्य बढ़ाती चली आ रही है । हिंदू मुसलमान भाइयों को उस दिन की प्रतीक्षा करनी चाहिए कि अरबी फ़ारसी के शब्द जो अब तक हमारे तुम्हारे बाप दादा बोलते रहे, भविष्य में उनकी जगह अंग्रेज़ी शब्द इस प्रचुरता से प्रयोग होने लगेंगे कि अरबी फारसी के शब्द स्वयं अपना स्थान छोड़ कर भाग जाएँगे । कुछ शब्द ऐसे भी दिखाने चाहिए, जो यूरप के विभिन्न देशों के हैं, किंतु अब हमारी भाषा में इस तरह पैवन्द की तरह लग गए हैं कि जोड़ तक नहीं मालूम होता; जैसे :--

'कमरा' इतालवी है
'नीलाम' पुर्तगाली है
'पादरी' लैटिन ज़बान से आया है
'लालटेन' 'लैटर्न' अंग्रेज़ी है
'पिस्तौल' 'पिस्टल' अंग्रेज़ी है

'अस्टाम'--'स्टैम्प' अंग्रेज़ी है ।
'बिस्कुट'--'बिस्किट' अंग्रेज़ी है ।
पेन्शन' अंग्रेज़ी है ।
'बूताम'--'बूतान' फ़्रेंच है, **बटन** अंग्रेज़ी है ।
'बग्गी' अंग्रेज़ी है ।

'फ़रानील या फ़लालैन--फलैनेल अंग्रेज़ी है ।
'ग्लास'--अंग्रेज़ी है जिसे हमारी आम भाषा में शीशा भी कहते हैं ।
'बाबनट या बाबीनेट' एक जाली की क़िस्म का कपड़ा है ।
'मेम'--'मैडम' अंग्रेज़ी है ।
'बोतल'--'बाटल' अंग्रेज़ी है
'अर्दली'--'आर्डर्ली' अंग्रेज़ी है ।
'दरजन'--डज़न अंग्रेज़ी है ।

इसी प्रकार स्टेशन, टिकट, रेल, पुलिस इत्यादि सैकड़ों शब्द हैं, जो जनसाधारण और यहाँ तक कि स्त्रियों की मामूली बोलचाल में आ गए हैं । और जो शब्द दफ़्तरों और कचहरियों में और साहब लोगों के नौकर, बैरे बोलते हैं । यदि सब लिखे जायँ तो एक पूरा कोश बन जाए ।

हर भाषा के बोलनेवालों में कुछ ऐसे लोग होते हैं, जिन्हें सरल, सुंदर और मँजी हुई भाषा के प्रयोग में महारत होती है। वे अपनी भाषा के ललित प्रयोगों के आधार पर थोड़ा आविष्कार करके कुछ नए शब्द या उनके विशिष्ट प्रयोग पैदा कर देते हैं। उर्दू भाषा भाषी भी इस क्षेत्र में किसी से पीछे नहीं रहे। इन विशिष्ट प्रयोगों का आधार यद्यपि एक प्रकार से आकस्मिक होता है, किंतु इनकी उपज प्रायः उन लोगों की तबीयत से होती है, जो विद्या के साथ उदात्त विचार, विशुद्ध भावनाएँ, स्फुरित कल्पनाएँ और आविष्कारपरक बौद्धिक कुशलता रखते हैं। ऐसे ही लोगों के द्वारा आविष्कृत और प्रयुक्त भाषा जनसाधारण और शिक्षितवर्ग के हृदयों को प्रभावित करती है और सब को भली लगती है और इसलिये वह उस भाषा को अपनी बना लेते हैं, जैसे :—

घोड़े का रंग जिसे हिंदोस्तान में 'सुरंग' और पंजाबी में 'चंबा' या 'कुटका' कहते हैं, फ़ारसी में उसे 'कुरंग' कहते हैं। चूँकि भाषा में 'कु' बुराई और 'सु' अच्छाई का सूचक है इसलिये अकबर ने इसका नाम 'सुरंग रखा।

इसी तरह घोड़े की 'अँधेरी' का नाम 'उजियाली' रखा क्योंकि यह अच्छे शकुन का द्योतक है।

ख़ाकरोब ('झाड़ू लगानेवाला) को 'हलालखोर' की पदवी भी इसी दयालु बादशाह की देन थी। जहाँगीर की रंगीली तबीयत ने शराब का नाम 'राम-रंगी' रखा और इसको फ़ारसी में कवियों ने अपनी कविता में भी बाँधा :—

न एम मुन्किरे सहबा व-लैक मी गोयम
कि राम-रंगिए मां नशःए दिगर दारद ।।

(हमें शराब पीने से इन्कार नहीं है। लेकिन हमारी रामरंगी में कुछ मज़ा ही और है)

संगतरे को उसके अच्छे स्वाद और खुशरंग होने के कारण मुहम्मदशाह ने उसे 'रंगतरा' कहा। हिंदोस्तान के बुलबुल का 'गुलदुम' नाम रखा। 'हार' शब्द को अपशकुन समझ कर इसे 'फूलमाल' कहवाया। शाह आलम ने सुरख़ाब को 'गुलसिरा' कहा, मगर यह नाम प्रचलित नहीं हुआ। नवाब सादत अली ख़ाँ ने मलाई का नाम 'बालाई' रखा, जो कि लखनऊ में साधारण तौर पर बोली जाती है, लेकिन दिल्ली वग़ैरह में कम प्रचलित है। लेकिन नाम कुछ भी हो, एक स्वाद-कुशल व्यक्ति दोनों के ज़ायके को पहचान सकता है।

उर्दू की बनावट को देखो कि हरेक भाषा से मिलाप के लिये कैसी मिलनसार तबीयत पाई है। यदि इसके नस्र (गद्य) और नज़्म (पद्य) दोनों साहित्य देखें तो पता चलता है कि इसने अपने मेहमानों के लिये केवल अपने शब्दावली ही में आश्रय नहीं दिया, बल्कि बहुत से शब्द और कल्पनाएँ जो कि स्थानीय विशिष्टता रखते थे, उन्हें भी अरबी फ़ारसी से लिए। चुनांचे वीरता का मैदान रुस्तम व साम को दिया हालाँकि हिंदोस्तान में यह अधिकार भीम और अर्जुन को था। सौदा कहते हैं:—

रुस्तम[1] 'रहा ज़मीं पर न साम[1] रह गया।
मर्दों का आस्माँ के तले नाम रह गया॥
रुस्तम से भला कह तो सर तेग़ तले धर दे।
प्यारे, यह हमीं से हो हरकारे व हरमर्द[2]॥

रूप और सौंदर्य के विलास गृह में लैला और शीरीं आ गईं। जब वे आईं तो राँझे की जगह मजनूँ और फ़रहाद क्योंकर न आते। मजनूँ और फ़रहाद की आँखों से गंगा जमना तो वह नहीं सकीं। विवश जीहूँन-सीहूँन हिंदोस्तान में बह चले। हिमांचल और विन्ध्याचल को छोड़कर आशिकेज़ार कोहे वेस्तूँ, क़स्रे-शीरीं, कोहे अल्वंद से अपने सर फोड़ते हैं। किंतु जब कोई ज़िंदा-दिल चाहता है तो यहीं के फूलों से यहाँ के घर सजा देता है और यह दृश्य बड़ा मनहर होता है।

एक भाषा के मुहावरे को दूसरी भाषा में अनुवाद करना न साध्य है न उचित ही है। मगर इन दोनों भाषाओं में ऐसा मेलजोल हो गया कि यह भेद भी उठ गया और अपने काम काज में उपयोगी विचारों को व्यक्त करने के लिये जो रुचिकर और दिलपसंद मुहावरे फ़ारसी में देखा, उन्हें कभी उसी रूप में और कभी अनुवाद करके अपना लिया। उदाहरण के लिये, 'बरामदन और बसर आमदन'। हिंदी में इसका शाब्दिक अनुवाद ढूंढें तो नहीं है। मगर भाषा के पंडितों ने बड़ी खूबसूरती के साथ अपनी रचनाओं में इसका प्रयोग किया और सौदा ने कहा :—

इस दिल की तुफ़े आह से कब शोला-वर आए।
बिजली को दमे सर्द से जिसके हज़र[3] आए॥
अफ़अई[4] को यह ताक़त है कि इससे बसर आए।
वह ज़ुल्फ़े-सियह अपनी अगर लह पर आए॥

दर आमदन यानी घुस आना :—

याँ-तक न जिदाज़ारे ख़लाइक़[5] हो कि कोई।
मल कर लहू मुँह से सफ़े महशर[6] में दर आए॥—सौदा

---

[1]. ईरान के दो नामी पहलवान
[2]. हर काम के लिये अलग अलग आदमी
[3]. परहेज़
[4]. ज़हरीला साँप
[5]—जन साधारण को कष्टदायक
[6]—क़यामत की क़तार में

अरक़ या अर्क़ शुदन और 'आक शुदन' यानी पानी पानी होना :—

आग दोज़ख़ की भी हो जायगी पानी पानी
जब ये आसी[1] अरक़े शर्म में तर जाएँगे ।।—ज़ौक

हर्फ़ आमदन यानी आँच आना और **दिल ख़ूँ शुदन** यानी अफसोस होना :—

हर्फ आए मुझ ये देखिए किस किस के नाम से ।
इस दर्द से अकीक[2] का दिल ख़ूँ यमन में है ।।

× × × ×

लब वह कि लाल के भी नगीने पे हर्फ है—सैयद इन्शा

चश्मक ज़दन यानी मुक़ाबिला करना :—

लब पर तेरे पसीने की बूँद से अक़ीक़ लब ।
चश्मकज़नी करे है सुहैले-यमन के साथ ।।—जौक़

पैमाना पुर करदन यानी प्याला भर देना अर्थात् जीवन का अन्त करना:—

साक़ी चमन में छोड़के मुझको किधर चला ।
पैमाना मेरा उम्र का जालिम तो भर चला ।।—सौदा

दामन अपशादां बरख़ास्त यानी अप्रसन्न या दुखी होकर उठ खड़े होना :—

क्या इस चमन में आन के ले जायगा कोई ।
दामन तो मेरे सामने गुल झाड़ कर चला ।।—सौदा

अज जा:बेरुं शुदन यानी जामे से या आपे से बाहर होना :—

निकला पड़े है जामे से कुछ इनदिनों रक़ीब ।
थोड़े ही दम दिलासे में इतना अफ़र चला ।।—सौदा
कब सबा आए तेरे कूचे से ऐ यार कि मैं ।
जूँ हुबाबे[3] लबेजू[4] जामे से बाहर न हुआ ।।—ज़ौक़

फ़लकश ख़बर नदारद यानी आसमान को भी ख़बर न होना । यह मुहावरा भी हिंदोस्तानियों का नहीं है, क्योंकि यहाँ 'आकाश' है फ़लक नहीं । इसलिए यहाँवाले इसका मुहावरा क्यों बाँधते । मगर सौदा कहते हैं :—

१—पापी
२—एक लाल पत्थर
३—बुलबुला
४—नदी का किनारा

तुझ रुख़ में है जो लुत्फ़ मलक[1] की ख़बर नहीं।
खुर्शीद[2] क्या है उसके फ़लक[3] को ख़बर नहीं ॥

दिल अज़ दस्त रफ्तन यानी दिल का हाथ से निकल जाना या बेअख़्तियार हो जाना :—

सौदा का मिस्रा है—

हाथ से जाता रहा दिल देख महबूबां की चाल—सौदा

दिल दादन यानी दिल देना या आशिक़ होना :—

दिन देके तुमको जान पै अपनी बुरी बनी।
शीरीं कलामी[4] आपकी मीठी छुरी बनी ॥—ज़फ़र
ऐसा न हो दिलदाद:[5] कोई जाँ से गुज़र जाय—मीर

अज़ जाँ गुज़श्तन यानी जान से गुज़रना या जान पर खेल जाना :—

वहाँ जाए वही जो जान से जाए गुजर पहले—ज़फ़र

अज़ सर चीज़ें गुज़श्तन यानी दस्त-बरदार होना या हाथ खींच लेना :—

खुदा के वास्ते गुजरा में ऐसे जीने से—सैयद इन्शा
पहुँचेंगे रह-गुज़रे या तलक क्योंकर हम।
पहले जबतक न दो आलम से गुज़र जाएंगे ॥—ज़ौक़
तु अपने शेवए जोरो-जफ़ा से मत गुज़रे।
तेरी बला से मेरा दम रहे रहे न रहे ॥—आसिफ़द्दौला
चाहे तुझ चश्म के आगे जो हो बादाम सफ़ेद।
खींचकर पोस्त करे गर्दिशे अय्याम सफेद ॥—सौदा

सफ़ेद शुदन, पोस्त कशीदन भी फ़ारसी का मुहावरा है, जिसका उर्दू में अनुवाद कर लिया है 'ख़ाल उतारना'।

भा गई कौन सी वह चीज बुतों की हमको।
न कमर रखते हैं ज़ालिम न दहन रखते हैं ॥

यह तो फ़ारसी मुहावारा '**न कमर दारन्द न देहन दारन्द**' का शाब्दिक अनुवाद है। हिंदी का मुहावरा भी है कि '**न कमर है न देहन है**'।

---

[1]—फ़रिश्ता
[2]—सूरज
[3]—आस्मान
[4]—मीठी बात [5]—आशिक़

किसी किसी स्थान में फ़ारसी पदों के लाक्षणिक अर्थ को लेकर उसपर अपने शेर की रचना की गई है। जैसे, **तर दामन** यानी भींगा दामन, जिसका फ़ारसी में लाक्षणिक अर्थ है 'पुर-गुनाह' यानी गुनाह से भरा। देखो, इसी अर्थ के आधार पर कैसा सुंदर भाव पैदा किया है :--

तर दामनी पे शेख़ हमारी न जाइयो।
दामन निचोड़ दें तो फरिश्ते वज़ू करें।।--ख्वाजा मीर दर्द
कि मेरी तर दामनी के आगे।
अर्क़ अर्क़ पाक दामनी है।।--ज़ौक़

चिराग़-सहरी--इसका शाब्दिक अर्थ है भोर का चिराग। किंतु लाक्षणिक अर्थ है। **'बीमारे जांबलब' अर्थात् मरणासन्न रोगी।**

टुक मीरे जिगर-सोख्ता की जल्द ख़बर लें।
क्या यार भरोसा है चिराग़े सहरी का।।--मीर

और देखो उर्दू फ़ारसी दो मुहावरों को किस सुंदरता से क्रमबद्ध किया है :--

आशियाने में मीर बुलबुल के।
आतिशे गुल से रात फूल पड़ा।।

दिल्ली वालों के मुहावरे के अनुसार अगर रात को कहीं आग लगती थी तो उसे असली शब्दों में कहना अपशकुन समझते थे। सब से कहते थे 'देखना कहीं फूल पड़ा है'।

पंब:दहन (मुँह में रुई भरे हुए, यानी कम बोलनेवाला, मितभाषी) उसी तरह ज़बाँ-दराज़ (लंबी ज़बानवाला यानी बदज़बान, या गुस्ताख़-बकवासी)। स्वर्गीय उस्ताद ने **साकी-नामा** में कहा :--

शीशए-मै की यह दराज़ ज़बाँ
उस-पे है यह सितम कि पंब:दहाँ।।--ज़ौक़

शीशे के मुँह में से अर्क़ या शर्बत इत्यादि निकलते समय जो धार बँधती है, उसके लिये फ़ारसी का लाक्षणिक शब्द है **ज़बाने शीशा**।

आतश ज़ेर-पा (जिसके पाँव के नीचे आग हो यानी बेक़रार या व्याकुल)

बस कि हूँ ग़ालिब असीरी[2] में भी आतश ज़ेरे-पा
मुए आतश दीद: है हल्क मेरे ज़ंजीर का।।--ग़ालिब

---

१. जला हुआ दिल २. कैद

मुर्दन चिराग़ और 'कश्तन चिराग़ 'चिराग़ के बुझने और बुझाने को कहते हैं और उसी से 'शम्म-ए-मुर्दा' यानी बुझा हुआ चिराग़। देखना, स्वर्गीय ज़ौक़ ने किस लुत्फ़ से इस मुर्दे में जान डाली है :—

शमए मुर्दः के लिये है दमे ईशा आतश।
सोज़िशे इश्क से जिन्दा हूँ मुहब्बत के क़तील[1]॥
दाग़े दिले फ़सुर्दः[2] पे फाहा नहीं न हो।
काम इस चिराग़े मुर्दा को क्या है कफन के साथ ॥——ज़ौक़

कमरे कोह और दामने कोह से भी देखो क्या मज़मून निकाला है :—

हाज़िर है जलू में तेरे वहशी के हज़ारों।
बाँधे हुए कुहसार[3] भी दामन को कमर से ॥——जैक़

गरदने मीना——'आतश' ने क्या खूब मज़मून निकाला है :—

हर शब शबे बरात है हर रोज़ रोज़े-ईद।
सोता हूँ हाथ गरदने मीना[4] में डालकर ॥——आतश

दस्ते सबू——शाब्दिक अर्थ है शराब के मटके का हाथ। ख़्वाजा वज़ीर ने किस ख़ूबसूरती से इस मुहावरे का अनुवाद किया है :—

हूँ वो मैकश[5] गर न आया मैकद:[6] में एक दिन।
हर सबु[7] ने हाथ फैलाए दुआ के वास्ते ॥

सौसने दह ज़बाँ (दस ज़बान वाला सौसन फूल)——यह फ़ारसी वालों की कल्पना है। (सौसन एक फ़ारस का नीला फूल है, जिसकी पंखड़ी ज़बान जैसी होती है)। मीर अली 'सबा' कहते हैं :—

खोला बहार ने जो कुतुबख़ानए[8]-चमन।
सौसन ने दस वरक़ का रिसाला उठा लिया ॥

सरो को आज़ाद फारसी वालों ने किया था कि बसंत व पतझड़, फल और फूल की क़ैद से आज़ाद है। स्वर्गीय ज़ौक़ इस कल्पना के आधार पर फ़र्माते हैं :—

पा बज़ंजीर आबे-जू[9] की मौज में सब सर्द हैं।
कैसी आज़ादी, कि याँ ये हाल है आज़ाद का ॥

---

[1] मारा हुआ
[2] कुम्हलाया हुआ
[3] पहाड़ियों का अंचल
[4] शराब का कण्टर
[5] शराबी
[6] मधुशाला
[7] शराब का मटका
[8] पुस्तकालय
[9] नदी का पानी

५

क़ाफ़िला निग्हते गुल (फूलों के सुगंध का क़ाफिला)——सैयद इंशा ने क्या खूब तर्जुमा किया :——

जो ठंडे ठंडे चली है ऐ आह,
छाँव तारों की चल निकल तू।
गुलों की निग्हत का क़ाफ़िलः भी,
चमन से है लाद फाँद निकला ।।

आस्मान ज़मीन के कुलाबे मिलाना——इस मुहावरे का आविष्कार भी उर्दू वालों ने किया है :——

कुलाबे आस्मानो ज़मीं के न तू मिला
उस बुत से कोई मिलने की नासेह बता सलाह ।।——जौक़

तूफ़ान बाँधना भी इन्हीं की देन है। हिंदी में इस मुहावरे का प्रयोग न था।

अश्क आए नहीं मिज़गाँ पे कि यारों ने अभी।
पानी सौ नेजः दिया बाँध के तूफ़ान चढ़ा ।।

कोई कोई फ़ारसी के मुहावरे या उनके तर्जुमे ऐसे थे, जिनका मीर व मिर्ज़ा इत्यादि उस्तादों ने प्रयोग किया, लेकिन उनके उत्तरकालीन कवियों ने उनका तिरस्कार किया। ऐसा ही एक फ़ारसी का मुहावरा है——**तर आमदन** यानी शरमिंदा अर्थात् लज्जित होना।

मीर साहब कहते हैं :——

खुलने में तेरे मुँह की कली फाड़े गरेवाँ।
आगे तेरे रुख्सार के गुल वर्ग-तर आवे ।।

तू गोई (अर्थात् 'तू कहे')——मीर हसन इसके प्रयोग में कहते हैं——

कहे तू कि खुशबूइयों के पहाड़

एक और अवसर पर कहते हैं :——

कहे तू कि दरिया था इक नूर का।
अब कोफ्त से हिज्रां की जहाँ दिल पे रखा हाथ।
जो दर्दो-अलम था सो कहे तू कि यहीं था ।।

नमूद करदन यानी जाहिर (प्रकट) करना भी फ़ारसी का मुहावरा था।

नमूद करके वहीं वह्-ग़म में बैठ गया।
कहे तू 'मीर' भी एक बुलबुला था पानी का ।।

---

१. मुख, गाल २. वियोग की परेशानी

हैफ़ आना या हैफ़ कसानेक: (अफ़सोस होना)—

हैफ़ है जिनके वह उस वक्त में पहुँचा जिस वक्त।
उनकने हाल इशारों से बताया न गया।।

अब अगर कहेंगे तो यह कहेंगे कि हैफ़ है उन लोगों के हाल पर, जिनके पास तू गया और वे बिचारे इशारे से भी हाल न कह सके। 'कने' हिंदी है, मगर अब उसका प्रयोग नहीं किया जाता।

बेतही यानी पूँजी की कमी--मीर साहब का शेर है :--

इस ज़माने की तरी से लहरे-बह्र अगली नहीं।
बेतही करने लगे दरिया-दिलों के हौसले।।

ख़ोशम नमी आयद यानी मुझे भला नहीं लगता। मीर साहब का शेर है—

नाकामी सद-हसरत खुश लगती नहीं वरना।
अब जी से गुज़र जाना कुछ काम नहीं रखता।।

ख़ोशाबहाल कसाने के (यानी वो लोग अपने हाल पर ख़ुश हैं;

अहवाल खुश उन्हीं का हम-बज़्म हैं जो तेरे।
अफ़सोस है कि हमने वां का न बार पाया।।

ऐके या ऐ-आंके (वह शख़्स या ऐ वह शख़्स)

ऐ तू कि कारे जिन्नी-बशर तुझसे है रवां।
तेरी वह ज़ात जिस्से दो आलम के कामरां।।

फ़ारसी में 'बया' शेर के आरंभ में लाते हैं और वह बहुत मज़ा देता है—

बया कि गिरयए मन आं क़दर ज़मीं न गुज़ाश्त।
कि दर फ़िराक़े तू ख़ाके बसर तवां करदन।।

(आ और देख कि मेरे रोने से सारी ज़मीन तर हो गई कि जुदाई में अब किस ज़मीन पर बसर करूँ)

मियाँ रंगी इसका अनुवाद करते :--

'आ, तुझ वग़ैर ममलकते[1] दिल उजाड़ है।।
छाती पे रात हिज्र[2] की काला पहाड़ है।।

दस्ते दरींकार दारद (यानी वह इस काम में अनुभव या दक्षता रखता है)

कौन ऐसा है जिसे दस्त हो दिलसाज़ी में।
शीशा टूटे तो करे लाख हुनर से पैवंद।।--सौदा

---

[1] सल्तन

[2] वियोग

ओदहन ईं कार नदारद (यानी वह इस काम के लिये मुँह नहीं रखता) सौदा ने कहा :

नहीं है बहस का तूती तेरा दहन मुझसे।
सुखन तो देख है रंगी तेरा चमन मुझसे ॥

गोश करदन (यानी सुनना)--सौदा ने प्रयोग किया है :

कब इसको गोश करे था जहाँ में अह्ले कमाल।
ये संगरेज़ः हुआ है दुरे-अदन मुझसे ॥

बू करदन (यानी सूँघना)--सौदा ने इसका प्रयोग किया :--

देखूँ न कभी गुल को तेरे मुँह के मैं होते।
सुंबुल के सिवा जुल्फ़ तेरी बू न करूँ मैं।

और 'मीर' साहब ने इससे बढ़कर कहा :--

गुल को महबूब हम-क़यास किया
फ़र्क़ निकला बहुत जो बास किया ॥

ख़ाबम बुर्द या ख़ाबम् दर रबूद (यानी मुझे नींद आ गई)

कल वां से आते ही जो हमें ख़ाब ले गया।
देखा तो फिर वहीं दिले बेताब ले गया ॥ – जुरअत

हिंदी का मुहावरा है--'नींद आती है'। 'ख़ाब का ले जाना' मुहावरा नहीं है।

ज़ंजीर करदन (यानी क़ैद करना) :--

सौदा ज़दः दिल है तो यह तदबीर करेंगे।
इस जुल्फ़ गिरहगीर से ज़ंजीर करेंगे ॥

खाक बरसर करदन (यानी सर पर ख़ाक डालना)--इसे सौदा ने कैसा सुंदर प्रयोग किया है :--

तूही कुछ अपने सर पे न यहाँ ख़ाक कर गई।
शब्नम भी इस चमन से सबा चश्मतर गई ॥

इससे बढ़कर यह कि कुछ रस्में और टोटके जो ईरान और तूरान में होते थे, उनका सांकेतिक प्रयोग उर्दू में भी होने लगा :--

दीवाना इन लटों का हूँ क़सम है रुहे-मजनूँ की।
न मारो मुझको चोबे-गुल, बग़ैर अज़बेद की छड़ियाँ ॥
—सौदा

मीर और सौदा की आगे दी गई जीवनवृत्तियों में इन प्रयोगों का और विशदीकरण किया गया है।

दाग़े-जुनूं (दीवानापन का दाग़)—मेरे स्वर्गीय उस्ताद अपनी बाल्यावस्था के ग़ज़ल में कहते हैं :—

दीवाना हूँ तेरा मुझे क्या काम कि लूँ गुल ।
ज़ेबाइशे सर को है मेरे दाग़ जुनूं गुल ।।

और मीर साहब मस्नवी में कहते हैं :—

सर-ता-पा[1] आशुफ़्ता - दिमाग़ी[2] ।
दाग़े जुनूं दे जिसपे चिराग़ी ।।

विलायत में रस्म है कि क़िले के घेरे में, या एक सेना से दूसरे सेना में जब पत्र-वाहक का पहुँचना संभव नहीं होता, तो ख़त का पुर्ज़ा तीर में बाँध कर फेंकते हैं । चुनांचे मीर और सौदा ने उसे उर्दू में बाँधा है :—

नामा जो वहाँ से आए हैं सो तीर में बाँधा ।
क्या दीजिए जवाव अजल[3] के पयाम[4] का ।।—मीर
न था पैकाँ पे क्या जौहर जो नामा तीर पर लिक्खा ।
इशारा क़त्ल का क़ातिल ने किस तक़सीर पर लिखा ।।—सौदा

यद्यपि इस प्रकार की रचना शैली सरल और सुबोध न होने और काव्य-कला के प्रचलित नियमों की उपेक्षा के कारण आपत्तिजनक मानी गई, किंतु लोगों ने इससे परहेज़ न किया, क्योंकि बोलने वाले स्वयं और उनके वंशज और घर घराने फ़ारसी भाषा में घुल मिल गये थे; और उन्हें फ़ारसी का ज्ञान जितना अधिक मात्रा में होता जाता था; वे उसमें उतना ही अधिक मज़ा लेते थे और आज देखते हैं तो और ही रंग है । हमारे वाक्-शिल्पी और साहित्यकार अनुवाद के द्वारा अंग्रेज़ी विचारों और विषयों की नक़ल उतारने का प्रयास करते हैं, और ऐसा ही चाहिए भी । जहाँ अच्छा फूल देखा, चुन लिया और दस्तार (पगड़ी) नहीं तो कोट के दामन में सजा लिया । हमारे साहित्यकारों ने देखा कि फ़ारसी वालों ने अपनी वाक्चातुरी को बढ़ाने या भाषा-लालित्य को प्रोत्साहन देने के लिए अरबी रचना विधियों का प्रयोग किया, तो उसी तरह उन्होंने भी अपने मुल्क की नई भाषा को भी इस नमक के स्वाद से अछूता न छोड़ना चाहा । 'सौदा' कहते हैं :—

जैसे कहता है कोई हो तेरा सफ़्फ़न सफ़्फ़न[5]

सैयद रज़ी ख़ां 'रज़ी' ने क्या ख़ूब कहा :—

तेरी वह मसल है कि ऐ 'रज़ी'
न इल्लल-लज़ी न उल्लल-लज़ी[6] ।।

---

[1] सर से पावं तक । [2] दिमाग़ की परेशानी ।

[3] मौत, [4] ख़बर, [5] क़तार, ब क़तार [6] न इस तरफ न उस तरफ़,

दोनों भाषाओं में प्रयोग किये जाने वाले उपमाओं के संबंध में चर्चा करने के सिलसिले में एक तह की बात कहे बिना मुझसे आगे नहीं बढ़ा जाता। यानी विभिन्न मानव-जाति के व्यक्तियों की प्रकृति पर ग़ौर करो कि हज़ारों कोसों की दूरी पर हों, और अलग अलग रुचियों वाले देश में रहते हों, लेकिन सभी मानव मौलिक रूप से एक हैं, इसलिए देखो कि इनकी विचारधाराएँ कितनी मिलती-जुलतो हैं। इसलिए जसे यहाँ केश की प्रशंसा में नागों के लहराने और भौरों के उड़ने की उपमा देते हैं, उसी तरह फ़ारसी में भी जुल्फ़ की उपमा साँप के साथ आई है। पर उर्दू में साँप रहे पर भौंरे उड़ गए। और उसकी जगह मिश्क, बनफ़शा, सुम्बल, रैहाँ[1] आ गए, जो कभी यहाँ किसी ने देखे भी नहीं। मगर अरबवालों का सीधा सादा स्वभाव अपनी फ़ितरत का हक़ अदा करता है, और जुल्फ़ की उपमा कोयले से देता है। हिंदी भाषा में साँवली रंगत की प्रशंसा में 'श्याम बरन' और 'मेघबरन' कहते हैं। उससे यदि खुलता रंग हो तो 'चंपक बरनी' कहते थे। उर्दू भाषा में **समन** (चमेली का फूल) रंग और सीम (चाँदी) रंग के शब्दों द्वारा सौंदर्य का बखान करते हैं। मगर 'चन्द्र मुख' और 'माहेरुख़' दोनों भाषाओं के साझे का है।

आँख की प्रशंसा में यहाँ मृग की आँख और कमल के फूल और ममोले की चपलाहट से उपमा देते हैं। उर्दू में **'आहूचश्म'** (मृग की आखें) रहे, मगर ममूले हवा हो गए। और कमल की जगह **'साग़र लबरेज़'** (भरा हुआ मदिरा का प्याला) **और नरगिसे शहला'** (एक प्रकार का नरगिस का फूल) आ गई, जो किसी ने यहाँ देखी भी न थी। बल्कि **तुर्के चश्म** (माशूक की आँखें) अपनी **शम्शीरे निगाह** (निगाह रूपी तलवार) से क़त्ल करने लगे।

चाल के लिए भाषा में हथिनी और हंस की चाल की उपमा दी जाती है। उर्दू में हंस के साथ हाथी भी उड़ गया। केवल **कबके दरी** (पहाड़ी चकोर, जिसकी चाल बड़ी सुंदर होती है) रह गई। **शोरे महशर और फ़ितनए क़यामत** (महाप्रलय के समय का कोलाहल और उपद्रव) ने भी आफ़त मचा रखी है।

भाषा में नाक की उपमा तोते की नाक से दी जाती थी। अब **जंबक**(चंपा) की कली की उपमा देते हैं। आतिश का शेर है :—

तोड़ने वाले गुले जंबक़ के हैं।
काटने वाले चमन की नाक के ॥

फ़ारसी वालों ने कमर की नज़ाकत में बड़ी बारीकियाँ निकाली हैं, मगर संस्कृत ने भी अपनी जगह अतिशयोक्ति में कुछ कमी नहीं की। चुनांचे आँखों की प्रशंसा में एक कवि ने कहा कि 'आँखों के कोने कानों से जा मिले थे'।

---

१. एक ख़ुशबूदार घास।

२. एक छोटी चिड़िया।

पहले यहाँ 'हवा' या 'बादल' या 'हंस' को संदेहवाहक कहते थे। उन्होंने मसीम' और 'सबा' (समीर, मंद और शीतल हवा) को क़ासिद (दूत) रखा। बल्कि 'नाल:' (प्रेम का उलहना), 'आह' और 'अश्क' (आँसू) से भी संदेशवाहन का काम लिए। स्वर्गीय उस्ताद का शेर है:--

नाला है उनसे बयां दर्द जुदाई करता।
काम क़ासिद का है यह तीरे हवाई करता ॥--ज़ौक़
'ज़फ़र' गर नहीं है कोई नामावर।
तुम आँसू ही अपना रवाना करो ॥ — ज़फ़र
क़ासिदे अश्क आके ख़बर कर गया।
क़त्ल कोई दिल का निगर कर गया ॥ -- सौदा

फ़ारसी वाले 'तिफ़्ले अश्क' (आँसुओं की बूँद) बाँधते थे। 'तिफ़्ले' के लफ़्ज़ी मानी 'बच्चा' है। उर्दूवालों ने भी इस बच्चे को अपनाया। देखो स्वर्गीय उस्ताद ने इनके लिए (आंसुओं की बूँद के लिए) दामन क्या ख़ूब तैयार किया :

तिफ़्ले अश्क ऐसा गिरा दामाने मिज़गाँ छोड़-कर।

और 'ज़फ़र' ने कहा :--

क्या ही शरीर लड़के ये ऊपर तले के हैं।

और 'मारूफ़' ने कहा :--

अभी से नाम ख़ुदा करने क़ासिदी निकला।
यह तिफ़्ले-अश्क बड़ा पाँव का वली निकला ॥

यह समझना कि फ़ारसी भाषा हिंदी में केवल हाकिमाना कतर ब्योंत ही करती रही, ऐसा नहीं। उसे भी यहाँ के शब्द अपनाए बिना कोई उपाय नहीं था। चुनांचे जो शब्द फ़ारसी और संस्कृत के मौलिक रूप से एक हैं, उन्हें छोड़कर कहता हूँ। चुगतई बादशाहों के दफ्तरों में सैकड़ों शब्द हिंदी के थे, जो फ़ारसी लेखों में निःसंकोच प्रयोग किए जाते थे; और अब भी उस समय की ऐतिहासिक रचनाओं में मौजूद हैं। जैसे, 'झरोखा' 'दर्शन', 'फूल कटार', 'खपोहे मुरस्सा'।

जहाँगीर बादशाह अपनी जीवनी में लिखते हैं कि मेरा भाई शाह मुराद कोहिस्तान फ़तहपुर सीकरी में पैदा हुआ था। इसीलिए मेरे पिता उसे पहाड़ी राजा कहा करते थे। और आराम-बानो बेगम, मेरी छोटी बहन को बहुत प्यार करते थे, और अक्सर मुझसे कहते थे कि, 'बाबा बजेहते ख़ातिरे मन बईं ख़ाहरे ख़ुद कि लाड-लए-मन अस्त, बाद अज़ मन बायद ब- रविशे सुलूक कुनी कि मन बऊ मी-कुनम। नाज़े उ बरदाश्तः बे-अदबी-व-शोख़ी-हाय ऊरा बगुज़रानी'। ❀

❀ "बेटा, मेरे दिल की ख़ातिर से अपने इस बहन के साथ, जिसे मैं बहुत प्यार करता हूँ; मेरे बाद तुम उसी तरह सलूक करना; जैसा मैं उसके साथ करता हूँ; उसकी नाज़बरदारी करता हूँ, और उसकी शोख़ियों और बे अदबियों पर ध्यान न देना।"

इस पुस्तक से मालूम होता है कि शाहजहाँ बचपन में अकबर को शाह-बाबा **और जहाँगीर को** शाह-भाई कहा करता था ।

इसी तरह कवियों ने शब्दों के रूपान्तरित प्रयोगों से फ़ारसी कविता को भी अलंकृत किया है । उसकी कुछ मिसालें यहाँ पेश की जाती हैं : अमीर खुसरो छः सौ बरस पहले कहते हैं :--

व-नशिस्तः चूं दर पालकी न-चर्ख़ कहार आमदः

कुरानुस्सेयदैन में कहते :--

ख़ान-कुरः छजूये किश्वर कुशा,
किज़ लबे शाहां कुरः दारद बपा ।

और दिल्ली की याद में एक स्थान पर कहते हैं :—

ऐ देहली वाये बुताने सादा
पग वस्तः व-चीरः कज निहादा ।।
सरे आं दो-चश्म गरदम कि चो हिंदआने रहज़न ।
हमा-रा नबूके मिज़गां ज़दः बर-जिगर कटारा ।।
दर चाश्त गह अज़ शब्नमें गुल गर्द फ़िशांनस्त।
आं बाद कि दर-हिंद अगर आयद जिगर आयद ।।
सैर गश्तम ज़-किचरए अइयाम ।
हवस सीमो-ज़र नमी दारम ।।--उर्फी
से-पहर अज सरे अफराज़ियश दर हिसाब ।
ज-चौ खंडियश सायः बर आफ ताब ।।—जहूरी
चौ खंडिये शिकोहश अगर सायः अफगन्द ।
फीले सेपहर शाना बदोज़द बज़ेरे-बार ।--अशरफ
शीख़ सौसन रा बगो दिले मीर बायद कश्कः अत
ज़ात रजपूत अस्त, तरसम दस्त बर जम धर कुनद ।।--तुग़रा
पान खुरदः बमन-दादः उगाले आं बुते हिंदी ।
ई बोसः ब-पैग़ाम चे रंगीं मज़ा दारद ।।--खुसरो
शवद चेहरए ज़र्द खुरशीदे आल ।
द-हन्दश अगर नाजनीनां उगाल ।।--ज़हूरी

और से-नस्र में बादशाह के लिए क्या खूब कहा है :--

बार जगत गिर्दीय आलम वर खुद गिरफ्तः ।

उपरोक्त सभी उद्धरणों से यह स्पष्ट मालूम होता है कि उर्दू का वृक्ष यद्यपि संस्कृत और हिंदी भाषा की भूमि में उगा, किंतु फ़ारसी की हवा में हरा भरा

हुआ। कुछ कठिनाई निःसन्देह इस बात से हुई कि '**बेदिल**' और '**नासिर अली**' का समय अब लगभग बीतने को आ गया था, किंतु उनके अनुयायी बचे हुए थे और वह अपनी पारंपरिक उपमाओं और अलंकारों की रंगीनी में मस्त थे। इसलिए उर्दू भाषा में उन उपमाओं और अलंकारों की रंगीनी भी आई। और बड़े आवेग से आई। यह रंग अगर उतना ही आता, जितना चेहरे पर उबटन और आखों में सुरमा आवश्यक होता है, तो चेहरे की कान्ति और नेत्रों की रोशनी दोनों को लाभदायक होता। किंतु खेद का विषय है कि उपमाओं और अलंकारों की अतिशय रंगीनी ने उर्दू भाषा की अभिव्यंजक दृष्टि को बड़ी क्षति पहुँचाई; और इसके सामने काल्पनिक विचारों का केवल एक भ्रमजाल सा दिखाई पड़ने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा और उर्दू में आकाश पाताल का अंतर हो गया। चाहता हूँ कि दोनों के नमूने आमने सामने रखकर इनमें भेद दिखलाऊँ। मगर इससे पहिले दो तीन बातें ध्यान में रखनी चाहिए। पहली बात तो यह है कि उर्दू कविता-किशोरी जो फ़ारसी के दूध पर पली थी, उसकी तबीयत में फ़ारसी कविता में निहित कल्पनाओं की उड़ान और उनके वर्णन शैली में अतिशयोक्ति के साथ साथ ऐसी सामाजिक परंपरा और परिस्थिति, स्थानीय रस्मो-रिवाज और ऐतिहासिक घटनाओं की छाप भी आ गई थी; जिनका विशेष संबंध केवल फ़ारस और तुर्किस्तान से था। और यह स्पष्ट है कि हिंदी भाषा से इनकी एक प्रकार की स्वाभाविक प्रतिकूलता या विभिन्नता थी। इसके साथ साथ फ़ारसी रचना-शैली की नज़ाकत और लताफ़त (रोचकता) के कारण उर्दू की विचार शैली ऐसी पेचीदा हो गई कि बचपन से ही शिक्षित वर्गों के कानों में पड़ते और बुद्धि में जमते चले आते रहने के कारण उन्हें दुर्बोध और कठिन नहीं मालूम होते, किंतु यदि उन्हें अनपढ़, अनजान या अन्य भाषा-भाषी सुनता है, तो मुँह देखता रह जाता है कि यह क्या कहा। इसलिए उर्दू पढ़नेवाले को प्रायः यह आवश्यक हो जाता है कि वह फ़ारसी साहित्य की जानकारी ज़रूर रखे।

फ़ारसी और उर्दू की साहित्य रचना में जो क्लिष्टता और हिंदी साहित्य रचना में तो एक प्रकार की सुगमता पाई जाती है, उसकी एक बारीकी ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि हिंदी भाषा जिस वस्तु का वर्णन करती है, उसकी कैफ़ियत हमें उन्हीं अनुभूतियों द्वारा समझाने का प्रयास करती है, जो विशेषकर उसी वस्तु के देखने, चखने या छूने से उपलब्ध होती है। ऐसे वर्णन में अतिशयोक्ति का आवेग या कल्पनात्मक आवेश और उत्साह की कमी तो होती है, किंतु सुननेवाले को जो यथार्थ वस्तु के देखने से आनन्द प्राप्त होता है वह सुनने से ही मिल जाता है। इसके प्रतिकूल फ़ारसी के कवि जिस वस्तु या विषय की चर्चा करते हैं, प्रत्यक्षरूप से उसके गुण या अवगुण नहीं दिखा देते। बल्कि उसी के समान किसी अन्य वस्तु, जिसकी अच्छाई या बुराई पूर्वविदित है, उसी के विवरणों के संदर्भ से मूल वस्तु का वर्णन करते हैं। जैसे, फूल की कोमलता, रंग और सुगंध से माशूक की उपमा देते

हैं। जब गर्मी की तेज़ी में माशूक के सौंदर्य का अनुमान करना हो, तो कहेंगे कि मारे गर्मी के फूल के चेहरे से शबनम (ओस) का पसीना टपकने लगा। और उसी रंग में शायर कहता है :—

हूँ वो बुलबुल जो करे ज़ब्ह ख़फ़ा तो होकर।
रूह मेरी गुले आरिज़[1] में रहे बू होकर॥

— ख़ाजा वज़ीर 'वज़ीर'

यदि इन उपमाओं और रूपकों और उनके द्वारा वर्णन किए गए उपमेय में सान्निध्य हो, और आँखों के सामने उनका चित्र उतर आए तो काव्य में निःसंदेह रोचकता और नाज़ुक ख़्याली पैदा होती है। लेकिन यदि वे दूर जा पड़ें और बहुत बारीक पड़ जायँ तो उनके रसास्वादन में कठिनाई होती है। चुनांचे हमारे नाज़ुक ख़्याल कवि किसी बादशाह के प्रताप और उसकी बुद्धि के लिये केवल इतनी ही प्रशस्ति से संतुष्ट नहीं होते कि वह प्रताप में यूनान के सिकंदर और बुद्धि में अरस्तू जैसा है। बल्कि इसके बजाय कहते हैं कि यदि उसकी (बादशाह की) अक़्ल का हुमा अपनी बुलंदी से साया डाले तो हर आदमी किश्वरे दानिश (बुद्धि) व दौलत (धन) का सिकंदर और अरस्तू हो जाय। बल्कि अगर इसके सीने में दलायल अक़्ली (बौद्धिक तर्क) का दरिया जोश मारे तो तब्क़ए यूनान (यूनान के तार्किकों) को ग़र्क़ कर दे (डुबा दे)। पहली बात तो यह है कि हुमा का यह गुण ही एक निराधार कल्पना है और वह भी इसी मुल्क की काल्पनिक विशिष्टता है। इस पर बादशाही प्रताप का एक नवाँ आस्मान (सब आस्मानों से ऊँचा आस्मान) तैयार करना और फिर उसकी बुलंदी पर नज़र डालिए। वहाँ उनके काल्पनिक हुमां का जाना देखिए। फिर पृथ्वी पर उस ख़्याली आकाश के नीचे एक तदबीर का यूनान बसाना देखिए। फिर उस काल्पनिक हुमाँ का इस तरह अपनी बरक़त का आमतौर पर लोगों को बख़्शना देखिए, जिससे संसार के सब मूर्ख इस ख़्याली यूनान में आकर अरस्तू के ऐसे बुद्धिमान हो जायँ।

उपर्युक्त उद्धरण के दूसरे फ़िक़रे में पहले तो भारतीय विद्वान् तंदूर से तूफ़ान पैदा पैदा करने में विश्वास ही नहीं करते। फिर यूनान के विद्वानों का अपने दार्शनिक शंकाओं में डूब कर तबाह हो जाना इत्यादि, इत्यादि, ये ऐसी वार्ताएँ और कथानक हैं, जिन्हें हम लोग तो सामान्यतया समझ लेते हैं, मगर दूसरे देशवाले और हमारे समाज के साधारण लोग उनसे नितांत अपरिचित हैं। इसलिये वे इन्हें बिना समझाए न समझेंगे। और जब किसी बात को ज़बान से कहकर समझाने की नौबत आई तो उस कहने का फिर मज़ा क्या और सुननेवाले पर उसका असर ही क्या ?

मज़ा वही है कि आधी बात कही, आधी मुँह में है और सुनने वाला फड़क उठे। 'तार बाजा और राग बूझा'।

---

[1] गाल

इन काल्पनिक रंगीनियों और मज़ेदारी का परिणाम यह हुआ कि ऐसी बातें भी जो स्पष्ट और प्रमाणित हैं और जिनका हमें प्रत्यक्ष अनुभव है, हमारी उपमाओं और अलकारों में उलझन एक काल्पनिक जगत में भटकने लगती हैं। क्योंकि विचारों को व्यक्त करने में हमें पहले निर्जीव पदार्थों को किसी सजीव प्राणी बल्कि प्रायः मनुष्य के रूप में कल्पना करते हैं। और इसके पश्चात् सजीव और सचेतन प्राणियों के लिये जो बातें उपयुक्त होती हैं, वह उन निर्जीवों पर लागू कर ऐसी ऐसी कल्पनाएँ पैदा करते हैं, जो प्रायः अरब या फ़ारस या तुर्किस्तान के साथ क़ौमी, अथवा धार्मिक स्थानीय विशिष्टता रखते हैं।

मिसाल के लिये जैसे, रात को अहले मुहब्बत (प्रेमीजन) के जलसे में पहले तो साक़ी का आना ज़रूरी है फिर माशूक किसी कोमलांगी ललना के बदले एक परीज़ाद लड़का हो। इसकी परेशानी (ललाट) और रुख़सार (चेहरे) से सुबह का नूर टपकता हो। मगर इसके ज़ुल्फ़ की शाम भी बराबर मुश्के-अफ़्शां (कस्तूरी से छिड़की हुई) है। महफ़िल में शराब की सुराही कभी कभी रूस जाती है। इसीलिये जिगर ख़ून होकर टपकता है। सुराही कभी झुकती है और कलकल करती हुई मधुर स्वर से हँसती है। कभी वही कलकल का स्वर हक़-हक़ में बदल जाता है, जिस स्वर से वह याद-इलाही करती है। मगर प्याला बराबर अपने खुले मुँह से हँसता है और सुराही के आगे दामन भी फैलाता है।

फ़लक (आस्मान) घटनारूपी तीरों का तरकश और कहकशां (आकाश गंगा) का धनुष लगाए खड़ा है। मगर आधिक की आहों के तीर उसके सीने के पार जाते हैं, फिर भी इस जाहिल मनहूस की आँख नहीं फूटती कि आशिक की कामना-पूर्ति का प्रभात उदय हो।

यहाँ की महफ़िल में शमा (मोमबत्ती) फ़ानूस में सोने का ताज सर पर रखे खड़ी है। इसलिये परवाने (पतंगों) का आना भी वाजिब है। वह प्रेमोन्मत्त परवाना आते ही जलकर ख़ाक हो जाता है। शायर महफ़िल के चिराग़ को हँसाते हैं। और शमा (मोमबत्ती) को आशिक़ के ग़म में रुलाते हैं। वफ़ादार शमा इश्क की तपन से सर से पाँव तक जल जाती है। उसकी चरबी घुलघुल कर बहती है। मगर वह अपनी दृढ़ता से ज़रा भी नही डिगती यानी अंत तक खड़ी की खड़ी रहती है।

सुबह की सफ़ेदी कभी आकर काफूर बिखेरती है, कभी तबासीर (बंसलोचन)। शमा इस ख्याल में भी घुलती जाती है कि उसके जिंदगी की रात बहुत छोटी है। लेकिन सुबह इन दोनों (रात और शमा) के शोक में अपना गिरीबां (दामन) फाड़ती है। प्रेमोन्मत्त आशिक के लिये सुबह का मुर्ग़ बड़ा मूज़ी है। इसीलिये उसके ज़बान के छूरे की धार हमेशा तेज़ रहती है, लेकिन बादे-सेहर (प्रातःसमीर) एक शुभसूचक क़ासिद (पत्रवाहक, दूत) है, जो जल्द-जल्द प्रेम के संदेश लाता है और ले जाता है। ऐसे ही वातावरण में सूर्य कभी अपनी किरणपुंजों से आंख मलता सर खोले हुए पूरब से उदय होता है। कभी आकाश के सब्ज़ घोड़े पर सवार, किरणों का स्वर्णमुकुट

सर पर चमकाता अरुणिमा का फुरेरा उड़ाता है, क्योंकि वह अपने शत्रु, चंद्रमा की सेना को ध्वंस करके विजयी होकर आ रहा है ।❀

ऐसी ही अलंकृत भाषा शैली के आधार पर जब बाग़ में फूलों का खिलना या उसकी मनोरम छटा दिखानी हो तो उसे कल्पनाओं में अभिव्यक्त करेंगे कि शाहिदेगुल (खिले हुए सुंदर फूल) के कान में क़ासिदे सबा (प्रभात-समीर रूपी दूत) कुछ ऐसा मंत्र फूंक गया कि वह मारे हँसी के फ़र्श सब्ज़े (हरे भरे मैदान) पर लोट गया। कमसिन कलियाँ मुस्करा कर अपने बुलबुल का दिल लुभाती हैं। कभी पतझड़ का विनाशकाल आता है, तो फूल अपने प्याले और कलियाँ अपनी सुराही लेकर वहाँ से विदा हो जाती हैं । इसी तरह इस फुलवारी में बहार (बसंत) स्वयं एक माशूक़ है । उसका चेहरा फुलवारी है, फूल उसके गाल हैं, संबल बाल हैं, बनफ़शा जुल्फ़ है, नरगिस आँखें हैं, वग़ैरह, वग़ैरह ।

फिर बहार की तरुणिमा का वर्णन करते हैं । वृक्ष सजीले नौजवान हैं, जो फुलवारी रूपी दुलहिन से गले मिल-मिलकर ख़ुश होते हैं । उनकी डालें अँगड़ाइयाँ लेती हैं । अंगूरी बेल मस्त पड़ी ऐंठती है। नवजात पौधे बहार रूपी दाई की गोद में पलते हैं। हरियाली रूपी ख़िज़्र की बरकत से सुबह की ठंडी हवा सौ साल के मुर्दों में भी ईसामसीह की तरह जान डाल देती है। मगर बेचैन बुलबुल अपने माशूक़ फूल की जुदाई में उदास है । बहता हुआ पानी गुज़रते हुए उम्र की तरह है। उसकी लहर तलवार की धार की तरह है, जिससे दिल कटते जाते हैं । सरों के पेड़ का साया मानो अजदहे की तरह निगले जा रहा है।

शबनम (ओस) के आँसू जारी हैं। बुलबुल कभी ख़ुश है कि गुल (फूल), इसका प्यारा, उसके पास हँस रहा है। कभी उदास है कि ख़ेज़ाँ (पतझड़) की ख़ूँरेज़ी (रक्तपात) इन फूलों को क़त्ल करेगी । या इसके दुश्मन यानी गुल्चीं (माली) व सैयाद (बधिक) उसे यहाँ से निकाल देंगे। सरो या शमशाद (एक प्रकार का वृक्ष जिससे माशूक़ के कद की उपमा दी जाती है) के इश्क़ में कुमरी (एक चिड़िया) ने गेरुआ लिबास पहना है । इसके रोने-धोने जैसे स्वर रूपी आरी दिलों को चीरती है। कभी आशिक़ज़ार भी वहीं आ निकलता है । वह अपने माशूक़ की जगह हसरतो-ग़म (कामना और शोक) से गले लग रहा है। रोता है और क़ासिदे सबा (प्रातः समीर रूपी दूत) को पैग़ाम (संदेश) देता है कि मेरे भुलक्कड़ मीत को ज़रा मेरे हाल की ख़बर दे देना।

❀ 'शमा' अरबी में मोम को कहते हैं । फिर मोमबत्ती को कहने लगे । फ़ारस में आकर चर्बी की भी बनने लगी । मगर नाम शमा ही रहा । हिंदोस्तान में चरबी नापाक वस्तु समझी जाती है, इसलिये न शमा थी न इसका नाम था । मुर्ग़ सहर के ज़बह का मज़मून भी यहीं का है ।

उपर्युक्त विवरण से मालूम हुआ होगा कि इनमें बहुत सी बातें ऐसी हैं, जो फ़ारस और तुर्किस्तान से प्राकृतिक और भौगोलिक संबंध रखती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ कल्पनाओं में प्रायः उन वृत्तान्तों और कथाओं की ओर भी संकेत हैं, जो ख़ास फ़ारस देश से संबंध रखती हैं। जैसे स्त्रियों के स्थान में लड़कों से प्रेम करना। इनके रूपरंग की प्रशंसा, शमशाद, नर्गिस, संबल, बनफ़शा, मूए कमर (कमर तक लहराते बाल), क़दे सरो (सरो का क़द) इत्यादि की उपमाएँ, लैली, शिरीं, शमा, गुलेसरो इत्यादि का सौंदर्य, मजनूँ, फ़रहाद, बुलबुल, कुमरी, परवाने (पतंगा) का इश्क़, फ़ानूस का बुरका, ग़ाज़ा व गल्गूना, मानी व बहज़ाद की मुसव्वरी (चित्रकला), रुस्तम और असफ़न्दयार की वीरता, जहल की नहसत (मनहूसियत), सुहेल यमन की रंग-अफ़्शानी (रंग बिखेरना), फ़ारस, यूनान और अरब के महान् व्यक्तियों की कथाएँ, राहे हफ़्तख़ान, कोह अलवन्द, कोह बेसतून, जुएशेर, क़स्रे शीरीं, जीहून सेहून इत्यादि इत्यादि, इनकी सारी चर्चाएँ निस्संदेह अरब और फ़ारस से ही संबंध रखती हैं। मगर उर्दू के गद्य और पद्य रचनाओं में बहुत सी कल्पनाओं और विचार शैली का निर्माण इन्हीं के आधार पर हुआ है।

आश्चर्य यह है कि इन काल्पनिक विचारों और वहाँ की उपमाओं के प्रयोग ने इतना ज़ोर पकड़ा कि उनके समानांतर जो इस देश अर्थात् हिंदोस्तान की बातें थीं, उन्हें बिल्कुल भुला ही दिया। हाँ, 'सौदा' और सैयद इन्शा की रचनाओं में कुछ स्थानों पर उनकी चर्चा है और वह अपनी जगह पर बड़े प्यारे लगते हैं।

तात्पर्य यह कि अब हमारी साहित्य-रचना उन उपमाओं और अलंकारों की एक पुरानी और धूमिल स्मृति मात्र है, जो सैकड़ों वर्षों से हमारे पूर्वजों की रूमाल की तरह हमें थाती में मिली है।

हमारे आधुनिक साहित्यकारों को नई वाहवाही लेने की इच्छा हुई तो उन्होंने बड़ा कमाल यह किया कि कभी विशेषण के अन्दर विशेषण, कभी रूपक के अंदर रूपक जोड़ जोड़ कर उर्दू भाषा को इतना संकीर्ण और गूढ़ बना दिया कि उसकी बारीकी समझ लेने पर इसमें केवल एक काल्पनिक नज़ाकत और नाममात्र की रोचकता भास होता है कि जिसे केवल अत्यंत सूक्ष्म और दुर्बोध भावनाओं का संग्रह ही कह सकते हैं। किंतु खेद यह है कि इनकी काव्यरचनाएँ बजाए इसके कि लोगों के हृदय पर असर डालें, काव्य मर्मज्ञों के लिये एक गूढ़ पहेली और जन-साधारण के लिये एक अजीब गोरखधंधा बन गई हैं और इस आलोचना के उत्तर में वह कहते हैं कि 'कोई समझे तो समझे, जो न समझे वह अपनी जहालत (मूर्खता) के हवाले (अर्थात् वह जाहिल है)।'

अब इसके मुक़ाबिले में देखो हिंदी भाषा का साहित्यकार वर्षा ऋतु में अपनी फुलवारी किस प्रकार सजाता है। वृक्षों के कुंज हैं, इनकी घनी पत्तियाँ हैं, इनकी गहरी गहरी छाया पड़ रही है। जामुन की टहनियाँ आम के पत्तों के झुरमुट में मिल

गई हैं। खीरनी की टहनियाँ फ़ालसे के वृक्ष में फली हुई हैं। चाँदनी की लता कमरख के पेड़ से लपटी जाती है। इश्कपेंचा कुकुरौंधे पर चढ़ा जा रहा है। इसकी टहनियाँ ऐसी लटकती हैं, जैसे साँप लहरा रहे हैं। फलों के गच्छे पड़े झूम रहे हैं। मेवेदाने पृथ्वी को चूम रहे हैं। नीम के पत्तों की हरियाली और फूलों की सफ़ेदी बहार पर हैं। आम के बौर में इसके फूलों की महक आती है। भीनी भीनी सुगंध जी को भाती है। जब मौलसिरी की टहनियाँ हिलती हैं तो यह अपने फूलों का मेंह बरसाता है। फल-फलहारी की बौछार हो जाती है। मन्द मन्द हवा उसके सुगंध में बसी और लसी फल के क्यारियों पर चलती है। टहनियाँ ऐसी हिलती हैं, जैसेकोई जोबन की मतवाली अठखेलियाँ करती चली जा रही किसी टहनी में भौंरे की गुंजन, किसी में मधुमक्खियों की भनभनाहट अलग ही छटा दिखा रही है। पक्षी वृक्षों पर कलरव और किलोल कर रहे हैं। हौज़ में पानी का झरना इस ज़ोर से गिरता है कि कान पड़ी आवाज़ नहीं सुनाई देती। इससे छोटी-छोटी नालियों में पानी लहराता जाता है तो अजब सुहावना लगता है। वृक्षों से पक्षियाँ उतरते हैं, पानी में नहाते हैं, एक दूसरे चोंच से कुरेदते हैं, अपने पर फड़फड़ाते हैं और उड़ जाते हैं। चौपाए पृथ्वी पर चौकड़ियाँ भरते फिरते हैं। एक ओर से कोयल की कूक, दूसरी ओर से पपीहे की पुकार। इसी जमघट में एक व्यथित हृदय प्रेमी कहीं अकेला बैठा मन बहलाता है और इस मनोहारी दृश्य को देख देख कर अपनी विरह-व्यथा को भुलाने की कोशिश करता।

वर्षा ऋतु का समा बाँधना हो तो कहेंगे 'सामने से काली घटा झूमकर उठ रही है। बादल धुआँधार है। बिजली कौंदती चली आती है। काले पश्चभूमि में सारस और बगुलों की सफेद पंक्तियाँ अद्भुत दृश्य दिखा रही हैं। जब बादल गरजता है और बिजली चमकती है तो पक्षियाँ कभी दुबक कर वृक्षों की टहनियों में छिप जाते हैं। कभी दिवारों से चिमट जाते हैं। कहीं मोर झनकारते हैं। कहीं पपीहे पुकारते हैं। प्रेम का मतवाला चमेली के कुंज के पास आता है तो वहाँ सुगन्ध भरी ठंढी ठंढी हवा उसकी भावुकता को और ज़ोर दे देती है। उसी समय वर्षा की हल्की फुहार भी पड़ने लगती है। वह वहीं बैठ जाता है और मस्ती में कोई रसभीनी कविता पढ़ने लगता है।'

जब एक नगर के सौंदर्य का वर्णन करना होता है तो कहते हैं——संध्या होते होते एक स्थान पर पहुँचा। देखता हूँ कि सामने पहाड़ियाँ हरी भरी हैं। आस पास के मैदानों में गाँव बसे हुए हैं। पहाड़ के नीचे एक झरने में मोती की आब की तरह स्वच्छ और निर्मल जल बह रहा है। बीचोबीच नगर बसा हुआ है। जब इस नगर के विशाल भवनों और उनके ऊँचे ऊँचे कलशों का प्रतिबिंब जल में पड़ता है तो ऐसा भास होता है कि झरने के नीचे एक दूसरा भव्य नगर बसा हुआ है। झरने के किनारे वृक्ष, लता और घास पात को बरसात ने इतना हरा भरा कर दिया है, जिससे दुधार गाय और अन्य पशुओं के लिये काफ़ी चारा मिल जाता है।

जब उदास और भयावने वातावरण का वर्णन करते हैं तो कहते हैं कि

"आधी रात इधर, आधो रात उधर, जंगल सूनसान, चारों ओर उजाड़, अंधकार मरघट में दूर दूर तक राख के ढेर और अधजली लकड़ियाँ पड़ी हैं । कहीं कहीं चिता में आग चमकती है । भूत प्रेत की डरावनी सूरतें और भयानक मूरतें दिखाई देती हैं । किसी किसी का ताड़ के ऐसा लम्बा क़द है और वह लाल लाल आँखें फाड़े, बड़े बड़े दाँत निकाले, गले में मुंडमाल डाले खड़ा हँस रहा है । कोई एक हाथी को बगल में दाबे भागा जाता है । कोई एक लकड़ी की तरह खड़ा काला नाग दांतों से चबा रहा है । पीछे शोर होता चला आता है कि लिजिओ, लीजिओ मारिओ, मारिओ, जाने न पाए । दम भर में यह भूत प्रेत अंतर्धान हो जाते हैं । कोलाहल थमता है । फिर मरघट का मैदान सुनसान है । पत्ते हवा से खड़कते हैं । हवा का सन्नाटा, वर्षा का वेग, उल्लू की घू-घू, गीदड़ों का हुआँ हुआँ और कुत्तों का रोना इतने भयावह मालूम होते हैं कि भूतों का डर भी भूल जाता है ।

देखो, यह दोनों बाग़ आमने सामने लगे हैं । तुमने इन दोनों की तुलना की । दोनों के रंग ढंग में क्या अंतर है ? हिंदी भाषा का विद्वान् अलंकारों का भूलकर भी प्रयोग नहीं करता । जो जो मनोहारी दृश्य आँखों से देखता है और जिन मधुर स्वरों को सुनाता है, या जिन सुगंधियों को सूँघता है, उन्हीं को अपनी सरल और मीठी भाषा में बिना किसी बनावट के या बढ़ाए चढ़ाए साफ़ साफ़ कह देता है ।

लेकिन यह न समझना चाहिए की हिंदोस्तानी भाषा में अतिशयोक्ति का नितांत अभाव रहा है । संस्कृत के साहित्यकार ज़रा बिगड़ जायँ तो पृथ्वी के माथे पर पहाड़ त्योरी के वल हो जायँ और वहाँ कँदराएं पत्थरों से दाँत पीसने लगें ।

इन साहित्यिक विलक्षणताओं को देखकर पहले तो हमें उस सामान्य नियम का तथ्य समझना चाहिए की प्रत्येक देश का साहित्य अपने भौगोलिक और भौमिक आकार प्रकार का चित्र और वहाँ के निवासियों के रस्म-रिवाज, आचार-व्यवहार और उनकी भावनाओं का दर्पण होता है । इसका कारण यह है, कि जो कुछ कवि या साहित्यकार की दृष्टि के सामने होता है, वही उसकी साहित्यिक उपमाओं और अलंकारों के साधन और उपादान होते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि जिस तरह ईरान, खुरासान और तूरान में बहार का मौसम हृदय के लिये आनंददायक होता है, उसी तरह हमारे देश में वर्षा ऋतु मन में उल्लास और आहलाद पैदा करता है । वहाँ का सर्वप्रिय पक्षी बुलबुल है और यहाँ कोयल और पपीहा । व्रजभाषा के साहित्यकार वर्षा ऋतु की छटा बड़ी सुंदरता से दर्शाते हैं और उसका वर्णन बड़ी ख़ूबी से करते हैं । जहाँगीर ने अपने आतमचरित में सच कहा है कि हिंदोस्तान की बरसात हमारी फस्ले-बहार है और कोयल यहाँ की बुलबुल है, जो इस मौसम में अजब लुत्फ़ से बोलती है और मस्तियाँ करती है । बहार के मौसम का कुछ लुत्फ़ यहाँ है तो बसन्त ऋतु में है, जब होली के रंग उड़ते हैं, पिचकारियाँ छूटती हैं, गुलाल के कुमकुमे चलते हैं । वह बातें नहीं जो फ़ारसवाले बहार के मौसम में करते हैं ।

फिर भी हम अपने पूर्वजों (उर्दू साहित्यकारों) की इस रचना-कौशल के लिये कृतज्ञ हैं कि हिंदी भाषा में जो कठिनायाँ संबंध कारक के चिन्ह ('का', 'के',

'की' से होती हैं, उसे उन्होंने फ़ारसी भाषा के प्रयोग के अनुसार छाँट दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने भाषा के ऐसे बहुत से उपमाओं और अलंकारों को भी उर्दू साहित्य में नहीं प्रयोग किया, जिनका भाषा में भी शायद इस लिए कम प्रयोग किया जाता था कि वे किसी साहित्यिक भाषा में प्रयोग के लिये उपयुक्त न थे। या इस कारण से कि बराबर 'का' और 'के' के आने से कविता नीरस हो जाती है। इसी तरह ऐसी उपमाओं को जिनकी शाब्दिक बहुलता के कारण क्रमबद्ध रचनाओं में सरलता और सुष्टुता की कमी आ जाती थी, उन्हें भी ग्रहण नहीं किया। इसकी जगह उन्होंने उर्दू में फ़ारसी मिलाकर उसे उसी भाषा से संबंधित उपमाओं, रूपकों और अलंकारों से सजा दिया, जिससे कि वह कल्पनाओं की कोमलता, शैली की परिपक्वता, और रचनात्मक ओज थौर रवानी में हिंदी भाषा से आगे बढ़ गई और बहुत से नए शब्दों और नई तरकीबों के समावेश ने उर्दू भाषा को काफ़ी समृद्ध बना दिया।

उर्दू भाषा की प्रगति में फ़ारसी के इस गौरवपूर्ण योगदान की चर्चा के साथ-साथ यह बात फिर भी नहीं भूलना चाहिए कि उसने एक कुदरती फूल को जो अपनी सुगंध से महकता और रंग से लहकता था, नाहक़ हाथ से फेंक दिया। और इसके फलस्वरूप उर्दू ज़बान में प्रभावोत्पादकता और वर्णन यथार्थता के गुणों का नितांत अभाव हो गया। उर्दू के भावुक और सूक्ष्मदर्शी साहित्यकार उपमाओं और अलंकारों की रंगीनी और उनके लिये शाब्दिक आडंबर के उल्लास में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों का सृजन करने लगे, किंतु उनके असली आशय और अभिप्राय को अभिव्यक्त करने की ओर निष्चेष्ट हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि उर्दू ज़बान का ढंग ही बदल गया और नौबत यह हुई कि यदि कोशिश करें तो फ़ारसी की तरह **पंज-ए-सक्का और मीना-बाजार या फ़िसाना अजायब** लिख सकते हैं। लेकिन अपने देश से संबंधित किसी समस्यात्मक विवरण या ऐतिहासिक क्रान्ति का विशद वर्णन करना चाहें, जिससे यह ज़ाहिर हो कि अमुक घटना क्योंकर हुई; या उसका अंत कैसे हुआ; और उससे उसके पढ़नेवाले यह समझ जायँ कि सामयिक परिस्थिति ऐसी हो रही थी कि जो कुछ हुआ वह अनिवार्य था; तो ऐसे साहित्यिक प्रयास के लिये वे अपने को बिल्कुल अक्षम पाएँगे; और उनके लिये तो किंचित यह असंभव सा होगा कि किसी दार्शनिक या वैज्ञानिक विषय पर अपने विचार इतनी विशदता के साथ व्यक्त करें कि लोगों का ध्यान उनकी रचनाओं की ओर आकर्षित हो जाय; और उनकी दार्शनिक और ज्ञानात्मक युक्तियाँ और वैज्ञानिक विषय-विवेचन-शैली, जो उनके वर्णन लालित्य से ओत प्रोत रहते हैं; अपने पढ़नेवालों के बुद्धिगम्य हों और उनकी मान्यता और स्वीकृति प्राप्त कर लें। और जिस जीवनमार्ग पर चलने से उन्हें रोकना हो या जिस जीवनक्रम की ओर उन्हें उन्मुख करना हो, उसमें सुननेवालों की पूरी सहमति ले सकें। यह सारी कठिनाइयाँ केवल हमारे उस नज़ाकत ख़्याली की रुझान ने पैदा की, जिसके कारण फ़ारसी भाषा के उपमा और अलंकार के अंदाज़ और पर्यायवाची फिक्रे

सुखनतकिये की तरह उर्दूवालों की लेखनी पर चढ़ गए। निस्संदेह हमारे पूर्वज फ़ारसी जबान की रंगीनी और नज़ाकत को देख कर उससे मोहित हो गए। मगर वह यह न समझे कि उसका काल्पनिक रंग हमारे असली जौहर को मिट्टी में मिलानेवाला है। यही कारण है कि आज अंग्रेज़ी ढंग पर लिखने में या उनके विषयों का पूरा पूरा अनुवाद करने में हम अपने को नितांत असमर्थ पाते हैं। यही नहीं, हमारे साहित्य-निर्माण की सारी रुचियाँ और परंपराएँ अब इस दिशा की ओर हमारी प्रगति में अवरोध पैदा कर रही हैं।

अंग्रेज़ी रचना शैली का साधारण नियम यह है कि यदि किसी पदार्थ या किसी मनोवृत्ति का वर्णन करना हो तो उसे इस ढंग से करेंगे कि उस पदार्थ के देखने या उस परिस्थिति से गुज़रने से जो प्रसन्नता या विषाद, क्रोध या दया, भय, या उत्साह, अपने हृदय में व्याप्त हो, यह वर्णन उन्हीं वृत्तियों के अनुकूल सुननेवालों के हृदय पर भी प्रभाव डाले। यह सच है कि हमारी वर्णन शैली अपने चुस्त गठन और क़ाफ़ियों के अनवरत आवृत्ति से कानों को स्पष्ट स्वर पहुँचाती है, उसकी अतिरंजित शब्दावली और कोमल विषय निरूपण से कल्पना में एक प्रकार की शोखी और गुदगुदाहट महसूस होती है और उसी के साथ साथ यह शैली अपनी अतिशयोक्तियों और शब्दाडंबर के धूमधाम से आकाश और पाताल को तले ऊपर कर देती है। किंतु अपने यथार्थ उद्देश्य और मानसिक अनुभूति की अभिव्यंजना को यदि हम उसमें ढूँढें तो तनिक भी नहीं पाते। कुछ ऐसे विषय हैं, जिनके विवेचन में हमारी लेखनी काफ़ी मज गई है, लेकिन सचमुच देखें तो हम उनमें भी अपर्याप्त रह जाते हैं। उदाहरण के लिये, यदि हम किसी के सौंदर्य की प्रशंसा करते हैं तो ईर्ष्या रूपी हूर और लज्जा रूपी परी पर संतोष न करके एक ऐसे पुतले का निर्माण कर देते हैं, जो संभावना और कल्पना दोनों के परे होता है। मगर किसी सुंदरी का नैसर्गिक सौंदर्य स्वयं एक ऐसा दृश्य है कि आँखों से देखने से दिल पर जो बीत जाता है, दिल ही जानता है। तो फिर उसी को इस तरह क्यों नहीं बता देते कि सुनने वाले भी कलेजा थामकर रह जायँ ?

एक बलिष्ठ नवयुवक की प्रशंसा करेंगे तो उसे रुस्तम, तोहमतन, अस्फंदयार से तुलना करेंगे, या रूइन-तन (लोहे के ऐसा शरीरवाला), शेर, बेशये वफ़ा (जंगल का शेर) निहंग कुलज़ुमे हेजा (समुंदर का घड़ियाल) इत्यादि परिभाषाओं के प्रयोग से पृष्ठ रंग देंगे। लेकिन उसकी ऊंची गरदन, फिरे हुए डंड, चौड़ा सीना, बाहों की गोलावट, पतली कमर, यानी उसका छरहरा बदन और सुंदर डील-डौल भी तो एक महत्व रखता है। उसकी वीरता और साहस की भी तो आख़िर कुछ न कुछ विशिष्टता है, जिसके विरुदावली ने उसे अपने समय में संमानित कर रखा था। तो फिर इसी को इस ढंग से क्यों नहीं वर्णन कर देते, जिसे सुनकर मुरदार ख़्यालों में अकड़-तकड़ और कुम्हलाए हुए दिलों में उमंग पैदा हो जाय ?

एक फुलवारी की तारीफ़ में कभी आकाश के काल्पनिक हरे भरे बाग़ या सितारों के बग़ीचे को उससे ओछा दिखाएँगे। कभी उसे फ़िरदौस (स्वर्ग) और जन्नत बनाएँगे। बल्कि एक एक फूल और एक एक पत्ते की तारीफ की रंगा-रंगी से पन्ने भर देंगे। किंतु उस चमन की हरियाली का लहलहाना, कलियों का चिटखाना, फूलों का खुशी से फूलना, मीठी मीठी सुगंध का आना, बहते हुए पानी का लहराना, वृक्षों की पंक्तियों और फूलों की क्यारियों की बहार, हवा की गंध, तूती की चहक, पपीहे का 'पिउ कहाँ', कोयल की कूक जिससे कि आत्मा में उल्लास उपजता है और हृदय प्रभावित होता है, उसका वर्णन इस तरह क्यों नहीं करते, जिसके पढ़ने से उस फुलबग़िया की छवि आँखो में उतर आए। युद्ध क्षेत्र का वर्णन करना हो तो पृथ्वी की तल को उड़ाकर आकाश में तलपट कर देते हैं और ख़ून की नदियाँ एक देश से दूसरे देश में बहा देते हैं। मगर उपयुक्त स्थान पर वह वर्णन नहीं, जिससे एक वीर पुरुष की वीरता देखकर दिलों मे अपनी क़ौम से प्रेम और साथी क़ौमवालों के लिये अपनी जान को निछावर कर देने का जोश पैदा हो।

दूसरी दिशा में यदि ज्ञान और विज्ञान का विवेचन करना हुआ तो उसके प्रसाद से मनुष्य को पीर, पैग़ंबर, देवता और फ़रिश्ता बना देते हैं। कितना अच्छा होता यदि इसकी जगह कुछेक स्पष्ट खुले खुले लाभ बता देते, जिससे हर व्यक्ति के दिल में इसके उपार्जन का शौक़ पैदा होता और अनपढ़ और अज्ञानी भी यह समझ जाते कि अगर इनसे वंचित रहूँगा तो हीनता और निरादर भरे जीवन से हमारे लिये दीन और दुनिया दोनों ख़राब होंगे। हमारी रचनाओं में इस तरह का कुछ जिक्र नहीं और खेद है कि अभी तक हम लोगों का ध्यान इस ओर नहीं गया है। अंग्रेज़ी में बहुत से विचार और विषय ऐसे हैं, जिनका संपादन हमारी ज़बान नहीं कर सकती। यानी जो लुत्फ़ इनका अंग्रेजी भाषा में है, वह उर्दू में पूरा अदा नहीं हो सकता। यह वस्तुतः किसी भाषा की हीनता और अक्षमता का द्योतक है, जो कि उस भाषा के बोलनेवालों के लिये एक बड़ी लज्जास्पद बात है।

यदि सभ्य और सुशिक्षित राष्ट्र के साहित्यकार यह प्रश्न करें कि उर्दू के साहित्य की दशा ऐसी हीन और क्षीण क्यों है! तो उसका एक ही उत्तर होगा कि किसी क़ौम का साहित्य-निर्माण उसकी सांस्कृतिक परिस्थिति के आधार पर ही होता है और उसके विचार-स्तर भी समकालीन संस्कृति और लोगों की शिक्षा-दीक्षा के अनुपात में ही उन्नत होता है। उस समय हिंदोस्तान की जो शैक्षिक और सांस्कृतिक दशा थी और यहाँ के शासकों और अमीरों की जैसी क़दरदानी थी, वैसी ही यहाँ की साहित्य-रचना भी रही। इस विषय का विवेचन हम इस वाक्य से समाप्त करेंगे कि कोई चिड़िया अपने डैने से बढ़कर पर नहीं मार सकती। उर्दू के डैने फ़ारसी, संस्कृत और हिंदी भाषा इत्यादि थे। फिर उर्दू बेचारी इंगलैंड या रूस या यूनान के महलों पर क्योंकर जा बैठती?

लेकिन वस्तुतः इस प्रश्न की गुत्थी एक और गिरह में उलझी हुई है। वह यह है कि हर एक चीज़ की उन्नति किसी देश में उतनी ही मात्रा में होती है, जितना कि उस चीज़ को देश के शासनतंत्र से लगाव होता है। यूरोप के देशों में प्राचीन काल से इतिहास यही साबित करता है कि किसी देश के प्रशासन की आंतरिक और वाह्य शक्ति देशवासियों के सामाजिक और बौद्धिक क्षमताओं पर आधारित होती है और शासन की सभी व्यवस्था और उसके हर प्रकार के कारोबार इन्हीं क्षमताओं के सामूहिक प्रयास से पोषित होते हैं। उनकी सारी प्रशासनिक योजनाएँ उनके बौद्धिक उपलब्धियों और ऐतिहासिक अनुभवों पर ही आधारित होती हैं। इस तरह की योग्यता सारे देश में सैंकड़ों ही नहीं बल्कि हज़ारों लोगों में पाई जाती थी। उन देशों में जहाँ प्रशासन संबंधी अन्य महत्वपूर्ण व्यवस्थाए थीं, वहाँ एक यह भी थी कि प्रत्येक ऐसी समस्या का जिसकी जाँच आवश्यक हो, उसपर आम सभाओं में सर्वसंमति से विचारों के लिखित और कथित आदान-प्रदान के बाद ही कोई समाधान निकाला जाता था।† किसी अवसर विशेष पर यदि कोई व्यक्ति आम सभा में अपना मत युक्तिपूर्ण और प्रभावोत्पादक ढंग से प्रकट करता है तो लोगों को अपने मत के अनुकूल कर लेता था। फिर जब कोई विपक्षी दलवाला उसकी हर एक दलील के काट में अपने विचार प्रस्तुत करता था तो मानो पूरब का सूर्य पश्चिम में उदय कर देने की कोशिश करता था और वहाँ आज भी सार्वजनिक नेता इस प्रकार केवल अपने लेखों और वक्तृताओं के जोर से हजारों लाखों आदमियों को अपने अनुकूल एक मत से दूसरे मत पर फेर लेते हैं। कल्पना करो कि इनकी वक्तृता में कैसी शक्ति और इनकी भाषा में कितना ओज होगा? इसके बिपरीत हिंदोस्तान में यदि यहाँ उर्दू ज़बान में कुछ हुआ तो बादशाह की स्तुति और शुभ-कामना में कुछ शायरों ने दीवान पेश किए, जो केवल उनके मनोरंजन और विनोद की सामग्री बनी। कहाँ ज़मीन और कहाँ आस्मान? न वह जौहर पैदा हुआ और न किसी ने उसके पैदा करने का विचार या संकल्प किया।

इन सब के बावजूद उर्दू की भाषात्मक परंपरा और रुढ़ियाँ दोनों गर्व और गौरवपूर्ण हैं। इसका असली उद्गम ब्रजभाषा है, जो अपने यौवन काल में केवल प्रदेश में लेनदेन की भाषा थी। उर्दू स्वयं दिल्ली से निकली और इसका चिराग़ दिल्ली की बादशाहत के साथ ही बुझ जाना चाहिए था। फिर भी अगर आज मध्य हिंदोस्तान के बीचोबीच खड़े होकर आवाज़ दें कि इस देश की भाषा क्या है तो जवाब यही सुनेंगे कि 'उर्दू'। इस देश के एक किनारे से जैसे पेशावर से चलो तो सबसे पहले अफ़ग़ानी मिलते हैं। अटक उतरे तो पोठवारी कुछ और ही बोलते हैं। झेलम तक दाहिनी ओर काश्मीर पुकार रहा है, 'योरवला', 'योरवला' यानी इधर आओ, इधर आओ, बाईं ओर मुल्तान कहता है कि 'कित्थे धन्या ?' यानी कहाँ चले? आगे बढ़े तो वह बोली है, जिसे पंजाबी ख़ास कहते हैं। इसके बाएँ पहाड़ी ऐसी जबान है कि इसकी बोली

---

† लेखक का आशय यहाँ पश्चिमी देशों की प्रजातांत्रिक प्रणाली से है।

सबसे अलग। सतलज उतरें तो पंजाबियत की कमी से लोगों की चालढाल और और वेशभूषा में भी अंतर शुरू हो जाता हैं। दिल्ली पहुँचे तो और ही समाँ बँधा हुआ है। मेरठ से आगे बढ़े तो अलीगढ़ में भाषा से मिला जुला पूरब का अन्दाज़ शुरू हो जाता है। कानपुर, लखनऊ से इलाहाबाद तक यही दृश्य है। दक्षिण को हटें तो मारवाड़ी होकर गुजराती और दक्षिणी हो जाती है। फिर पूरब की ओर आइये तो आगे बंगला है और कलकत्ता पहुँच कर तो आप रंगबिरंगी दुनिया देखेंगे। यहाँ तो जैसे ईश्वर की रची हुई सारी सृष्टि और सभी जीव हैं; जिसको समझना और पहचानना अनुमान से परे है।

मेरे दोस्तो। तुम जानते हो कि हर वस्तु के असली और शुद्ध मानक रूप में एक स्थान ऐसा होता है, जैसे सिक्के के लिये टकसाल। क्या कारण है कि शुरू शुरू में उर्दु भाषा के लिये दिल्ली टकसाल समझी जाती थी? इसका कारण यह है कि यह सारे मुल्क की राजधानी थी। शाही दरबार के ख़ान्दानी अमीर-उम्रा स्वयं विद्वान् होते थे और उनकी मजलिसों में विद्वान् और गुणी लोग इकट्ठा होते थे, जिनकी बरकत से ही उनमें ऐसी सुरुचि पैदा होती थी, जो हर चीज़ की सुघरता, शिष्टता, मृदुलता और मनोरंजकता के लिये साँचे का काम करती थी। इसलिए उनकी बात-चीत वेशभूषा, शिष्टाचार, उठना बैठना, बल्कि हरेक बात ऐसी शिष्ट, सुसंस्कृत और रोचक होती थी कि बरजोरी सबके दिल को रुच जाती थी। हर चीज़ के लिये सदा नई नई काट छाँट और नए नए संशोधन और नई नई ईजादें और आविष्कार वहाँ होते थे। और चूँकि राजधानी में जगह जगह के लोग मौजूद रहते थे, इसलिये वह भाषा के ऐसे शोध और आविष्कार जो लोकप्रिय होते थे, सभी जगह जनसाधारण में प्रचलित हो जाते थे। चुनांचे बहादुरशाह के पूर्वकाल तक दिल्ली, भाषा के संबंध में, हर एक बात के लिये प्रमाण और मानक रही। और इन्हीं कारणों से दिल्ली ने भाषा के टकसाल होने का गौरव प्राप्त किया। कालोपरांत इन्ही गुनों से लखनऊ भी उर्दू भाषा का एक केंद्र बनी। इस संबंध में लखनऊ को इस गौरव का अधिकारी होने की जब चर्चा होती है, तो वास्तव में बात यह है कि भाषा संबंधी मनोहारी आविष्कार और लालित्य की उपज किसी शहर के ईंट पत्थर की जमावट के असर से नहीं होता। बल्कि सुसंस्कृत और आमोद प्रिय लोग जहाँ जमा होंगे, और उनके लिये बौद्धिक और सांस्कृतिक मनोरंजन के साधन प्रस्तुत होंगे, वहीं ये फूल खिलने लगेंगे। चुनांचे जब दिल्ली के लोग और उनके वंशज दिल्ली में सल्तनत की तबाही के कारण उस स्थान को छोड़कर आबाद होने के इरादे से लखनऊ पहुँचे तो उनके साथ उनकी ज़बान भी वहाँ पहुँची और वहाँ भी उसकी पुरानी कतर-ब्योंत होने लगी। जब लखनऊ स्वतंत्र रूप से राजधानी हो गई तो उर्दू ज़बान भी दिल्ली की दासता से स्वतंत्र हो गई। इस स्वतंत्रता की नींव 'नासिख़', 'आतिश', 'ज़मीर', 'ख़लीक़' जैसे विद्वानों ने डाली। और 'अनीस', 'दबीर', 'रिंद', ख़ाजा वज़ीर और 'सुरूर' ने इसे समृद्ध और सुसंपन्न बनाया। किंतु अक्सर इनमें ऐसे भी हुए कि चले जंगल को साफ़ करने तो उसमें नदी की पूरी धार ही मोड़ दी। यानी भाषा को सरल

और प्रांजल बनाने की बजाय उन्होंने उसमें अरबी और फ़ारसी का शब्दकोश ही उंडेल दिया। कालोपरांत लखनऊ के इतिहास का पृष्ठ भी ज़माने ने उलट दिया। अब सूरज हमारी मल्का महारानी विक्टोरिया के आकाश को ही प्रकाशित करता है और उसे यह हुक्म नहीं कि वह इनकी सल्तनत की सीमा से बाहर हरकत कर सके। डाक और रेलगाड़ियों ने पूरब से पच्छिम तक दौड़कर भाँत भाँत के जानवर एक पिंजड़े में बंद कर दिए हैं। दिल्ली बरबाद और लखनऊ वीरान ! दोनो जगहों के अधिकारी और प्रतिष्ठित साहित्यकार कुछ कब्र के नीचे हो गए, कुछ दर बदर सर पर ख़ाक डाले मारे मारे फिरते हैं। अब जैसे और शहर वैसे ही लखनऊ। जैसे और छावनियों के बाज़ार वैसी ही दिल्ली। बल्कि उससे भी बदतर। अब कोई शहर ऐसा नहीं रहा, जिसके लोगों की भाषा सामान्यतः प्रमाणिक माने जाने के योग्य हो। क्योंकि शहर में ऐसे चुने हुए और मान्य व्यक्ति जिनसे कि उस शहर की भाषा में आदर्श और प्रमाणिक होने की क्षमता मिलती है, सिर्फ इने गिने होते हैं और वह ज़माने के सैकड़ों वर्षों में विकसित संस्कृति की उपज होते हैं। दिल्ली के ऐसे चुनिंदा लोगों में से बहुत तो परलोक सिधारे; कोई बुड्ढा पतझड़ के पत्ते की तरह किसी वृक्ष की टहनी पर अटका है; लेकिन इस बुड्ढे की जीर्ण और क्षीण आवाज़ अब कमेटियों के शोर और अख़बारों के नक़्क़ारख़ानों में सुनाई भी नहीं देती। उन पुराने भाषाविदों के अभाव में अगर दिल्ली की ज़बान को प्रामाणिक समझा जाय तो वहाँ के जन-साधारण की ज़बान क्योंकर प्रामाणिक हो सकती है ?

हवा का रुख़ और नदी का बहाव न किसी के बस में है न किसी को मालूम है कि किधर फिरेगा। उसी तरह हम यह नहीं कह सकते कि भविष्य में उर्दू भाषा कब और बदलेगी। हम भी भगवान् भरोसे बिना माँझी के नाव में बैठे हैं। समय के उलट फेर को फुलवारी के फूलों के रंग बदलने की तरह देखते हैं और कहते हैं :—

क़िस्मत में जो लिक्खा था सो देखा है अब तलक।
और आगे देखिए अभी क्या-क्या हैं देखने ।।

उर्दू कविता का इतिहास

कुछ यूनानी दार्शनिकों का यह मत है कि कविता केवल काल्पनिक बातें हैं जिन्हें प्रत्यक्ष अनुभव और वास्तविकता से कोई संबंध नहीं। प्राकृतिक पदार्थों या जिनसे संबंध रखनेवाली घटनाओं को देखकर जो विचार कवि के दिल में उपजते हैं, उन्हें वह अनुकूल अवसर मिलने पर अभिव्यक्त कर देता है। ऐसे विचार तथ्यपूर्ण और वास्तविक हों, यह आवश्यक नहीं है। कवि जब प्रभात की अरुणिमा और उसका वैभव देखता है तो कभी कहता है 'देगे़-मश्रिक़[1] से दूध उबलने लगा'। कभी कहता है 'दरियाए सीमाब[2] मौजें मारने लगा। कोई पूरब से काफ़ूर उड़ाता है। सुबह तबाशीर[3] बिखेरती आती है। या सूर्योदय हो रहा हो और किरणें इसमें अभी फूटी हों तो वह कहता कि प्रकृति ने एक 'सुनहरी गेंद हवा में उछाली है'। या 'सुबह सोने की थाल सर पर धरे आती है'। कभी सबेरे के मुर्गों के बाँग का शोर, सूर्य की चमक दमक और उसके फैलते हुए प्रकाश की छटा और बिखरती हुई किरणों की कल्पना करके कवि प्रातःकाल की धूमधाम दिखाता है और कहता है 'पूर्व दिशा के सम्राट सब्ज़ घोड़े पर सवार, जड़ाऊ ताज सर पर रखे, किरन का माला लिए, पूरब से नमूदार[4] हुआ'। सांध्य लालिमा की छटा देखता है तो कहता है 'पश्चिम के छपराट पर सूरज ने आराम किया एक बढ़िया शंग़रफ़ी चादर तान सो रहा'। कभी शायर कहता है 'आस्मान का प्याला खून से छलक रहा है'। या पच्छिम में किसी महल में आग लग गई है'। तारों भरी रात में चंद्रमा को देखता है तो कहता है 'लाजवर्दी के चादर में सितारे टँके हुए हैं'। 'नील नदी में नूर का जहाज़ चला जाता है और 'रूपे की मछलियाँ तैरती फिरती हैं'। तात्पर्य यह कि वह ऐसी ऐसी बातें कहता है कि इन्हें पढ़कर मज़ा आता है, किंतु इन्हें असलीयत से कोई ग़रज़ नहीं है। फिर भी संसार के कलाभवन में कविता एक विचित्र दैवी कला समझी जाती है, जिसका कौशल देखकर बुद्धि हैरान होती है। ग़ौर करें कि पहले किसी विषय को आप एक पंक्ति में लिखते हैं और इसे गद्य रूप में पढ़ते हैं। फिर इसी विषय को शायर जब इनके शब्दों को केवल आगे पीछे करके लिख देता है तो कुछ और ही बहार छा जाती है। बल्कि इसमें कुछ और कैफ़ियतें पैदा हो जाती हैं—

(१) पहले तो इसमें एक गुण विशेष आ जाता है, जिसे लोग 'मौज़ूँनियत' (मौज़ूँ होने का भाव, उपयुक्तता) कहते हैं।

(२) रचना ओजपूर्ण हो जाती है। और विषय में ऐसी प्रभावोत्पादकता का संचार हो जाता है कि उसका प्रभाव हृदयभेदी हो जाता है।

---

[1] पूरब [2] पारा [3] बंसलोचन [4] प्रकट

(३) सीधी सादी बात भी ऐंसी रोचक हो जाती है कि सब उसे पढ़ते हैं और मज़ा लेते हैं।

यह अनुभवसिद्ध है कि जब हर्ष या विषाद, रोष या आह्लाद या लालसा का हृदय में आवेगा आता है और अभिव्यक्ति के लिये वाक्शक्ति से टकराता है तो ज़बान से स्वतः उसी प्रकार उपर्युक्त शब्द निकलने लगते हैं, जैसे पत्थर और लोहे के टकराने से आग निकलती है। इसी लिये कवि वही है, जिसके हृदय में ऐसी भावुकता-स्वभावजन्य हो। स्वाभाविक कवि यों तो संकल्पवश किसी भी क्षण किसी विशिष्ट काव्यरचना के लिये प्रयत्नशील हो सकता है, किंतु वस्तुतः उसका हृदय और कल्पना प्रत्येक क्षण अपने काम करते रहते हैं। किसी प्राकृतिक दृश्य अथवा जीवन संबंधी घटना की जो प्रतिक्रिया किसी कवि की चेतना पर होती है और उससे उसका मन जिस तरह प्रभावित होता है, वह प्रतिक्रिया अथवा अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति के भाग्य में नहीं होती। चाहे उसके मनोभाव हर्ष या उल्लास से प्रभावित हों, चाहे दुःख या उदासी से। जैसी भी उसकी अंतर्दशा होती है, उसे व्यक्त करने के लिये वह उपर्युक्त शब्द ढूँढता रहता है। और यह विचारता रहता है कि किस तरह उन शब्दों को रचूँ कि जो दशा उस दृश्य अथवा अनुभूति से भरे हृदय की हो रही है, वही सुननेवालों के हृदय पर छा जाय, और वह बात कहूँ कि दूसरों के दिल पर असर कर जाय।

कवि मानो विरहवेदना से व्यथित, चिंताग्रस्त मुद्रा में कभी अकेला बैठा दिखाई देता है, कभी सबसे अलग अलग अकेला फिरता रहता है। कभी किसी वृक्ष की छाँह में अकेले बैठ जाता है और इसी में उसे खुशी महसूस होती है। वह कैसी भी दीन दशा में हो, मगर मिज़ाज का बादशाह और दिल का हातिम होता है। बादशाह के पास फ़ौज और सिपाही, दफ्तर और दरबार और राजकाज के सब कारख़ाने और साधन मौजूद होते हैं। इसके पास तो यह सब कुछ भी नहीं। फिर भी शब्दों और उनमें निहित अर्थों द्वारा वही सामान बल्कि उनसे हज़ारों गुना अधिक तैयार करके दिखा देता है। बादशाह भयानक युद्ध करके अन्य देशों पर अपना अधिकार जमाता है और लूट खसोट कर ख़ज़ाना भरता है। कवि ऐसे ख़ज़ाने घर बैठे ही लुटा देता है और धन बटोरने की तो उसे परवाह भी नहीं रहती। बादशाह को एक दूसरे देश पर विजय प्राप्त करने से इतनी खुशी नही होती, जितनी कि कवि को एक ऐसे शब्द के मिल जाने से होती है, जो अपनी उपयुक्तता से किसी ख़ास प्रसंग में सुंदर बैठ जाय। और सच तो यह है कि अपनी कल्पना के देश पर विजयी होने के अलावा उसे और किसी देश की परवाह भी नहीं।

इसी तथ्य के प्रमाण में जो कुछ एक बार मैंने अपनी आंखों देखा, उसे कह देना प्रासंगोचित होगा। शेख इब्राहीम 'ज़ौक' जिस घर में बैठते थे, तंग व अंधेरा था। गर्मी में वहाँ मन ऊबने लगता था। कुछ लोग वहाँ कभी जाते तो घबराते और उनसे यह कहते की "भई, यह मकान बदलो। इसके अंदर घड़ी भर भी बैठने को जी नहीं चाहता। तुम क्योंकर दिनरात यहीं काटते हो" ? वह 'हूँ',

Chambal eGangotri Urdu

'हाँ' करते और चुपके हो रहते । कभी मुस्कराते, कभी जो ग़ज़ल कहते होते उसे देखने लगते । कभी कहनेवाले का मुँह देखते । ईश्वर ने उन्हें मकान, बाग़, आराम और सुख के सभी साधन दिए थे । मगर वह वहीं बैठे रहे । और ऐसे बैठे कि मर कर उठे । लेकिन इनके क़सीदे और ग़ज़लें देख लो कि इनमें किसी बादशाह के साम्राज्य की शानो-शौकत और धूम-धाम के सारे सामान मौजूद हैं या नहीं । गोया उस सम्राज्य की सारी संपत्ति सब इन्हीं की संपत्ति थी और उसे जिस तरह चाहते थे काम में लाते थे। जब वह अपनी रचनाओं को पढ़ते थे तो एक बादशाह को अपने साम्राज्य की मिल्कियत से जो खुशी होती है, उससे कहीं अधिक खुशी उन्हें होती थी । और फिर बादशाह को अपने सल्तनत की चिंता भी लगी रहती है । यह तो उस झंझट से बरी थे ।

जिस तरह पृथ्वी अपनी उर्वरता के अनुसार किसी वनस्पति की उपज के बिना ख़ाली नहीं रह सकती, उसी तरह कोई भाषा अपने बोलने वालों की बौद्धिक क्षमता के अनुसार कविता से ख़ाली नहीं रह सकती । और जिस तरह हर उपज की रंगीनी और हरियाली उसकी भूमि की प्राकृतिक विशिष्टता प्रकट करती है, उसी तरह हर भाषा की कविता उस भाषा और उसके बोलनेवालों की शिष्टता और संस्कृति के साथ-साथ उनके भावों की मृदुलता और गंभीरता का स्तर व्यक्त करती है ।

यदि हम उर्दू भाषा के उद्भव पर बिचार करें और इसकी रचनाओं पर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि इसमें गद्य-रचना के पहले पद्य-रचनाएं ही दिखाई पड़ती हैं । और यह एक विचित्र बात है कि एक बच्चा पहले काव्य रचे फिर सीधी बातें कहना सीखें । शायद इसलिये कि कविता में भावों की उफ़ान होती है । इसलिये पहले यही निकल आई । गद्य शिष्टता और औपचारिकता के बोझ से लदा होता है इसलिये जब आवश्यकता पड़ी तो बाहर निकला । उर्दू गद्य की कोई रचना १७२५ ई० से पहले की दिखाई नहीं देती । हाँ उर्दू कविता के अस्तित्व के बारे में मौखिक वार्त्ताओं और पुस्तकों में लिखी कथाओं के जाँचने से जो पता चलता है, वह यह है कि जब ब्रजभाषा ने अपनी स्वाभाविक शिष्टता और मुरव्वत से अरबी और फारसी के शब्द रूपी अभ्यागतों को शरण दी तो उर्दू बोलनेवालों की भावनाओं में भी इस प्राकृतिक भाषात्मक उपज ने ज़ोर किया । लेकिन ब्रजभाषा की कविता दीर्घकाल तक दोहरों के रंग में ही रँगी रही, यानी उनमें फ़ारसी पिंगल और फ़ारसी कल्पनाओं का प्रयोग नहीं होता था ।

अमीर खुसरो ने, जिनकी मौलिकता एक उच्चकोटि की साहित्यिक नवीनता और आविष्कार के गुण रखती थी, अपनी रचना भूमि में ब्रजभाषा की शैली के आधर पर साहित्य रचना का एक तिलिस्म सा खड़ा कर दिया । 'ख़लिक़बारी,' 'जिसकी संक्षिप्त वृत्ति आज तक बच्चों के पाठ पढ़ाने के लिये प्रयोग की जाती है,

कई बड़ी बड़ी जिल्दों में रची गई थी । इसमें फ़ारसी की रचना शैली ने पहले पहल असर दिया और इसी से यह भी मालूम होता है कि उस समय कौन कौन से शब्द प्रयोग में थे, जो अब परित्यक्त समझे जाते हैं । इसके अतिरिक्त बहुत सी अजीब मज़ेदार पहेलियाँ लिखी हैं, जिनसे मालूम होता है कि फ़ारसी के नमक ने हिंदी के स्वाद में क्या लुत्फ़ पैदा किया है । मुकरनी, अनमेल, दो सुखने इत्यादि ख़ास इनकी कला की उपलब्धियाँ हैं । इनमें से हरएक का नमूना प्रस्तुत करता हूँ क्योंकि इनसे भी उस समय की ज़बान का कुछ न कुछ पता लगता है :—

निबौली की पहेली

तरुवर से एक तिरिया उतरी उसने बहुत रिझाया,
बाप का उसके नाम जो पूछा आधा नाम बताया ।
आधा नाम पिया पर प्यारा बूझ पहेली मोरी,
अमीर खुसरू यूँ कहे अपने नाम निबौली ।।

आईना की पहेली

फ़ारसी बोली आई ना तुर्की सोची पाई ना ।
हिंदी बोलत आरसी आए मुँह देखो जो इसे बताए ।।

नाखून की पहेली

बीसों का सर काट लिया,
ना मारा ना खून किया ।।

लाल की पहेली

अंधा गूँगा बहरा बोले गूँगा आप कहाय ।
देख सफेदी होत अँगारा गूँगें से भिड़ जाय ।।
बाँस का मंदिर वाह का बाशा, बाशे का वह खाजा ।
संग मिले तो सर पर राखें वाह को राओ राजा ।
सी सी करके नाम बताया, ता में बैठा एक ।
उलटा सीधा हर फिर देखो वही एक का एक ।।
भेद पहेली में कही तू सुन ले मेरे लाल ।
अर्बी हिंदी फ़ारसी तीनों करो ख़याल ।

दिल्ली बल्कि हिंदोस्तान के प्रायः सभी नगरों में रस्म है कि साधारण वर्ग की स्त्रियाँ बरसात की बहार में खंभे गड़वाती हैं, पास पेड़ हो तो उसमें झूला डलवाती हैं । हिलमिल कर झूलती हैं और गीत गाकर रंग-रलियाँ मनाती हैं । उनमें विरले ही कोई स्त्री होगी जो गीत न गाती हो :—

जो पिया आवन कह गए, अजहूँ न आए स्वामी हो,
ऐ हो जो पिया आवन कह गए, आवन आवन कह गए,
आए न बारह मास।
ऐ हो जो पिया आवन कह गए।

यह गीत भी इन्हीं अमीर खुसरो का है और बरखा राग में लै भी इन्हीं की रची हुई है। वाह! क्या इनकी भाषा थी कि जो कुछ इससे निकल गया सभी लोगों को भाया। इतना भाया कि जैसे उनके दिलों में खुद गया। बनानेवालों ने हज़ारों गीत बनाए और गानेवालों ने गाए। ये आज हुए कल भूल गए, किंतु छह सौ बरस बीत गए खुसरो की गीतों को वे आज तक वैसे ही बने हैं। और हर बरसात में वैसा ही रंग दे जाते हैं। इन गीतों की जनप्रियता को एक दैवी प्रसाद न कहिए तो क्या कहिए?

बड़ी बड़ी औरतों के गाने के लिये तो वैसे गीत थे। छोटी छोटी लड़कियों को 'पिया' की याद में इस तरह गाना शोभनीय न था। लेकिन मन में उमंग तो वह भी रखती थीं। उन्हें भी ऋतुओं की बहार मनानीं थी। उनके लिये और गीत रचे गए। जैसे, एक लड़की ससुराल में है। बरसात की ऋतु आ गई है। वह झूले पर झूलती है और माँ की याद में गाती है--

अम्माँ, मेरे बाबा को भेजो जी, कि सावन आया (यानी मुझे आकर बाबा ले जायँ) बेटी तेरा बाबा तो बुड्ढा री कि सावन आया (यानी वह क्योंकर आ सकता है) अम्मां, मेरे भाई को भेजो जी, कि सावन आया।
बेटी तेरा भाई तो बाला री, कि सावन आया (यानी बच्चा अकेला इतनी दूर क्यों कर आए?
अम्मां मेरे मामूँ को भेजो जी, कि सावन आया।
बेटी तेरा मामूँ तो बांका री, कि सावन आया (भला वह मेरी कब सुनेगा)

ज़रा ग़ौर करके सोचो। इनमें इतनी विद्वत्ता-प्रौढ़ता और उच्चस्तरीय काव्य कल्पना होते हुए भी जब ये लोग साधारण विचारों को व्यक्त करते थे तो ऐसी तह को पहुँचते थे कि पृथ्वी के नीचे से रेत तक निकाल लाते थे। इनकी भाषा और भाव पर दृष्टि डालो। दोनों कैसी स्वाभाविकता में भीने हैं। स्त्रियों और बालिकाओं के स्वाभाविक विचार और दिलों के अरमानों को कितनी यथार्थता से व्यक्त करते हैं।

मुकरियों का तो इन्हें आविष्कर्ता कहना चाहिए :--

मुकरनी १--सगरी रैन मोहे संग जागा।
भोर भई तब बिछुड़न लागा॥
इसके बिछुड़त फाटत हीया।
ए सखि, साजन? ना, सखि दीया॥

मुकरनी २––सरल सलोना सब गुन नीका।
वा बिन सब जग लागे फीका।।
वाके सर पर होवे कौन।
ऐ सखि, साजन? ना, सखि 'लोन'।।

मुकरनी ३––वह आवे तव शादी होय।
उस बिन और न दूजा कोय।
मीठे लागे वाके बोल।
ऐ सखि, साजन? ना सखि, 'ढोल'।।

एक कुएँ पर चार पनिहारियाँ पानी भर रही थीं। अमीर खुसरो को रास्ता चलते चलते प्यास लगी। कुएँ पर जाकर एक से पानी माँगा। इनमें में एक इन्हें पहचानती थी। उसने औरों से कहा कि 'देखो, खुसरो यही है'। उन्होंने पूछा, 'क्या तू ही खुसरो है, जिसके सब गीत हैं और पहेलियाँ और मुकरियाँ अनमोल सुनते हैं?' उन्होंने कहा 'हाँ'। इसपर एक ने खीर पर कुछ कहने की फ़रमाइश की। दूसरी ने चर्ख़े का नाम लिया। तीसरे ने ढोल पर। चौथी ने कुत्ते पर। उन्होंने कहा कि मारे प्यास के दम निकला जाता है। पहले पानी तो पिलाओं'। वे बोलीं 'जब तक हमारी बात न कह दोगे, न पिलाऊँगी।' उन्होने झट कहा––

अनमेल :

खीर पकाई जतन से, चर्खा दिया जला।
आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजा।।

ला पानी पिला।

इसी तरह कभी कभी 'ढकोसला' कहा करते थे कि उसकी भी इन्होंने ही ईजाद की :––

ढ़कोसला :––

भादों पकी पीपली चूचू पड़ी कपास।
बी मेहतरानी दाल पकाओगी या नंगा ही सो रहूँ।।

दो सुख़ने :––

गोश्त क्यों न खाया डोम क्यों न गाया गला न था
जूता क्यों न पहना संबोसा क्यों न खाया तला न था
अनार क्यों न चखा वजीर क्यों न रखा दाना न था

दो सुखने (फारसी-उर्दू) :—

सौदागर राचे मी बायद[1] बूचे को क्या चाहिए दूकान दोकान,
तिश्ना राचे मी बायद[2] मिलाप को क्या चाहिए चाय चाह ।।
शिकार ब-चेह भी बायद कर्द, क़ूवते मग्ज़ को क्या चाहिए,
वा दाम (फंदे के साथ) बादाम ।।

संगीत में इनकी तबीयत एक ऐसे वीणा की तरह थी कि जो बिन बजाए पड़ी बजती रहती थी। इन्हों ने कई राग रागिनियों का ईजाद किया। जैसे, ध्रुपद की जगह क़ौल व क़ुल्बाना बना कर कई एक नए राग निकाले, जिनपर बाँधे हुए बहुत से गीत आज तक हिंदोस्तान के स्त्री-पुरुषों के ज़बान पर हैं। राग बहार और राग बसंत ने इन्हीं की तबीयत से रंग पकड़ा। वाद्य-यंत्रों में वीणा के तार और मीड़ की तरतीब को संक्षेप और सरल करके सितार भी इन्होंने ईजाद किया।

लतीफ़े :—

बादशाह के यहाँ एक दिन एक रमते फ़क़ीर मेहमान होकर आए। रात को दस्तरख़्वान पर बैठे। ख़ाने के बाद बातें शुरू हुईं। बादशाह ने कुछ अंगड़ाइयाँ लीं, कुछ जम्हाइयाँ भी लीं। वह सादा लौ (भोले भाले, नासमझ) फ़कीर किसी तरह इशारा न समझे। बादशाह ने यह समझ कर कि कुछ कहने से मेहमान का दिल दुखेगा कुछ कह न सके। मजबूर बैठे रहे। अमीर ख़ुसरो भी मौजूद थे मगर यह भी बोल न सकते थे। कि आधी रात की नौबत बजी। इस वक़्त बादशाह ने कहा, ख़ुसरो, यह क्या बजा ?' अर्ज़ की कि आधी रात की नौबत है। पूछा, 'इसमें क्या आवाज़ आती है ?' उन्होंने कहा समझ में तो ऐसा आता है कि नौबत कहती है कि :—

नान कि खुर्दी ख़ाना बरौ। नान की खुर्दी ख़ाना बरौ।
ख़ाना बरौ खाना बरौ। नान कि खुर्दी खाना बरौ,
न कि बदस्ते तू करदम ख़ाना गिरौ,
ख़ाना बरौ, ख़ाना बरौ।

(अर्थ : रोटी खा ली, घर को जा। रोटी खा ली घर को जा। घर को जा। घर को जा। रोटी खा ली घर को जा। न कि तेरे हाथ किया मैंने अपना घर है गिरो। घर को जा, घर को जा।)

अक्षर अक्षर की गति और ताल पर ख़्याल करो। एक एक चोट को क्या पूरा पूरा कर रहे हैं और 'न कि बदस्ते तू करदम ख़ाना गिरौ' (न कि तेरे हाथों मैंने अपना घर गिरों कर दिया है) को देखो। इसने कैसा काम किया कि महफ़िल ही बरखास्त हो गई।

१—सौदा बेचने वाले को क्या चाहिये २—प्यासे को क्या चाहिये।

(२) एक दिन ख़ुसरो किसी गली से निकले। धुनिया एक दूकान पर रुई धुनक रहा था। किसी ने कहा कि जिस धुनिए को देखो एक ही अन्दाज़ पर रुई धुनता है! मालूम होता है सब एक ही उस्ताद के शागिर्द हैं। कोई बोला कि शायद क़ुदरत रूपी उस्ताद ने सब को एक ही अंदाज़ पर सिखाया है। खुसरो ने कहा कि ऐसा सिखाया है कि गत में एक भी ताल बेताल नहीं होती। कोई बोला इस गत को बोल में कैसे लाया जा सकता है? फ़रमाइश तुरत पूरी की गई। ख़ुसरो ने फ़र्माया :—

दर पै जानां जाँ हम रफ्त। जाँ हम रफ़्त, जाँ हम रफ़्त, रफ़्त। रफ़्त। जां हम रफ़्त। ईं हम रफ़्त, व-आँ हम रफ़्त। आँ हम रफ़्त। आँ हम रफ़्त। हाँ आँहम। आँहम। आँहम। आँहम। आँ हम रफ़्त। रफ़्तन, रफ़्तन, रफ़्तन दह। देह। देह देह रफ़्तन देह। रफ़ रफ़ रफ़्तन देह, रफ़्तन देह। रफ़्तन देह।

अर्थ : माशूक के लिये जान चली गई, जान चली गई, जान चली गई। गई, गई, जान चली गई यह भी गई, वह भी गई, यह भी, वह भी। यह भी, वह भी। वह भी गई, गई, गई। जाने दे, दे, दे। जाने दे, हाँ, हाँ, जाने दे, जाने दे।)

भला धुनियों की धुनक्कड़ी को इस तरह ताल और सुर में सिवाय खुसरो के कौन बाँध सकता था?

(३) मुहल्ले के नुक्कड़ पर एक बुढ़िया कलालिन की दूकान थी। चम्मू उसका नाम था। शहर के लफंगे वहाँ भंग चरस पिया करते थे। जब खुसरो दरबार से लौट कर आते या मनबहलाव के लिये घर से निकलते तो वह भी सलाम करती। कभी कभी हुक्का भरकर सामने ले खड़ी होती। यह भी उस का मन रखने के लिये दो कश ले लिया करते। एक दिन उसने कहा कि "तुम्हारी बलाएँ लूँ, हज़ारों ग़ज़लें, गीत, राग-रागनी बनाते हो। किताबें लिखते हो। कोई चीज़ लौंडी के नाम पर भी बना दो"। इन्हों ने कहा 'बी चम्मू, बहुत अच्छा'। कई दिन के बाद उसने फिर कहा "भठियारी के लड़के के लिये 'ख़ालिक बारी' लिख दो। ज़रा लौंडी के नाम पर भी कुछ लिख दोगे तो क्या होगा। आपके सदक़े से हमारा नाम भी रह जायगा।" इसके बार बार कहने से एक दिन इन्हें ख्याल आ गया। कहा, "लो, बी चम्मू, सुनो—

औरों की चौपहरी[1] वाजे चम्मू की अठपहरी,
बाहर का कोई आए नाहीं आएं सारे शहरी।
साफ़ सूफ़ कर आगे राखे जिसमें नाहीं तूसल,
औरों के जहँ सींक समावे चम्मू के वहाँ मूसल॥

अर्थात् यह बादशाहों से भी बड़ी हैं। उसके यहाँ जंगली गँवारों का काम नहीं। भले मानस ही आते हैं। भाँग का प्याला खूब साफ़ सूफ़ करके हाज़िर करती

---

[1] बादशाह के यहाँ इस ज़माने में चौपहरी नौबत बजा करती थी।

है, जिसमें एक तिनका भी न हो। अकसर भँगेड़ी यह गर्व से कहा करते हैं कि वह ऐसी भंग पीता है कि जिसमें गाढ़ेपन के कारण सीक खड़ी रहे। खुसरो ने इसमें कुछ अतिशयोक्ति की है कि चम्मू ऐसा भंग बनाती है, जिसमें तिनका ही क्या मूसल खड़ा रहे। ख़ैर, इनकी बदौलत चम्मू का भी नाम रह गया।

सच पूछो तो जिस तरह हर जीव की आयु होती है, उसी तरह पुस्तकों की भी आयु होती है। उदाहरण के लिये, शाहनामा को लिखे नौ सौ बरस हो गए। **सिकन्दरनामा** को सात सौ बरस समझो। **गुलिस्ताँ बोस्ताँ** को छह सौ बरस कहो, **जुलेखा** की आयु लगभग तीन सौ वर्ष की हुई, मगर अब तक ये सभी जवान हैं। **बागो-बहार, बद्रेमुनीर** इत्यादि अब भी जवान हैं। **फ़िसाना अजायब** अब मरणासन्न हो गया है। बहुत सी पुस्तकें पहले तो ख्याति पाती हैं, किंतु जल्द ही उनका लोप हो जाता है, मानों उनकी मृत्यु बचपन में ही हो गई। बहुतेरी पुस्तकें लिखी जाती हैं और छपती भी हैं, मगर उन्हें कोई नहीं पूँछता। ये बच्चे जैसे मरे हुए हों। कुछ पुस्तकें एक निश्चित काल तक ही ठहरी रहती हैं। वह स्कूली पाठ्यपुस्तकें हैं, क्योंकि जब तक वह पाठ्यक्रम में शामिल हैं, तब तक छपती रहती हैं। और चाहो या न चाहो बिकती भी रहती हैं और लोग पढ़ते भी हैं। जब पाठ्यक्रम से निकाल दी गई मर गईं। फिर उन्हें कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता।

'क़बूल ख़ातिर व लुत्फ़े सुख़न खुदादाद अस्त'
खुदा यह नेमत नसीब करे, यही हमारी दुआ है।

तात्पर्य यह कि इन्हीं नई उमंगों से भरे और नई नई साहित्यिक विधाओं के आविष्कारों से पूर्ण युग में उर्दू कविता ने एक नई दिशा पकड़ी और इस प्रसंग में हमारे लिए तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

(१) प्रेम संबंधी विषयों से शेरों का वह सिलसिला हमें उपलब्ध हुआ, **जिसे** ग़ज़ल कहते हैं, जिसमें उसी क़ाफ़िए या रदीफ़ और क़ाफ़िए (अंत्यानुप्रास) के दुहराने का नियम बाँधा गया। इसी तरह पहले तो 'मतला' (ग़ज़ल का पहला शेर) या कई मत्ले। फिर कुछ शेर। अंत में 'मक़्तः' (ग़ज़ल का अन्तिम चरण) और उसमें शायर का उपनाम। गजलों की रचना में ऐसी परंपरा बनी।

(२) फ़ारसी भाषा के पिंगल ने हिंदोस्तान में पहला चरण रखा।

(३) फ़ारसी और भाषा को नमक मिर्च की तरह इस अंदाज़ से मिलाया कि इनके स्वाद से लोग जीभ चटकारने लगे। इसमें एक बात जो विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, वह यह कि उस समय कविता में प्रेम की पहल स्त्री की ओर से ही होती थी और यह गुण हिंदी कविता में भी पाई जाती है। यह नहीं पता चलता कि स्त्री पुरुष के प्रेम-प्रदर्शन में उलट फेर कब हुआ। इस सिलसिले में खुसरो की एक ग़ज़ल कहते हैं :—

ज़-हाल मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ल दरआए नैना बिनाए बतियाँ
कि ताबे हिज्रां न-दारम ऐ जाँ न लेहु काहे लगाए छतियाँ
शबाने हिज्रां दराज़ चू ज़ुल्फ़ो रोज़े वस्लत चो उम्र कोतह
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ
यकायक अज़ दिल दो चश्म जादू बसद फ़रेबम बेबुर्द तस्कीं
किसे पड़ी है जो जा सुनावे पियारे पी को हमारी वतियाँ ॥
चो शमा सोज़ा, चो ज़र्रा हैरां, ज़-मेहरे आँ मह वगुश्तम् आख़िर
न नींद नैना, न अंग चैना, न आप आवें न भेजे पतियाँ ॥
बहक़्क़े रोज़े विसाले दिल्वर कि दाद मारा फ़रेब ख़ुसरू
सपीत मन्के वराये राखूँ जौ जाये पाऊँ पिया के खतियाँ ॥

किसी भी साहित्य के नवयुग के आरंभ काल में एसा होता है। समय स्वयं आविष्कर्त्ताओं के विधा में संशोधन करता है और उसे काँट छाँट कर उसे परिमार्जित और परिष्कृत बना देता है। किंतु उस समय किसी और शायर का ध्यान इस ओर आकृष्ट न हुआ, इसलिये इस तर्ज़ की रचनाएँ अधिक प्रचलित न हुईं और उनका क्रम जारी न रहा। अलबत्ता मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने महाकाव्य 'पद्मावत' के अलावा दोहरे और गीत भी लिखे और वे सचमुच उच्च कोटि के हैं। डाक्टर गिलक्रिस्ट साहब को अपनी रचना में उनसे पर्याप्त सहायता मिली। आश्चर्य यह है कि फ़ारसी के छंदों में उनका कोई शेर नहीं है। दक्षिण में एक कोई सादी हुए, जिनके बारे में केवल इतना मालूम है कि वे अपने को हिंदोस्तान में शीराज़ के महान् कवि सादी की टक्कर का समझते थे। और आश्चर्य है कि मिर्ज़ा रफी 'सौदा' ने अपनी साहित्यिक चर्चा में उनके अधोलिखित शेरों की शेख़ सादी शीराज़ी के नाम पर ही लिखा है :—

कश्का चो दीदम वर रख़त गुफ़्तम कि ये का दीत है
गुफ़्ता कि दुर हो बावरे इस शहर की यह रीत है
हमना तुम्हन को दिल दिया तुम दिल लिया और दुःख दिया
हम ये किया तुम वह किया, ऐसी भली ये पीत है ॥
सादी कि गुफ़्तः रेख्तः दर रेख्तः दुर रेख्तः
शीरो शकर हम रेख्तः हम रेख्तः हम गीत है ॥

कबीर और तुलसीदास इत्यादि के दोहे काफी लोकप्रिय हैं और वे लोगों की ज़बान पर चढ़े हैं। इन दोहों से केवल यह प्रमाणित होता है कि फारसी के अनेक शब्दों का समावेश हिंदुओं की भाषा में हो गया था, किंतु उनका उर्दू की उन समकालीन रचनाओं से कोई संबंध नहीं मालूम होता जो फ़ारसी से आकर उर्दू के

परिवेश में प्रकट हुईं और जिन्होंने यहाँ की भाषा को हटाकर उसे एक कोने में बिठा दिया।

हामिद नाम के कोई एक साहित्यकार हुए, जिनके जीवनकाल के बारे में कुछ मालम नहीं। कहते हैं कि 'हामिद-बारी' इन्ही की रचना है। इनके केवल सात शेर की एक ग़ज़ल मैंने देखी, जिससे मालूम होता है कि यह महानुभाव शायद पंजाब के रहने वाले थे। उसमें से केवल मत्ले (आरंभ के शेर) को उद्धृत करता हूँ :—

अज़मे सफ़र चूँ कर दी साजन नैनो नींद न आई जी,
क़द्रे विसालत ना दानिस्तम तुम विन विरह सताई जी।

यदि यही शेर है तो उस समय से अब तक अनगिनित शायर पंजाब में ऐसे निकल आएँगे, जिनकी शायरी अब तक इन्हीं बैंतों (दो मिसरे की ग़ज़ल) में कही जाती है। अहमद गुजराती जो हमारे समकालीन दिल्ली शहर के ही निवासी हैं फ़र्माते हैं :—

गर बैज़ये ज़ाग़े कसे दर ज़ेर सी-मुर्ग़ें निहद,
अज़ अस्ल ख़ुद नायद वरूँ आख़िर गलेला होय पर,
गर तिफ़्लके बाज़ी-गरे ख़ाविन्द-वो आलिम शवद,
असले कि दारद के रवद आख़िर ज़ंबूरा होय पर,
गर बच्चये शेरे कसे बा शेररू बर परवरद,
मादी कि दारद कै रवद आख़िर बगेला होय पर।।

सेवा एक साहित्यकार दकन के रहनेवाले थे, जिन्हों ने 'रौज़तुश्-शुहदा' का दकनी भाषा में अनुवाद किया था। इनके मर्सिये अभी तक वहाँ के इमामबाड़ों में पढ़े जाते हैं। संभवतः इस तरह के शायर सभी रचनाकाल में होते होंगे, लेकिन ऐसी कविता में कोई पांडित्य हो ऐसा नहीं कहा जा सकता।

नवाज़ नाम के एक साहित्यिक 'फ़रुख़सियर' के शासनकाल में थे, जिन्होंने शकुंतला का अनुवाद उर्दू भाषा में किया। उस समय उर्दू कविता की दुर्बलता और क्षीणता का यही कारण रहा होगा कि जो उर्दू भाषा के विद्वान् होते थे, वे उर्दू में कविता करना गौरव की बात न समझते थे। यदि कुछ कहना होता था तो वे फ़ारसी में कहते थे। अलबत्ता किसी साधारण व्यक्ति में यदि कुछ कविता रचने की प्रवृत्ति हुई तो शौक़ पूरा करने के लिये जो मुँह में आता कह जाता था। फ़ारस या तुर्की के रहनेवाले विदेशी जो कवि होते थे, वह फ़ारसी में ही शेर कहते थे। उर्दू उन्हें आती न थी। यदि उर्दू में कुछ कहते थे तो ऐसा मालूम होता था, जैसे मस्ख़रापन कर रहे हों।

मिर्ज़ा मोईज़ मौसवी ख़ां 'फ़ितरत' जो ईरानी थे, आलमगीर के समय के उच्चस्तरीय कवि समझे जाते थे और उनके बाद क़ज़ल्बाश ख़ाँ 'उम्मीद' के कई कविताओं को देखा। मालूम होता है कि जो कुछ उस वक़्त टूटी फूटी भाषा थी, उसे भी वे पूरा अदा न कर सकते थे। मीर मोईज़ फ़रमाते हैं :—

अज़ ज़ुल्फ़े सियाहे तू बदल दोम परी है।
दरख़ानए आईना गुना ज़ूम परी है॥

क़ज़ल्बाश ख़ाँ 'उम्मीद' यद्यपि फ़ारसी के बड़े ख्यातिप्राप्त विद्वान् थे और हिंदुस्तानी जलसों में इनके भावोद्गार और भावुकता के प्रदर्शन की धूम थी। मगर उर्दू में उन्हों ने जो अद्भुत शायरी की, उसका नमूना यह है :—

बाह्मन की बेटी आज मेरी आँख यूँ परी
गुस्सा किया व गाली दिया और दिगर लरी॥

इस बात से सब सहमत हैं कि इस प्रकार की कविता दकन से ही प्रचलित हुई। इसी प्रकार मीर तक़ी 'मीर' ने भी एक ग़ज़ल में शायराना अंदाज़ से संकेत किया है:—

ख़ू[1]गर नहीं कुछ यूँ ही हम रेख़्तःगोई के।
माशूक़ जो था अपना बाशिन्दः दकन का था॥

और 'क़ायम' ने, जो इनके समकालीन थे, साफ़ कह दिया है :—

क़ायम ने ग़ज़ल तूर किया रेख़्तः वर्ना
एक बात लचर सी ब-ज़बाने दकनी थी॥

अस्तु, आलमगीर के शासन काल में 'वली' ने इस काव्य-शैली का दीप जलाया, जो मुहम्मदशाह के समय में आकाश पर तारे की तरह चमका और शाह आलम के ज़माने में सूरज बन कर पूरे ओज पर आया।

उर्दू कविता की चर्चा के शुरू में एक बात जिसका ज़िक्र करना अपेक्षित है, वह यह है कि संस्कृत में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। इसलिये इस भाषा में और ब्रजभाषा में, जो कि इसी की एक शाखा है, युग्मार्थक शब्दों और तत्संबंधी शब्दालंकारों के आधार पर प्रायः काव्य-रचना होती थी। फ़ारसी में भी इस अलंकार का प्रयोग होता है, मगर कम। पस, उर्दू के शेरों में भी इसी प्रकार के युग्मार्थक शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। और पहले दौर के शायरों में बराबर वही नियम जारी रहा। इस रचना काल के कुछ शेर नमूने के तौर पर लिखता हूँ:—

लाम नस्तालीक़ का है उस बुते ख़ुश-ख़त की ज़ुल्फ।
हम तो काफ़िर हों अगर बन्दे न हों इस लाम के॥

---

१. आदत।

क्यों न हो हम से वह सजन वाग़ी ।
क़द हो जिसका निहाल[1] की मानिन्द ।।
तु जो दरिया के पार जाता है ।
दिल मेरा बार बार जाता है ।।
तुम देखो या न देखो हमको सलाम करना ।
यह तो क़दीम ही से सर पर हमारे कर ※ है ।
नहीं मुहताज ज़ेवर का जिसे ख़ूबी ख़ुदा देवे ।।
कि आख़िर बदनुमा लगता है देखो चाँद को गहना ।।
सज दिखा बांकी नहीं छोड़ेगा मेरा नक़दे दिल ।
आज वह अफ़ग़ाँ पिसर आता यही है दिल पे ठान ।।
न देवे ले के दिल वह जादे मश्कीं ।
अगर बावर नहीं तो माँग देखो ।।

शाह हातिम ने बहुत प्रयास करके इस शाब्दिक चित्रकारी से उर्दू को मुक्त किया । 'सौदा' के रचना काल में भी इस दूषित प्रथा का कुछ अवशेष रह गया था, इसलिये इन्होंने भी अपने एक क़सीदे में ऐसे महानुभावों की शिकायत की, जिसमें से एक शेर यह है :—

मू[2] न हो परवरिशे शानः तो फिर है मूसल ।
रामपुर फी हो कटारी तो कहें सीता-फल ।।

मगर मज़े की बात यह है कि खुद भी मौक़ा पाते थे तो कहीं न कहीं कह जाते थे । चुनांचे एक शेर कहा है :—

हक़्क़ाक़ का पिसर भी मसीहा से कम नहीं ।
फ़ीरोज़ः होवे मुर्दा तो देता है वह जिला ।।

यद्यपि वे शुरू के अंदाज़ पहले की अपेक्षा अब बिलकुल नहीं रहे । फिर भी जिस मात्रा में हैं, वह ऐसे ज़बान पर चढ़े हुए हैं कि जिन विषयों को व्यक्त करने की हमें आज कल आवश्यकता पड़ती है, उसके लिये यह कुछ अवरोध सा पैदा करते हैं । यह बात भी भूलना न चाहिए कि जिस तरह एक मुर्ग़ा अपने पर झाड़ कर नए पर निकालता जाता है, उसी तरह हमारी भाषा भी अपने शब्दों को बदलती चली आती है । चुनांचे बहुत से ऐसे परित्यक्त शब्द हैं, जिनका आभास उर्दू शायरी की रचनाओं में अब भी मिलता है ।

※ 'कर'——हिंदी में महसूल को और संस्कृत में हाथ को कहतें हैं । सर के बाल की जोड़ों में जो खुश्की हो जाती है, उसे भी कर कहते हैं ।

[1] एक छोटा वृक्ष [2] सर के बाल

यह एक खेद का विषय है कि उर्दू शायरी कुछेक घिसे-पिटे भावों और आशयों को व्यक्त करने के लिये एक संकुचित शब्दाडंबर के फंदे में फँस गई हैं। जैसे आशिकी के मज़मून, मैख्वारी (मदिरापान) और मस्ती, गुलो-गुलज़ार खयाली रंग व बू का पैदा करना, जुदाई के मुसीबत का रोना, भ्रममूलक प्रेम-मिलन पर खुश होना, प्रेम के लिये संसार से विराग और इसके लिये आकाश पर आरोप लगाना इत्यादि इत्यादि। और ग़ज़ब यह है कि यदि किसी यथार्थ घटना का भी वर्णन करना चाहते हैं तो भी रूपक का प्रयोग करते हैं। परिणाम उसका यह हुआ कि उनकी काव्य-रचना नितांत आशक्त हो गई। मेरे दोस्तो 'में देखता हूँ कि इल्म और फ़न का अजायबघर खुला हुआ है, और हर क़ौम के साहित्य शिल्पी अपनी दस्तकारियों से उसे सजाए हुए हैं। क्या यह तुम्हें नज़र नहीं आता कि हमारी ज़बान किस स्थिति में है? हमें तो साफ़ नज़र आता है कि यह पावदान तले पड़ी है।

हमारे पूर्वजों में से दिल्ली में पहले मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा', फिर शेख़ इब्राहीम 'ज़ौक़' ने भाषा को प्रांजलता, शब्दों की शिष्टता और शैली कें निखार से अपनी रचनाओं में काफ़ी ओज का संचार किया। मीर तक़ी 'मीर' और ख़्वाजा मीर 'दर्द' ने हृदय की व्याकुलता, मन की उदासी, दुनिया से विराग आदि विषयों को ख़ूब अदा किया। मिर्ज़ा ग़ालिब ने अपनी रचनाओं में कहीं-कहीं इनका बड़े सुंदर ढंग से अनुकरण किया। मगर एक तो यह कि ये अपने शब्दों के अर्थ में गाढ़ापन लाने के शायक़ थे और दूसरे यह कि इनका अधिक ध्यान फ़ारसी की ओर रहा, इसलिये उनके शुद्ध उर्दू के शेरों की संख्या संभवतः सौ, दो सौ से आगे न निकली। 'जुरअत' ने आशिक़ माशूक़ के मस्ले और दोनों की दिल ख़्यालों को बड़ी ख़ूबी और शोख़ी से बयान किया। 'मोमिन-ख़ाँ' ने अपनी शैली की क्लिष्टता के बावजूद इस तर्ज़ का अनुमोदन किया। लखनऊ में शेख इमामबख़्श 'नासिख़' और ख़्वाजा हैदरअली 'आतिश' रिंद, 'सबा', 'वज़ीर' इत्यादि शायरों ने भी शायरी का हक़ अदा किया। मगर ख़्याल तो करो कि केवल इस तरह के ज़बानी तोता जैसा बनाने से क्या लाभ? मेरे विचार से जो शायरी हमारे हर मानसिक उद्देश्य और हमारे हृदय की हर एक भावना को ज़ाहिर न करे, वह एक ऐसी टूटी कलम की तरह है, जिससे पूरा हर्फ़ न लिखा जा सके। राजधानी देहली जो कि उर्दू की साहित्य-रचना और शायरी के एक टकसाल समझी जाती थी, वहाँ 'ज़ौक़' और 'ग़ालिब' ने केवल रस्मी (औपचारिक) काव्य-रचना पर ही अपनी शायरी का अंत किया। लखनऊ में 'नासिख़' व 'आतिश' से शुरू होकर 'रिंद', 'वज़ीर', 'सबा' तक यह क्रम जारी रहा। एक ज़माने में मसल मशहूर थी कि 'बिगड़ा शायर मर्सिया-गो और बिगड़ा गवैया मर्सिया-ख़्वाँ'। लेकिन लखनऊ में इन दोनों शाखाओं के कलाकार इतने उत्कृष्ट स्तर के हुए कि उनसे काव्य और संगीत दोनों समृद्ध हुए। यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि 'मीर अनीस' और 'मिर्ज़ा दबीर' उर्दू के आख़िरी शायर हुए। वास्तव में काव्यकला के कुशल कलाकारों का पैदा होना समसामयिक सामाजिक जीवन की संपन्नता, लोगों की

गुणग्राहकता और अन्य साधनों पर निर्भर करता है और अब ज़माने का रंग इसके बिल्कुल प्रतिकूल है। इसलिये हिंदोस्तान को रूढ़िग्रस्त उर्दू शायरी की तरक़्क़ी और उन जैसे शायरों के पैदा होने की ओर से बिलकुल निराश हो जाना चाहिए। अलबत्ता अगर उर्दू शायरी का कोई नया रंग-रूप निकले तो फिर उसमें खुदा जाने क्या क्या कमाल हो सके और कैसे कैसे कमाल के शायर निकलें।

उर्दू शायरी के अंत काल में किसी ने अक़्ल के नजूमी (ज्योतिषी) से सवाल किया कि क्या इस शायरी का सितारा जो डूबने को आ गया है, कभी फिर इसका उदय होगा? और उर्दू शायरी क्या फिर ओजस्वी और समृद्ध होगी? जवाब मिला कि 'नहीं'। पूछा गया कि वजह? जवाब मिला कि बात यह है कि आजकल के शासकों की यह ज़बान नहीं। न उनके कामकाज में प्रयोग की जाती है। इसलिये वह इसके गुणग्राही नहीं। न वह इसे जानते हैं, न उसके जानने को कोई गौरव की बात समझते हैं। उन लोगों ने हमारे शायरों को 'झूठे खुशामदी' का ख़िताब दे रखा है। खैर, यह तो हम लोगों का दुर्भाग्य है कि जिन लोगों की रचनाएँ हमारी ज़बान के लिये आदर्श समझी जाती थी, उनकी यह इज़्ज़त हुई। अब तो इस अधमरी ज़बान के लिये रोनेवाले फ़क़त चंद बुड्ढे रह गए हैं, जिनकी दुःख भरे कभी कभी सर्द आहों के सुर में ऊँचे उठकर सीनों में रह जाते हैं। उनमें जब कभी थोड़ा उत्साह होता है तो एक मुशायरा करके मिल बैठते हैं और आपस ही में एक दूसरे की तारीफ़ें करके जी खुश कर लेते हैं। बिचारे यह शायर अपने पूर्वजों की क़ब्रें क़ायम रखने के लिये अपनी इतनी सी तारीफ़ ही पर संतोष कर लें। मगर ये अपने पेट को क्या करें? यह पापी तो केवल तारीफ़ से नहीं भरता।

फिर नजूमी से सवाल हुआ कि 'क्या कोई ऐसा उपाय है, जिससे कि फिर इसके दिन फिरें और फिर हमारी शायरी की फुलवारी लहलहाती नज़र आए?' जवाब मिला कि 'हाँ, हिम्मत और तदबीर को खुदा ने बड़ी बरकत दी है। एशिया में ऐसी कलाओं की उन्नति शासकों की सरपरस्ती में ही होती है। इसलिये शायरों को चाहिए कि इसे शासकों के पसंद की और उनके काम की बनाएँ। ऐसा करेंगे तो शेर कहनेवालों को लाभ होगा। और जिस क़दर उन्हें लाभ होगा, उसी क़दर उनके ज़बान की चर्चा बढ़ेगी और उसी क़दर अपनी कला में प्रवीण होने के लिये उनका चिंतन और उनकी कल्पना प्रयत्नशील होगी और भाव और भाषा के मनोरंजक आविष्कार और मनोहारी नवीनता निकालेंगे। और इसी को भाषा की तरक़्क़ी कहते हैं।'

यह तो तुमने देख लिया कि उर्दू में जो पूँजी साहित्य रचना की है। फ़ारसी की बदौलत है। फ़ारसी के पूर्वकालीन शायर हर प्रकार के विषयों में रुचि रखते थे, किंतु कालोपरांत ये अपने मनोरंजन के लिये केवल ग़ज़ल पर निर्भर करने लगे। विद्वान् लोग क़सीदे भी कहते रहे। उर्दू वालों ने भी आसान काम समझकर और जनसाधारण की अभिरुचि को ध्यान में रखकर हुस्न और इश्क जैसे विषयों को ही

Channel eGangotri Gruu

अपनाया और इसमें संदेह नहीं कि जो कुछ किया बहुत खूब किया। लेकिन इन विषयों का इतना ज़्यादा इस्तेमाल किया कि सुनते सुनते कान थक गए हैं, वही बातें बार बार दुहराई जाती हैं। कहीं शब्दों का उधेड़ बुन करते हैं, कहीं अदल-बदल करते हैं और बस कहे जाते हैं। गोया खाए हुए बल्कि औरों के चबाए हुए नेवाले हैं। उन्हीं को चबाते हैं और खुश होते हैं। ख्याल करो, इसमें क्या मज़ा रहा ?

हुस्नो इश्क ? सुभान अल्लाह ! बहुत खूब ! लेकिन कब तक और कहाँ तक ? हूर हो या परी, गले का हार हो जाय तो वह भी अजीरन हो जाती है। हुस्नो इश्क से कहाँ तक न जी घबराए ? और अब तो वह भी सौ बरस की बुढ़िया हो गई।

एक कठिनाई यह भी है कि हुस्नोइश्क संबंधी विचारों और कल्पनाओं को ज़ाहिर करने के लिये हमारे पूर्वज एक प्रकार की शब्दावली, उपमा और अलंकार की महज़ एक सीमित राशि छोड़ गए हैं और वे इस क़दर प्रयोग किए जाते हैं कि हर आदमी थोड़े परिश्रम से उसके सहारे कुछ न कुछ कह लेता है। यदि उनसे भिन्न किसी विचार या कल्पना को कविता में उतारना चाहें तो उसके लिए उपयुक्त सामग्री नहीं मिलती। हाँ, विद्वान् और अभ्यासकुशल शायर चाहें तो कर भी सकते हैं। लेकिन कमबख़्त हुस्नोइश्क के मज़मून, इनके उपमा, अलंकार, और हर्षोल्लास सूचक शब्द जैसे इनके ज़बान और मुंह में रचे गए हैं। अगर कुछ कहना चाहें तो पहले तो उसे भुलाएँ और फिर उनकी जगह वैसी ही निराली उपमाएँ और वैसे ही नए नए अलंकार, अनोखी शैलियाँ और शब्दों के बढ़िया काट-छाँट पैदा करें। यह बड़े जुगत और परिश्रम का काम है, और जैसी शिथिलता और साहस-हीनता हमारी क़ौम पर इस समय छाई हुई है उसे देखते हुए हम इसकी तरक़्क़ी में रुकावट को हटाने की क्या आशा कर सकते हैं ?

ज़माने के फ़ेरबदल ने तो जो किया, सो किया, बड़ी कठिनाई इस बात से पैदा हो गई है कि लोगों में यह विश्वास पैदा कर दिया गया है कि उर्दू कविता केवल आशिक़ी मज़्मूनों की ही चर्चा कर सकती है। इसमें हर तरह के मज़्मूनों के बारे में विचार व्यक्त करने की शक्ति और क्षमता ही नहीं। और यह एक बहुत बड़ा दाग़ है, जो हमारी क़ौमी ज़बान की आँचल पर लग गया है। सोचता हूँ कि इसे कौन धोए ? और क्योंकर धोए ? मेरी समझ में यह काम हमारे नौजवानों का है, जो इल्मी दुनियाँ के पूरब पच्छिम दोनों की नदियों के किनारों पर अधिकार जमाने का प्रयास कर रहे हैं। इनका प्रयास और इनकी कुशलता उर्दू भाषा रूपी भूमि को सींचेगी। इन नदियों के दोनों किनारों से पानी लाएँगी और अपनी ज़बान के इस दाग़ को न केवल धोएँगी बल्कि क़ौम की आँचल को मोतियों से भर देंगी।

उर्दू शायरी का पहला दौर

उर्दू कविता के उद्‌भव का पहला प्रभात है। वाक्शक्ति की आत्मा, यानी शायरी का अस्तित्व प्रकाश में आ रहा है। मगर शायरी बच्चों की नींद पड़ी सोती है। 'वली' ने आकर ऐसे मीठे स्वर से ग़ज़ल कहना शुरू किया कि इस बच्चे ने अंगड़ाई ले कर करवट ली। उस स्वर का प्रभाव अचानक विजली की तरंग की तरह सबके दिलों में दौड़ गया। घर घर शायरी की चर्चा होने लगी। जिस धनीमानी व्यक्ति को देखो किसी शेर के रचना चिंतन में डूबा बैठा है। इन बुज़ुर्गों की बातें तो इनके शेरों के ज़रिए से सुन भी सकते हो। मगर हैरान हूँ कि इनकी शक्लें किस तरह तुम्हारे सामने खींचूँ। पहले तो अक्षरों में चित्र बनना एक कठिन काम है। उस पर मैं भाषा से अनजान। उस रंग के शब्द कहाँ से लाऊँ, जिनसे लोगों की जीती-जागती, बोलती-चालती तस्वीरें खींचकर दिखाऊँ। क्योंकि अदब की आँखें इनके सौम्य और गंभीर चेहरे की ओर नज़र नहीं उठा सकतीं, और प्रेम भरी आँखें उनकी इस आकृति से दृष्टि नहीं हटा सकतीं। देखो, मुशायरे का समारोह धनी मानी लोगों से सुसज्जित है। बूढ़े और जवान सभी लंबे लंबे जामे, मोटी मोटी पगड़ियाँ बाँधे बैठे हैं। कोई कटार बाँधे है, कोई तलवार लगाए है। उनमें से कुछ इतने बूढ़े हैं कि उनके बुढ़ापे को सफेद दाढ़ी ने और भी सफेद कर दिया है। इनमें बाज़ ऐसे हैं कि जिन्होंने युवावस्था में ही दाढ़ी को बिदा कर दिया था। अब क्योंकर रखें क्योंकि अपनी अपनी व्यक्तिक विशिष्टता के निभाने का नियम टूटता है। इसपर इनकी विनोदप्रियता का यह हाल है कि इनके बुढ़ापे की ज़िंदादिली से आज नौजवानों की जवानी पानी होती है। उनकी हँसी बोली का और कोई मतलब नहीं। केवल यह कि आप हँसे और औरों का खुश करें।

इस दौर में 'वली' तो मजलिस के शमा हैं, और मजलिस के लोग दिल्ली और दकन के ऐसे सुसंस्कृत और कुलीन व्यक्ति हैं, जो शिष्ट भाषा के धनी हैं, और जो कुछ भी देखते हैं उसी दृष्टिकोण से देखते हैं। इन सब की ज़बान एक ही समझनी चाहिए। किंतु 'वली' ने अपनी कविता में अर्थालंकार और युग्मार्थक शब्दों का अधिक प्रयोग नहीं किया। पता नहीं, उनके निकट समकालीन शायरों को फिर इनका इतना शौक़ क्योंकर हो गया। शायद दोहरों की शैली जो हिंदोस्तान की भाषा की एक स्वतः उपज थी, उसने अपना रंग चढ़ाया। यद्यपि 'वली' के बाद दिल्ली में सैकड़ों सुसंस्कृत लोगों ने काव्य-रचना में रुचि दिखाई मगर इस मुशायरे में मैं केवल उन थोड़े से बुज़ुर्गों की चर्चा करूंगा, जो इस समय के शायरी के उस्ताद समझे जाते थे। शायद उस समय की भाषा के नमूने के तौर पर और उनके शेरों का तर्ज़ समझने के लिये इतना ही काफी होगा। इन बुज़ुर्गों की काव्यरचना में बनावट और दिखावा नहीं था। जो कुछ सामने आँखों के देखते थे, और उससे जो उनके मन में विचार और उमंग उभरते थे,

वही ज़बान से कह देते थे। एंच-पेंच की कल्पनाओं का और खींचा-तान की उपमाओं का प्रयोग नहीं करते थे। न बहुत सूक्ष्म और उलझी हुई अलंकारयुक्त भाषा बोलते थे। इसलिये इनकी कविता भी साफ़ और सुलझी हुई होती थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि हरेक भाषा और उसकी कविता अपने बचपने में सीधी सादी, सुबोध और सामयिकतापरक होती है। और इसी कारण इसमें मज़ा भी मिलता है। इसमें संदेह नहीं कि इनके मुहावरे पुराने ढंग के थे और इनके विषयवस्तु प्रायः हल्के और साधारण स्तर के होते थे। मगर इनके क़लाम का सीधा सादापन और उनकी स्वाभाविकता दिल को भली लगती है, क्योंकि किसी नैसर्गिक सौंदर्य में उसकी अकृत्रिम स्वाभाविकता ही हज़ारों बनाव सिंगार का काम करती है। यह मानी हुई बात है कि एक ही चीज़ भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में ख़ूबसूरत और बदसूरत दोनों दिखाई दे सकती हैं। इसलिये मनुष्य को चाहिए कि सौंदर्य जिस किसी भी परिवेश में दिखलाई दे, उसी में उससे लुत्फ लेने का प्रयास करें न कि हमेशा केवल हसीनों के ज़ुल्फ़ और चेहरे के सौंदर्य-चिंतन में पड़ा रहे। आँख वाला केवल उसे नहीं कहते, जो केवल फूल फुलवारी ही पर नज़र डाले। नहीं, एक घास की पत्ती बल्कि एक सुडौल काँटा भी यदि देखने में खुशनुमा हो तो उसकी नोक-झोंक पर भी फूल ही की तरह लोट जाय।

शम्स वलीउल्लाह

यह उर्दू कविता के वंश का आदम (मूल पुरुष) जब मुल्के अदम से चला तब इसके सर पर देवताओं की तरह ताज रखा गया, जिसके सजाने में समकालीन भाषा के मुहावरों ने अपने जवाहिरात ख़र्च किए और सामयिक विषयों की प्रचलित शिल्पकला ने उसपर मीनाकारी की। जब यह आदि पुरुष अपनी सल्तनत में पहुँचा तो मजलिसे मुशायरा में इसकी सदारत के लिये तख़्त सजाया गया। लोकप्रियता ने उनके अनश्वर ख़्याति का जो महल खड़ा किया, उसकी ऊँचाई और मज़बूती को ज़रा देखो और उनकी जो प्रशस्तियाँ लिखी गई उन्हें पढ़ो। दुनिया तीन सौ बरस दूर निकल आई है, मगर वह महल आज तक आँखों के सामने दिखाई देता है, और वे प्रशस्तियाँ साफ़ पढ़ी जाती हैं। इस ज़माने तक उर्दू में विविध ढंग के शेर बनाए जाते थे। वलीउल्लाह के आशीर्वाद से उसे यह ओज प्राप्त हुआ कि आज हिंदोस्तान की शायरी फ़ारसी कविता से एक पग भी पीछे नहीं। इन्होंने सभी फ़ारसी छंदों का उर्दू में प्रयोग किया। शेर को ग़ज़ल और ग़ज़ल को क़ाफ़िया (अन्त्यानुप्रास) व रदीफ़ (क़ाफ़िए के बाद आनेवाला शब्द समूह) से सुसज्जित किया। रदीफ़ के हिसाब से क्रमबद्ध दीवान (ग़ज़लों की किताब) बनाया। साथ ही साथ उर्दू पद्य-रचना में रुबाई, क़तआ, मुखम्मस और मस्नवी का समावेश किया। इन्हें हिंदोस्तान की काव्यपरंपरा में वही महत्व प्राप्त है जो अंग्रेज़ी पद्य में चॉसर[1] कवि को, और फ़ारसी में रूदकी[2] को, और

---

[1] —चासर सन् १३२८ ई में पैदा हुआ और १४०० ई० में मर गया।

[2] —रूदकी फारसी का पहला शायर है। तीसरी और चौथी सदी हिज्री के मध्यकाल में जीवन बिताया।

अरबी में मुहल्हल को। वह किसी के शिष्य न थे और यह प्रमाण है उस अरबी मुहावरे का, जिसका अर्थ है 'शायर लोग खुदा के शागिर्द होते हैं'। इसी बात को एक अंग्रेज़ी विद्वान् ने भी कहा कि कवि अपनी कविता साथ लेकर जन्म लेता है।

इस कालावधि में हमारी भाषा अपनी अभिव्यंजना-शक्ति में ऐसे अल्पायु बच्चे की तरह थी, जो बिना अँगुली के सहारे चल नहीं सकता। उर्दू भाषा उस समय सिवाय हिंदी दोहरों और हिंदी भाषा में व्यक्त किए गए विषयों के और कोई क्षमता न रखती थी। वह जितने पग आगे बढ़ी, इन्हीं के पालन-पोषण के सहारे बढ़ी। उन्होंने इसमें फ़ारसी काव्य-विधाएँ और विषयों का समावेश किया।

'वली' अहमदाबाद (गुजरात) के रहनेवाले थे। इनकी शैक्षिक योग्यता की जानकारी हमें उपलब्ध नहीं, क्योंकि उस ज़माने की खा़न्दानी तालीम और बुज़ुर्गों के संपर्क में एक तासीर थी कि थोड़े लिखने-पढ़ने से भी लोग जो इल्मी योग्यता प्राप्त कर लेते थे, उसे आँकना कठिन था। इनकी रचनाओं से यह मालूम होता है कि वे अरबी भाषा और उसके छंदशास्त्र से अपरिचित थे, किंतु उन्हें फ़ारसी का समुचित ज्ञान था। उनकी साहित्यिक क्षमता और काव्यकुशलता का प्रमाण इससे बढ़कर क्या होगा कि इन्होंने एक को दूसरी भाषा में ऐसा साफ़ जोड़ा कि आज तक समय ने इतने पलटे खा़ए मगर उनके पैवंद खा़ जोड़ आज भी जैसे के तैसे हैं। इनकी विद्वत्ता कोई ऊँचे स्तर की नहीं थी मगर कहते हैं :—

एक दिल नहीं आरज़ू से ख़ाली
हर जा है महाल अगर ख़ला[1]॥

यह कौशल पुस्तकों के पढ़ने में रुचि और विद्वानों की संगत की देन है। 'वली' की कल्पना में ऊँची उड़ान भी मालूम होती है, क्योंकि यद्यपि 'सौदा' की तरह इन्होंने किसी से हाथापाई नहीं की, मगर अपने समकालीन कवियों पर इन्हों ने चोटें ज़रूर की हैं। यह नासिर अली सरहन्दी के मामले से प्रकट होता है। इस मामले की चर्चा आगे की गई है।

यद्यपि ऐसा समझा जाता है कि एशियाई कवियों के काव्य का मौलिक विषय आशिक़ाना है, लेकिन 'वली' की कविता में इस प्रकार के किसी ऐसी शोखी का सबूत नहीं मिलता, जिसमें अशिष्टता का कोई आभास मिले। इसके प्रतिकूल संयम और

---

[1] —खा़ली जगह

गंभीरता इनकी कविता का स्वाभाविक गुण था। इनकी भ्रमणशीलता और अनुभवजन्य पथेय के संबंध में इतना ही मालूम है कि जिस ज़माने में थोड़ी भी यात्रा का बहुत मूल्य समझा जाता था, उसमें यह अपनी जन्मभूमि से अबुलआला के साथ दिल्ली आए। यहाँ शाह सैयदुल्लाह गुल्शन के मुरीद हुए। शायद उनसे अपनी रचनाओं में इस्लाह भी ली हो। मगर अपने दीवान का क्रम फ़ारसी के ढंग पर निःसंदेह इन्हीं के आदेश से किया। इनका दीवान उस समय के मुशायरों की बोलती तस्वीर है। क्योंकि अगर यह आज पता लगाना चाहें कि उस समय के धनी-मानी लोगों की क्या ज़बान थी तो इसकी कैफ़ियत सिवाय दीवाने वली के और कोई नहीं बता सकता। इन्हीं के दीवान से हम उस समय और आज की भाषा में अंतर का अनुमान बख़ूबी लगा सकते हैं।

वली की भाषा	आधुनिक भाषा	वली की भाषा	आधुनिक भाषा
सूँ, सें, सोती	से	भीतर	अंदर
कूँ	को	मुझ दिल	मेरा दिल
हमन कूँ	हम को	मोहन, साजन, प्रीतम	माशूक़
जगत मने	दुनियां में	अँसुआँ	आँसू की जमा
बरमने	बर में	भंवा, पलवां	भवें, पलकें
तुझ लब की	तेरे लब की	नैन	आँख
नमन	तरह या मिस्ल	जग	जहान, दुनिया
मिरा	मेरा	बचन	कलाम
योह	यह	नित	हमेशा
मुख़	मुंह	तस्बी	तस्बीह
सही	सहीह	बगाना	बेगाना
मरज़	मर्ज़		

चूंकि फ़ारसी कविता की आत्मा ने उसी समय उर्दू के शरीर में प्रवेश किया था और उनका शाब्दिक मेल-जोल अभी भली भाँति संतुलित नहीं हो सका था, इसीलिये इनकी कविता में हिंदी शब्दों के साथ फ़ारसी की तरकीबों का प्रयोग बल्कि कुछ जगह फ़ारसी क्रियाएँ भी मुंह में खटकती हैं। वह स्वयं दक्षिण के थे, इसलिये उनके कलाम में कोई कोई शब्द दक्षिणी भी होते थे। आज उस समय की ज़बान को सुनकर हमारे समकालीन शायद हँसें। लेकिन इसमें हँसने की कोई वजह नहीं। संसार के घटनास्थल में ऐसा ही हुआ है, और ऐसा ही होता रहेगा। आज तुम उनकी ज़बान पर हँसते हो, कल ऐसे लोग आएँगे जो तुम्हारी ज़बान पर हसेंगे। हमारी इस मजलिस के अनजान और भोले लोग अगर थोड़ी देर के लिये अपनी अक़्ल के दूरबीन को इसके सदर की ओर कर लें तो उन्हें उन युक्तियों पर

विचार करने में सुविधा होगी कि आज हम किस तरह अपनी काव्य-रचना इस ढंग से करें, जिससे हमारी ज़बान लंबे अर्से तक जन-साधारण को रुचिकर बनी रहे। यद्यपि आज हमारे सामने अंधेरा दिखाई पड़ता है, लेकिन पीछे मुड़कर देखना चाहिए और यह विचार करना चाहिए कि हमारी भाषा ने जो उन्नति की है, वह किन सिद्धांतों पर की है और किस दिशा में क़दम रखती गई है। आओ, हम भी आज के कारोबार और उसके भविष्य के कार्यक्रम पर विचार करें और उसी अंदाज पर क़दम डालें। शायद हमारी कविता की उम्र में कुछ वर्ष और बढ़ जाये।

प्रकृति रूपी कविता के दीवान में एक से एक विलक्षण प्रसंग मिलते हैं। मगर यह अनोखी बात भी कुछ कम नहीं कि शायरी का दीपक तो दकन में जले और इसके सितारे दिल्ली के आकाश पर निकलें। उस समय की परिस्थिति और भाषा पर ख़्याल करता हूँ तो यह सोचता रह जाता हूँ कि यह विद्वान् 'वली' उर्दू जबान और हिंदी साहित्य में क्योंकर एक नई शैली का नमूना दे गया और अपने पीछे आनेवालों के लिये एक नया पथ प्रशस्त करता गया। क्या उसे मालूम था कि इस तरह यह रास्ता समतल होगा और उसपर दूकानें सजाई जायंगी? लालटेनों की रोशनी होगी। सुसंस्कृत और शिष्ट दूकानदार हीरे जवाहरात बेंचेगें और उर्दू-ए-मुअल्ला इसका ख़िताब होगा? अफ़सोस यह है कि हमारी भाषा के इतिहासकारों और हमारे कवियों के जीवनी लेखकों ने इन्हे 'वली' और ब्रह्मज्ञानी प्रमाणित करने में तो बड़ा परिश्रम किया लेकिन इनकी ऐसी कोई जीवनवृत्ति न लिखी, जिसने उनके व्यक्तिगत स्वभाव और अन्य बातों का, जैसे, इनकी दुनियादारी या एकान्तप्रियता, इनका एक जगह रहना या इनकी भ्रमणशीलता, इनके विद्याभ्यास और लोकाचार की ऊँची नीची मंज़िलें, या इनके सत्संग की चर्चाएँ मालूम हों। यहाँ तक कि इनकी जन्म और मरणतिथि तक के बारे में किसी ने कुछ न बताया। केवल इतना प्रमाण मिलता है कि इनके जीवन का आरंभ काल शायद आलमगीर के अंतिम समय में होगा और वह अपने दीवान के साथ सन् ३ मुहम्मदशाही में दिल्ली पहुँचे होंगे।

प्रायः ऐसा देखा गया है कि जब धन और वैभव की विपुलता और भोग-विलास के माहौल का रूख कुछ सदाचार और धार्मिकता की ओर झुकता है तो वह सूफ़ियाना परिवेश में व्यक्त होता है। उस समय मुहम्मदशाही युग ने चारों ओर लोगों को धन धान्य से संपन्न और मतवाला कर रखा था। जीवन भौतिक सुखों से परिपूर्ण था। फिर भी उसमें एक प्रकार की निष्प्रयोजनता और अपूर्णता को महसूस करने के कारण तसव्वुफ़ (ब्रह्मवाद) के विचार जन-साधारण में फैल रहे थे। दूसरे, 'वली' स्वयं एक उच्च फ़क़ीरी घराने से थे और एक फ़क़ीर ही की देख-रेख में पले भी थे। तीसरे, ज़बान उर्दू की पूर्ववर्ती हिंदी भाषा और फ़ारसी भाषा की कविताओं में भी काफ़ी आध्यात्मिकता का पुट है, इसलिये इन्हीं कारणों ने 'वली'

को सूफ़ियाना काव्यरचना की प्रेरणा दी। इनके मन के इन उमंगों के आधारवश इन्हें इस शैली के प्रवर्तक होने की मान्यता प्राप्त करने की लालसा ने ऐसे साधन का प्रयोग करने के लिये प्रेरित किया, जो उनके पूर्वजों के समय से उनके समय तक किसी के ध्यान में न आया था। वह यह कि फ़ारसी पिंगल पर पूर्णतया आधारित एक संपूर्ण दीवान प्रस्तुत करें। इनके पीर ने भी उनके इस संकल्प का अनुमोदन किया।

तात्पर्य यह कि जब इनका यह दीवान दिल्ली में पहुँचा तो इसे वहाँ के विद्वानों ने बड़े चाव से और सहृदयतापूर्वक ग्रहण किया और उसे समादरित किया। उन लोगों की गुणग्राहकता ने उसकी ओर विवेकपूर्ण दृष्टि से देखा। ज़बान ने स्वाद से पढ़ा। क़व्वाल सूफ़ियों की महफ़िलों में गीतों की जगह इन्हीं की ग़ज़लें गाने बजाने लगे। आनंदप्रिय लोग इन्हें अपने मित्रों को पढ़कर सुनाते थे, और जिन्हें ऐसी साहित्य-रचना में अभिरुचि थी, उन्हें इसी ढंग के और दीवान बनाने का शौक़ उभरा।

यदि हम 'वली' की कविता को इस दृष्टिकोण से देखें कि एक रुचिपूर्ण मानवीय कला सुंदर परिवेश में हमारी भाषा में आई तो उसे हम एक खुशी की बात समझ सकते हैं। किंतु अपने देश की भाषा के विकास में इसका योगदान महत्त्वहीन रहा, इसका खेद है। और इसका कारण यह है कि वह किसी ज्ञानात्मक या परंपराजनित मार्ग द्वारा नहीं, बल्कि एक फ़क़ीराना लगन या मनोरंजन की हवा से उड़कर आ गई थी। कितना अच्छा होता यदि यह शाहनामा के ढंग से आती कि मोहम्मदशाही विलासिता और व्यसनप्रियता का खून बहाती और देशवासियों को फिर तैमूरी और बाबरी मैदानों में ला डालती। या सभ्यता और शिष्टता के संदेश से अकबर के ज़माने को पुनरुज्जीवित कर देती।

यद्यपि इसकी भाषा आजकल चलन में नहीं है, मगर यह, दीवान अब तक हर जगह मिलता है और बिकता है। यहाँ तक कि यह पेरिस और लंदन में भी छप गया है। इसमें रदीफ़वार ग़ज़लों के अतिरिक्त रुबाइयाँ (चार चरणों के पद्य) क़िते (एक प्रकार की कविता जिसमें दो चरणों से कम न हों, मतला न हो और सम चरणों में अनुप्रास हो) दो तीन मुख़म्मस (पाँच पाँच चरणों की एक प्रकार की कविता) क़सीदे (वह ग़ज़ल जिसमें पंद्रह से अधिक चरण हों और किसी की प्रशंसा अथवा निन्दा, उपदेश या ऋतुवर्णन आदि विषयों की चर्चा हो), एक मस्नवी (उर्दू पद्य जिसमें कोई कहानी या उपदेश एक ही वृत्त में होता है और उसका हर शेर रदीफ़ क़ाफ़िए में नहीं मिलता और हर शेर के दोनों मिस्रे सानुप्रास होते हैं), एक कर्बला के युद्ध के वर्णन में और एक सूरत शहर के वर्णन में है। वासोख़्त-रचना (वह कविता जो प्रेमिका के दुर्व्यवहारों से दुखी होकर प्रेम आदि की निन्दा के संबंध में

की जाय) उस समय में प्रचलित न थी। इसके आविष्कार का गौरव ये मीर साहब के लिये छोड़ गए। बादशाह या किसी अमीर की प्रशस्ति में भी इन्होंने कोई कविता नहीं लिखी। शायद ख्वाजा मीर 'दर्द' की तरह इस प्रकार की चाटुकारिता को ये अशोभनीय समझते थे। लेकिन कभी कभी ख्वाजा हाफ़िज़ की तरह उस समय के शासक के नाम से कहीं कहीं अपने शेरों में शिकवा शिकायत का पुट अवश्य देते थे। दिल्ली संबंधी रचनाओं में से एक ग़ज़ल में कहते हैं :—

दिल 'वली' का ले लिया दिल्ली ने छीन,
जा कहो कोई मुहम्मदशाह सूँ ॥

'रिसाला नूरुलमार्फत तसव्वुफ़' में लिखा है कि "मैं मुहम्मद नूरुद्दीन सिद्दीक़ी सुहर्वर्दी के मुरीदों के पाँव की धूल हूँ और शाह सैयदुल्लाह गुलशन का शिष्य हूँ।" मगर यह नहीं लिखा कि किस उम्र में।

लतीफ़ा 'वली' ने अपने रेख्तागोई के आवेश में नासिर अली सरहन्दी को, जो 'अली' तख़ल्लुस रखते थे, यह शेर लिखा :—

उछल कर जा पड़े जूँ मिस्रए वर्क़,
अगर मतल: लिखूं नासिर अली कूं ॥

नासिर अली ने जवाब में लिखा :—

ब-इजाज़े सुख़न गर उड़ चले वह,
'वली' हरगिज़ न पहुँचेगा 'अली' कूँ ॥

अब इनकी रचनाओं के कुछ अंशों को उस समय की भाषा की बानगी के रूप में पेश करना ज़रुरी है। हमारे साहित्य के इतिहासकारों का दस्तूर है कि जब किसी कवि का वर्णन करते हैं तो उसकी चुनी हुई कविताओं का संग्रह अवश्य प्रस्तुत करते हैं। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की कवियों की देन निष्फल नहीं होती। नज़ीर के कोई कोई शेर ऐसे हैं कि जो मीर की शायरी से टक्कर लेते हैं। इसलिये अगर नज़ीर के विषय में चर्चा करके कुछ चुने हुए शेर लिख दिए तो सिवा इसके कि अनजान व्यक्ति नज़ीर को मीर की बराबरी का समझे और क्या कल्पना कर सकता है? बड़ी दिक़्क़त इसमें यह है कि वली में और हममें एक लंबे अरसे का अंतर है। इसलिये इन कुछ एक शेरों से ही उनकी वास्तविक योग्यता और उनकी तबीयत का पता मिलना कठिन है। मैं इनके दीवान से निष्पक्षता और उदारता के साथ कुछ ग़ज़लें पूरी की पूरी लिख दूँगा ताकि उनकी असलियत ज़ाहिर हो जाय। हाँ, अगर कोई पूरी ग़ज़ल उपलब्ध ही न हो तो हमारी मजबूरी है।

तुझ लब की सिफ़त लाल बदख़्शां से कहूँगा,
जादू हैं तेरे नैन ग़ज़ाला[1] से कहूँगा ।।
दी हक़ ने तुझे बादशही हुस्न नगर की,
ये किश्वरे[2] ईरां में सुलेमाँ से कहूँगा ।।
ज़ख़्मी किया है मुझ तेरी पल्कों की अनी[3] ने,
यह ज़ख़्म तेरा ख़ंजरे भालां से कहूँगा ।।
बेसब्र न हो ऐ 'वली' इस दर्द से हर गाह
जल्दी से तेरे दर्द की दरमां[4] से कहूँगा ।।

× × ×

देखना हर सुबह तुझ रुख़ासार[5] का,
है मुतालअः[6] मत्लए अनवार[7] का ।
याद करना हर घड़ी तुझ यार का,
है वज़ीफ़ा[8] मुझ दिले बीमार का ।।
आरज़ूए चश्म कौसर[9] नहीं
तश्नः-लब हूँ शरबते दीदार का ।।

आक़बत होवेगा क्या मालूम नहीं,
दिल हुआ है मुब्तिला दीदार का ।।
बुलबुलो परवा-ना करना दिल के तईं,
काम था तुझ चेहरए गुलनार का ।।
क्या कहे तारीफ़ दिल है बेनज़ीर,
हर्फ़ हर्फ़ उस मख्ज़ने इसरार का ।।

---

१. हिरन २. मुल्क ३. नोक ४. उपचार ५. गाल, मुख
६. ग़ौर से देखना ७. प्रकाशपुंज ८. मंत्रजाप ९. स्वर्ग का एक हौज
१०. जिसके ओठ प्यास के मारे सूख गए हों ।

गर हुआ है तालिबे अज़ादगी,
बंद मत हो सब्हओ जुन्नार का ।।
मस्नदे गुल मंज़िले शबनम हुई,
देख रुत्बा दीदए बेदार का ।।
ऐं 'वली' होना सरी जन पर निसार,
मुद्दआ है चश्मे गौहर बार का ।।

+ + +

बेवफ़ाई न कर ख़ुदा सूँ डर, जग हँसाई न कर ख़ुदा सूँ डर ।।
है जुदाई में ज़िदगी मुश्किल, आ ज़ुदाई न कर खुदा सूं डर ।।
उस सूं जो आशनाई डर कर है, आश्नाई न कर खुदा सूं डर ।।
आरसी देख कर न हो मग़रूर, खुद नुमाई न कर खुदा सूं डर ।।
ऐ 'वली' ग़ैर आस्ताने यार[1],
जब्हासाई[2] न कर खुदाँ सूं डर ।

+ + +

जब सनम को ख्याले बाग़ हुआ, तालिबे नशए फ़राग़ हुआ ।
फ़ौज उश्शाक़[3] देख हर जानिब, नाज़नीं साहिबे दिमाग़ हुआ ।
मान सौं तुझ लबाँ के सुर्ख़ हुआ, जिगरे लालः दाग़ दाग़ हुआ ।
दिले उश्शाक़ क्यों न हो रोशन, जब ख्याले सनम चिराग़ हुआ ।
ऐ 'वज़ी' गुलवदन को बाग़ में देख,
दिले सद-वर्ग़[4] बाग़ बाग़ हुआ ।

+ + +

जिस वक़्त ऐ सरीजन तु बेहिजाब[5] होगा,
हर जर्रः तुझ झलक सूँ जूँ आफ़ताब होगा ।।
मत जा चमन में लाइए बुलबुघ पे मत सितम कर,
गर्मी सूँ तुझ जिगह की गुलगुल गुलाब होगा,
गर्मी सूं तुझ जिगह की गुलगुल गुलाब होगा ।।

---

[1] प्रेमिका के मकान की चौखट
[2] माथा रगड़ना, दीनता का दर्शन ।
[3] प्रेम करनेवालों का ।
[4] सैकड़ों पत्ते ।
[5] बे पर्दा ।

मत आइना को दिखला अपना ज़माले[1] रोशन,
तुझ मुख की ताव देखे आईना आब होगा ।।
निकला है वह सितमगर तेग़े अदा कूं लेकर,
सीने पै आशिक़ां के अव फ़तहयाब होगा ।।
रखता है क्यों जफ़ा को मुझ पर खाए ज़ालिम,
मशहर में तुझ सूँ आख़िर मेरा हिसाब होगा ।।
मुझको हुआ है मालुम ऐ मस्तेजामे ख़ूनीं,
तुझ अंखड़ियां के देखे आलम ख़राब होगा ।।
हातिफ़[2] ने यूँ दिया है मुझको 'वली' वशारत[3]
उसकी गली में जा तू मक़सद शिताब[4] होगा ।।

+ + +

तख्त जिस बेख़ानुमां[5] का दश्ते वीरानी हुआ,
सर उपर उसके कमोला ताज सुलतानी हुआ ।।
तुम हुस्न आलमेताब का जो आशिक़ों शैदा हुआ,
हर ख़वरू के हुस्न के जल्वा सूँ बेपरवा हुआ ।।
सीने में अव महशर तलक को नैन को विसराए वह,
जो तुझ नयन के जाम सूं मैं पीके मतवाला हुआ ।।
पाया है जग में ऐ 'वली' वह लैलए मक़सूद कूं
जो इश्क़ के बाज़ार में मजनूँ नमन रुसवा हुआ ।।

× + ×

लिया है जब सूं मोहन ने तरीक़ा खुदनुमाई का,
चढ़ा है आरसी पर तव से रंग हैरत-फ़ेज़ाई[6] का ।।
क्यों करे आलूदए-ज़र जग मने सैदे मुराद
है अलम ऊपर मुअत्तल सूरते शीरे तिला ।।

---

१. सौंदर्य ।
२. एक फ़रिश्ता जो दिल में बात डालता है ।
३. शुभ संवाद ।
४. शीघ्र ।
५. बेवतन ।
६. आश्चर्य बढ़ाना ।

बुलहवस रखते हैं दायम फ़िक्रे रंगे आशिक़ां,
है मुहब्बत की सदा सीने में तदबीरे तिला ॥
यूँ किनारे मुख पे तेरे ऐ जुलेख़ा वश नहीं,
सूरए यूसुफ़ को लिखा गर्दे तहरीरे तिला ॥

× × ×

हुआ है सैर का मुश्ताक़ बेताबी सूं मन मेरा,
चमन मूं आज आया है मगर गुल पैरहन मेरा ॥

+ + +

ख़ुमारे-हिज[1] नें जिसके दिया है दर्दे-दिल मुझकूं,
रखूं नशए-नमन अंखियां में गर वह मस्त-नाज़ आवे ॥
अजब नैन गर गलां दौड़ीं पकड़ कर सूरते क़मरी
अदा सूं जब चमन भीतर वह सर्वे-सरफ़राज़ आवे ॥

+ + +

ता हश्र रहे बूए गुलाब उसके अर्क़ से,
जिस बर-मने यकबार वह गुल पैरहन आवे ॥
साया हो मेरा सब्ज़ बरंगे परे तलीं
गर ख्वाब में वह नौ-ख़ते शीरीं-वचन आवै ॥
खीचीं अपस अंखियां मने जूं कुह्ले जवाहिर,
उश्शाक़ के गर हाथ वह ख़ाके चरन आवे ॥
हरगिज़ सुख़ने सख़्त को लावे न ज़बां पर,
जिस दहन में यक बार वह नाज़ुक बदन आवे

+ + +

ये तिल तुझ मुखके काबा में मुझे अस्वदे हिज दिस्ता[2],
ज़नख़्दां[3] में तेरे मुझ चाहे ज़मज़म का असर दिस्ता ॥

+ + +

शाह मुबारक 'आबरू'

'आबरू' तख़ल्लुस, शाह मुबारक के नाम से विख्यात, लेकिन इनका असली नाम नज़मुद्दीन था। शाह मोहम्मद ग़ौस ग्वालियरी के वंशज थे। यद्यपि यह एक

---

[1] वियोग।
[2] दिखता है।
[3] ठुड्डी।

वयोवृद्ध और अनुभवी कवि थे, मगर जाने आरज़ू को अपनी रचनाएँ दिखा लेते थे। देखो, उस समय के लोग कैसे न्यायप्रिय और ग्रहणशील होते थे। यह अपने ज़माने में रेख़ता के एक लब्ध-प्रतिष्ठ मुसलमान कवि और उर्दू कविता में विचार और रचना शैली में नवीनता के प्रवर्तक गिने जाते थे। वह ऐसा ज़माना था कि 'इख़लास' को 'विस्वास' और 'घर' को 'सर' से क़ाफ़िया मिलाते थे और इसमें कोई दोष नहीं मानते थे। रदीफ़ (क़ाफ़िए के बाद के शब्द) की कुछ जरूरत न थी। अलबत्ता कविता की बुनियाद युग्मार्थी शब्दों और ईहाम[1] पर होती थी। और मुहावरों का अनिवार्य रूप से प्रयोग करते थे। वह एक आँख के काने थे। उनकी और मिर्ज़ा जान जानां 'मज़हर' की ख़ूब ख़ूब 'चश्मकें[2] होती थीं। बल्कि इनमें आँख का भी इशारा हो जाता था। चुनांचे मिर्ज़ा साहब ने कहा :—

आबरू की आँख में इक गाँठ है,
आबरू सब शायरों की झाँट है ।।

इसके जवाब में शाह आबरू ने कहा :—

क्या करूँ हक़ के लिये को, कौर मेरी चश्म है,
आबरू जग में रहे तो जान-पश्म है ।।

शाह कमाल बुख़ारी उस जमाने में एक बड़े बुज़ुर्ग माने जाते थे। उनके बेटे का नाम पीर मक्ख़न था और इनका तख़ल्लुस 'पाकबाज़' था। शाह मुबारक को इनसे बड़ी मुहब्बत थी। चुनांचे अकसर शेरों में उनका नाम या कुछ इशारा अवश्य करते थे। देखना, क्या मज़े का मिस्रा कहा है :—

आलम हमः दोग़ अस्त व मुहम्मद मक्खन
(सारी दुनिया दही की तरह है और मोहम्मद मक्खन की तरह है)

इनकी साहित्यिक योग्यता के विषय में कुछ मालूम नहीं। किंतु इनकी रचनाओं से ऐसा टपकता है कि अरबी के व्याकरण से सुपरिचित थे और साहित्यिक मामलों से अनभिज्ञ न थे।

इनकी कविताएँ जब तक पीर मक्खन पाकबाज़ के कलाम से चुपड़ी न जायँ तब तक मज़ा नहीं देतीं। इसलिये पहले एक शेर इनका ही लिखता हूँ। उस ज़माने के विचारों पर ध्यान दो :—

१—एक अर्थालंकार जिसमें ऐसा शब्द लाते हैं, जिसके दो अर्थ होते हैं और पास वाला अर्थ छोड़ कर दूर वाला अर्थ लगाते हैं।

२—'चश्मकें' एक ज़ू-मानी (युग्मार्थी) शब्द है जिसके मानी 'आँख से इशारा करना' और 'कहा सुनी' दोनों होते हैं। लेखक ने किस ख़ूबी से इसके मानी की ओर आगे के वाक्य में इशारा किया है।

मुझे दर्दे अलम घेरे है नित मेरे मियाँ साहब,
ख़बर लेते नहीं कैसे हो तुम मेरे मियाँ साहब ॥
आया है सुबह नींद से उठ रस-मसा हुआ,
जामा गले में रात का फूलों बसा हुआ ॥
कम मत गिनो यह वख़्त सियाहों का रंग ज़र्द,
सानो वो है कि होवे कसौटी बसा हुआ ॥
अंदाज़ सों ज़्यादा निपट नाज़ ख़ुश नहीं,
जो ख़ाल अपने हद से बढ़ा सो मसा हुआ ॥
क़ामत का सुझ जगत मनें बाला हुआ है नाम,
क़द इस क़दर बुलंद तुम्हारा रसा हुआ ॥
दिल यूँ डरे है ज़ल्फ़ का मारा भोंक सों,
रस्सी से अज़दहा का डरे जूं डसा हुआ ॥
ऐ 'आबरू' अव्वल तूँ समझ पेच इश्क़ का,
फिर ज़ल्फ़ से निकअ न सके दिल फ़सा हुआ

+ + ×

पलंग कूँ छोड़ खाली गोद-सों उठ गए सजन मीता,
चित्रकारी लगे ख़ाने हमन कौ घर हुआ चीता ॥
लगाई बे-नवा की तरह-सीं जब वो छड़ी तुमने,
तज औरों को लिया है हाथ अपने एक तो मीता ॥
जुदाई ज़माने की सजन क्या ज़्यादती कहिए,
कि उस ज़ालिम की जो हम पर घड़ी गुज़री सो जग बीता ॥
लगा दिल यार-सों तब इसको क्या काम 'आबरू' हमसों,
कि ज़ख्मी इश्क का फिर माँग कर पानी नहीं पीता ॥

+ + +

नैन सों नैन जब मिलाय गया ।
दिल के अंदर मेरे समाय गया ॥
निगहे गर्म-सीं मेरे दिल में ।
खुश नयन आग-सी लगाय गया ॥
तेरे चलने की सुन आशिक़,
यही कहता मुआ कि हाय गया ॥

सहव कर बोलता था मुझ सीती,
बूझकर बात को छिपाय गया ॥
‘आवरू’ हिज्र बीच मरता था,
मुख दिखा कर इसे जलाय गया ॥

+ + +

यह रस्म ज़ालिमी की, दस्तूर है कहाँ का,
दिल छीन कर हमारा दुश्मन हुआ है जां का ॥
हर यक निगह में हमसे करने लगे हो नोकें,
कुछ यूं तेरी आंखों ने पकड़ा है तौर बांका ॥
तुझ राह में हुआ है अब तो रक़ीब कुत्ता,
बू पाए कर हमारी आ बाँधता है नांका ॥
खंदों के तौर गोया दीवारे क़हक़हा है,
फिर कर फिरे न लड़का जो इस तरफ़ को झाँका ॥
रुस्तम दहल के दिल में डाले अंझू सू पानी,
देखे अगर भवाँ की तलवार का झमाका ॥
फ़ासिक़ के दिल पै डाली जब नफ़से-बद ने बुर्की,
रजवाड़े की गली का तब जा गुबार फाँका ॥

+ + +

मत क़हरे सीती हाथ में ले दिल हमारें कूं,
जलता है क्यों पकड़ता है ज़ालिम अंगारे कूँ ॥
टुक बाग़ में शिताब चलो ऐ बहारे हुस्न,
गुल चश्म हो रहा है तुम्हारे नज़ारे कूँ ॥
मरता हूँ टुक रही है रमक़ आ दरस दिखा,
जा कर कहो हमारी तरफ़ से प्यारे कूँ ॥
मैं आ पड़ा हूँ इश्क़ के ज़ालिम भँवर के बीच,
तख्ता ऊपर जला देते हैं जी के आरे कूँ ॥
अपना जमाल ‘आवरू’ को टुक दिखाओ आज,
मुद्दत से आरज़ू है दरस की बिचारे कूँ ॥

+ + +

रुस्तम उस मर्द की खाते हैं क़सम ज़ोरों की,
ताब लावे जो कोई इश्क़ के झक झोरों की ॥

क़द्रदाँ हुस्न के कहते हैं उसे दिल-मुर्दा,
सांवरे छोड़के जो चारा करे गोरों की ।।
गाँठ काटी है मेरे दिल की तेरी आँखों ने,
दो पलक नहीं ये कतरनी है मगर चोरों की
लबे शीरीं पे सरीजन के नहीं खत्ते सियाह,
डार छोटी है मिठाई पे शकर-ख़ोरों की ।।
चलकें सूरज मनें जो ख़त्ते शुआ के शोले,
देख अंखियों मनें ये लाल भमक डोरों की ।।
क़ादरी जब कि सजी वर में सजन बूँटादार,
अक़्ल चक्कर में गई देख के छत रोरों की ।।
आबरू कूँ नहीं कमज़र्फ़ की सोहबत का दिमाग़,
किसको बर्दाश्त है हरवक़्त के निकतोरों की ।।

+ + +

अफ़सोस है मुझको वह यार भूल जावे,
वह शौक वह मुहब्बत वह प्यार भूल जावे ।।
रुस्तम तेरी आँखों के होवे अगर मुक़ाबिल,
अंखियों को देख तेरी, तलवार भूल जावे ।।
आरिज़ के आईना पर तमन्ना के सब्ज़ ख़त हैं,
तसबी करे फ़रामोश जुन्नार भूल जावे ।।
यूं 'आबरू' बनावे दिल में हज़ार बाताँ,
जब तेरे आगे आवे गुफ़्तार भूल जावे ।।

+ + +

पानीपत[1] आज छोड़ जो गन्नौर तुम चले,
तो राह बीच जाईयो जानाँ सँभाल के ।।

+ + +

कुंजी उसकी ज़बाने शीरीं है,
दिन मेरा कुफ़्ल है बताशे का ।।

+ + +

---

[1] पानीपत और गन्नौर क़स्बों के नाम थे। एक जगह से दूसरी जगह जाने में लुटेरे लगते थे। रास्ता राहज़नी के लिये बदनाम था।

क्यों छुपा ज़ुलमत में गर उस जव से शर्मिंदा न था,
जान कुछ पानी मेरे है चश्मए हैवां के बीच ।।

+ + +

अब दीन हुआ ज़माना साज़ी,
आफ़ाक़ तमाम दहरिया है ।।

+ + +

तुमने वजाओ नै को जव हाथ बीच नै ली,
मजनून हो गए सब यह इस तरह की लै ली ।।

+ + +

सजा है नरगिसी बूटे का जामा,
करे क्यों कर न मुझ से चश्म-पोशी ।।

+ + +

आबरू के क़त्ल को हाज़िर हुए कस के कमर,
खून करने को चले आशिक़ पे तुहमत बँधकर,

+ + +

दो भँवों से लगे हैं जिसके नैन,
वह कहा जाता है हाजिउल्-हरमैन ।।

+ + +

इज़्ज़त है जौहरी की जो क़ीमती हो जौहर,
है आबरू हमन को जग में सुख़न हमारा ।।

+ + +

जहाँ उस खूँ की गर्मी थी, न थी वां आग की इज़्ज़त,
मुक़ाबिल उसके हो जाती तो आतिश लकड़ियां खाती ।।

+ + +

इसी अंदाज़ में हाफ़िज़ अब्दुल रहमान ख़ाँ 'एहसान' ने एक शेर कहा है और क्या ख़ूब कहा है :—

दख्ते-रज़ से कहा मैख़ाने में शब रिन्दों ने[1],
आज तो खूब ही खुत्के तेरी सौकन को लगे ।।

+ + +

---

[1] अर्थात् भंगेड़ख़ाने में भंगेड़ियों ने ख़ूब भांग घोंटी और तुर्रे उड़ाए। तुम भी अपने प्रेमियों पर कृपादृष्टि क्यों नहीं करते ?

मुबारक नाम तेरे आबरू का क्यों न हो जग में,
असर है यूँ तेरे दीदार की फ़रख़न्दाफ़ाली का ॥

+ + +

नाला हमारे दिल का, ग़म का गवाह बस है,
अपने तईं शहादत अंगुश्त आह बस है ॥

+ + +

तुम्हारे लोग कहते हैं कमर है,
कहाँ है, किस तरह की है, किधर है ॥
तख़ल्लुस आबरू वरजा है मेरा,
हमेशा अश्क़ेगम से चश्म तर है ॥

+ + +

इस नातवाँ की हालत वाँ जा कहे है उड़कर,
मेरा ये रंगरू है गोया मखी कबूतर ॥
मक्खन मियाँ ख़फ़ा हैं फ़क़ीरों के हाल पर,
आता है उनको जोशे-जमाली कमाल पर ॥

+ + +

फिरते थे दश्त-दश्त दिवाने किधर गए
वे आशिक़ी के हाय ज़माने किधर गए

+ + +

ख़िदमतगार ख़ाँ बादशाही ख़्वाजासरा था और शाही सरकार में एक बड़ा सत्ताधारी व्यक्ति माना जाता था। बादशाही नौकर चाकर उसकी कड़ाई और क्रूरता से बड़े क्षुब्ध रहते थे। इन्हें भी उससे काम पड़ता था, तभी तो आसानी से स्वार्थ सिद्ध हो जाता था, किंतु कभी कभी कठिनाई होती थी। किसी अवसर पर उसके विषय में यह शेर कहा :--

यारों ख़िदमतगार ख़ां ख़ोज़ों के बीच,
है तो मुस्तस्ना व-लेकिन मुन्क़ता[1] ॥

शेख़ शरफ़द्दीन 'मज़मून

'मज़मून' तख़ल्लुस। शेख़ शरफ़द्दीन नाम। शेख फ़रीदुद्दीन शकरगंज के वंशजों में थे। जाजमऊ जिला अकबराबाद असली वतन था। दिल्ली में आकर बस गए थे। असल पेशा सिपहगिरी था, हुकूमत की तबाही के कारण हथियार खोलकर

---

[1] यारों ख़िदमतगार ख़ाँ ख़्वाजासरा तो ज़रूर है, लेकिन उनको इन से अलग किया जा सकता है, वैसे तो वे कटे हुए हैं ही (ख़्वाजा सरओं का शिश्न कटवा दिया जाता था।

मज़मून बाँधने लगे और ज़ीनतुल मसाजिद में ऐसे बैठे कि मर कर ही उठे। ऐसी परिस्थिति में भी ये एक प्रसन्नचित्त, शिष्ट, और गैतीप्रिय व्यक्ति थे। पहली पीढ़ी के अग्रणी कवियों में इनकी गिनती थी और उन्हीं कवियों का अन्दाज़ भी था, क्योंकि उस समय की काव्य शैली वही थी और सर्वसाधारण को वही रुचती भी थी।

इस समय के लोगों के स्वभाव में कितनी सादगी और सीधापन होता था कि हलाँकि यह बुड्ढे थे और उम्र में ख़ान आरज़ू से बड़े थे, मगर उन्हें अपनी ग़ज़ल दिखाते और इस्लाह लेते थे। नज़्ले से दाँत टूट गए थे, इसलिये ख़ान साहब इन्हें 'शायर बेदानः' कहते थे। मिर्ज़ा रफ़ी भी इन्हीं के समकालीन थे। चुनांचे जब इनकी मृत्यु हुई तो मिर्ज़ा ने ग़ज़ल कही, जिसका मत्लः और मक़्तः भी लिखता हूँः—

लिए मै उठ गया साक़ी, मेरा भी पुर हो पैमाना,
इलाही किस तरह देखूँ मैं इन आँखों से मैख़ाना॥
विनाएँ उठ गईं यारो ग़ज़ल के ख़ूब कहने की,
गया 'मज़मून' दुनिया से रहा 'सौदा' सो मस्ताना॥

इन शेरों से मालूम हो सकता है कि इस गुनवान पुरुष के गुनों ने ज़माने के दिल में क्या असर पैदा किया था।

हाय दिल्ली खुदा तुझे बहिश्त दे। कैसे कैसे लोग तेरी ख़ाक से उठे और ख़ाक में मिल गए। मेरे स्वर्गीय उस्ताद ने एक दिन एक लतीफ़ा कहा कि शेख़ मज़मून के समय में कोई अमीर बाहर से महल में आए और पलंग पर लेट गए। एक बुढ़िया दाई नई नौकर हुई थी। वह हुक्क़ा भर लाई और सामने रखा। नवाब साहब की ज़बान से उस वक़्त 'मज़मून' का यह शेर निकल पड़ाः—

हमने क्या क्या न तेरे इश्क़ में महबूब किया,
सब्र अय्यूब किया गिरियए याक़ूब किया॥

दाई सुनकर बोली "अल्लाह आफ़त से बचाए। इस घर में आप ही पर जब पैग़ंबरी वक़्त पड़ रहा है तो बेचारे नौकरों पर क्या गुज़रेगी? चलो बाबा यहाँ से"।

बात ऐसी थी कि दिल्ली से ग़रीब मुफ़्लिस फ़क़ीर किसी से भिक्षा माँगते थे तो कहा करते थे, "बाल बच्चे वाले हैं, मुफ़्लिस हैं हम पर पैग़ंबरी वक़्त पड़ा है। लिल्लाह कुछ दो"। और असल इसकी यह थी कि ऐसा विश्वास किया जाता है कि जो मुसीबत में रहता है वह खुदा का प्यारा होता है। और चुंकि पैग़ंबर (हज़रत मुहम्मद साहब) सबसे ज़्यादा खुदा के प्यारे हैं, इसलिये उनपर अधिक मुसीबतें पड़ी हैं। धीरे-धीरे 'पैग़ंबरी वक़्त' और 'पैग़ंबरी मुसीबत' के अर्थ सख़्त मुसीबत के हो गए। देखो, ऐसी ऐसी बातें उस ज़माने में किस क़दर साधरण थीं कि बूढ़ी औरतें और नौकरानियाँ तक उनकी बारीकियों से परिचित थीं और लतीफ़े पैदा

करती थीं। आश्चर्य यह है कि इसी विषय पर मुख़्लिस काशी की भी कुछ रचनाएँ हैं:--

दर फ़िराक़े तू चेहा ऐ बुते महबूब कुनम,
सब्रे अय्यूब कुनम गिरियए याकूब कुनम ॥

———

करे है दार को कामिल भी सरताज,
हुआ मन्सूर से नुक्तः यह हल आज ॥

———

ख़त आ गया है उसके मेरी है सफ़ेद रीश,
करता है अबतक भी वो मिलने में शाम सुबुह ॥

———

करें क्यों न शुक्र लबों को मुरीद,
कि दादा हमारा है बाबा फ़रीद ॥

———

हँसी तेरी प्यारे फुलझड़ी है,
यही गुंचः के दिल में गुलभड़ी है ॥

———

मैकदः में गर सरापा फ़ेल नामाक़ूल है
मदरसा देखा तो वाँ भी फ़ाइलो मफ़ऊल है ॥

———

तीरे मिज़गाँ बरसते हैं मुझपर,
आबे पैकाँ का इस तरफ़ है ढाल ॥

———

मुहम्मद शाकिर 'नाजी'

'नाजी' तख़ल्लुस। सैयद मुहम्मद शाकिर नाम। इन्होंने अपनी सौजन्यता और प्रतिष्ठा के साथ अपनी काव्य-कुशलता के लिए अपने समय में ख्याति प्राप्त की। काव्य-जगत् में इन्हें प्रथम श्रेणी की कवि की मान्यता मिली है। ये अम्दुतुमुल्क अमीर ख़ां, जो मोहम्मद शाही दरबार के ख़ास सदस्यों में थे, उनके भोजगृह के दारोगा थे। शाह मुबारक 'आबरु' ने जहाँ उनके योग्यता की प्रशंसा की है, वहाँ इस विषय की ओर भी संकेत किया है।

सुख़न संजाँ में हैगा 'आबरु' आज,
नहीं शीरीं ज़बां 'शाकिर' सरीका ॥

(आबरु, शायर ज़रुर है, मगर 'शाकिर' जैसा कहाँ) मगर मिज़ाज के काफ़ी तेज़ और चुलबुले थे। राह चलते लोगों से उलझते थे और जिसके आसपास होते थे, उसे पींछा छुड़ाना मुश्किल हो जाता था।

जुल्फ़ के हलक़: में देखा जब से दाना ख़ाल का,
मुर्ग़ दिल आशिक़ का तब से सैद है इस जाल का ।।
गन्दुमी चेहरे को अपने जुल्फ़ में पिन्हा न कर,
हिंदुवां सुनकर मुबादा शोर डालें काल का ।।
बेनवाओं से न मिल ऐ मू-कमर मत पेच खा,
मूंड सर लड़कों को करते हैं वह अपना बाल का ।।
मेहर की बेजा है चर्ख़े बे-मुरव्वत से उमीद,
पीर ज़ालों से नहीं एहसान कर इकबाल का ।।
एक दम नाजी के तईं आकर जिला ले प्यार से
जां बलब हूँ ऐ सजन ये वक़्त नहीं अहमाल का ।।

+ + +

न था आजुर्द: दिल वन्ओं से यूसुफ़,
डरा था ख्वाब में इख़वां से यूसुफ़ ।।

न होता राह में गुलाबांगे शोहरत,
जो रोता राह में ख़रां से यूसुफ़ ।।
कुँए में जा पड़ा याकूब का दिल,
चला जब नाल-ओ अफ़ग़ां से यूसुफ़ ।।
जुलैख़ा ने बहाये शीर के नील,
जो रोया दर्द के अंझवां से यूसुफ़ ।।
जो नाजी डर न होता मासियत का,
न गर्दन फेरता फ़र्मा से यूसुफ़ ।।
देख मोहन तेरी कमर की तरफ़,
फिर गया मानी अपने घर की तरफ़ ।।
जिनने देखे तेरे शीरीं,
नज़र उनकी नहीं शकर की तरफ़ ।।
है मुहाल उनका दाम में आना,
दिल है इन सब बुतां का ज़र की तरफ़ ।।
तेरे रुख़सार को सफ़ाई देख,
नज़में आता नहीं हुनर की तरफ़ ।।

Channel eGangotri.edu

हश्र में पाकबाज़ है नाज़ी
वद ग्रमल जायँगे सक़र की तरफ़ ॥

+ + +

ऐ सबा कह बहार की बातें,
उस बुते गुलइज़ार की बातें ॥
किस-पे छोड़े निगाह का शहबाज़,
क्या करे है शिकार की बातें ॥
छोड़ते कब हैं नक़्दे दिल को सनम,
जब यह करते हैं प्यार की बातें ॥

+ + +

माशूक मिलकर ग्राप से गर दिलबरी करे,
गर देव हो तो चाहिये ग्रादम-गिरी करे ॥
शीशः उसी के ग्रागे बजा है कि रुख़-सती,
प्याले को जब ले हाथ में रश्के परी करे ॥
इस क़द से जब चमन में ख़िरामां हो तो ऐ जां,
शम्शादो-सरो ग्रागे तेरी चाकरी करे ॥
दुश्मन है दीं का ख़ाले-सियह मुख उपर तेरे,
हिंदू से क्या ग्रजब है ग्रगर काफ़री करे ॥
जो कहोई कि नाजी साफ़ करे दिल का ग्राईना,
वह ग्राशिकी के मुलक में ग्रसकन्दरी करे ॥

+ + +

कफ़न है सब्ज़ तेरे गेसुग्रों के मारों का,
मकान ग़म है तेरे दर के बेक़रारों का ॥

× × ×

रखे उस लालची लड़के को कोई कब तलक बहला,
चली जाती है फ़रमाइश, कभी ये ला कभी वह ला ॥

× × ×

मौज़ूं क़द उसका चश्म की मीज़ां में जब तुला,
तोबा तब उससे एक क़दम ग्रकदसा हुग्रा ॥

× × ×

अगर हो वह बुते हिंदू कभू अश्नान को नंगा,
भँवर में देखकर जमना उसे ग़ोता में जा गंगा ।।

× × ×

देख हम सोहबत की दौलत से न रख चश्में उम्मीद,
लब सदफ़ के तर नहीं हर चंद गौहर में है आब ।।

× × ×

भाव सस्ता हो या मँहगा नहीं मौकूफ़ ग़ल्ले पर,
ये सब ख़िरमन उसी के हैं खुदा के जिसके पल्ले पर ।।

× × ×

अँगूठी लाल की करती क़यामत आज गर होती,
जिन्हों की आन पहुँची लड़ मुए वह एक छल्ले पर ।।

× × ×

उस रुख़े नौशन की जो कोई याद में मशगूल है,
मेहर उसके रूबरू सूरज मुखी का फूल है ।।

× × ×

न टोको यार को ख़त रखता या मुँडाता है
मेरे नशे की ख़ातिर लुत्फ़ से सब्ज़ी बनाता है ।।

× × ×

जहाँ दिलबंद हो नासेह वहाँ आवे ख़लल करने
रक़ीबे ना-वलद नाजी गोया लड़कों का बाबा है ।।

× × ×

नाजी नादिरशाह की चढ़ाई और मुहम्मदशाही सेना की पराजय से संबंधित घटनाओं में खुद शरीक थे। इस समय दरबार देहली का रंग शरीफ़ों की दुर्दशा, पाजियों की गरमबाज़ारी और इसपर हिंदोस्तानियों की विलासप्रियता और नाज़ुक मिज़ाजी के बारे में एक विस्तारपूर्ण कविता लिखी है। हमें खेद है कि इसके कुछ ही बंद हमें हाथ आए :—

लड़े हुए तो बरस बीस उनको बीते थे,
दुआ के ज़ोर से दाई दवा के जीते थे।
शराबें घर की निकली मज़े से पीते थे,
निगारो नक्श में ज़ाहिर मोक़ा कि पीते थे ।।

गले में हँसलियाँ बाज़ उपर तिला के नाल,
क़ज़ा से बच गया मरना नहीं तो ठाना था।
कि मैं निशान के हाथी उपर निशाना था,
न पानी पीने को पाया वहाँ न खाना था॥
मिले थे धान जो लश्कर तमाम छाना था।
न ज़र्फ़ों मतब ख़ो दुकाँ न ग़ल्लओ बक़्क़ाल॥

× × ×

मुहम्मद अहसन 'अहसन'

इनका 'अहसन' तख़ल्लुस और मुहम्मद अहसन नाम था। यह भी इन्हीं लोगों के हमउम्र (समकालीन) और हमज़बान (एक ही भाषा के प्रयोग करनेवाले) हैं। चुनाँचे इनकी एक ग़ज़ल और दो शेर जो हाथ आए वही लिखे जाते हैं :—

सबा कहियो अगर जावे है तू उस शोख़ दिलबर सों,
कि कर कर क़ौल परसों का गया बरसों हुए बरसों॥
अजब नहीं अब्र गर जलतों को तू जल सों जलावेगा,
गया है यार मेरे बरसों, कहता है कि मैं बरसों॥
यूँ क़ासिद वादा करता है जो परसों का कि फिर आवे,
कबूतर फिर नहीं आता गली उसकी सेती बरसों॥
तर्स तुझको नहीं ऐ शोख़ इतनो क्या है तरसाई,
तेरे दीदार को मैं दीदये तरसूँ खड़ा खड़ा तरसों॥
तेरे तिल सों मुझे नित मेंह का सौदा है ऐ ज़ालिम,
अजब नहीं है अगर तू तेल निकसावे मेरे सर सों॥
ज़ुल्फ़ तेरी मोअत्तर है इत्र पिंतने सेती ज़ालिम,
इलाही आबरू रखियो पड़ा है काम अब्तर सों॥
ग़ज़ल इस तरह से कहनी भी 'अहसन, तुझसों बन आवे,
जवाब अब आबरू कब कह सके बज़मून बेहतरसों॥

× × ×

नाम नस्तालीक़ का है उस बुते ख़ुश-ख़त की ज़ुल्फ़,
हम तो काफ़िर हों अगर बन्द: न हों इस्लाम के॥

× × ×

यही मज़मूने ख़त है अहसनुल्लाह,
कि हुस्ने खूबरू याँ आरज़ी है॥

× × ×

नाज़ुक बदन पे अपने करते हो तुम जो गुर्रा,
मूसी कमर ने तुझ को फ़िरऔन सा बनाया।

+ + +

गुलाम मुस्तफ़ा ख़ां 'यकरंग'

'यकरंग' तख़ल्लुस। गुलाम मुस्तफ़ा ख़ां नाम। उर्दू के पुराने कवियों में इनकी गिनती प्रथम श्रेणी के कवियों में की गई है। उस समय लोग न्यायप्रिय होते थे और हर व्यक्ति और हर काम की अच्छाई और बुराई खूब समझते थे। इसलिये बूढ़े और अनुभवी कवि होने के बावजूद वह अपने अंतिम दिनों में भी अपनी कविताएँ मिर्ज़ा जाने-जानाँ मज़हर को दिखाते थे। लेकिन जो कविताएँ इनकी उपलब्ध हैं और इनके विषय में जो बुज़ुर्गों से सुना और उनसे इनके बारे में चर्चा हुई, उससे मालूम होता है कि यह एक बड़े अभ्यस्त और कुशल कवि थे और अपने समय में सब कोई उन्हें एक खुशमिजाज और गुणी व्यक्ति मानता था। और मज़ा यह है कि अपने उपनाम की तरह सांसारिक अनुभवों में भी यह 'यकरंग' थे।

'यकरंग' पास और सजन कुछ नहीं बिसात,
रखता हूँ दो नयन जो कहो तो नज़र करूँ।

+ + +

ज़बाने शिकवः है मेंहदी का हर पात,
कि खूबां ने लगाए हैं मुझे हात॥
उस जुल्फ़ का यह दिल है गिरफ़्तार बाल बाल,
'यकरंग' के सुख़न में खिलाफ़ एक मू नहीं॥

+ + +

जो कोई तोड़ता है गुंचए गुल,
दिले बुलबुल शिकस्तः करता है॥

+ + +

यकरंग ने तलाश किया है बहुत वले,
मज़हर सा हा जहाँ में कोई मिरज़ा नहीं॥

+ + +

पारसाई और जवानी क्यों के हो,
एक जागेह आग पानी क्यों के हो॥

+ + +

न कहो यह कि यार जाता है,
दिल से सब्रो क़रार जाता है ।।
गर ख़बर लेनी है तो ले सैयाद,
हाथ से यह शिकार जाता है ।।

+ + +

मिर्ज़ा जान-जानां की उस्तादी और अपनी शागिर्दी की ओर इशारा करते हुए कहते हैं--

जिसके दर्दे दिल में कुछ तासीर है,
गर जवाँ भी है तो मेरा पीर है ।।

+ + +

लगे हैं खूब कानों में बुतों के,
सुख़न 'यकरंग' के गोया गुहर हैं ।।

+ + +

इसको मत जानो मियाँ औरों की तरह,
मुस्तफ़ा खां आश्ना 'यकरंग' है ।।

+ + +

जुदाई से तेरी ऐ सन्दली रंग,
मुझे यह जिंदगानी दर्द सर है ।।

+ + +

खुदा जाने इन बातों को सुन कर हमारे सभ्य ज़माने के लोग क्या कहेंगे ? कुछ तो उनकी परवाह भी न करेंगे। और कुछ इन्हें वाहियात कह कर किताब बंद कर देंगे। मगर तुम इन बातों को भद्दा या फूहड़ मत समझो। एक पल की पल आँखें बंद कर लो और कल्पना की आँखे खोल दो। देखो, वहीं मुहम्मद शाही शासन काल के बूढ़े उमरा दरबारी लिबास पहने बैठे हैं। और अपनी प्रौढ़ता और गंभीरता के बावजूद मुस्करा मुस्करा कर आपस में शेर पढ़ते हैं और मज़ा लेते हैं। क्या उनकी नूरानी सूरतों पर तुम्हें प्यार न आएगा ? उनके कलाम की तासीर तुम्हें बैठने देगी ? भावावेश में तुम उनके हाथ न चूम लोगे।

वह सूरतें इलाही किस मुल्क बस्तियाँ हैं,
अब जिनके देखने को आँखें तरसतियाँ हैं ।।

मेरे दोस्तों, ग़ौर के क़ाबिल यह बात है कि आज जो तुम्हारे सामने इनके कलाम का हाल है, कल औरों के सामने वही तुम्हारे कलाम का हाल होना है। एक

समय में जो बात जनसाधारण के लिये रुचिप्रिय हो, यह ज़रूरी नहीं कि दूसरे समय में भी हो। विचार करो कि इन्हीं बुज़ुर्गों के जलसे में आज हम अपने रंग-ढंग और वेश-भूषा में जायँ और अपनी कविताएँ पढ़ें तो यह गंभीर और गण्यमान्य लोग क्या कहेंगे? एक दूसरे की ओर इस प्रकार देखेंगे और मुस्कुराएँगे, जैसे--वे हमें हल्की तबीयत के और छिछोरा समझते हों। इन बुज़ुर्गों को अगर कोई बात नापसंद होती थी, तो इतना ही इशारा काफ़ी होता था। इस दृष्टिकोण की पुष्टि और इस ज़माने का ढंग और वेशभूषा की बानगी दिखाने के लिये **दरियाए-लताफ़त** से उद्धरण यहाँ नक़ल करता हूँ। सैयद इन्शा जिनकी कोई बात मज़ाक़ से ख़ाली नहीं होती थी। अपने समय के एक के बुड्ढे मीर साहब का एक वेश्या के साथ वार्तालाप लिखते हैं। ये दोनों दिल्ली के रहनेवाले हैं और लखनऊ में बातें कर रहे हैं:--

बी नूरन कहती हैं--"अजी आओ मीर साहब। तुम तो ईद के चाँद हो गए। दिल्ली में आते थे। दो दो पहर रात तक बैठते थे और रेख़्ते पढ़ते थे। लखनऊ में तुम्हें क्या हो गया कि कभी सूरत भी नहीं दिखाते? अबके करबला में कितना मैंने ढूंढा कहीं तुम्हारा असर-आसार मालूम न हुआ। ऐसा न कीजियो कहीं आठों[1] में भी न चलो। तुम्हें अली को क़सम आठों में मुकर्रर चलियो"।

अब जिस रंग से सैयद इन्शा इन मीर साहब की तस्वीर खींचते हैं, पहले उसे मुलाहज़ा कीजिए और इतना ख़्याल और भी रहे कि ये पुरातन और वयोवृद्ध मीर साहब उस समय के एक ख़ुशमिज़ाज और रंगीन तबीयत शख़्स थे। कोई बड़े संयमी या परहेज़गार न थे। फिर भी नए ज़माने के तौर-तरीक़े, रहन-सहन, चाल-ढाल और बात-चीत आदि के प्रति उनके कैसे विचार थे?

अब मीर साहब के चेहरे मोहरे, डील डौल की कैफ़ियत सुनिए--काला रंग, नाटा क़द, मोटी गर्दन, बड़े बड़े बाल, पुराने हलवाइयों की तरह सब्ज़ या अगरई, या अकसर सफ़ेद रंग की पगड़ी बाँधे हुए। कभी कभी उस पगड़ी में गुलाब का फूल खोंसे हुए। मामूली तौर के कपड़े पहनते थे, जो उनके बदन पर बहुत फबता था। लेकिन बहुत बारीक कपड़ा इस लिए नहीं पहनते थे कि इन्हें औरतें पहना करती थीं। शरीफ़ों की तरह अकसर नौकरों के पहनने के मोटे कपड़े ही पहनते थे, जो आठ आने में एक थान मिलते थे। कभी कभी औरतों की तरह चोली पहन कर उसके ऊपर पिस्तौलिया दुपट्टा ओढ़ लेते थे, जिसका छोर ज़मीन तक लटकता चलता था। दाँतों में मिस्सी भी लगाते थे। उनकी जूतियाँ पीले चमड़े की होती थीं और उनपर सोने के तार का काम किया होता था।

उनकी शकल तो मालूम हो गई। अब रंडियों से बात चीत करने का ढंग सुना चाहिए:--"अजी बी नूरन। यह क्या बात फरमाती हो। तुम तो अपने जीवड़े की चैन हो। पर क्या कहें जब से दिल्ली छोड़ी है, कुछ जी अफ़सुर्दा (मुर्झाया) हो गया है और शेर पढ़ने को जो कहो तो कुछ लुत्फ़ उसमें भी नहीं रहा कि मुझसे सुनिए। रेख़्ते में उस्ताद मियाँ वली हुए। इनपर तवज्जोह (कृपादृष्टि) शाह

गुलशन साहब की थी। फिर मियाँ 'आबरू' और मियाँ 'नाजी' और मियाँ 'हातिम'। फिर सब से बेहतर मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' और मीर तक़ी साहब फिर हज़रत ख़्वाजा मीर 'दर्द' साहब––अल्लाह उनके क़ब्र को ठंडा रखे––जो मेरे भी उस्ताद थे। वह लोग तो सब मर गए और उनकी वहरदानी करनेवाले भी जां बहक़ तस्लीम हुए (मर चुके) अब लखनऊ के जैसे छोकड़े हैं वैसे ही शायर हैं और दिल्ली में भी ऐसी ही कुछ चर्चा है।

'तुख़्म तासीर सोहबते असर'

सुभान अल्लाह। यह कौन अमयाँ 'जुरअत बड़े शायर? पूछो तो तुम्हारा राएमान किस दिन शेर कहता था? और रज़ा बहादुर का कौन सा कलाम है? और दूसरे मियाँ 'मुसहफ़ी', कि मुतलक़ शऊर नहीं रखते? अगर पूतछए कि ज़रबः ज़दून अमल की तरक़ीब तो ज़रा बयान करे तो अपने शागिर्दों को हमराह लेकर लड़ने आते हैं और मियाँ हसरत को देखो अपना अर्क़-बादियान और शर्बत अनार छोड़ के शायरी में आगे क़दम रखा है और मीर इन्शा अल्लाह ख़ाँ बेचारे माशा-अल्ला ख़ाँ के बेटे, आगे परीज़ाद (खूबसूरत लौंडे) थे। हम भी घूरने जाते थे। अब चंद रोज़ से शायर बन गए। मिर्ज़ा मज़हर जान-जानाँ साहब के रोज़मर्रः की नाम रखते हैं। और सबसे ज़्यादा एक और सुनिए कि सादतयार तहमास्प का बेटा, अनवरीए रेख़्तः आपको जानता है। 'रंगीन' तख़ल्लुस है। एक क़िस्सा कहा है। इस मस्नवी का नाम 'दिल-पज़ीर' रखा है। रंडियों की बोली इसमें बाँधी है। मीर हसन पर ज़हर खाया है। हरचंद इस मरहूम को भी कुछ शऊर न था। बद्रेमुनीर की मस्नवी नहीं कही गोया सांडे का तेल बेचते हैं। भला इसको शेर क्योंकर कहिए? सारे लोग दिल्ली के, लखनऊ के रंडी से लेकर मर्द तक पढ़ते हैं :—

चली वाँ से दामन उठाती हुई
कड़े को कड़े से बजाती हुई॥

सो उस विचारे 'रंगीन' ने भी इसी तौर पर किस्सा कहा है। कोई पूछे कि भाई, तेरा बाप रिसाल्दार मुसल्लम। लेकिन विचारा बर्छा भाले का हिलानेवाला, तेगे का चलानेवाला था। तू ऐसा कविल कहाँ से हुआ? और शोहदपन जो बहुत मिज़ाज में रंडी-बाजी से आ गया है तो रेख़्तः के तईं छोड़कर एक रेख़्ती ईजाद की है। इस वास्ते कि भले आदमियों की बहू बेटियाँ पढ़कर मुस्ताक़ हों और इसके साथ अपना मुँह काला करें। भला यह कलाम क्या है?——

ज़रा घर को 'रंगीं' के तहक़ीक़ कर लो
यहाँ से है कै पैसे डोली कहारी॥

मर्द होकर कहता है।

कहीं ऐसा न हो कमवख्त मैं मारी जाऊँ।

और एक किताब बनाई है। इसमें रंडियों की बोली लिखी है, जिसमें 'ऊपर वालियां', 'चिलें', 'ऊपर वाला चाँद', 'उजली धोबन' वग़ैरह वग़ैरह। उन बुज़ुर्गों को ख्याल करो कि 'मुसहफ़ी' और सेयन 'इन्शा' और 'जुरअत' को अपनी जगह पर यह कुछ कहते थे। फिर हम अपनी बोली, और अपनी तराश और ईजादों को क़बूलियत-द्वाम का सर्टिफ़िकेट देकर किसी तरह नाज़ा हों? जो नई उम्मत हमारे बाद आएगी वह खुदा जाने क्या कुछ मीन-मेख़ निकालेगी। ख़ैर, अपने-अपने वक़्त पर यों ही हुआ है और यों ही होता रहेगा।"

अंतिम शब्द

पहले दौर का अंत होता है। इन मंगलसूचक अग्रणी कवियों को बधाई के साथ विदा करना चाहिए, क्योंकि यह शुभागंतुक अपने उत्तराधिकारियों के लिये स्थान ख़ाली करके उठ रहे हैं। ये भाषा संबंधी आविष्कारों के मूल और संशोधन के अधिकारी थे। देश की भाषा के विलास में जो कुछ किया अच्छा किया। जो काम बाक़ी है, कुशल मर्मज्ञों के लिये छोड़ चले हैं। हर मजलिस किसी जल्से के बाद अस्त-व्यस्त मालूम होती है मगर यह इसे इस तरह सजा कर चले हैं कि जो नवागंतुक कवि इनके बाद आएँगे, वे भाषा की सजावट और शृंगार के अंदाज़ सोच सोचकर पैदा करेंगे।

अब अधिक बातों को मौक़ा नहीं क्योंकि दूसरे दौर को सुशोभित करनेवाले कवि आन पहुँचे।

दूसरा दौर

दूसरा दौर शुरू होता है। यह ज़माना भाषा के स्वाभाविक सौंदर्य की फ़सन के लिये बसंत ऋतु था। यह वह समय था जब कि अनेकानेक विषय रूपी पुष्प रचना-सौंदर्य के उपवन में अपनी प्राकृतिक छटा दिखा रहे थे। पूछिए कि प्राकृतिक सौंदर्य क्या वस्तु है? यह एक दैवी आनंदमय अनुभूति है, जिसमें यदि बनाव-सिंगार नाममात्र भी आ जाय तो उसे कृत्रिमता का दाग़ समझकर सात-सात पानी से धोएँ। इसकी फुलवारी कुदरत की गुलकारी हैं। कला की शिल्पकारी यहाँ आकर क़लम लगाए तो उसके हाथ काट दिए जायँ। इसमें तो संदेह नहीं कि इस कालावधि के विद्वान् और गुणी सब एक ही छत्ते की मक्खी हैं और मालूम होता है कि सभी मुहब्बत के मधु में डूबे हुए हैं। किंतु उनका यह गुण शब्दों में नहीं व्यक्त किया जा सकता, क्योंकि जो कुछ हृदय में आता है, ये उसे ज्यों का त्यों अदा कर देते हैं। ख्याली रंगों के तोता मैना नहीं बनाते। हाँ, उनमें तूती और बुलबुल की तरह शुद्ध स्वर और कुदरती संगीत का संचार अवश्य करते हैं। इन्होंने अपने गीतों में गिटकिरी, अबच, पल्टी, तान किसी गवैये से लेकर नहीं डाली। तुम देखना, स्वाभाविक बोली और सीधी सादी बातों से जो दिल में आएगा, बेसाख्ता (बिना संकोच) कह देगें, ऐसा कि सामने चित्र सा रच देंगे। और जब सुननेवाले सुनेंगे कलेजा पकड़ कर रह जयँगे। इसका कारण क्या? वही बेसाख्तापन, और बिना सजावट बनावट किसी बात को कह देने का गुण, जिसकी सादगी पर हज़ार बाँकपन न्योछावर हो जायँ।

है हुस्न वही जिसमें देसाख्तापन निकले।

इनके संशोधनों ने 'वली' के समय बहुत से शब्द निकाल डाले मगर फिर भी 'भल्ला रे' और 'धीरे धीरे' और 'मरे हैं', बजाय 'मरता है', 'दवाना' बजाय 'दीवाना'। और बजाय माशूक के 'मियाँ' और केवल 'जान' का लफ़ज़ अभी प्रचलित है। जिसके लिए आगे चलकर लोग 'जाने जानाँ' या 'जानाँ' या 'यार' या 'दोस्त' या 'दिलवर' वगैरह भी बोलने लगे। मगर 'मोहन' दूसरे दौर में न रहा, 'सजन' रहा। और 'बल गया' यानी 'जल गया' और 'बल गया' यानी सद्क़: (न्योछावर) गया। और 'मन' बजाय 'दिल' भी है।

सैयद इन्शा एक जगह कुछ शब्दों की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि उस समय शिष्ट वर्ग द्वारा भी पारस्परिक वार्तालाप में इस तरह के शब्द प्रयोग किये जाते थे, जैसे 'परोठा' बजाय 'पराठा', 'धीरी' बजाय 'आहिस्ता', और 'ओर' 'तरफ़' के अर्थ में, और 'भेचक' हैरान के अर्थ में (यह शब्द 'सौदा' ने भी प्रयोग किये हैं),

और तकूँ बजाय 'को' या 'अपने तईं को', और 'जाने हारा' बजाय 'जानेवाला', और 'फ़रमायता है' बजाय 'फ़रमाता है', और 'जायता है' बजाय 'जाता है।'

शाह हातिम

जग की रीति यह है कि बेटा बाप के नाम से और शागिर्द अपने ख्यातिप्राप्त उस्ताद के ज़रिए समाज में परिचय पाता है, मगर इस 'हातिम' को भाग्य का भी हातिम कहना चाहिए, जो इस नाम से इनका पहचान कराया जाय कि वह 'सौदा' के उस्ताद थे। उस पिता को भाग्यशाली समझना चाहिए जिसकी नस्ल से ऐसा बेटा पैदा हो कि वह अपने कुल के लिये गर्व का कारण समझा जाय।

इनका तख़ल्लुस 'हातिम' और नाम शेख़ ज़हूरुद्दीन था। पिता का नाम फ़तहउद्दीन था। स्वयं कहा करते थे कि ज़हूर (हि० ११११) मेरे जन्म की तिथि है। रहनेवाले ख़ास शाहजहाँबाद के थे। यह मालूम नहीं कि इनके पूर्वज कहां से आए थे। इनके विद्योपार्जन के विषय में किसी तज़किरे से पता नहीं चलता है और न उनकी रचनाओं से कोई प्रमाण मिलता है। किंतु यह इतनी योग्यता ज़रूर रखते थे कि इनकी साहित्यिक रचनाएँ शुद्ध और निर्दोष होती थीं और इतनी क्षमता उस जमाने के कुलीन व्यक्तियों के लिये तो साधारण सी बात समझी जाती थी। वस्तुस्थिति यह थी कि आलमगीर के बाद जब उनकी संतान में उत्तराधिकार के लिये संघर्ष हुआ और मुग़ल साम्राज्य का विघटन हुआ, तब जो मंसबदार और ओहदेदार इत्यादि पदधारी शिष्ट वर्ग दिल्ली में रोज होनेवाले झगड़े-फ़साद से बहुत हताश और दुःखी हुए। विशेष कर जब कि उधर मरहठों और इधर सिक्खों ने ज़ोर पकड़ा और साम्राज्य के टिकने की संभावना की ओर से लोग बिल्कुल निराश हो गए तो बहुतों ने तो नौकरी छोड़ कर अशिक्षित होने के कारण विभिन्न रोजगार और पेशों में लग गए। लेकिन कुछ लोग शिक्षित होने के बावजूद दुनिया से उदासीन होकर सब काम धाम छोड़ बैठे।

शाह हातिम पहले सिपहगीरी करते थे। उम्दुतुल्मुल्क अमीर ख़ाँ के मुसाहबत में संमान और संपन्नता पाई। बल्कि यों कहें कि उस समय इनकी ज़िंदगी ऐशो आराम से कटती थी। और चूँकि मुहम्मदशाही ज़माना था, इसलिये समय की चलन के अनुसार जो उस समय के नवयुवकों के व्यसन थे, उन सभी के आदी थे। दिल्ली में क़दम-शरीफ के पास और बादल-अली शाह का तकिया ऐसे फक्कड़ों का ठिकाना था। यह भी वहाँ जाया करते थे। चुनांचे शाह साहब की संगत ने इनके ऊपर ऐसा असर किया कि उन्हीं के शिष्य हो गए। धीरे धीरे इनकी सब बुरी लतें छूट गईं। बल्कि समय के उलट फेर ने इन्हें सांसारिक बंधनों से भी मुक्त करा दिया और दुनियावी बातों से मुँह मोड़कर भगवान् के भरोसे जीवन बिताने लगे। और बस एक रूमाल और एक पतली सी छड़ी, जो कि हिंदोस्तान के स्वच्छंद विचारों वाले फ़क़ीरों का प्रतीक समझा जाता है, यही दोनों पास रह गईं।

मीर बादल अली शाह भी बड़े शिष्ट और गंभीर शख़्स थे। इनकी अवस्था काफ़ी थी, फिर भी बड़े मिलनसार, खुशमिज़ाज और विनोदप्रिय व्यक्ति थे। फ़क़ीरी धारण कर ली थी, लेकिन बाँकों की तरह दुपट्टा सर पर टेढ़ा ही बाँधते थे। यद्यपि आजकल 'बाँक:' यह शब्द सभी कोई बोलता है, मगर इसके यथार्थ तात्पर्य से बहुत कम लोग परिचित हैं। यह दिल्ली में एक ख़ास फ़िरका था। सैयद इन्शा-अल्लाह खाँ एक स्थान पर इनकी तस्वीर इस प्रकार खींचते हैं :—

"बाँके हर शहर में होते हैं, चाहे देहली हो या दकन, या बंगाला या पंजाब का शहर। सभी का एक ही ढंग होता है और एक ही वेश-भूषा होती है। इनमें एक विचित्र प्रकार की कज़ी (टेढ़ापन) होती है और राह में भी यह टेढ़े ही चलते हैं। अपने बारे में बड़प्पन का घमंड करते हैं। इन लोगों के बोलने का ढंग भी निराला होता है—हरेक स्त्रीलिंग शब्द के लिए पुल्लिंग प्रयोग करते हैं। कहने को 'हमारी बकरी' तो कहेंगे 'हमारा बकरा' जैसे शहरों में अफ़ग़ान बोला करते हैं। इन सबके बोलचाल का ढंग एक सा होता है"।

राजघाट के रास्ते में किले के नीचे शाह तस्लीम का तकिया था। वहाँ कुछ बाग़ लगे हुए थे। कुछ पेड़ों की छाया थी। सामने खुला हुआ मैदान था। शाम को नित्यप्रति वहाँ जाकर बैठा करते थे और कुछ भद्र लोगों और अपने शिष्यों के साथ शेरो-सोख़न की चर्चा किया करते थे। चुनांचे पाँच बरस तक इन्होंने इस दैनिक क्रम को निबाहा। गर्मी, जाड़ा, बरसात, आँधी आए, मेंह बरसे वहाँ की बैठक में नाग़ा नहीं होता था। दिल्ली के पुराने बुजुर्गों का यह दस्तूर था कि जो जीवन प्रणाली एक बार अपना लेते थे फिर उसे मरते दम तक निबाहते थे। और इसे 'वज़ादारी' या 'पासे वज़ा' (सदा एक प्रकार से रहने की पाबंदी और जिससे जो व्यवहार हो, उसे आखीर तक वैसे ही निबाहने की जीवन-प्रथा) कहते थे। यह एक ऐसा नैतिक नियम था, जो धार्मिक आदेशों के समान ही महत्व रखता था। ऐसी पाबंदियाँ और नियमबद्धता जीवन के कुछ व्यावहारिक मामलों में एक प्रकार की संकल्पात्मक दृढ़ता का संचार करती हैं, जो किसी भी देश या उसके निवासियों के लिये गर्व की बात हो सकती है। लेकिन जब ऐसी पाबंदी छोटी छोटी बातों में भी बर्ती जाने लगती है तो एक निरर्थक, कष्टप्रद और असुविधाजनक औपचारिकता का कारण बन जाती है जिसके परिणाम स्वरूप उनसे प्रभावित ख़ान्दान के ख़ान्दान, और यदि यह जनसाधारण में व्याप्त हो जाय तो सारा देश अवनतिग्रस्त हो जाता है।

शेख़ गुलाम हमदानी 'मुस्हफ़ी' इनकी शायरी की चर्चा के आरंभ में यह लिखते हैं कि सन् ३ मुहम्मदशाही शासन काल में 'वली' का दीवान दकन से देहली में आया। इस ज़माने की साहित्यिक वातावरण को ध्यान में रखते हुए इस दीवान का एक अत्यंत प्रशंसनीय रचना के रूप में स्वागत किया गया और हर वर्ग के लोगों में इसकी बड़ी चर्चा हूई। शाह हातिम की मौजूँ तबीयत भी जोश में आई। शेर कहना शुरू किया और अपनी लगन और [illegible] से उसे एक ऊँचे स्तर पर पहुँचाया। ये पहले

‘रम्ज़’ अपना तख़ल्लुस करते थे। फिर ‘हातिम’ हो गए। पहले तो इनकी गिनती प्रथम वर्ग के कवियों में की जाती थी। इनकी भाषा प्रांजल और रचनाएँ अकृत्रिम होती थीं। कालोपरांत इनकी ख्याति कम हो गई और यह दूसरे वर्ग के कवियों में गिने ज़ाने लगे। इनका काव्य संग्रह बहुत बड़ा है। इसमें प्रायः पुरानी ज़बान की ग़ज़लें, क़सीदे, रुबाइयाँ और मस्नवी वग़ैरह शामिल हैं। लखनऊ और दिल्ली के प्राचीन पुस्तकालयों में इनके वाक्य संग्रह मिलते हैं। इनकी रचनाएँ शाह आबरू और नाजी की शैली में हैं। लेकिन अपने अंतिम समय में उपरोक्त काव्य-संग्रह से छाँट करके इन्होंने स्वयं एक छोटा दीवान संकलित किया। उसका नाम दीवानज़ादा रखा क्योंकि यह इनके पहले दीवान से पैदा हुआ था। यह साहब-ज़ादा भी पाँच हज़ार से ज्यादा का माल बगल में दबाए बैठा है। अस्तु, इस काव्य संकलन के आधार पर यह द्वितीय वर्ग के तो नहीं लेकिन तृतीय वर्ग के पहले दर्जे के कवियों की श्रेणी में गिने जाने अथवा उस श्रेणी के महान् कवियों में मान्यता दिये जाने के अधिकारी हो जाते हैं। उन्होंने इस ‘दीवानज़ादे’ की फ़ारसी में एक बड़ी उपयोगी भूमिका लिखी है। इसका भावार्थ यह है :—

“ख़ुशः चीने ख़िरमने सुख़नवराने आलम बसूरते मुहताज व बमानी हातिम कि अज़ सन् ११२९ हिजरी ता: सन् ११६९ कि चेहल साल बाशद। उमर दरीं फन सर्फ़ करदः दर शेर फ़ारसी पैरवे मिर्ज़ा साहब व दर रेख़्तः वली रा उस्ताद मी दानद। अउवल कसे कि दरीं फ़न दीवान तरतीब नमूदः ऊ बूद। फ़क़ीर दीवाने क़दीम पेश अज़ नादिरशाही दर बलादे हिंद मशहूर बारद। बाद तरतीब आँ ता इमरोज़ कि सन् ३ अज़ीज़ुद्दीन आलमगीर सानी बाशद। हर रत्बो या बस कि अज़ ज़बाने ईं बेज़बान बर आमदः। दाख़िले दीवाने क़दीम नूमूदः बुल्लियात मुरत्तब साख़तः। अज़ हर रदीफ़ दो सेह ग़ज़ले व अज़ हर ग़ज़ल दो सेह बैते–व राए मुनाक़िब व मरसिया व चंद मुखम्मस व मसनवी अज़ दीवाने क़दीम जीज़ा दाख़िल नुमूदा व दीवान ज़ादा मुख़ातिब साख़तः व सुर्ख़िये ग़ज़लियात बसेह क़िस्म मुन्क़सिम साख़तः यके तरहो-दीम फ़रामाईशी-सोम जवाबी ता तफ़रीक़ आँ मालूम गरदद व मुआसिराने फ़क़ीर शाह मुबारक आबरू व शर्फ़ुद्दीन मज़मून, व मिर्ज़ा जान जानाँ मज़हर व शेख़ अहसनुल्लाह अहसन व मीर शाकिर नाज़ी व ग़ुलाम मुस्तफ़ा चकरंग अस्त। व लफ़्ज़ दर व बर, व अज़ व अल्फ़ाज़ो अफ़आले दीगर कि दर दीवाने क़दीम खुद तक़ैयुद दारद। दर न्योला अज़ दह दीवाज़दह साल अक्सर अल्फ़ाज़ रा अज़ नज़र अंदाखतः व अल्फ़ाज़े अरबी व फ़ारसी कि कुरीबुलफ़हम व कसीरुल-इस्तेमाल बाशंद। व रोज़ मर्रहये देहली कि मिर्ज़ा ईयाने हिंद व फ़सीहान रिंद। दर मुहावरा आरंद मंज़ूर दारद”।

ज़बाने हिंदी भाषा रा मौक़फ़ करदः महज़ रोजमर्रह रा कि आम फ़हम व ख़ास पसंद बाशद इख़्तयार नमूद व शमए अज़ाँ अल्फ़ाज़ कि तक़ैयुद दारद। ब-बयान मी आरद चुनानचे अरबी व फ़ारसी मसलन तसबीह रा तसबी, व सहीह रा सही व

बेगान: रा बिगान: व दीवान: रा दिवान: व मानिंद आँ या मुतहर्रिक रा साकिन व साकिन रा मुतहर्रिक, मरज़ा रा मर्ज़ व नीज़ अल्फ़ाज़े हिंदी मिस्ल नैन, व जग व नित वग़ैरह व लफ़्ज़ मिरा व मेरा व अज़ीं क़बील कि बरआँ क़बाहत लाज़िम आयद या बजाए सीं सती उधर रा ऊधर, किधर रा कीधर कि ज़्यादतीए हर्फ़ बाशद। या बजाए पर, पे या यहाँ रा याँ व वहाँ रा वाँ कि वाव मख़रज़े तना बूद या क़ाफ़िया रा बा ड़ाये हिंदी मिस्ल घोड़ा व बोरा व धड़ व सर व मानिंद आँ मगर हाये हउवज़ रा बदल करदन बा अलिफ़ कि अज़ आम ता ख़ास दर मुहावरा दारंद। बंद: दरीं अमर बमोताबेअत जमहूर बजबूर अस्त। चुनाँचे बंद: रा बंदा पर्द: रा पर्दा व आँचे अज़ीं क़बील बाशद व ईं कायद: रा ता कँ शरह देहद मुख़्तसर कि लफ़्ज़े ग़ैर फ़सीह इंशाअल्लाह नख़्वाहद बूद।"[1]

---

[1] १--दुनिया के बड़े बड़े सुख़नवरों के खलिहान से सिला चुननेवाले इनकी शकल तो मुहताजों जैसी थी, लेकिन दर असल बड़े सख़ी थे। हिज्री सन् ११२६ से सन् ११६६ तक इन चालीस साल के ज़माने की अपनी ज़िंदगी को शायरी के फ़न में बिताया। फ़ारसी की शायरी ने मिर्ज़ा साहिब की पैरवी करते थे और रेख़्ता' में 'वली' को अपना उस्ताद मानते थे। सबसे पहले जिस शख़्स ने शायरी के एक दीवान को तरतीब दिया, वह यही फ़क़ीर था। एक पुराना दीवान नादिर-शाही काल के पहले का, उसे भी इस मुल्क में ख्याति मिली थी। उसकी पहली तरतीब के बाद जो कोई भी अर्थपूर्ण या अर्थहीन कलाम इस बेज़बान की ज़बान से निकला पुराने दीवान में शामिल कर दिया गया था। अब उस दीवान से चुन कर हर रदीफ़ की दो ग़ज़ल के दो तीन शेर, इनके अलावा मनाक़िब और मर्सिया, मुख़ंमस और कुछ मस्नवी एक दीवानज़ादा तैयार किया है। ग़ज़लों की सुर्ख़ियों (शीर्षकों) को तीन तरह से बाँटा है। पहले 'तरही ग़ज़लें' फिर 'फ़र्माइशी ग़ज़ले' और फिर 'जवाबी ग़ज़लें' ताकि इन सब का अलग अलग फ़रक मालूम हो। इस फ़क़ीर के अन्य समकालीन शायर शाहमुबारक 'आरज़ू', शर्फ़ुद्दीन मज़मून, मिर्ज़ा जान जानाँ मज़हर, शेख़ अहससनुल्ला 'अहसन' मीर शाकिर नाजी और गुलाम मुस्तफ़ा 'येकरंग' इत्यादि हैं। इस छोटे दीवान से दर, बर, अज़ा और दूसरे क्रिया सूचक शब्द जो उस पुराने दीवान में प्रयोग किए गए थे और जिनमें सक इहधीश शटद इअ पगयावब नीरे हीए लाजक नज़र-अंदाज़ किए गए हैं और अरबी और फ़ारसी के ऐसे शब्द जो आसानी से समझे जा सकते हैं और आम तौर से जिनका लोग इस्तेमाल भी करने लगे हैं, और दिल्ली के ऐसे प्रचलित और बोलचाल शब्द जो मुहावरे में आ गए है, उन्हें, इस दीवान में प्रयोग किया गया है।"

आगे फिर लिखते हैं: हिंदी भाखा को न अपना कर, केवल रोज़मर्रा के प्रयोग किए जानेवाले शब्द, जो आमफ़हम और ख़ास पसंद हैं अख़्तियार किया है, उन शब्दों के इम्ला (अक्षर-विन्यास, वर्तनी) को भी इसी तरह बयान

इनकी रचना के विषय स्पष्ट रूप से सूफ़ियों जैसे आशिक़ाना होते थे। इनके शेरों में आपस की बातचीत का ढंग पाया जाता है और इसकी भाषा सुधरी और मँजी हुई होती थी। इनमें 'अब' और 'यहाँ' इत्यादि शब्दों का प्रायः अधिक प्रयोग किया गया है। इसी दीवान की भूमिका में इन्होंने अपने शिष्य समुदाय के ५४ व्यक्तियों के नाम दिए हैं। उन्हीं में मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' का नाम भी है। मिर्जा हिदायत की ज़बानी रिवायत (किंवदंती) सुनी कि शाह हातिम जब 'सौदा' की ग़ज़ल को इस्लाह (संशोधन) करते थे तो अक्सर यह शेर पढ़ा करते थे :—

अज़ अदम 'साएब' ख़मोशम वर्ना दर हर वादिये
रुतबये शागिर्दीये मन नीस्त उस्तादे मरा ।।

(मैं सायब के प्रति अदब के कारण चुप हूँ। वर्ना शायरी के किसी भी क्षेत्र में मेरे उस्ताद को मेरी शागिर्दी का मौज़ूँ नहीं है)

और लोगों से कहते थे कि यह शेर 'साएब' ने मेरी उस्तादी और मिर्ज़ा रफी की शागिर्दी के बारे में कहा है। लखनऊ से मिर्ज़ा रफ़ी के क़सीदे और ग़ज़लें आतीं तो आप अपने मित्रों को पढ़ पढ़ कर सुनाते और खुश होते थे।

सादत यार खां 'रंगीन' जो इनके एक दीक्षित शिष्यों में थे, अपनी मजलिस **रंगीन** में लिखते हैं कि तीसरे पहर को मैं भी अकसर शाह साहिब के पास शाह तस्लीम के तकिए में जाया करता था। एक दिन मियाँ मुहम्मद अमान, 'निसार' लाला मुकुंद राय 'फ़ारिग़', मिरदहे अकबर अली 'अकबर' इत्यादि कुछ शिष्य उनकी सेवा में मौजूद थे। उस समय मेरे नौसिखियापन का ज़माना था। नियमानुसार मैं वहाँ हाज़िर हुआ। शाह साहब ने फ़रमाया कि आज रात को मत्लः (ग़ज़ल का पहला शेर जो समस्या-पूर्ति के लिये पेश किया जाता है) कहा है—

सर को पटका है कभू सीना कभू कूटा है।
रात हम हिज्र की दौलत से मज़ा लूटा है।।

मियाँ 'रंगीन' लिखते हैं "शुरू से ही मेरे मिज़ाज में चालाकी बहुत थी और शऊर कम था। अपनी नादानी के कारण गुस्ताख़ी से बोल उठा कि अगर मिस्रे सानी (शेर का दूसरा चरण) इस तरह कहा जाय तो अच्छा हो—

सर को पटका है कभू सीना कभू कूटा है।
हमने शबे-हिज्र की दौलत से मज़ा लूटा है।।

में लाता हूँ। जैसे अरबी और फ़ारसी शब्दों का प्रयोग मस्लन 'तस्बीह' को 'तस्बी', 'सहीह' को 'सही' 'बेगाना' को 'बिगाना' 'दीवाना' को 'दिवाना', और ऐसे साधारण प्रयोग में आनेवाले हिंदी शब्द जैसे नैन, जग, नित वग़ैरह—अब इस क़ायदे को कब तक पेश करता रहूँ। मतलब यह कि इस दीवान का कोई शब्द इंशाअल्लाह और फ़सीह (क्लिष्ट, दुर्बोध) न होगा।

Channel eGangotri Group

शाह साहब बहुत प्रसन्न हुए। मेरा हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचा और कहा, 'शाबाश, शाबाश। होनहार बिरवान के होत चिकने पात। इंशाअल्लाह तुम्हारी तबीयत बहुत तरक़्क़ी करेगी। मश्क़ (अभ्यास) न छोड़ना"। इनके मित्रों में से एक साहब बोले कि "साहबजादे, उस्ताद के सामने इस क़िस्म की गुस्ताख़ी ज़ेबा नहीं देती"। हज़रत ने फ़रमाया कि "मुज़ायका क्या है? वल्लाह अपने दीवान में इसी तरह लिखूंगा'। इसके बाद यह नज़्म पढ़ी--

मन व आँ सादः दिल कि ऐबे मरा
हमचो आईना रु-बरु गोयद।
न चूँ शनः बसद ज़ुबां व दो रु
पसे सर रफ़्तः मू बमू गोयन।।[1]

इसमें संदेह नहीं कि शाह हातिम का दूसरों के प्रति इस प्रकार का सद्भाव और उदारता अनुकरणीय है, क्योंकि कवियों में अपने लिए आत्मश्लाघा और दूसरे के प्रति ईर्ष्या एक ऐसा स्वभाव हो गया है कि यदि इसे उनका एक स्वाभाविक दोष कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। बल्कि शागिर्दों को उस्तादों से होड़ करते देखा तो अकसर इसी फ़न में देखा। किंतु यह गुन तो या इस उदारमना व्यक्ति में पाया या मिर्ज़ा मुहम्मद अली 'माहिर' में, जो मिर्ज़ा मुहम्मद अफ़ज़ल 'सरखुशर' के उस्ताद थे।

मिर्ज़ा मुहम्मद अली 'माहिर' आलमगीर के शासन काल में अपने समय के एक अभ्यस्त और प्रामाणिक कवि गिने जाते थे। और मिर्ज़ा 'सरखुश' इनके पुराने शागिर्द थे। मगर अपना मौज़ूं तबीयत और अनवरत अभ्यास के कारण यह भी एक उच्च कोटि के कवि हो गए। मिर्ज़ा 'माहिर' अकसर अनुरोध करके इनसे शेर कहवा लिया करते थे। 'सरखुश' लिखते हैं "मैंने एक मस्नवी "**बहारियः तुहफ़्तुल अराक़ीन**" के ढंग में लिखी थी। चुनांचे मतला मैं ने कह कर दिया कि--

ऐ बर सरे नामये गुल ज़नामत।
बाराने बहार शेख़ जामत।।

और मेरे साक़ी नामा के लिये उन्होंने मत्ला कह दिया--

बूद नामये नशा बख़्श अदा।
कि बर सर कशद ज़ाम हम्दे खुदा।।

---

[1] मेरा और उनका दोनों का दिल साफ़ है। वह मेरे ऐब को इस तरह बता देते हैं, जैसे सामने रखा हुआ आइना? कंघी की तरह नहीं कि जिसे सौ ज़बान और दो मुँह होते हैं और सर के पीछे जाकर एक बाल की बात दूसरे बाल से कह देती है।

फिर लिखते हैं कि एक रात क़ुतुबुद्दीन 'मायल' के यहाँ शायरों का अल्ला था। चांदनी रात थी। सब महताबी पर बैठे थे। मुझसे शेर की फ़रमाइश की. मैंने उसी दिन मतल: कहा था वह पढ़ा :—

कै त्वानम दीद ज़ाहिद जामे सहवा वशिकन्द।
मै पर दर निगम हवाबे गर वदरिया वशिकन्द॥

सब ने प्रशंसा की और आधी रात तक इसके मिस्रे लोगों की ज़बान पर थे। हकीम मुहम्मद काज़िम साहब, जो अपना तख़ल्लुस 'मसीहुल्बयान' भी कहते थे, बार-बार यह शेर पढ़ते थे और कहते थे कि यह एक दैवी चमत्कार है कि एक आदमी हिंदोस्तान में पैदा हो और फ़ारस की ज़बान में ऐसे शेर कहे। दूसरे दिन दानिशमंद खां के मकान पर जलसा हुआ। वहाँ मैं न था मगर मिर्ज़ा 'माहिर' उपस्थित थे। सब ने फिर इस मत्ले की चर्चा की और कहा कि आपके शागिर्द की यह कितनी सुंदर कल्पना थी। इसके शेर की मस्ती में कैसे लुत्फ़ से कल रात कटी। आपने इसे इतनी अच्छी तालीम दी इसके लिये आपको बधाई है।

उन्होंने कहा कि वह मेरे शागिर्द नहीं। मेरा उनका पारस्परिक मैत्री का नाता है। वे मुझे शेर दिखाते हैं। मैं उन्हें शेर दिखाता हूँ। हकीम ने कहा कि मैंने 'सरख़ुश' से अनेकों बार इस विषय में चर्चा की और वह बराबर कहते हैं कि वह आपके शागिर्द हैं। 'माहिर' ने कहा कि 'वह बुज़ुर्ग का बेटा है। जो चाहा कह दिया। मुझमें उसकी उस्तादी की लियाक़त कहाँ ?" दूसरे दिन 'सरख़ुश' उनकी सेवा में हाज़िर हुए तो उन्होंने कहा कि 'तुमने अपने को मेरा शागिर्द नाहक़ क्यों कहा ? मुझे तो सचमुच इस बात का फ़ख़्र है कि तुम जैसा शख़्स मेरा शागिर्द हो। लेकिन बहुत से ऐसे दिमाग़ वाले लोग भी हैं, जो मुझे या मेरी शायरी को हेच समझते हैं। तो फिर ऐसे लोग की नज़र में मेरे शागिर्द की क्या क़द्र होगी ? शायर तो ख़ुदा ताला के शागिर्द होते हैं। इनको किसी दूसरे की शागिर्दी की अपेक्षा नहीं।"

शाह हातिम का एक दीवान फ़ारसी में भी है लेकिन यह बहुत छोटा है। मैंने इसकी जिस प्रति को देखा वह ११७९ हि० का स्वयं इनके क़लम का लिखा हुआ था। इसमें केवल ९० पृष्ठ ग़ज़ल और ६ पृष्ठ रुबाइयाँ और फ़र्द इत्यादि थे।

इनका जन्म सन् ११११ हि० में हुआ और इनकी मृत्यु ९६ बरस की उम्र में सन् १२०७ (हि०) के रमज़ान के महीने में दिल्ली में हुई और वहीं दिल्ली में दिल्ली दरवाज़ा के बाहर दफ़्न हुए। मगर 'मसहफ़ी' ने तज़किरा-ए-फ़ारसी नामक पुस्तक में लिखा है कि सन् ११९६ हि० में ८३ वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हुई।

शाह हातिम की रचनाओं के कुछ नमूने :—

यार का मुझ को इस सबब डर है,
शोख़ ज़ालिम है और सितमगर है ।।
देख सर्दे चमन तेरे क़द को,
खाजिल है, पाबेगुल है, बेवर है ।।
हक़ में आशिक़ के तुझ लबां का बचन,
कंद है नेशकर है, शक्कर है ।।
क्यों के सबसे तुझे छुपा न रखूँ,
जान है दिल है दिल का अंतर है ।।
मारने की रक़ीब के 'हातिम',
शेर है, बबर है, धनत्तर है ।।

+ \+ \+

वहाँ तालओं से मिलता है प्यारा,
अबस देखे है ज़ाहिद इस्तिख़ारा ।।
मैं पाया हूँ बले तुझ चश्म का भेद,
न मांगूंगा कभी इनका इशारा ।।
निहाले दोस्ती को काट डाला,
दिखा कर शेख़ ने अबरू का आरा ।।
लिया उस गुलबदन का हमने बोसा,
तो क्या चूमा रकीबों ने हमारा ।।
कई आलिम किए हैं क़त्ल उन ने,
करे क्या एकला हातिम बेचारा ।।

+ \+ \+

छिपा नहीं जा-बजा हाज़िर है प्यारा,
कहाँ वह चश्म ? जो मारे नज़ारा ।।
जुदा नहीं सब सती तहक़ीक़ कर देख,
मिला है सब से और सबसे है न्यारा ।।
मुसाफ़िर उठ तुझे चलना है मंज़िल,
बजे है कूच का हर दम नक़ारा ।।
मिसाले वह मौजें मारता है,
किया है जिसने इस जग सूँ किनारा ।।

Channel eGangotri India

सयाने ख़ल्क से यूँ भागते हैं,
कि जूँ आतिश सती भागे है पारा ।।
समझ कर देख सब जग सीख माही,
कहाँ हैगा सिकंदर कहाँ दारा ।।
कहीं है अह्ल अरफ़ां अरफां उसको जीता,
जो मरकर इश्क़ में दुनियाँ सूँ हारा ।।
सफ़ा कर दिल के आईने को 'हातिम',
देखा चाहे सजन गर आशिकारा ।।

+ + +

जब सुना मोती ने तुझ दन्दाँ के मोती का बहा,
आब में शर्मिदगी सूँ डूब जूँ पानी बहा ।।
मर्दुमाँ को देख कर बिस्मिल तेरे कूचे के बीच,
डर गया और चश्म से आँसू के चाहे खूँ बहा ।।
लब तुम्हारे सुर्ख़ हमने ताड़ कर पूछा था मोल,
जौहरी कहने लगे यह लाल होगा बे-बहा ।।
'हातिम' इस बेबेह् ने मछी न दी इस गुम सती,
जा किनारे बैठकर इस ग़म सती दरिया बहा ।।

+ + +

आबे हयात जाके कसू ने पिया तो,
मानिंद खिज्र जग में अकेला जिया तो क्या ।।
शीरीं लबाँ सूं संगदिलों को असर नहीं,
फ़रहाद काम क़ोहकनी का किया तो क्या ।।
जलना लगन में शम्मअ सिफ़त सख्त काम है,
परवाना जूँ शिताब अबस जी दिया तो क्या ।।
नासूर की सिफ़्त है न होगा कभी वो बंद,
जर्राह ज़ख्म इश्क़ का आकर सिया तो क्या ।।
मुहताजगी सू मुझको नहीं एक दम फ़िराग़,
हक़ ने जहाँ में नाम को 'हातिम' किया तो क्या ।।

+ + +

ख़ाल उसके ने दिल लिया मेरा,
तिल में इनने लहू पिया मेरा ।।

जान बेदर्द को मिला क्यों था,
आगे आया मेरे किया मेरा ।।
उसके कूचे में मुझको फिरता देख,
रश्क खाती है आसिया मेरा ।।
नहीं शमअ-ओ चिराग़ की हाजत,
दिल है मुझ वज़्म का दिया मेरा ।।
ज़िदगी दर्दसर हुई 'हातिम',
कब मिलेगा मुझे पिया मेरा ।।

+ + +

कामिलों का यह सुख़न मुद्दत से मुझको याद है,
जग मूँ बे-महबूब जीना ज़िन्दगी बरबाद है ।।
बन्दगी सू सरोक़द की एक क़दम बाहर नहीं,
सरो गुलशन बीच कहते हैं मगर आज़ाद है ।।
बेमदद ज़ुल्फ़ों की इसके हुस्न ने क़ैदी किया,
सैद दिल बेदाम करना सनअते उस्ताद है ।।
खल्क़ कहती है बड़ा था आशिक़ी में कोहकुन,
तुझ लबे शीरीं की हसरत में हरेक फ़रहाद है ।।
दिल नेहाँ फिरता है 'हातिम' नजफ़ के बीच,
गो वतन ज़ाहिर में इसका शाह-जहाँआबाद है ।।

+ + +

ऐ ख़िरदमंदों मुबारक हो तुम्हें फ़रज़ानगी,
हम हों और सहरा हो और वहशत हो और दीवानगी ।।
बे-मरव्वत, बे-वफ़ा, बेदीदए ना-आशना,
आशनाओं से न कर बेरहमीओ बेगानगी ।।
मुल्के दिल आबाद क्यों करता है 'हातिम' का ख़राब,
ऐ मेरे बस्ती, खुश आती है तुझे वीरानगी ।।

+ + +

सिराजुद्दीन अली 'ख़ाने आरज़ू'

'ख़ाने आरज़ू' को उर्दू भाषा में वही मान्यता प्राप्त है जो कि अरस्तू को दर्शन और तर्कशस्त्र में। जब तक कि सारे दार्शनिक अरस्तू की संतान कहलाते रहेंगे, तब तक उर्दू के विद्वान् 'ख़ान आरज़ू' की संतान कहलाते रहेंगे। इनका जीवन वृत्तांत इतना रोचक है कि उसका इस पुस्तक में समावेश करना अपेक्षित होता। किंतु

अपनी फ़ारसी रचनाओं में इतने व्यस्त रहे कि वे कोई दीवान उर्दू में न लिख सके। इसलिये इस अध्याय में इनके विषय में इतना ही लिख देना पर्याप्त होगा कि यह 'ख़ाने आरज़ू' वही महानुभाव हैं, जिन्होंने ऐसे सुसंस्कृत कवियों को शिक्षा-दीक्षा दी, जिन्हें उर्दू भाषा को समृद्ध और परिष्कृत बनाने का वास्तविक श्रेय मिला और जिन्होंने उर्दू-काव्य-रचना जिसका आधार केवल जुगत और युगमार्थी शब्दों की शैली थी, उससे हटाकर फ़ारसी की शैली और अभिव्यंजना-पद्धति और भावार्थों पर ले आए। ये कवि थे मिर्ज़ा 'जाने जानां' 'मज़हर', मिर्ज़ा रफ़ी, मीर तक़ी 'मीर', ख़्वाजा मीर 'दर्द' इत्यादि।

'ख़ाने आरज़ू' उर्दू के कवि न थे और न उस साहित्यकाल में उर्दू कविता का कोई महत्व समझते थे। हाँ, उन्होंने कुछ छिटफुट शेर कहे थे। वह भी समय के उलट फेर से इस तरह घिस पिस गए कि आज कल के लोगों को उनकी कोई ख़बर नहीं। मेरे काव्य-रसिक-चित्त ने उस्तादों की रचनाओं से चुन कर अपनी स्मृति में जिन छिटफुट कविताओं को एक धरोहर के रूप में रख छोड़ा है, वही यहाँ प्रस्तुत करता हूँ। हमें विश्वास है कि इस तरह इस धरोहर का उचित उपयोग कर सकूंगा।

'ख़ाने आरज़ू' सन् ११६९ हि० में परलोकवासी हुए। इनके पूर्वजों का असली निवास स्थान अकबराबाद था। मगर यह दिल्ली से ख़ास दिल्लगी रखते थे। इनकी मृत्यु लखनऊ में हुई लेकिन हड्डियों की ख़ाक दिल्ली में आकर दफ़न हुई।

आता है हर सहर उठ तेरी बराबरी को,
क्या दिन लगे हैं देखो ख़ुरशीद ख़ावरी को॥
उस तुंद ख़ूँ सनम से जब से लगा हूँ मिलने,
हर कोई मानता है मेरी दिलावरी को॥

× × ×

रखे सीपारये दिल खोल के अन्दलीबों के,
चमन में आज गोया फूल हैं तेरे शहीदों के॥

+ + +

खोल कर बन्दे क़बा को मुल्के दिल ग़ारत किया,
क्या हिसारे क़ल्ब दिल्बर ने खुले बंदों लिया॥

+ + +

उस ज़ुल्फ़े सियहफ़ाम की क्या धूम पड़ी है,
आईनः के गुलशन में गता झूम पड़ी है॥

+ + +

दरियाए अश्क अपना जब सर ब-औज मारे,
तूफ़ाने नूह बैठा गोशे में मौज मारे॥

+ + +

मेरे शेख़े ख़राबाती की कैफ़ियत न कुछ पूछो,
बहारे हुस्न को दी आब उसने जब चरस खींचा ॥

+ + +

मुर्ग़ा मुझ मस्त बिन फिर खन्दए क़िलक़िल न होवेगा,
मए गुलगूं का शीशा हिचकियों ले ले के रोएगा ॥

+ + +

एक संमानित कुल के सदस्य और कलात्मक प्रवृत्ति के होने के कारण ख़ान साहब को अमीर और ग़रीब सभी पूज्य और प्रतिष्ठित समझते थे और इनकी विद्वत्ता और प्रतिष्ठा की मान्यता की स्वीकृति में दरबार शाही से भी इन्होंने 'क़ाज़िउल क़ज़ात' का ओहदा प्राप्त किया था। मगर अपने ख़ुश मिज़ाजी और विनोद-प्रियता के कारण इनमें अहमन्यता या अभिमान लेशमात्र भी नहीं थी।

कुछ लतीफ़े:—(१) इनके शिष्यों में एक नवयुवक बचपन से आया जाता करता था। वह देखने में काफ़ी सुंदर था। वह किसी कारणवश कुछ दिनों तक ख़ान साहब के पास नहीं आ सका। एक दिन यह कहीं रास्ते में बैठे थे कि वह उधर से गुज़रा। इन्होंने बुलाया लेकिन शायद वह किसी ज़रूरी काम से जा रहा था, इसलिये उसने ठहरने में विवशता दिखाई और जाने लगा। इन्होंने उसे फिर रोका और यह शेर पढ़ा, जो कि ऐसा मालूम होता हुआ जैसे इनके स्वाभाविक चुलबुलापन से शबनम की तरह उसी समय टपका हो :—

ये नाज़ ये ग़ोरुर लड़कपन में तो न था,
क्या तुम जवान हो के बड़े आदमी हुए ?

(२) एक दिन कहीं मुशायरा था। एक ओर कुछ समझदार और काव्यरसिक लोग शेरो-सुख़न की चर्चा से मन बहला रहे थे। किसी व्यक्ति ने ख़ान साहब की बड़ी प्रशंसा की, जो अतिशयोक्ति से पूर्ण थी। हकीम इस्लाहुद्दीन ख़ां साहब जी वहाँ उपस्थित थे मुस्कराए और कहा कि :—

आरज़ू ख़ूब अस्त अम्माँ ईं क़द्रहा ख़ूब नीस्त[1]।

सब हंस पड़े और खुद ख़ान साहब देर तक इस लतीफ़ मिस्रे की दाद देते रहे।

पैदा कहाँ हैं ऐसे परागंदः तब्अः लोग,
अफ़सोस तुम को 'मीर' से सुहबत नहीं रही ॥

+ + +

---

[1] आरज़ू अच्छी है मगर इतनी ज़्यादा अच्छी नहीं।

अशरफ़ अली ख़ाँ 'फ़ुग़ां'

'फ़ुग़ां' तख़ल्लुस। अशरफ़अली ख़ां नाम। अहमदशाह बादशाह कोकः थे। विनोद, परिहास और चुटकुले सुनाने में इतने अभ्यस्त थे कि मानो इनकी ज़बान से फूलझड़ी की तरह फ़ूल भड़ते हों। इसलिए इन्हें 'ज़रीफुलमुल्क कोकः ख़ाँ' की उपाधि दी गई थी। यद्यपि पेशेवर कवि नहीं थे, मगर शेर-शायरी के स्वाद का मज़ा ऐसी बुरी लत है कि इसके चटकारपन के सामने और सारे स्वाद स्वादहीन हो जाते हैं। 'फ़ुग़ां' ऐसे ही काव्यप्रिय लोगों में थे। जीवन के आरंभ से ही शेर कहने की लालसा हुई। और इनकी तबीयत भी इसके लिए इतनी मुवाफ़िक़ थी कि उसी समय से इन्हें ख्याति मिलने लगी। 'मुसहफ़ी' ने अपनी ऐतिहासिक रचना में इन्हें क़ज़लबाश ख़ाँ का शिष्य लिखा है। मगर उनकी उर्दू तो अभी सुन चुके। शायद फ़ारसी में अपनी कविताओं का उनसे संशोधन कराते हों। गुलज़ार इब्राहीमी में लिखा है कि ये 'नदीम' के शिष्य थे और इसकी पुष्टि स्वयं ये भी कहीं कहीं करते हैं :

हरचंद अब 'नदीम' का शागिर्द है 'फ़ुग़ां',
दो दिन के बाद देखियो उस्ताद हो गया॥

+ + +

दश्ते जुनूं में क्यों न फिरूँ मैं बरहना पा,
अबतो 'फ़ुग़ां' 'नदीम' मेरा रहनुमा हुआ।

जब अहमदशाह दुर्रानी की सेना ने हिंदोस्तान को विध्वस्त किया और फ़ुग़ां ने दिल्ली में दरबार का तौर बेतौर देखा तो मुर्शिदाबाद जहाँ उनके चाचा ईराज ख़ां का सितारा ओज पर था, उनसे मिलने गए। और वहाँ से अवध के इलाक़े में पहुँचे। इस समय दिल्ली का कोई आदमी कहीं जाता था तो लोग ऐसा समझते थे, जैसे कोई पीरज़ादा आ गया। बल्कि उसके उठने बैठने या रहन सहन के ढंग को शिष्टता और शालीनता का मापदंड समझते थे। उस समय शाह अवध भी नवाब वज़ीर ही कहलाते थे। नवाब शुजाउद्दौला ने, जो उस समय अवध के हाकिम थे, इन्हें बहुत समादृत किया और हर तरह से संमानित और पुरस्कृत करके अपने पास रखा। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि यह बहुत नाज़ुकमिज़ाज थे और वह ऐसा समय भी था, जब ऐसे मिज़ाजों की नाज़बरदारी की जाती थी। चुनांचे एक दिन दोस्ती-दोस्ती में इनका कपड़ा नवाब साहब के हाथ से जल गया। यह रंज होकर अज़ीमाबाद (पटना) चले गए। वहाँ जाकर इन्होंने वहाँ से अधिक संमान पाया और राजा शिताब राय की हुकूमत में अधिकार और प्रतिष्ठा दोनों पाई। राजा साहब भी इनकी कुलीनता के अलावा इनके वैयक्तिक गुणों, मृदुभाषिता और गोष्ठी के शिष्टाचार को अच्छी जानकारी के कारण इन्हें बहुत स्नेह से अपने साथ रखते थे। इसलिये ये वहाँ रह गए और जीवन के शेष दिन सुख संपन्नता में बिताए और वहीं इनका परलोकवास हुआ।

इनकी योग्यता का इससे अच्छा प्रमाण क्या हो सकता है कि मिर्ज़ा रफ़ी जैसे उच्च श्रेणी के कवि अकसर इनकी कविताओं को मज़े ले ले के पढ़ा करते थे, और इनकी प्रशंसा किया करते थे। सच तो यह है कि मिर्ज़ा की शैली भी 'फ़ुग़ां' की जैसी ही थी, क्योंकि इनकी रचनाओ में भी हिंदी मुहावरों ने फ़ारसीयत के पुट के साथ नई रोचकता और परिपक्वता पाई। ये प्रत्येक कल्पना को बड़ी कोमलता और चोचले के साथ अदा करते थे। इनके जिस दीवान को देखने का मुझे संयोग हुआ वह मेरे उस्ताद शेख़ इब्राहीम 'ज़ौक़' के लड़कपन का लिखा हुआ था। यद्यपि फ़ुग़ां ने समकालीन भाषा का ही प्रयोग किया है मगर काव्यकौशल के नाते इनकी भाषा अत्यंत सिद्धांत-सिद्ध और प्रत्युत्पन्न है। इनका शब्द विन्यसन इनके यथोचित अभ्यास का साक्षी है। आकार में इनको यह कृति दीवान-दर्द से कुछ बड़ी है। मगर इसमें केवल ग़ज़लों का ही समावेश है। इससे यह मालूम होता है कि इनकी रुचि एशियाई कविता-पद्धति के लिये अत्यंत अनुकूल थी। इनके जीवनवृत्त से यह पता चलता है कि इनके स्वभाव से तेज़ी और तर्रारी को उतना ही लगाव था, जितना बारूद से आग को। चुटकुले कहने और प्रत्युत्तर की टेव इनकी ज़बान पर वैसी ही चढ़ी थी, जैसे तलवार में आन।

एक दिन राजा साहब के दरबार में इन्होंने ग़ज़ल पढ़ी, जिसका क़ाफ़िया था 'लालियाँ' और 'जालियाँ'। सभी काव्य-रसिकों ने इस ग़ज़ल की बड़ी प्रशंसा की। राजा साहब के साथियों में जुगनूँ मियाँ एक मसखरे थे। उनकी ज़बान से निकला 'नवाब साहब, सब क़ाफ़िये आपने बाँधे मगर 'तालियाँ' रह गईं'। इन्होंने बात को टाल दिया और कुछ उत्तर न दिया। राजा साहब ने स्वयं कहा, 'नवाब साहब, सुनते हो, जुगनू मियाँ क्या कहते हैं?' इन्होंने कहा कि महाराज, इस क़ाफ़िये को हेच समझकर छोड़ दिया था। किंतु हुज़ूर फ़रमाते तो अब भी कुछ कह सकता हूँ'। महाराज ने कहा 'हाँ कुछ कहना तो चाहिए।' इन्होंने बेसाख़्ता कहा——

जुगनूँ मियाँ की दुम जो चमकती है रात को।
सब देख देख उसको बजाते हैं तालियाँ॥

सुनते ही सारा दरबार हँसी से चमक उठा, मगर मियां जुगनूँ की दुम की चमक मद्धिम होकर रह गई।

अफ़सोस यह है कि इस तरह का हास्य परिहास बढ़ते-बढ़ते एक घटना के कारण इनसे और राजा साहब से मनोमालिन्य हो गया। इसका आरंभ इस तरह हुआ कि अहमदशाह दुर्रानी ने जो मुग़ल साम्राज्य पर हमले किए, उसी संबंध में एक दिन जब उसके अत्याचार और कुकृत्यों की चर्चा हो रही थी, तब भगवान् जाने व्यंग से या स्वभाव के सीधेपन से राजा साहब ने कहा कि 'नवाब साहब, मल्का ज़मानी को अहमदशाह दुर्रानी क्योंकर ले गया?' इन्हें इस क़िस्म का मज़ाक़ बुरा लगा।

खिन्न होकर बोले कि 'महाराज, जिस तरह सीता को रावन ले गया था, उसी तरह वह ले गया'। उसी दिन से 'फ़ुग़ां' ने दरबार में जाना छोड़ दिया।

इनकी योग्यता और व्यवहारकुशलता का इस बात से अनुमान लगाया जा सकता है कि इन्होंने अंग्रेज़ी हाकिमों में इस तरह अपनी साख पैदा कर ली कि इनका शेष जीवन संपन्नता और बेफ़िक्री में बीता। सन् ११८६ हि० में इनका परलोकवास हुआ और वहीं (पटने में) दफ़न किए गए।

'फ़ुग़ां' की रचनाओं के नमूने पेश हैं:—

मुब्तलाए इश्क को ए हमदमां शादी कहाँ,
आ गए अब तो गिरफ़्तारी में आज़ादी कहाँ ?
कोह में मस्कन कभी है और कभी सहरा के बीच,
ख़ानए उल्फ़त हो वीराँ हमको आबादी कहाँ ?
एक मैं तो क़त्ल सीं खुश हूँ व-लेकिन मुझ सिवा,
पेश जावेगी मेरे क़ातिल यह जल्लादी कहाँ ?
काश आ जावे क़यामत और कहे दीवाने हश्र,
वह 'फ़ुग़ां' जो है गरेबाँ चाक फ़रयादी कहाँ ?

+ + + +

ख़त दीजिओ छिपा के मिले वह अगर कहीं,
लेना न मेरे नाम को ऐ नामावर कहीं ॥
बादे सबा तू उक़्दः कुशा इसकी हूजिओ,
मुझसा गिरफ़्तः दिल अगर आवे नज़र कहीं ॥
इतना वफ़ूर खुश नहीं आता है अश्क का,
आलम कू मत डुबाइयो ऐ चश्म तर कहीं ॥
मेरी तरफ़ से ख़ातिरे सैयाद जमा है,
क्या उड़ सकेगा ताइरे बेबालो पर कहीं ॥
तेरी गली में ख़ाक भी छानी कि दिल मिले,
ऐसा ही गुम हुआ कि न आया नज़र कहीं ॥
रोना जहाँ तलक था मेरी जान रो चुका,
मुतलक़ नहीं है चश्म में नम का असर कहीं ॥
बावर अगर तुझे नहीं आता तो देख ले,
आँसू कहीं ढलक गए लख़्ते जिगर कहीं ॥
ईज़ा 'फ़ुग़ां' के हक़ में यहाँ तक रवा नहीं,
ज़ालिम यह क्या सितम है ख़ुदा से भी डर नहीं ॥

+ + +

बे फ़ायदा है आरज़ूए सीमो-ज़र 'फ़ुग़ां',
किस ज़िन्दगी के वास्ते यह दर्दसर 'फ़ुग़ां' ।।
जलते हैं इस गली में फ़रिश्ते के पर 'फ़ुग़ाँ',
क्योंकर फिरे वहाँ से तेरा नामवर 'फ़ुग़ाँ' ।।
बुए कवाव सोख़्तः आती है ख़ाक से,
दामन से क्या गिरा कोई लख़्ते जिगर 'फ़ुग़ाँ' ।।
याँ तक तो गर्म है मेरे खुरशीद रू का हुस्न,
देखे अगर कोई तो न ठैरे नज़र 'फ़ुग़ाँ' ।।

+ + +

कहते हैं फ़स्ले गुल तो चमन से गुज़र गई,
ऐ अंदलीब तू न क़फ़स बीच मर गई ।।
शिक्वः तू क्यों क्यों करे है मेरे अश्के सुर्ख़ का,
तेरी कव आस्तीं मेरे लोहू से भर गई ।।
इतना कहीं रफ़ीक़ बसारत है चश्म की,
दिल भी उधर गया मेरी जीधर नज़र गई ।।
तनहा अगर मैं यार को पाऊँ तो यों कहूँ,
इनसाफ़ को न छोड़ मुरव्वत अगर गई ।।
आख़िर 'फ़ुग़ाँ' वही है इसे क्यों भुला दिया,
वह क्या हुए तपाक वह उल्फ़त किधर गई ।।
मुझसे जो पूछते हो तो हर हाल शुक्र है,
यूँ भी गुज़र गई मेरी वूँ भी गुज़र गई ।।

+ + +

मुफ़्त सौदा है अरे यार कहाँ जाता है,
आ मेरे दिल के ख़रीदार कहाँ जाता है ।।
कजकुलः तेग़े वकफ़ चैन बरावर व बेवाक,
या इलाही यह सितमगर कहाँ जाता है ।।
लिए जाती है अजल जाने 'फ़ुग़ाँ' को ऐ यार,
लीजियो तेरा गिरफ़्तार कहाँ जाता है ।।

+ + +

सनम बता तू खुदाई का मुझको क्या न हुआ,
हज़ार शुक्र है कि तू बुत हुआ खुदा न हुआ ।।

कबाब हो गया आख़िर को कुछ बुरा न हुआ,
अजब यह दिल है जला तो भी बेमज़ा न हुआ ।।
शगुफ़तग़ी से है गुंचः तई परीशानी,
भला हुआ कभी काफ़िर तू मुझसे वा न हुआ ।।
मुआ न मैं जिया आख़िर को नीम बिस्मिल हो,
ग़ज़ब हुआ मेरे क़ातिल का मुद्दआ न हुआ ।।
निपट हुआ हूँ फ़ज़ीहत, बहुत हुआ हूँ ख़राब,
तेरी तुफ़ैल से ख़ानःख़राब क्या न हुआ ।।
तरफ़ से अपनी तो नेकी में है मेरा साहिब,
मेरी बला से 'फ़ुग़ाँ' का अगर भला न हुआ ।।

+ + +

खा पेचो-ताब मुझको डसें अब वह कलियाँ ।
जालिम इसी लिये तैंने जुल्फ़ें थीं पालियाँ ।।
तनहा न दुर को देखकर गिरते हैं अश्क चश्म ।
सूराख़ दिल में करती हैं कानों की बालियाँ ।।
देखा कि यह तो छोड़ना मुमकिन नहीं मुझे ।
चलने लगा वह शोख़ मेरा तब यह चालियाँ ।।
हर बात बीच रूठना हर दम में नाखुशी ।
हर आन दीखना मुझे हर वक़्त गालियाँ ।।
ईज़ा हरेक तरह सी देना ग़रज़ मुझे ।
कुछ बस न चल सका तो यह तरहें निकालियाँ ।।
हमने शबे फ़िराक़ में, सुनता है ऐ 'फ़ुग़ाँ' ।
क्या ख़ाक सो के हसरतें दिल की निकालियाँ ।।
यह था ख्याल ख्वाब में होगा यह रोज़ वस्ल ।
आँखें जो खुल गईं वही रातें थीं कालियाँ ।।

+ + +

अंतिम शब्द

दूसरे दौर के शायर अब विदा होते हैं। सुभान अल्लाह, इस बुढ़ापे में ऐसे रसिक हृदय, इतना उत्कृष्ट काव्य-कौशल और उसकी इतनी असंकुचित ओर अकृत्रिम अभिव्यंजना—

'क्या खूब ग्रादमी ये खुर्दा मग़फ़िरत करे'।

न ग्रलंकारों के पेंच, न रूपकों ग्रौर उपमाग्रों की रंगारंगी। ग्रपनी कल्पनाग्रों ग्रौर भावों को कैसी स्पष्ट भाषा ग्रौर सीधे सादे मुहावरों में कह गए कि ग्राज तक जो सुनता है सर धुनता है। इनकी कविताग्रों में शब्दाडंबर न था, बल्कि वह उनकी मन की स्थिति को उसके यथार्थ स्थिति को व्यक्त करना चाहिए। लेकिन वह यथार्थ स्थिति कौन दिखाए जब ग्रपनी ही स्थिति बिगड़ी हुई है?

सुहबते गुल है फ़क़त बुलबुल से क्या बिगड़ी हुई।
ग्राज कल सारे चमन की है हवा बिगड़ी हुई॥
ग्रादमी कहते हैं जिसको एक पुतला कल का है।
फिर कहाँ कल इसको जब कल हो ज़रा बिगड़ी हुई॥
दिल शिकस्ता का सुख़न होवे न क्योंकर नादुरुस्त।
साज़ बिगड़े हैं तो निकले है सदा बिगड़ी हुई॥

तीसरा दौर

भूमिका

इस मुशायरे में उन गुणवान् और विद्वान् शायरों के आगमन की धूमधाम है, जिनके चरण-रज लेने के लिये भाषा की फ़साहत आँखें बिछाती है और काव्य-शैली की आराइश (बलाग़त) पाँवों तले लोट जाती है। उर्दू भाषा आरंभ में कच्चे सोने जैसी थी, जिसे इन कला-कुशल शायरों ने तपाया और जिसे ऐसा खरा बनाया कि इससे सभी प्रकार के अलंकार और सज्जा की सामग्री बनाई जा सके, चाहे सुन्दरियों के गहने हों या राजाओं के मुकुट। कालोपरांत अन्य बहुत से कुशल सुवर्णकार और मीनाकार इनके बाद आए, लेकिन उर्दू शायरी के गौरव का नौलखा हार इन्हीं के गले में रहा। बाद में आए कुशल शायर, जब वे अपने पूर्वजों की लगाई हुई कविता-रूपी फुलवारी में पहुँचे तो वहाँ लगे हुए सुंदर और सुगंधित फूल और पौधों के बीच उन्होंने देखा कि वहाँ खिले हुए काव्य-पुष्प वसंत के बहार की भाँति एक नैसर्गिक छटा दिखा रहे थे। किंतु इन कवियों को स्वयं भी कीर्ति प्राप्त करने की लालसा थी इसलिए इन्होंने पहले तो इस फुलवारी को और रम्य बनाने का प्रयास किया, जिससे कि वह वह काव्यकला में अपने पूर्वजों से अधिक उन्नत हो सके। लेकिन उस फुलवारी में तो सभी प्रकार के फूल लगे थे। जब उसको अधिक सजाने सँवारने की गुंजाइश न देखी तो अपनी इमारतों को ही ऊँचा उठाने लगे। तुम देखोगे कि इनकी रचनाओं के विषयवस्तु की बुलंदी ऐसी थी, मानो इन्होंने आकाश से तारे उतारने का प्रयास किया हो। इनका दावा था कि ये काव्य-मर्मज्ञों से केवल उनकी प्रशस्ति ही नहीं, बल्कि उनकी पूजा प्रतिष्ठा की भी अपेक्षा करेंगे। लेकिन वह पूजा नहीं, जो कि सामिरी[1] की तरह अस्थायी हो। इनके काव्यकौशल का दामन क़यामत के दामन से बँधा पाओगे। इनकी कला में थोड़ी सजावट बनावट भी होगी, मगर ऐसी जैसे गुलाब के फूल पर ओस के कण अथवा चित्र पर आईना। इनकी अलंकरण कविता के वास्तविक लालित्य को और अधिक मनोहारी बनाएगी, उसके सौंदर्य पर पर्दा न डालेगी। तुम 'मीर' साहब और ख़्वाजा मीर 'दर्द' की रचनाओं को देखोगे कि उनकी कविता कितनी प्रभावोत्पादक है। 'सौदा' की रचनाएँ अपनी कल्पनाओं के ऊँचे उड़ान और शब्द और भाव के गठे हुए विन्यास के साथ साथ अपनी जादुई तासीर से बनी एक तिलिस्म जैसी मालूम होगी।

लेकिन इतनी बात का अफ़सोस है कि भाषा की विकास की दिशा में अपनी कल्पनाओं की बुलंदपरवाज़ी के आवेश में इन्होंने आकाश की ओर ही रुख़ किया।

---

[1] —सामिरा नगर का एक जादूगर, जिसने हज़रत मूसा की उम्मत में गाय की पूजा प्रचलित की थी।

काश आगे पृथ्वी के तल पर भी क़दम बढ़ाते ताकि 'हुस्न' और 'इश्क़' के सीमित दायरे से निकल जाते, और उन मैदानों में घोड़े दौड़ाते, जिनके न फैलाव की सीमा है और न उनमें दिखाई देनेवाले रोचक और विलक्षण असंख्य दृश्यों की सीमा। इस बात को भूलना न चाहिए कि 'ख़ान आरज़ू' की संगति और उनके गोष्ठियों के आयोजन ने इन उदीयमान कवियों की काव्य-कुशलता का उसी तरह लालन-पालन किया जिस तरह कि धाई अपने आँचल तले किसी होनहार बच्चे को पालती है। मैंने दूसरे और तीसरे अध्याय में इनमें से कुछ कवियों के बारे में संक्षिप्त टिप्पणियाँ दे दी हैं, लेकिन उनमें से कुछ के नाम अथवा उनकी रचनाओं के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध न होने के कारण उनकी चर्चा नहीं की गई है। वास्तव में इन सभी को उर्दू भाषा में शोध और परिष्कार का श्रेय है। लेकिन मैंने अपने गुरुजनों और बुजुर्गों से यही सुना कि 'मिर्ज़ा जाने जानाँ', 'सौदा', 'मीर', और ख़्वाजा मीर 'दर्द' ये ही चार व्यक्ति थे, जिन्होंने वास्तव में उर्दू भाषा को खरादा और सुडौल बनाया।

हमारे भाषा-विज्ञानियों का सिद्धांत है कि ६० वर्ष के उपरांत प्रत्येक भाषा में एक स्पष्ट परिवर्तन हो जाता है। तीसरे वर्ग के कवि जो वस्तुत: उर्दू की इमारत के निर्माता हैं, उन्होंने बहुत से ऐसे शब्द जो पुराने हो गए थे, उनका प्रयोग छोड़ दिया और बहुत सी फ़ारसी की तरकीबें जो दूध के साथ मिस्री की डलियों की तरह मुँह में आने लगी थीं, उन्हें अपने प्रयोग में घुलाया। फिर भी वर्तमान काल में उर्दू की प्रगति को ध्यान में रखते हुए यह द्रष्टव्य है कि उनकी रचनाओं में भी बहुत सी बातें ऐसी थीं, जो परित्यक्त हो गई हैं। इन फ़ारसीयत की तरकीबों के आधार पर लिखे गए शेरों की चर्चा भूमिका में कर दी गई है।

पुराने शब्द जो अब तिरस्कृत हो गए हैं, उनके उदाहरण के रूप में कुछ शेर 'मीर' और 'मिर्ज़ा' और ख़्वाजा मीर 'दर्द' की रचनाओं से लिखता हूँ, लेकिन न्याय-संगत बात तो यह है कि उनके अब तिरस्कृत होने के बावजूद उनकी रचनाओं में अपनी अपनी जगह एक एक शब्द ऐसे खूबी से जड़े हुए हैं, जिसको हटाना दुश्वार है :—

मीर साहिब फ़रमाते हैं :

होना था मजलिसे आरा गर ग़ैर का तो मुझको,
मानिन्द शमअ मजलिस काहे को तैं जलाया।।
नक़्क़ाश देख तू मैं क्या नक़्श यार खींचा,
इस शोख़ कमनुमा का नित इंतज़ार खींचा।।
दैरो हरम में क्योंकि क़दम रख सकेगा 'मीर',
ईधर तो उससे बुत फिरा ऊधर खुदा फिरा।।

* * *

गुलो आईना क्या ? ख़ुरशीदो मह क्या ?
जिधर देखा तिधर तेरा हीरू था ।।

+ + +

फ़क़ीराना आए सदा कर चले,
मियां ख़ुश रहो हम दुआ कर चले ।।

+ + +

रस्मे क़लम-रू इश्क़ मत पूछ तू कि नाहक़,
एकों की ख़ाल खींची एकों को दार खींचा ।।

÷ + +

लोहू लगाता है टपकने जो पलक मारु हूँ,
अब तो यह रंग है इस दीदए अश्क-इफ़शां का ।।

+ + +

क्यों कर तुम्हारी बात करे कोई एतबार,
ज़ाहिर में क्या कही हो सुख़न ज़ेरे-लब है क्या ।।

+ + ÷

सीमीं-तनों का मिलना चाहे है कुछ तमव्वुल
शाहिद परस्तियों को हम पास-ज़र कहां है ।।

+ + +

ताब मक़दूर इन्तज़ार किया, दिल ने अब ज़ोर बेक़रार किया।
ख़ूने जिगर हो बहने लागा, पल्कों ही पर रहने लागा ।।

+ + +

पी पी के अपना लोहू रहें गोकि हम सनीफ़ ।
जूँ रेंगती नहीं है उन्हीं के तो कान पर ।।

÷ + +

कैफ़ियतें हज़ार हैं उस काम-जां के बीच ।
देते हैं लोग जान तो एक एक आन पर ।।

+ + +

ताज़ा भभक थी शब को तारों में आस्मां की ।
इस आसिया को शायद फिर है किन्होंने राहा ।।

+ + +

ज़माने ने मुझ जुरअ-कश को निदान ।
किया ख़ाको ख़िश्त सरे ख़ुम किया ।।

+ + +

दिल ले के मेरी जान का दुश्मन हुआ निदान,
जिस बेवफ़ा से अपने तईं प्यार हो गया ॥

+ + +

गहे ख़ूने जिगर गहे अश्क़ गहे लख़्ते दिल यारी,
किसी ने भी कहीं देखा है यह बिस्तार रोने का ॥

+ + +

कहा था मैं न देखो ग़ैर की ओर,
सो उसने आँख मुझसे ही छिपाई ॥

+ + +

आंखों ने मीर साहब क़िबला सितम किया,
हज़रत वक़ा किया न करो रात की तईं ॥

+ + +

बाहर न आता चाह से युसुफ़ जो जानता,
ले कारवाँ मेरे तईं बाज़ार जायगा ॥

+ + +

हर ज़र्रा ख़ाक तेरी गली की है बेक़रार,
यां कौन सा सितमज़द: माटी में रल गया ॥

+ + +

आतिशे तेज़ जुदाई से यकायक उस बिन,
यूँ जला दिल कि तनिक जी भी जलाया न गया ॥

+ + +

रहे ख़याल तनिक हम भी रुसियाहों का,
लगे हो ख़ून बहुत करने बे-गुनाहों का ॥

+ + +

हो इस से जहां सियाह-तर भी,
नाल: में मेरे असर न होगा ॥
मत रंज कर किसी को कि अपने तू एतक़ाद,
दिल ढाए कर जो काबा बनाया तो क्या हुआ ॥

+ + +

बस तबीब उठ ज़ा मेरे वाली से मत दे दर्दसर,
काम जां आखिर हुआ अब फ़ायदा तदबीर का ।।

+ × ×

दिल की वीरानी का क्या मज़कूर है,
यह नगर सौ मर्तबा लूटा गया ।।

× × ×

हैफ़ वे जिनके वह उस वक़्त में पहुँचा जिस वक़्त,
उन कने हाल इशारों से वताया न गया ।।

+ + +

लगवाए पत्थरे और बुरा भी कहा किए,
तुमने हक़ूक़ दोस्ती के सव अदा किए ।।

+ + +

ऐसे वहशी कहाँ हैं ऐ ख़ूबां,
'मीरा' को तुम अबस उदास किया ।।

+ + +

इस रचना-काल में बहुवचन स्त्रीलिंग कर्त्ता के साथ सभी क्रियाएँ बहुवचन में प्रयोग की जाती थीं । जैसे 'औरतें, आतियां थीं और गातियां थी' । अब पहली क्रिया के लिए एक वचन का प्रयोग करते हैं, जैसे 'औरतें आती थीं और गाती बजाती थीं'।

बारहा वादों की रातें आइयां,
तालओं ने सुबह कर दिखलाइयां ।।

× × ×

जूनूँ मेरे की बातें दश्त और गुलशन में जब चलियां,
न चोबे गुल ने दम मारा न छड़ियाँ बेद की बलियाँ ।।

+ + +

किसी किसी शेर में शब्दों के असाधारण प्रयोग से मालूम होता है कि उस समय लोग 'हिलने' की जगह 'हलने' बोलते थे । चुनांचे सौदा भी एक ग़ज़ल में कहते हैं, जिसका क़ाफ़िया और रदीफ़ है 'चलते देखा', 'निकलते देखा' ।

तेग़ तेरे का सदा शुक्र अदा करते हैं,
लबों को ज़ख़्म के दिन रात में हलते देखा ।।

इसी तरह मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' के कुछ शेर भी हैं, जिनके मुहावरे हैं तो पुराने, लेकिन ऐसे हैं कि उनपर आज कल के हज़ार मुहावरे न्योछावर कर दिए जायें। मिर्ज़ा रफ़ी फर्माते हैं :—

आ खुदा के वास्ते इस बाँकपन से दर-गुज़र,
कल मैं सौदा यूँ कहा दामान गह कर यार का ॥

+ + +

बेवफ़ाई क्या कहूँ दिल साथ तुझ महबूब की,
तेरी निस्बत तो मियाँ बुलबुल से गुल ने खूब की ॥

+ + +

जिसके दिल को तेरी ज़ुल्फ़ों से मियाँ लाग लगे,
उसकी आँखों में जो रस्सी भी हो तो नाग लगे ॥

× × × ×

तुझ इश्क़ में प्यारे वह ज़ेरे चोबें गुल है,
नै-फूल की किसी ने जिनको छड़ी लगाई ॥

+ + +

ख़बर शिताब ले सौदा के हाल की प्यारे,
नहीं है वक़्त मेरी जान यह तअम्मुल का ॥

+ + +

न जाने हाल किस साक़ी को याद आता है शीशे का,
कि लेले हिचकियाँ जिवड़ा निकल जाता है शीशे का ॥

+ + +

बेहूदा इस क़दर नहीं आता है काम नाज़,
मुख पद ख़त आ चुका न करो सुबहो शाम नाज़ ॥

+ + +

आलम की मार रखा है तईं बाक़दे दूता,
ज़ाहिद यह काट है तेरी तेग़े दोगीम का ॥

+ + +

सौदा कहे था यार से एक मू नहीं ग़रज़,
ऊधर खुली जो ज़ुल्फ़ इधर दिल बिखर चला ॥

+ + +

बस तबीब उठ ज़ा मेरे बाली से मत दे दर्दसर,
काम जां आख़िर हुआ अब फ़ायदा तदबीर का ।।

+ × ×

दिल की वीरानी का क्या मज़कूर है,
यह नगर सौ मर्तबा लूटा गया ।।

× × ×

हैफ़ वे जिनके वह उस वक़्त में पहुँचा जिस वक़्त,
उन कने हाल इशारों से बताया न गया ।।

+ + +

लगवाए पत्थरे और बुरा भी कहा किए,
तुमने हक़ूक़ दोस्ती के सब अदा किए ।।

+ + +

ऐसे वहशी कहाँ हैं ऐ ख़ूबां,
'मीरा' को तुम अबस उदास किया ।।

+ + +

इस रचना-काल में बहुवचन स्त्रीलिंग कर्त्ता के साथ सभी क्रियाएँ बहुवचन में प्रयोग की जाती थीं । जैसे 'औरतें, आतियां थीं और गातियां थी' । अब पहली क्रिया के लिए एक वचन का प्रयोग करते हैं, जैसें 'औरतें आती थीं और गाती बजाती थीं' ।

बारहा वादों की रातें आइयां,
तालओं ने सुबह कर दिखलाइयां ।।

× × ×

जूनूँ मेरे की बातें दश्त और गुलशन में जब चलियां,
न चोबे गुल ने दम मारा न छड़ियाँ बेद की बलियाँ ।।

+ + +

किसी किसी शेर में शब्दों के असाधारण प्रयोग से मालूम होता है कि उस समय लोग 'हिलने' की जगह 'हलने' बोलते थे । चुनांचे सौदा भी एक ग़ज़ल में कहते हैं, जिसका क़ाफ़िया और रदीफ़ है 'चलते देखा', 'निकलते देखा' ।

तेग़ तेरे का सदा शुक्र अदा करते हैं,
लबों को ज़ख़्म के दिन रात में हलते देखा ।।

इसी तरह मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' के कुछ शेर भी हैं, जिनके मुहावरे हैं तो पुराने, लेकिन ऐसे हैं कि उनपर आज कल के हज़ार मुहावरे न्योछावर कर दिए जायँ। मिर्ज़ा रफ़ी फर्माते हैं :—

आ खुदा के वास्ते इस बाँकपन से दर-गुज़र,
कल मैं सौदा यूँ कहा दामान गह कर यार का ॥

+ \+ \+

बेवफ़ाई क्या कहूँ दिल साथ तुझ महबूब की,
तेरी निस्वत तो मियाँ बुलबुल से गुल ने खूब की ॥

+ \+ \+

जिसके दिल को तेरी ज़ुल्फ़ों से मियाँ लाग लगे,
उसकी आँखों में जो रस्सी भी हो तो नाग लगे ॥

× × × ×

तुझ इश्क़ में प्यारे वह ज़ेरे चोबें गुल है,
नै-फूल की किसी ने जिनको छड़ी लगाई ॥

+ \+ \+

ख़बर शिताब ले सौदा के हाल की प्यारे,
नहीं है वक़्त मेरी जान यह तअम्मुल का ॥

+ \+ \+

न जाने हाल किस साक़ी को याद आता है शीशे का,
कि लेले हिचकियाँ जिवड़ा निकल जाता है शीशे का ॥

+ \+ \+

बेहूदा इस क़दर नहीं आता है काम नाज़,
मुख पद ख़त आ चुका न करो सुबहो शाम नाज़ ॥

+ \+ \+

आलम की मार रखा है तईं बाक़दे दूता,
ज़ाहिद यह काट है तेरी तेग़े दोगीम का ॥

+ \+ \+

सौदा कहे था यार से एक मू नहीं ग़रज़,
ऊधर खुली जो ज़ुल्फ़ इधर दिल बिखर चला ॥

+ \+ \+

सौदा निकल न घर से कि अब तुझको ढूँढते,
लड़के फिरें हैं पत्थरों से दामन भरे हुए ।।

+ + +

तसल्ली इस दिवाने की न हो झोली के पत्थरों से,
अगर सौदा को छेड़ा है तो लड़कों मोल लो फ़ड़ियाँ ।।

+ + +

नगर आबाद हैं बसे हैं गांव, तुझ बिन उजड़े पड़े हैं अपने भांव ।।

+ + +

क़ैस ओ फ़रहाद का नहीं कुछ ज़िक्र, अब तो सौदा का बाजता है नांव ।।

+ ÷ +

जाते हैं लोग क़ाफ़िले के पेश-ओ-पश चले,
है यह अजब सरा कि जहाँ आए, बस चले ।।

+ + +

इस ग़ज़ल में 'क़फ़स चले' और 'बस चले' क़ाफ़िया है । इसमें कहते हैं :—

सय्याद अब तो करदे क़फ़स से हमें रिहा,
ज़ालिम फ़ड़क फ़ड़क के पर-व-बाल धस चले ।।

+ + +

सबा से हर घड़ी मुझ को लहू की बास आती है,
चमन में आह गुलचीं ने यह किस बुलबुल का दिल तोड़ा ।।

+ + +

मुजिब मेरी रंजिश का जो पूछी है तो ऐ जाँ,
मू दूँगा न मैं खोल के ज्यूँ गूंचे देहां को ।।

+ + ÷

दाग़ तुझ इश्क़ का झमके है मेरे दिल के बीच,
मेहर ज़र्रा मे दरख़्शां न हुआ था सो हुआ ।।

+ + +

वे सूरते इलाही किस मुल्क बस्तियाँ हैं,
अब जिनके देखने को आँखें तरस्तियाँ हैं ।।

+ + +

क़लबे साक़ी तेरी बेपरवाइयाँ,
जाने मुश्ताक़ों की लब तक आइयाँ ।।

इसी तरह हिंदी विशेषण भी अब बहुवचन में प्रयोग नहीं किए जाते ।

मुलायम हो गईं दिल पर बिरह साइतें कड़ियाँ,
ये अंखियां क्यों मेरी जी के गले की हार हो पड़ियाँ ।।

+ + +

चीज़ क्या हूँ जो करें क़त्ल वो अंखियां मुझको,
फेर गए देख के मुँह ख़ंजरे बुर्रां मुझको ।।

+ + +

ख़्याल उन अंखड़ियों का छोड़ मत मरने के वाद अज़ भी,
दिया आया जो तू इस मैकदे में जाम लेता जा ।।

+ + +

नातवानी भी अजब शै है कि गुलशन में नसीम,
नित लिए फिरती है दोश ऊपर बरंगे बू मुझे ।।

+ + +

प्रायः उय समय फ़ारसी में प्रयुक्त तत्सम बहुवचन शब्दों को सभी साहित्यकार प्रयोग में लाते थे ।

'सौदा' कहते हैं :—

सौदा ग़ज़ल चमन में तू ऐसी ही कह के ला,
गुल फाड़ें सुन के जेब को दें बुलबुलाँ सदा ।।

+ + +

'हाथ से जाता रहा दिल देख महबूबां की चाल'

एक और जगह कहते हैं :—

या इलाही मैं कहूँ किस सीती अपना अहवाल,
ज़ुल्फ़ ख़ूबाँ की हुई है मेरे जी का जंजाल ।।

ख़ूबाँ और 'महबूबाँ' मिर्ज़ा की ज़बान पर बहुत चढ़े हुए थे और ख़्वाजा मीर 'दर्द' अलीयुर्रहमतः फ़रमाते हैं :—

परवरिश ग़म तेरे यहाँ तईं तू की दिखा,
कोई भी दाग़ था सीने में कि नासूर न था ।।

+ + +

तू कब तईं मुझ साथ मेरी जान मिलेगा,
ऐसा भी कभी होगा कि फिर आन मिलेगा ।।

* * *

गो नाला नारसा हो नहीं आह में असर,
मैंने तो दर गुज़र न की जो मुझसे हो सका ।।

* * *

साक़ी मेरे भी दिल की तरफ़ टुक निगाह कर,
लब तिश्ना तेरी बज़्म में यह जाम रह गया ।।
ऐ आँसुओं न जावे कुछ दिल की बात मुँह तक,
लड़के हो तुम कहीं मत अफ्शाँए राज़ करना ।।

* * *

हम जानते नहीं हैं ऐ 'दर्द' क्या है क़ाबा,
जीधर मिले वो अब्रू ऊधर निमाज़ करना ।

* * *

कहा में मेरा हाल तुम तक भी पहुँचा,
कहा तब उचटता सा कुछ मैं सुना था ।।

* * *

मेरे दिल को जो हर दम तू भला इतना टटोले है,
तसव्वर के सिवा तेरे बता तू इसमें क्या निकला ?

* * *

जाइए किस वास्ते ऐ 'दर्द' मैखा़ने के बीच,
और ही मस्ती है अपने दिल के पैमाने के बीच ।।

* * *

सौ बार देखियाँ है तेरी बेवफ़ाइयाँ,
तिस पर भी नित ग़रूर हैं दिल में गुनाह का ।।

* * *

जग में न कोई टुक हँसा होगा,
कि न हँसते ही रो दिया होगा ।।

'दर्द' के मिलने से ऐ यार बुरा क्यों माने,
इसको कुछ और सिवा दीद के मंजूर न था ॥

———

ऐ शानः तू न हो जो दुश्मन हमारे जी का,
कूँ देखियो न होवे ज़ुल्फ़ों का बाल बीका ॥

———

अगर तुझको चलना है चल साथ मेरे,
यह कब लग तू बातें बनाता रहेगा ॥

———

बाद मुद्दत के 'दर्द' कल मुझ से,
मिल गया राह में वो गुँचा दहन ॥
मेरी उसकी जो लड़ गई नज़रें,
हो गए आँखों में ही दो दो वचन ॥

———

इन शायरों के समय में उर्दू ज़बान में कुछ संशोधन तो हुआ, किंतु उर्दू लिपि में बहुत कुछ पूर्वजों की प्रणाली ही बनी रही। सन् ११७० हि० की लिखी हुई क़विताओं का संग्रह मेरे हाथ आया। इसे किसी विवेकपूर्ण व्यक्ति ने बड़ी लगन से संकलित किया था। इसमें 'मीर', 'सोज़', 'ताबाँ', 'फ़ग़ाँ 'सौदा', ख़्वाजा मीर 'दर्द', 'इनामुल्लाह ख़ां', ख़्वाजा 'आबरू', मीर मुहम्मद बाक़र हज़ीं, मीर कमालुद्दीन 'शायर', ख़्वाजा एहसानुल्लाह ख़ाँ 'बयाँ', क़यामुद्दीन 'क़ायम', के दीवानों की चुनी हुई ग़ज़लें हैं। इस संग्रह से प्रमाणित होता है कि उस समय कर्म कारक के चिह्न 'को' को 'कूँ' लिखा जाता था। इसलिये शाह 'आबरू' और मीर कमालुद्दीन 'शायर' इत्यादि की जिन ग़ज़लों में 'को' रदीफ़ है, उन्होंने उन्हें रदीफ़ नून' में ही लिखा है। आधुनिक कवियों ने इस 'नून' को हटा दिया है, मगर मालूम होता है 'वाव' को खींच कर ही पढ़ते हैं। चुनांचे ख़्वाजा मीर 'असर', जो ख़्वाजा मीर 'दर्द' के भाई थे, एक बे-रदीफ़ ग़ज़ल में 'मू' 'रु' क़ाफ़िया रखा है और 'को' बाँधा है। मिर्ज़ा रफ़ी ने भी एक जगह ऐसा कहा है। इनकी एक ग़ज़ल है 'क़फ़स को', 'जरस को', 'नफ़स को'। इसका मतला है :—

तर्ग़ीब न कर सैरे चमन की हमें सौदा,
हर चंद हवा खूब है वाँ लेक हवस को ॥

एक ग़ज़ल है 'आबरू नहीं', 'गेसू नहीं'। इसमें कहते है :—

ख़त्ते सब्ज़ा उसका सियह, कुछ रु हुआ मेरा सफ़ेद,
ख्वाहिशे तर्क [illegible] दोनों को नहीं ॥

सुनके तर्के इश्क़ मेरा हँस के कहता है वह शोख़,
नील बिगड़ा है कहीं योरो यक़ीं मुझको नहीं ।।

उस समय अधोलिखित शब्दों के लिखने की प्रणाली इस प्रकार थी :--

तो--तीं । मुझे--मुझसीं । उसने--उन्ने । तुझको--तुझकूँ ।
से--सीं । तूने--तूनीं । जिसने--जिन्ने । किसे--कसू ।
इससे--इससीं । जूँ--ज्यूँ । जी--जीउ ।

उपर्युक्त कविताएँ जो कि वास्तव में परित्यक्त मुहावरों और शाब्दिक प्रयोगों के नमूने के रूप में उद्धृत की गई हैं, उन्हें पढ़कर उस समय के नई ईजादों या उनसे पहले के शाब्दिक अवशेषों का कहाँ तक अनुमान या मुल्यांकन किया जा सकता है, यह नहीं कहा जा सकता। न मेरा मतलब केवल इस बात से है कि मैं यह दिखलाऊँ कि उस रचनाकाल तक उर्दू भाषा पर किस हद तक अपनी प्राचीन परंपरा का प्रभाव बाक़ी था। वास्तव में मेरा आशय इन उद्धरणों के संदर्भ में एक विशेष जानकारी के अभाव पर खेद प्रकट करना है। वह यह है कि 'सौदा' की कुल आयु ८५ वर्ष की थी, इसमें लगभग ५५-६० वर्ष इनकी रचनाकाल का अनुमान किया जा सकता है। उसी तरह 'मीर' १०० वर्ष जिए और इनकी शायरी की उम्र ७०-७५ वर्ष की रही होगी। और इस बात से किसी को इनकार न होगा कि जिस दिल्ली की ज़बान का इनकी रचना के आरंभकाल में प्रयोग किया गया है, उसका इन्होंने उसी अनुपात में अपने उत्तर रचनाकाल में प्रयोग नहीं किया और नहीं यह इनके अंतिम काल की ज़बान थी। अनुमानतः इनके इन तीनों विकासवधि की भाषा में स्पष्ट और प्रत्यक्ष असमानता हुई होगी, किंतु उस समय की प्रचलित प्रथा के अनुसार दीवानों में कविताओं को वर्णानुक्रम से व्यवस्थित किया जाता था, कालानुक्रम से नहीं। इसलिये आज हमें यह मालूम करना कठिन है कि इनके रचनाकाल में समय पर देश की भाषा में क्या क्या और किस प्रकार प्रगति और विकास हुआ। नही इस बात की जानकारी मिल सकती है कि विभिन्न काल में इनकी भावात्मक अभिव्यंजना में या रचना-ओज के आरोहण-अवरोहण में किस प्रकार प्रगति हुई। इस अभाव की पूर्ति में केवल दो शायर अंशतः सहायक होते हैं, जिन्होंने कि अधोलिखित विवरण के अनुसार अपनी रचनाओं का काल-विभाजन किया है :--

	आरंभकाल	युवावस्था	वृद्धावस्था	अंतिमकाल
(१) अमीर खुसरो	तोहफ़्तुल सिग्र	गुर्रतुल-कमाल	वस्तुल हयात	बक़ीयतिम् नक़ीह
(२) जामी	....	फ़ातेहुल शबाब	वास्तुल्-अक़्द	ख़ात्मुल-हयात

ख़ैर हम इतना तो कह सकते हैं कि इन्होंने जो अपरिचित या कुछ कर्णकटु शब्द प्रयोग किए हैं, वे इनके आरंभकाल या युवावस्था की रचनाओं के होंगे। मुंशी अहमद हसन ख़ाँ साहिब से, जो स्वर्गीय मीर तक़ी के एक श्रद्धालु शिष्य थे, सुना हुआ स्वर्गीय हुसेन ख़ाँ साहिब कहते थे कि मीर साहिब ने जिन शब्दों का प्रयोग

अपने पहले और दूसरे दीवान में किया, वे प्रायः चौथे पाँचवें में नहीं पाए जाते। और जो दूसरे तीसरे में हैं; वे पाँचवें छठे में नहीं। अस्तु, उनके अंतिम काल की भाषा का अनुमान सैयद इंशा', 'मसहफ़ी' और 'जुरअत' की भाषा से लगाया जा सकता है।

मिर्ज़ा जाने-जानाँ 'मज़हर'

यद्यपि काव्य-रचना में उत्साह और उमंग और रचनाओं की प्रचुरता के लिहाज़ से मिर्ज़ा जाने-जानाँ का नाम 'मीर' और 'सौदा' के समकक्ष रखने में संकोच होता है, किंतु प्रकृति ने इन्हें भाव-सुषमा, विचारों में एक अकृत्रिम माधुरी और हर बात में संतुलन और सुष्ठुता इतनी ही मात्रा में दिया था, जितना 'सौदा' और 'मीर' को। और यह उन लोगों के समकालीन भी थे। इसके अतिरिक्त पुराने साहित्य के इतिहासकारों ने ऐसा लिखा है, और बुज़ुर्गों के मुँह से भी यही सुना है कि भाषा के संशोधन और रचना-शैली के आविष्कार के लिहाज़ से यह भी उसी प्रतिष्ठा के अधिकारी हैं, जैसे 'सौदा' और 'मीर'। इसलिये इस क्रम में इनके जीवनवृत्ति की भी चर्चा करना अपेक्षित और सुसंगत होगा।

इनके पिता आलमगीर के दरबार में एक उच्च पदाधिकारी थे। पिता की ओर से इनका गोत्र हज़रत अली के बेटे मुहम्मद इब्न-हनफ़िया से मिलता है। इनकी माता बीजापुर के एक कुलीन घराने की वंशज थीं। दादा भी शाही दरबार के एक ओहदेदार थे। दादी आलमगीर के वज़ीर असद ख़ां की मौसेरी बहन थीं। परदादा से अकबर बादशाह की बेटी ब्याही थी। इन सम्बन्धों के आधार पर यह तैमूरी वंश के नेवासा होते थे। सन् ११११ हि० में जब आलमगीर ने दक्षिण पर चढ़ाई की, उस समय इनके पिता वहाँ से नौकरी छोड़कर उन्हीं के साथ दिल्ली लौट आए। मिर्ज़ा जाने-जानाँ का जन्म मालवा स्थित काल-बाग़ इलाक़े में ११ वें रमजान को जुमे के दिन हुआ। आलमगीर को इसकी सूचना मिली। यह उस समय की एक प्रशासनिक प्रथा थी कि जब शाही घराने के किसी अमीर के यहाँ संतान पैदा हो तो वह उसकी सूचना बादशाह को पेश करे। बादशाह स्वयं नवजात शिशु का नामकरण करते या पेश किए हुए नामों में से किसी एक के लिए अपनी अनुमति देते थे। किसी किसी को यह स्वयं अपने बेटे या बेटी के रूप में स्वीकार कर प्रतिष्ठित करते थे, जिससे संबंधित कुलों में पारस्परिक सौहार्द्र और प्रेम बढ़ता था और यह उनके लिए उपयुक्त अवसर पर पदोन्नति का साधन होता था। और शासकों को भी इनसे वफ़ादारी का और समय पड़ने पर जान तक न्योछावर कर देने का भरोसा होता था। इनके शादी-विवाह भी बादशाह की अनुमति से ही होते थे। इस संबंध में प्रायः वे मां-बाप के प्रस्ताव का ही अनुमोदन कर देते थे। कभी स्वयं भी कोई प्रस्ताव कर देते थे।

ग़रज़ यह कि आलमगीर ने कहा कि बेटा बाप की जान होता है। चूँकि इनके बाप का नाम मिर्ज़ा जान था, इसलिये इनका नाम उन्होंने 'जाने-जानां' रख दिया। बाप ने स्वयं इनका नाम शम्शुद्दीन रखा था, मगर यह नाम आलमगीरी नाम के सामने अधिक प्रचलित नहीं हुआ। अपना तख़ल्लुस इन्होंने 'मज़हर' रखा। इनसे असली नाम जाने-जानां के साथ इनके उपनाम को भी ख्याति मिली। इनके पिता मिर्ज़ा जान भी शायर थे और 'जानी' तख़ल्लुस करते थे।

१६ वर्ष की आयु थी, तभी इनके पिता की मृत्यु हो गई। उसी समय से मुट्ठी भर ख़ाक रूपी अपने व्यक्तित्व को बुज़ुर्गों के दामन के एक कोने में बाँध दिया। ३० वर्ष की अवस्था तक मदरसों और ख़ानक़ाहों (फ़क़ीरों के आश्रमों) में झाड़ू दिया किए। और दो दिन जीवन के वसंत ऋतु के फूल होते हैं, उन्हें बुज़ुर्गों के रौज़ों पर अर्पित कर दिया। इस समय तसव्वुफ़ संबंधी विचारधारा बादल की तरह हिंदोस्तान पर छाई हुई थी। कविता में अभिरुचि रखने वाले व्यक्तियों के अलावा हज़ारों मुसल्मान बल्कि हिंदू भी इस मत के अनुयायी हो गए थे और उस में आस्था रखते थे।

इनके संबंध में बहुत से लतीफे ऐसे मशहूर हैं कि यदि आज किसी के बारे में वे कहे जायँ तो लोग उसे शोभनीय न समझें। किंतु वह ऐसा ज़माना था कि इस प्रकार के दोष या अवगुण खूबियाँ समझी जाती थीं। कुछ तो इस विश्वास से कि 'ख़ताए बुज़ुर्गां गिरफ़्तन ख़तास्त' (बुज़ुर्गों की ग़लती पकड़ना ग़लती है) और कुछ इस कारण कि यदि किसी साफ़ सतह पर एक दाग़ लग जाए तो कभी कभी वह धब्बा बदनुमा नहीं बल्कि गुलकारी जैसा मालूम होता है। उस समय ऐसे चारित्रिक दोषों को यदि कोई बुरा कहता था तो यह अश्रद्धा और आस्थाहीनता का द्योतक समझा जाता था। मैं ऐसे गुनहगार बुज़ुर्गों की हर बात को श्रद्धा रूपी नेत्र का आंजन समझता हूँ। अस्तु, मेरे विचार से ज़माने की माँग को ध्यान में रखते हुए ही किसी बात की यथेष्टता और उपयुक्तता को आँकना चाहिए।

मिर्ज़ा जाने-जानाँ स्वयं कहते हैं कि सौंदर्योपासना और सूक्तियों के प्रति उन्हें बचपन से ही अभिरुचि थी। छुटपन में भी प्रायः उनकी ज़बान से संतुलित और उपयुक्त मिस्रे ही निकलते थे। जब दुधमुँहे बच्चे थे, उस समय भी खूबसूरती की ओर इनका इतना रुझान था कि किसी बदसूरत औरत की गोद में न जाते। कोई सुंदर स्त्री इन्हें लेती थी तो झट उसकी गोद में जा पड़ते और फिर मुश्किल से उतरते।

मिर्ज़ा जाने-जानां के समय में एक कुलीन वंश का युवक मीर अब्दुल हई, जिसने अपना तख़ल्लुस 'ताबां' किया था, अपने सौंदर्य के लिये इतना मशहूर था कि लोग उसको 'यूसुफ़-सानी' कहते थे। उसके गोरे बदन पर काला कपड़ा बहुत शोभा देता था, इसलिये वह सदा काले वस्त्र ही पहनता था। इसके सौंदर्य की ख्याति यहाँ तक फैली कि खुद बादशाह को भी उसे देखने की लालसा हुई। उन्हें मालूम

हुआ कि उसका मकान जश खां के फाटक में है और जो बड़ा दरवाज़ा वहाँ कूएँ के पास से लाहौरी दरवाज़े के बाज़ार में निकलता है, वह उसके कोठे पर बैठता है। उस ज़माने की चलन और समय के आचार-विचार को देखना चाहिए कि बादशाह खुद सवार होकर उस राह से निकले। 'तावाँ' को भी इसकी ख़बर हो गई थी। बने सँवरे और बाज़ार की ओर मोढ़ा बिछा कर आ बैठे। बादशाह जब उस स्थान पर पहुँचे तो इसलिये कि वहाँ ठहरने को एक बहाना हो, वहाँ आबे हयात माँगा और पानी पी कर उसपर नज़र डालते हुए आगे बढ़ गए।

'तावाँ' स्वयं एक दीवान के रचयिता थे। यह शाह 'हातिम' और मीर मुहम्मद अली 'हश्मत' के शिष्य थे और मिर्ज़ा जाने-जानाँ के मुरीद थे। मिर्ज़ा साहब भी उन्हें प्रेम की नज़र से देखते थे और इनपर बड़ी कृपा रखते थे। मिर्ज़ा साहब के यहाँ अकसर उपदेश और प्रवचन या कविता-पाठ और मुशायरा हुआ करता था। चुनांचे कभी कभी ऐसा होता था कि मिर्ज़ा साहब बैठे हैं और उनके पास 'तावाँ' भी हाज़िर हैं और अपने गुरु के पास आदरपूर्वक बैठे हैं। मिर्ज़ा साहब बिना मजलिस के शिष्टाचार के प्रति किसी उपेक्षा किए बिना जब 'तावाँ' को देखते थे तो आनंद से विभोर हो उठते थे। 'तावाँ' भी मिज़ाजदां थे। कुछ रसभरे शैर और लतीफ़े कहते। हज़रत उन्हें सुन सुनकर प्रसन्न होते। कोई बात यदि सबके सामने कहनी शिष्टाचार के विरुद्ध होती तो जो श्रद्धालुओं में शिष्टाचार की जो पद्धति थी, उसके अनुसार हाथ जोड़ कर कहते कि कुछ और भी अर्ज़ किया चाहता हूँ। हज़रत मुस्कुराकर उन्हें अनुमति देते। वह कान के पास मुँह ले जाते और कुछ गुस्ताखाना बातें चुपके-चुपके ऐसी कहते, जो कि सिवा ऐसे दुलारे और ढीठ शिष्य के, और कोई नहीं कह सकता। इसपर हज़रत मुस्कुराते और फ़रमाते कि 'दुरुस्त है'। फिर 'तावाँ', इसी तरह की कुछ और बातें कहते और आप फिर फरमाते कि 'हाँ हाँ, बिल्कुल दुरुस्त हैं''। इसके बाद जब 'तावाँ अपनी जगह पर आ बैठते तो फिर हज़रत स्वयं कहते कि 'एक बात का तुम्हें ख़्याल नहीं रहा' और 'तावां' के कान के पास मुँह ले जाते और उससे भी अधिक पुरलुत्फ़ कोई लतीफ़ा अपनी ओर से कहते। इस तरह अपने प्रिय शिष्य के साथ प्रेमालाप का आनंद लेते थे। बहुत अफ़सोस है कि यह फूल वसंत में लहलहाता ही मुर्झा गया। हाय मेरी दिल्ली, तेरी जो बात है, जग से निराली है। जब यह यूसुफ़ की तरह खूबसूरत नौजवान अपनी चढ़ती जवानी में ही इस संसार से चल बसा तो सारे शहर ने उसकी मृत्यु पर शोक प्रकट किया। मीर तक़ी 'मीर' ने भी अपनी एक ग़ज़ल के मक़्ता में कहा है :—

दाग़ है तावां अलैहुर्रहमतः का छाती पे 'मीर',
हो नेजात इसको बिचारा हम से भी था आश्ना॥

मिर्ज़ा साहब की शैक्षिक योग्यता विद्वानों जैसी नहीं थीं, किंतु उन्होंने धार्मिक ग्रंथों का नियमपूर्वक अध्ययन किया था। हन्फ़ी मज़हब के साथ नक़्शबन्दी मत के अनुयायी थे और धार्मिक व्यवस्थाओं का निष्ठापूर्वक पालन करते थे। आचार

Chennai and eGangotri

व्यवहार, नशस्तबरख़ास्त के शिष्टाचार का विशेष ध्यान रखते थे। इसलिये जो भी व्यक्ति इनके निकट उठता-बैठता था, वह उचित शिष्टाचार का पालन करने के बारे में सजग रहता था। उनका सुरुचिपूर्ण स्वभाव और विनोद प्रियता ऐसी थी कि उनके बारे में लतीफ़े सुनकर आश्चर्य होता है।

एक दिन दर्जी इनकी टोपी सी कर लाया। इसकी काट ज़रा टेढ़ी थी। उस समय उनके पास कोई दूसरी टोपी न थी, इसलिये उसी को पहनना पड़ा, मगर कहते हैं कि उसके पहनने से उनके सर में दर्द होने लगा।

जिस चारपाई में कान हो, उसपर इनसे बैठा न जाता था। घबरा कर उठ खड़े होते थे। दिल्ली दरवाज़े के पास एक दिन पालकी में सवार चले जाते थे। राह में एक बनिए की चारपाई के कान पर नज़र जा पड़ी। ये वहीं ठहर गए और जब तक उसका कान न निकलवा लिए आगे न बढ़े।

एक दिन एक नवाब साहब जो इनके ख़ानदान के मुरीद थे, इनसे मिलने आए और खुद सुराही ले कर पानी पिया। संयोगवश उन्होंने सुराही के ऊपर आबखोरा टेढ़ा रख दिया। मिर्ज़ा इसको देखकर इतने चिढ़े कि अपने को ज़ब्त न कर सके और बिगड़ कर कहा कि "अज़ीब बेवकूफ़ था, जिसने तुम्हें नवाब बना दिया। तुम्हें सुराही पर आबखोरा रखना भी नहीं आता"।

मौलवी गुलाम याहिया फ़ाज़िल जलील, जिन्होंने मीर ज़ाहिद पर टीकाएँ लिखी हैं, एक दैवी प्रेरणा के कारण मिर्ज़ा के मुरीद होने के लिये दिल्ली आए। उनकी दाढ़ी बहुत घनी थी। जुमा के दिन मिर्ज़ा साहेब से जामा मस्जिद में मिले और अपना संकल्प प्रकट किया। मिर्ज़ा ने उनकी सूरत को ग़ौर से देखा और कहा कि "अगर आप मुझसे दीक्षा लिया चाहते हैं तो पहले अपनी दाढ़ी को तरशवा कर अपनी सूरत भले आदमियों जैसी बनाइए फिर मेरे पास तशरीफ़ लाइए, अल्लाह खूबसूरत चीज ही को पसंद करते हैं। भला यह रीछ की सी सूरत जब मुझको अच्छी नहीं मालूम होती है तो अल्लाह को कब पसंद आएगी।" मुल्ला साहब शरअ (इस्लामी शास्त्र) के अनुसार आचरण करनेवाले थे इसलिए घर में बैठ रहे। लेकिन तीन दिन तक बराबर स्वप्न में देखा कि मिर्ज़ा के बिना तुम्हें धार्मिक आस्था की प्राप्ति न होगी। अंत में बेचारे ने दाढ़ी को हजाम के सुपुर्द किया और जैसी ख़शख़शी दाढ़ी मिर्ज़ा साहब रखते थे, वैसी ही रख कर उनके मुरीद बने।

अपने स्वभाव की रसिकता और रुचि की मधुरता के कारण इन्हें काव्यरचना की ओर रुझान हुई और इस प्रयास में इन्होंने भाषा को ऐसा परिमार्जित किया कि जो शायर इनसे पहले गुज़रे थे, उन्हें पीछे छोड़ अपने समकालीन कवियों के सामने ऐसी परिष्कृत भाषा का एक ऐसा नया नमूना पेश किया, जिसके प्रभाव से उनसे पहले की अर्थालंकृत काव्य-रचना की पद्धति का अंत हो गया। इनकी कविताओं के आशिक़ाना मज़मून बड़े मर्मस्पर्शी होते थे क्योंकि ये स्वभावतः स्वयं आशिक-मिज़ाज थे। औरों की कविता में यह विषय केवल काल्पनिक रूप में आता है, किंतु इनके लिये तो

Chennai eGangotri Urdu

यह इनकी यथार्थ मानसिक परिस्थिति की अभिव्यक्ति थी। इनकी भाषा अत्यंत प्रांजल और विशुद्ध होती थी। इस समय के मुहावरों की कैफ़ियत कुछ इनकी कविता से और कुछ उस वार्तालाप से प्रकट होगी, जो एक बार इनसे और सैयद इंशा से मुलाक़ात के समय हुई। 'दरियाए लताफ़त' से एक अनूदित उद्धरण प्रस्तुत किया जाता है--

सैयद इंशा अल्लाह खां और मिर्ज़ा जाने जानां 'मज़हर' की मुलाक़ात

'जिस जमाने में यह गुनहगार लेखक अपने पिता के साथ दिल्ली पहुँचा तो उस समय वहाँ मिर्ज़ा मज़हर के साहित्यिक उत्कर्ष की बड़ी चर्चा थी। उनकी शोहरत मुझ तक भी पहुँची। दिल और आँख में होड़ मच गई। आँख का यह तक़ाज़ा हुआ कि मिर्ज़ा साहिब की दीदार से क्यों अपने आप को वंचित रखना चाहते हो और दिल ने यह कहा कि अदबी रसास्वाद और कहानी परितोष, जो उस महानुभाव के अद्भुत साहित्य में हैं, तुम उनसे अपने आप को क्यों महरूम रखते हो। लाचार ख़त तरशवा कर और ढाके की मलमल का लिबास पहनकर बाँधनूवाली लाल पगड़ी सर पर रख और दूसरे लिबास भी इसी तरह पहना और जो कुछ हथियार अपने साथ ले सका ले लिया। कटार जिसे मैंने कमर से बाँध रखा था, बड़ी बाँकी थी। बस इस अंदाज़ से हाथी पर बैठकर उस प्रसादयुक्त और आकर्षक महान् आत्मा की सेवा में हाज़िर होने के लिये रवाना हुआ। जब मैं केवल राम बनिए के कोठे पर, जिसे उसने जामा मस्जिद से लगे हुए बना रखा था, और जो मिर्ज़ा साहिब की मुलाक़ात की जगह थी, पहुँचा तो मैंने देखा कि वह आदरणीय महानुभाव उजले लिबास और अत्यंत खुश अख़लाक़ी के साथ, जो खुदापरस्त लोगों का एक स्वाभाविक गुण होता है, मेरे सलाम को क़बूल करते हुए खड़े हो गए और मुझ अकिंचन को अपने हृदय से लगाकर अपने पास बिठाया।

मिर्ज़ा साहेब का एक दीवान फ़ारसी भाषा में है, जिसका संकलन इन्होंने स्वयं हज़ार शेरों में से एक हज़ार शेर को चुन कर किया था। इसीलिये इसकी ग़ज़लें प्रायः अपूर्ण और अव्यवस्थित ढंग से संगृहीत मालूम होती हैं। यह इनके अत्यंत न्यायप्रिय और स्वस्थ मूल्यांकन की प्रवृत्ति का द्योतक है। क्योंकि अपनी रचनाएँ अपनी आंतरिक भावनाएँ रूपी संतान के समान होती है। कौन इतना कठोर हृदय होगा जो अपने हाथों इन्हें काटे? इनकी फ़ारसी बड़ी शुद्ध और परिमार्जित होती थी और उनमें आशिक़ाना मज़मून बड़े अंदाज़ से बँधे होते थे।

मेरा चे जुर्म कि हर नालः अम जमूर वफ़ी,
ग़लत कुनंद अज़ीज़ा ब मिस्रए उस्ताद ॥

(मेरा क्या क़सूर है कि मेरे अज़ीज़ मेरे हर आहो फ़रयाद को उस्ताद के मिस्रे के अनुसार ग़लत कर देते हैं।)

उर्दू में भी इनका कोई पूरा दीवान नहीं मिलता, ग़ज़लें और शेर हैं। उनसे पता चलता है कि इनकी भाषा 'सौदा' और 'मीर' जैसी है। लेकिन 'सौदा' भला किसी की साहित्यिक क़ाबलियत की सराहना और आदर क्यों करें? इसलिये शिष्टाचार और सद्भाव को ताक़ पर रख कर वे कहते हैं :—

मज़हर का शेर फ़ारसी और रेखता के बीच,
'सौदा' यक़ीन जान कि रोड़ा है वाट का ।।
आगाहे फ़ारसी तो कहें इसको रेखता,
वाक़िफ़ जो रेखता के ज़रा होवे ठाट का ।।
सुन कर वह ये कहे कि नहीं रेखता है यह,
और रेखता भी है तो फ़िरोज़शाह की लाट का ।।
अलकिस्सा इसका हाल यही है जो सच कहूँ,
कुत्ता है धोबी का कि न घर का न घाट का ।।

+ \+ \+

'ख़रीता जवाहिर' यह फ़ारस के उस्तादों के शेरों का संक्षिप्त संग्रह है, जो ये अपनी पसंद के अनुसार लिखते गए थे। यह पुस्तक सचमुच खरीतए जवाहिर (जवाहिरों का थैला) है।

जबकि ज़िंदगी की सफ़र में उम्र की ७९ मंज़िलें तै करके ८० वें में पाँव रखा तो इन्हें ऐसा एक आंतरिक आभास होने लगा कि अब आत्मा रूपी यात्री इस शरीर का बोझ चाहता है। इसलिये स्वयं अपनी रचनाओं और वार्ताओं में इसकी ओर स्पष्ट संकेत किया करते थे।

लतीफ़ा—इनमें आस्था रखनेवाले एक शख़्स का बेटा बड़ी श्रद्धा से इनके पास एक ग़ज़ल लेकर आया कि इनका शागिर्द हो और इनसे इस्लाह ले। इन्होंने कहा कि "मैं प्रसाद के रूप में आपका आशीर्वाद चाहता हूँ" फ़रमाया कि "इस वक़्त एक शेर ख़्याल में आया है उसी को हमारा प्रसाद और हमारी इस्लाह दोनों समझ लो :—

लोग कहते हैं कि मर गया मज़हर
फ़िर हक़ीक़त मैं घर गया मज़हर ।।

ग़रज़ कि मुहर्रम की सातवीं को रात में एक आदमी मिठाई की टोकरी हाथ में लिए आया। दरवाज़ा बंद था। पुकारा और यह कहा कि मैं मुरीद हूँ और कुछ भेंट लेकर आया हूँ। वह बाहर निकले कि उसने कड़ाबीन मारी और गोली इनके सीने के पार हो गई। वह आदमी तो भाग गया लेकिन इन्हें ज़ख़्म भरपूर आया। इस दशा में तीन दिन तक जिए। दर्द से बेचैनी में लोटते थे और अपना ही शेर पढ़ते थे :—

बना करदंद खुश-रस्मे बख़ूनो ख़ाक ग़लतीदन,
ख़ुदा रहमत कुनद ई आशिक़ाने पाक तीनत रा ।।

यह तीन दिन इन्होंने बड़े धैर्य और मानसिक संतुलन से बिताए। बल्कि जब बादशाह शाहआलम को इस दुर्घटना की सूचना मिली तो उन्हों ने तहक़ीक़ात के बाद कहला भेजा कि क़ातिल का पता नहीं मिलता। यदि पता मिल जाएगा तो उसे ज़रूर सज़ा देंगें। जवाब में इन्हों ने कहला भेजा कि फ़क़ीर तो ख़ुदा की राह के मारे होते हैं। और मुर्दे का मरना क़त्ल नहीं। क़ातिल मिले तो आप उसे सज़ा न दें, मेरे पास भेज दें अंत में दसवीं को संध्या के समय उनकी मृत्यु हुई। बहुत से शायरों ने इस घटना के संबंध में शोक सूचक कविताएँ लिखीं। लेकिन सब से उत्कृष्ट कविता मीर क़मरुद्दीन मिन्नत की थी, जिसको उन्होंने ख़ास हदीस के शब्दों के आधार पर लिखी, जो इस घटना के लिये बड़ी उपयुक्त है :—

इस हत्या का कारण दिल्ली के सर्वसाधारण लोगों में यह मशहूर था कि मुहर्रम की रस्म के अनुसार सातवीं को अलम (झंडे) उठे थे। यह राह के किनारे अपने कोठे पर ख़ास ख़ास मुरीदों को लिए बैठे थे। जैसा कि प्रायः गँवार जाहिलों की आदत है, शायद आपस में कुछ व्यंग कटाक्ष हुए हों और वह किसी जाहिल को नागवार मालूम हुआ हो। उनमें कोई एक निर्दयी और बिल्कुल गँवार फ़ौलाद ख़ाँ नाम का शख़्स था। उसी ने यह हरकत की, लेकिन हकीम कुदरतुल्ला खाँ 'क़ासिम' अपने विवरण में लिखते हैं कि मिर्ज़ा साहेब प्रायः अपनी कविता में हज़रत अली की प्रशंसा करते थे, इसपर बिगड़ कर किसी सुन्नी ने यह हरकत की।

न करो मज़हरे मा ताअते व रफ़त बख़ाक,
नेजात खुद बतवल्लाए बू तराब गुज़श्त ॥

मेरे स्वर्गवासी दादा इनके नाम से एक शेर पढ़ा करते थे :—

हूँ तो सुन्नी पर अली का सिद्क़ दिल से हूँ गुलाम
ख़ाह ईरानी कहीं तुम ख़ाह तूरानी मुझे ॥

दिल्ली में चितली क़ब्र के पास घर ही में इन्हें दफ़न किया गया। यह अब ख़ानक़ाह कहलाती है। क़ब्र पर इन्हीं का शेर लिखा है :—

बलौहे तुरबते मन याफ़तन्द अज़ ग़ैब तहरीरे,
कि ईं मक़तूल रा जुज़ बे गुनाही नीस्त तक़सीरे ॥

इस घटना के बारे में मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' ने भी कहा है :—

मिर्ज़ा का हुआ जो क़ातिल एक मुर्तिदे शूम,
और उनकी हुई ख़बर शहादत की अमूम।
तारीख़ अज़ रुए 'दर्द' यह सुन के कही,
'सौदा' ने कि हाय जाने-जानाँ मज़लूम ॥

इस लिखने से मेरा आशय बस इतना ही है कि 'हजो' (निंदासूचक कविता) हमारी पद्यरचना की एक कटीली शाख़ है, जिसके फल और फूल दोनों ही नीरस और

सूखे ही रहे। इस में 'सौदा' सब से ज़्यादा बदनाम थे, लेकिन सच तो यह है कि इनकी ज़बान से जो कुछ निकलता था, वह केवल इनके मिज़ाज की शोख़ी या किसी क्षणिक नाज़गी के आवेश के कारण निकलता था। क्योंकि जैसे ही उनके अशिष्ट या निंदात्मक शब्दों की सियाही काग़जों पर सूखी कि उनका दिल भी साफ़ हो जाता था। इसलिये मिर्ज़ा साहेब के बिषय में जो उपर्युक्त शब्द उन्होंने कहे, वे उनके प्रति किसी वैमनस्य के कारण नहीं कहे गए थे, बल्कि उन्होंने साफ़ दिल से जो कहना था, कह दिया। आज कल तो हम लोग प्रायः ऐसे लोगों को ही सभ्य और सुसंस्कृत समझते हैं कि जो यदि मुँह से कोई शब्द किसी की निंदा में कहे तो उसे तो वे गाली देना समझते हैं, लेकिन उनके दिल में क्या भरा होता है, उसे भगवान् ही जानें।

इनके शिष्यों में मीर मुहम्मद बाक़र 'हज़ीं', बसावन लाल 'बेदार', ख़्वाजा अहसनुल्ला ख़ाँ 'ख्यान', इनामुल्ला ख़ां 'यक़ीन', ये लोग प्रसिद्ध दीवान के रचयिता और अच्छे शायरों में गिने जाते थे। इनकी पूरी ग़ज़लें न मिल सकीं। इसलिए जो कुछ चले हाथ मिल सकीं, प्रस्तुत किया जा रहा है :—

चली अब गुल के हाथों से लुटा कर कारवाँ अपना।
न छोड़ा हाय बुलबुल ने चमन में कुछ निशाँ अपना॥
यह हसरत रह गई क्या-क्या मज़े से ज़िंदगी करते।
अगर होता चमन अपना, गुल अपना, बाग़बाँ अपना॥
अलम से यां तलक रोई कि आख़िर हो गईं रसवा।
डुबोया हाय आँखों ने मुज़ह का ख़ान्दां अपना॥
रक़ीवाँ की न कुछ तक़सीर साबित है न ख़ूबाँ की।
मुझे नाहक़ सताता है यह इश्क़े बदगुमाँ अपना॥
मेरा जी जलता है उस बुलबुले बेकस की गुरबत पर।
कि जिनने आसरे पर गुल के छोड़ा आशियाँ अपना॥
जो तुमने की सो दुश्मन भी नहीं दुश्मन से करता है।
ग़लत था जानते थे तुझ क़ो गो हम मेहरबाँ अपना॥
कोई आजुर्दा करवाँ है सजन अपने को है ज़ालिम।
कि दौलत-ख्वाह अपना, मज़हर अपना, जानेजाँ अपना॥

× × ×

गरचे अल्ताफ़ के क़ाबिल यह दिले-ज़ार न था।
लेकिन इस जोरो-जफ़ा का भी सज़ावार न था॥

लोग कहते है मुआ मज़हरे बेकस अफ़सोस
क्या हुआ उसको वह इतना भी तो बीमार न था॥

× × ×

जवाँ मारा गया ख़ूबाँ के बदले मीरज़ा मज़हर।
भला था या बुरा था जोर कुछ था ख़ूब काम आया॥

× × ×

हमने की है तौबा और धूमें मचाती हैं बहार।
हाय बस चलता नहीं क्या मुफ़्त जाती है बहार॥
लाला वो गुल न हमारी ख़ाक पर डाला है शोर।
क्या क़यामत है मुग़ों को भी सताती है बहार॥
शाख़े गुल हिलती नहीं यह बुलबुलों को बाग़ पें।
हाथ अपने के इशारों से बुलाती है बहार॥
हम गिरफ़्तारों को अब क्या काम है गुलशन से लेक।
जी निकल जाता है जब सुनते हैं आती है बहार॥

× × ×

यह दिल कब इश्क़ के क़ाबिल रहा है।
कहाँ इसको दिमाग़ो दिल रहा है॥
ख़ुदा के वास्ते इसको न टोको।
यही एक शहर में क़ातिल रहा है॥
नहीं आता इसे तकिये पे आराम।
यह सर पावों से तेरे हिल रहा है॥

× × ×

अगर मिलिए तो ख़िफ़्फ़त है, वगर दूरी क़यामत है।
ग़रज़ नाज़ुक दिमाग़ों को मुहब्बत सख़्त आफ़त है॥

× × ×

तौफीक़ दे कि शोर से एक दम तो चुप रहे।
आख़िर मेरा यह दिल है इलाही जरस नहीं॥

× × ×

'ताबाँ' की ग़ज़लें

नहीं कोई दोस्त अपना, यार अपना, मेह्रबाँ अपना।
सुनाऊँ किस को ग़म अपना, अलम अपना, बयाँ अपना॥
बहुत चाहा कि आवे यार या इस दिल को सब्र आवे।
न यार आया, न सब्र आया दिया जी में नदाँ अपना॥

क़फ़स में तड़पे हैं यह अंदलीबाँ सख्त बेवस हैं।
न गुलशन देख सकते हैं न अब यह आशियाँ अपना।।
मुझे आता है रोना ऐसी तनहाई पर ऐ 'तावाँ'।
न यार अपना, न दिल अपना, न तन अपना, न जाँ अपना।।

× × ×

रहता हूँ ख़ाको खूँ में सदा लोटता हुआ।
मेरे ग़रीब दिल इलाही यह क्या हुआ।।
मैं अपने दिल को गुंचए तस्वीर की तरह।
यारव कभू खुशी से न देखा खिला हुआ।।
नासेह अबस नसीहते बेहुदा तू न कर।
मुमकिन नहीं कि छूट सके दिल लगा हुआ।।
हम बेकसी पे अपनी न रोएँ तो क्या करें।
दिलसा रफ़ीक़ हाय हमारा जुदा हुआ।।

× × ×

जफ़ा से अपनी पशेमाँ न हो, हुआ सो हुआ,
तेरी वला से मेरे जी पे जो हुआ सो हुआ।।
सबब जो मेरी शहादत का यार से पूछा,
कहा कि अब तो इसे गाड़ दो हुआ सो हुआ।।
यह दर्दे इश्क़ है मेरा नहीं इलाजे तबीब,
हज़ार कोई दवाएँ करो हुआ सो हुआ।।
भले बुरे की तेरे इश्क़ में उड़ा दी शरम,
हमारे हक़ में कोई कुछ कहो हुआ सो हुआ।।
न पाई ख़ाक भी 'तावाँ' की हमने फिर ज़ालिम,
वह एकदम ही तेरे रू-बरू हुआ सो हुआ।।

× × ×

सुन फ़स्ले गुल खुशी हो गुलशन में आइयाँ हैं,
क्या बुलबुलों ने देखो धूमें मचाइयाँ हैं।।
बीमार है, ज़मी से उठती नहीं असा बिन,
नरगिस को तुमने शायद आँखें दिखाइयाँ हैं।।
आईना रू-बरू रख और अपनी छब दिखाना,
क्या खुद-पसंदियाँ हैं क्या खुद-नुमाइयां हैं।।

देखे से आईना भी हैरान है तेरा 'रू,
चेहरे के बीच तेरे क्या क्या सफ़ाइयां हैं ।।
ख़ुर्शीद गर कहूँ मैं तो जान है वह पीला,
जो मह कहूँ तेरा रू उसपर तो छाइयाँ हैं ।।
जब पान खा के प्यारा गुलशन में जा हँसा है,
बेअख़्तियार कलियाँ तब खिलखिलाइयाँ हैं ।।
कहते थे हम किसी से तुम बिन नहीं मिलेंगे,
अब किस के साथ प्यारे वे दिल-रुबाइयां है ।।
आशिक़ से गर्म मिलना फिर बात भी न कहना,
क्या बेमुरव्वती है क्या बे-वफ़ाइयाँ हैं ।।
अफसोस ऐ सनम तुम ऐसे हुए हो अबतर,
मिलते तो ग़ैर से जा हम से रुखाइयाँ हैं ।।
क़िस्मत मे देखें क्या है, जीते रहें कि मर जायँ,
क़ातिल से हमने यारो आँखे मिलाइयाँ हैं ।।
अब मेह्रबाँ हुआ है 'ताबाँ' तेरा सितमगर
आहें तेरी किसी ने शायद सुनाइयाँ हैं ।।

× × ×

मिर्ज़ा मोहम्मद रफ़ी 'सौदा'

'सौदा' उपनाम, मिर्ज़ा मोहम्मद रफ़ी नाम। दिल्ली शहर को इनके काव्य-कौशल का गौरव है। इनके पिता मिर्ज़ा मोहम्मद शफ़ी काबुल के एक सरदार थे। पूर्वजों का पेशा सिपहगिरी था। मिर्ज़ा शफ़ी तिजारत करने के लिये भारत आए। भारत भूमि की रज ने इनके चरण ऐसे पकड़े कि यहीं के हो रहे। कुछ लोगों का कहना है कि पिता की सौदागरी पेशे के कारण ही 'सौदा' ने अपना उपनाम 'सौदा' रखा। किंतु वास्तविक बात यह है कि एशिया के शायर हर देश में इश्क़ का दम भरते हैं और 'सौदा' (प्रेमोन्माद) और 'दीवानगी' (पागलपन) इश्क के सहधर्मी समझे जाते हैं। इसलिये इस प्रकार के उन्माद यानी आशिकी को भी ये एक गर्व की बात समझते हैं। इसी कारण इन्होने अपना उपनाम 'सौदा' किया।

सौदा का जन्म ११२५ हि० में हुआ और दिल्ली में ही इनका लालन-पालन हुआ। काबुली दरवाज़े के आसपास इनका घर था। एक बड़े फ़ाटक के भीतर इनका बैठक-ख़ाना था। दिल्ली-विध्वंस के समय यह दरवाज़ा भी तोड़-फोड़ दिया गया था। शेख़ इब्राहीम 'ज़ौक़' अक्सर उधर टहलते हुए जा निकलते थे। मैं भी उनके

साथ होता था। मिर्ज़ा के समय की बातों की चर्चा करके भगवान की लीला को याद किया करते थे।

'सादा' उस समय की प्रथा के अनुसार पहले सुलेमान् कुली ख़ाँ 'बदाद' और फिर शाह 'हातिम' के शागिर्द हुए। शाह साहेब ने भी अपने दीवान की भूमिका में अपने जिन शागिर्दों की सूची दी हैं, उनमें सौदा के नाम का इस तरह उल्लेख है, जिससे ऐसा मालूम होता है कि उन्हें इनकी शागिर्दी का गर्व था। सचमुस उस उस्ताद के बड़े भाग्य हैं, जिसकी गोद में ऐसा शागिर्द पल कर बड़ा हो। 'सौदा' ख़ान आरज़ू के शागिर्द न थे, लेकिन उनके संपर्क से उन्हें बहुत लाभ हुआ। पहले यह फ़ारसी भाषा में शेर कहा करते थे। ख़ान आरज़ू ने कहा कि 'मिर्ज़ा, फारसी अब तुम्हारी मादरी ज़बान नहीं। इसमें तुम्हारी इतनी योग्यता नहीं हो सकती कि तुम्हारी कविता फ़ारसी भाषाभाषियों की कविता की तुलना में कोई विशेष मान्यता प्राप्त कर सके। तुम्हारी रुचि में कव्योचित अनुकूलता है और यह शेर कहने के लिये विशेष रूप से उपयुक्त है। तुम उर्दू में काव्य रचना करो तो अपने समय के एक अच्छे कवि हो जाओगे'। मिर्ज़ा भी समझ गए और उन्होंने इस वयोवृद्ध उस्ताद के आदेश का पालन किया। अपनी रुचि संपन्नता और अनवरत अभ्यास के कारण इन्होंने दिल्ली जैसे शहर में जनसाधरण से अपनी काव्य-कुशलता की मान्यता प्राप्त की। यहाँ तक कि इनके जीवन काल में ही इनकी ग़ज़लें घर-घर और गली, बाज़ारों में हर एक की ज़बान पर चढ़ गई।

जब इनकी कविता की ख्याति चारों ओर फैली तो शाह आलम बादशाह अपनी रचनाएं इनके पास इस्लाह के लिये भेजने लगे और उसके लिये बराबर आग्रह भी करते रहते थे। एक दिन किसी ग़ज़ल के इस्लाह के लिये अनुरोध किया तो इन्होंने कुछ टाल-मटोल किया, बादशाह ने इनसे पूछा "भई मिर्ज़ा, कितनी ग़ज़लें रोज़ कह लेते हो?" सौदा ने कहा, "पीरो मुर्शिद, जब तबीयत लग जाती है, दो चार शेर कह लेता हूँ"। बादशाह ने फ़र्माया, "भई, हम तो पाख़ाने में बैठे बैठे चार गजलें कह लेते हैं"। सौदा ने हाथ जोड़कर कहा, इसीलिए तो उनमें "वैसी बू भी आती है"। यह कह कर चले आए। बादशाह ने फिर इन्हें कई बार बुला भेजा और कहा कि हमारी ग़ज़लें शोध दिया करो हम तुम्हें राजकवि बना देंगे। परंतु यह न गए और कहा कि "हजूर के यह उपाधि देने से हमें क्या लाभ? हमें हमारी कविता ही राजकवि बनाएगी"। फिर एक लंबी कविता दिल्ली की उथल-पुथल के बारे लिखा :—

'कहा मैं आज सौदा से क्यों है डावाँ डोल'

मर्मज्ञताहीन और अल्पज्ञ लोगों की समक्ष में इस रचना में 'सौदा' ने बादशाह और उनके दरबार की निन्दा की है किंतु यदि ध्यान से देखा जाय तो यह एक देशप्रेमी कवि द्वारा अपने वतन के ऊपर लिखा गया एक मर्मभेदी मर्सिया है।

मिर्ज़ा मन मारकर घर बैठ रहे। किंतु गुणग्राहियों की कमी न थी। इसलिये इन्हें कुछ विशेष असुविधा नहीं हुई। इनमें कुछ धनी और प्रतिष्ठित लोग भी थे, जिनमें मेहरबान ख़ाँ और वसंत ख़ाँ ख़्वाजासरा विशेष उल्लेखनीय हैं। यह वही बसंत ख़ाँ हैं, जिनकी प्रशंसा में 'सादा' ने यह क़सीदा कहा है :--

कल हिर्स नाम शख़्से सौदा पै मेहरबाँ हो।
बोला नसीव तेरे सब दौलते जहाँ हो॥

इन लोगों की उदारता के कारण इनका जीवन काफ़ी सुख चैन से गुज़रने लगा। इनके काव्यकुशलता की ख्याति जब नवाब शुजाउद्दौला ने लखनऊ में सुनी तो बड़े आग्रह से इन्हें 'बिरादरेमन', 'मुश्फ़िक़ मेहरबानमन' इत्यादि संबोधनों के साथ इनके पास एक पत्र, मार्गव्यय के साथ भेजकर लखनऊ आने के लिए आमंत्रित किया। लेकिन दिल्ली का छोड़ना उन्हें पसंद न था। उत्तर में केवल इस सुंदर रुबाई द्वारा इन्होंने अपनी विवशता प्रकट किया :--

'सौदा पये दुनिया तू वहरसू कव तक,
आवारा अज़ीं कूचः वआँ कू कव तक॥
हासिल यही इससे न कि दुनिया होवे ?
विल्फ़र्ज़ हुआ यों भी तो फिर तू कव तक॥

कुछ वर्ष पश्चात् दिल्ली में इनके प्रायः सभी गुणग्राही संरक्षकों की मृत्यु हो गई। समय ने पल्टा खाया। सौदा बहुत घबराए। उस समय ऐसे हतभाग्य व्यक्तियों के लिये केवल दो ठिकाने थे--लखनऊ या हैदराबाद। लखनऊ पास था और वहाँ फ़ैयाजी और उदारता की गंगा बह रही थी। इसलिये जो दिल्ली से निकलता था उस ओर मुड़ता था। और वहाँ उसे इतनी कुछ उपलब्धि हो जाती थी कि फिर दूसरी ओर जाने का विचार नहीं करता था। उस समय वहाँ के शासक बल्कि शासित वर्ग भी ऐसे जिज्ञासु थे कि चुटकुलों को कहानियों के मोल ख़रीदते थे।

ग़रज़ ६० या ६६ वर्ष की उम्र में दिल्ली से निकल कर 'सादा' कुछ दिन फ़रख़ाबाद में नवाब बंगश के पास रहे। उनकी प्रशंसा में लिखी गई उनकी कई रचनाएँ मिलती हैं। वहाँ से सन् ११८५ हि० में यह लखनऊ पहुँचे और वहाँ नवाब शुजाउद्दौला से मुलाक़ात किया। वह इन से बहुत आदर से मिले और उन्होंने इनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता ज़ाहिर किया लेकिन या तो बेतकल्लुफ़ी से या व्यंग्य से इतना कहा कि मिर्ज़ा वह रुबाई तुम्हारी अब तक मेरे दिल पर नक़्श है। और उसी को फिर से पढ़ा। 'सौदा' को इस कटाक्ष से अपनी गिरी हुई दशा और हीनता पर बड़ा क्षोभ हुआ और स्वाभिमान और हयादारी के कारण फिर दरबार न गए। कुछ दिनों बाद शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गई और उनकी जगह आसफ़ुद्दौला गद्दी पर बैठे।

लखनऊ में मिर्ज़ा फ़ख़र मक़ीं फ़ारसी भाषा के एक प्रसिद्ध कवि थे। इनसे और सौदा से किसी कारण काफ़ी अनबन हो गई और झगड़े ने ऐसा तूल खींचा कि इसकी ख़बर नवाब आसफ़ुद्दौला के दरबार तक पहुँचने की नौबत आई। इसका नतीजा यह हुआ कि इनाम-अकराम के अलावा नवाब द्वारा इनके लिये छह हज़ार रुपये की वार्षिक वृत्ति नियुक्त कर दी गई। और उसके बाद नवाब की इनपर बड़ी कृपादृष्टि रहने लगी। अकसर वे अंतःपुर में बैठे होते और वहाँ उन्हें मिर्ज़ा के आने की सूचना मिलती तो वह तुरत निकल आते। इनके शेर सुनकर बहुत मज़ा लेते थे और बराबर इनाम वग़ैरह देकर इन्हें खुश रखते।

जब तक मिर्ज़ा जीवित रहे नवाब और लखनऊ के जनसाधारण द्वारा समादृत हुए और यही कारण था कि इनका जीवन अंत काल तक बराबर सुखी और संपन्न रहा। लगभग ८० वर्ष की आयु में (सन् ११९५ हि० में) वहीं इस संसार से विदा हुए। उस समय शाह हातिम जीवित थे। इनकी मृत्यु का दुखद समाचार सुनकर बहुत रोए और कहा कि अफ़सोस, एक अत्यंत प्रतिभाशाली कवि हमारे बीच से चला गया।

हज़रत कुदरतुल्ला ख़ाँ 'क़ासिम' लिखते हैं कि मिर्ज़ा ने वृद्धावस्था में दिल्ली छोड़ी। उनकी पुस्तक 'तजकिरए-दिलकुशा' में उनके ६६ वर्ष की आयु में लखनऊ जाने की बात लिखी है। आश्चर्य है कि इनके जिस काव्यसंग्रह की रचना लखनऊ में हुई, उसमें इनके युवावस्था में ही लखनऊ जाने का उल्लेख है। अस्तु, चूँकि शुजाउद्दौला की मृत्यु सन् ११८८ हि० में हुई, इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि मिर्ज़ा की कुल आयु लगभग ७० वर्ष की रही होगी।

इनके बाद इनके वंश में काव्य कुशलता का भी अंत हो गया। सन् १८५८ ई० में लखनऊ गया। बड़ी खोज के बाद एक व्यक्ति मिले, जो मिर्ज़ा साहब के नवासे कहलाते थे बेचारे पढ़े लिखे तक न थे। और अत्यंत आपदग्रस्त दशा में मालूम होते थे। सच है—

'मीरासे पेदर ख्वाही इल्मे पेदर आमोज'

(अगर बाप की संपदा के अधिकारी होना चाहते हो तो बाप का इल्म हासिल करो)

बंदए इश्क़ शुदी तर्के नसब कुन जासी,
कां-दरी राह फ़ला इब्ने फ़लां चीजें नीस्त

(जब इश्क़ की उपासना की है तो ऐ जामी, यह भूल जा कि तेरा ख़ान्दान क्या था। क्योंकि इस रास्ते में ख़ान्दान ऐसी चीज़ का कोई मूल्य नहीं)

इनकी रचनाओं का संग्रह हर जगह मिल जाता है और इसे सभी साहित्यिक व्यक्ति श्रद्धा और क़द्रदानी की दृष्टि से देखते हैं। हक़ीम सैयद असलहुद्दीन ने इस संग्रह को क्रमबद्ध किया था और इसकी एक भूमिका भी लिखी थी। पुराने मुहा-

वरों पर अगर ध्यान न दें तो इनकी सारी काव्यशैली और भाषात्मक संरचना उर्दू साहित्य की पद्धति और उसके क़वायद पर आधारित पाई जाती है। आरंभ में कुछ उर्दू के क़सीदे (पद्यात्मक प्रशंसा) धार्मिक महात्माओं और प्रशंसा में लिखी है। इसी प्रकार इसमें फ़ारसी के क़सीदे, २४ मसनवियाँ, बहुत सी हिकायतों (कहानियाँ) और लतीफ़ों (चुटकुले) का उल्लेख है, फिर एक संक्षिप्त किंतु अत्यंत विद्वात्तापूर्ण दीवान फ़ारसी का है। एक रेख़्ता का दीवान है, जिसमें बहुत सी सुंदर ग़ज़लें हैं। फिर मतले, रुबाइयाँ, मुसतज़ाद, क़तआत, तारीख़ें, पहेलियाँ, वासोख़्त, तरजीअ-बंद, मुखम्मस सब कुछ कहा है। और हर एक प्रकार की ऐसी व्यंग्यात्मक और निंदात्मक कविताएँ लिखी हैं, जो इनके ईर्षालू विपक्षियों के दिल को कभी खून और कभी कबाब ज़रूर बना देती होंगी। इनकी एक रचना 'तज़किरा-ए-शेअराए-उर्दू' है जो कि अब दुर्लभ है।

ग़ज़लें उर्दू में पहले से भी लोग कह रहे थे। किंतु दूसरे श्रेणी के कवियों ने जो कुछ प्रशंसात्मक पद्य की रचनाएँ की हैं वे इस ढंग की हैं कि उन्हें 'क़सीदः' नहीं कह सकते। इसलिये यथार्थ रूप में क़सीदों की रचना और उसे प्रांजल और सुसंस्कृत भाषा से अलंकृत करने का पहले पहल गौरव इन्हीं को प्राप्त हुआ। वह इस मैदान में फारसी के प्रख्यात शहसवारों के साथ दौड़ में उनके बराबर ही नहीं रहे, बल्कि अक्सर मैदान में उनके आगे निकल गए हैं। इनकी रचनाएँ अपने ओजपूर्ण विवेचन में 'अन्वरी' और 'ख़ाक़ानी' से बढ़चढ़ कर हैं। और अपने अंतर्विषय की कोमलता और मिठास में 'उर्फ़ी' और 'ज़हूरी' को भी लज्जित करती हैं।

इन्होंने २४ मसनवियों की रचना की, जो प्रायः क़िस्सों और लतीफ़ों के रूप में लिखी गई हैं। यह सब अपने काव्य-कौशल और रचना-सौष्ठव से इनकी साहित्यिक प्रतिभा का सबूत देती हैं। किंतु इनकी आशिक़ाना मसनवियाँ इनके जैसे उच्च स्तर के कवि के लिये मौज़ूँ नहीं। ये स्वर्गीय मीर हसन तो क्या, मीर साहब के 'शोलए इश्क़' और 'दरियाए-इश्क़' के स्तर को भी नहीं पहुँचतीं। फ़ारसी का जो इनका एक संक्षिप्त दीवान है, उसकी सभी रदीफ़ें पूरी हैं। इस रचना में एक स्वाभाविक उमंग है और सभी काव्योचित सिद्धांतों का इसमें निर्वाह किया गया है। किंतु अनुभवी साहित्यज्ञ जानते हैं कि एक भाषा का अभ्यास और उसमें उपार्जित दूसरी भाषा में योग्यता प्राप्त करने में भी सहायक होती है। चुनांचे शेख़ मसहफ़ी ने इस विषय की चर्चा करते हुए अपनी पुस्तक में लिखा है :—

> कहीं कहीं उस समय की बोल-चाल की भाषा के प्रयोग के दोष को छोड़ कर इनका दीवान रेख़्ता आदि से अंत तक इनकी रचनात्मक विशिष्टताओं से विभूषित है। बहुत सी ग़ज़लें ऐसे रोचक और रुचिकर छंदों में बाँधी गई हैं, जिनका प्रयोग अभी तक उर्दू काव्य-रचना में नहीं हुआ था। उनका रचना-आधार सुदृढ़ है और उनके रदीफ़ और क़ाफिए यद्यपि प्रायः असाधारण और कठिन हैं, किंतु इस कुशलता से उन्हें व्यवस्थित किया गया है कि उन्हें दूसरे क्रम से बिठाना दुःसाध्य है।

काव्यात्मक ओज के साथ इनकी भाषा से जो विनोदप्रियता टपकती है, उससे यह साफ़ प्रकट होता है कि वृद्धावस्था में भी इनके मिज़ाज में तरुणाई की उमंगें भरी हुई थीं। इनके काव्य-संग्रह में व्यंग्यात्मक और निंदात्मक रचनाओं का जो संकलन है, उसका प्रत्येक पृष्ठ मानो विनोदप्रिय लोगों के लिये कश्मीर के ज़ाफ़रान की क्यारियाँ हैं। इन कविताओं से यह मालूम होता है कि यह स्वयं ऐसे प्रसन्न-चित्त और ज़िंदादिल थे कि यह किसी प्रकार की चिंता या सोच को पास न आने देते थे। मिज़ाज की गर्मी और तेज़ी में मानो बिजली का आवेग हो। इसमें इतनी प्रचंडता थी कि व्यक्तिगत लाभ हानि की भावना न इसे बुझा सकती थी न किसी ख़तरे की आशंका इसे दबा सकती थी। इसका नतीजा यह होता था कि ज़रा भी किसी से नाराज़ हुए कि आपे से बाहर हो जाते थे। कुछ और बस न चलता तो झट उसकी निंदा भरी कविताओं का तुमार खड़ा कर देते थे।

गुंचा नाम का इनका एक नौकर था, जो हर वक़्त इनकी ख़िदमत में रहता था और साथ क़लमदान लिए फिरता था। जब ये किसी से बिगड़ते तो फ़ौरन पुकारते, "अरे गुंचा, ला तो क़लमदान। ज़रा मैं इसकी ख़बर तो लूँ। इसने मुझे समझा क्या है?" फिर शर्म और संकोच की आँखें बंद कर और बेशर्मी का मुँह खोल कर वह खरी-खोटी सुनाते थे कि शैतान भी पनाह माँगे।

उर्दू ज़बान के अरबी और फ़ारसी दो आदि स्रोत हैं। इनके कोष में हजो (निंदात्मक कविताओं) के थैले भरे हैं। मगर उस समय तक उर्दू के शायर इस प्रकार के केवल एक दो शेर कह कर दिल की भड़ास निकाल लेते थे। उनकी यह विशिष्ट शैली, जिससे निंदात्मक काव्य-रचना उर्दू शायरी के बाग़ की एक मोटी डाल हो गई, वह 'सौदा' ने ही सींची। विद्वान्, मूर्ख, फ़क़ीर, अमीर, भला, बुरा किसी की दाढ़ी इनके हाथों नहीं बची। इस तरह पीछे पड़ जाते थे कि बेचारा अपनी दाढ़ी के बाल बचाने से बेज़ार हो जाता था।

किंतु मीर 'ज़ाहक', फ़िद्वी', 'मकीन', 'बक़ा'[१] इत्यादि जैसे गुणी कवियों ने इन्हें भी नहीं छोड़ा। इनका किया इन्हीं के पल्ले डाल दिया। अलबत्ता, जन-स्वीकृति और लोकप्रियता एक दैवी प्रसाद है और उसपर किसी का अधिकार नहीं, वह इन्हें ईश्वर ने दिया और लोग इससे वंचित रहे। मिर्ज़ा ने जो कुछ कहा बच्चे-

---

[१] बक़ा 'मीर' और 'सौदा' दोनों पर ही व्यंग कसते थे। एक जगह कहते हैं:—

मीर-व-मिर्ज़ा की शेर-ख़्वानी ने,
बसकि आलम में धुम डाली थी,
खोल दीवान दोनों साहब के,
ऐ बक़ा हमने जबकि ज़्यारत की,
कुछ न पाया सिवाग इसके सुख़न,
एक 'तू तू' कहे है एक 'ही ही'॥

बच्चे की ज़बान पर है। उन लोगों ने जो कुछ कहा ढूंढने से भी नहीं मिलता। इन्हीं में से एक शेर है जो कि फ़िद्वी[1] की रुचिप्रियता की उपज है और मिर्ज़ा साहब के प्रति कहा गया है :—

'कुछ कट गई है पेटी कुछ कट गया है डोरा,
दुम दाब सामने से वह उड़ चला लटोरा।।
"भडुवा है मसख़रा है सौदा इसे हुआ है"

मिर्ज़ा ने जो राजा नरपत सिंह के हाथी के विषय में निंदात्मक मस्नवी कही है, उसके जवाब में भी किसी ने मस्नवी लिखी और खूब लिखी। चुनांचे वह कहते हैं :—

तुम अपने फ़ील माना को निकालो,
मेरे हाथी से दो टक्कर लड़ा लो।।

सैयद इंशा ने लिखा है कि 'दो टक्करें' चाहिएँ, मगर यह सैयद साहब की सीनाज़ोरी है।

इनकी व्यंगात्मक रचनाओं में एक 'साक़ीनामा' है जिसमें 'फ़ौक़ी' नाम के एक शायर की निंदा की गई है। आलस में यह रचना क़यामुद्दीन 'क़ायम'[2] निंदा

---

१. 'फ़िद्वी' असल में हिंदू थे। इनका मुकुंदराम नाम था। लेकिन मुसलमान हो गए थे। पंजाब इनकी मातृभूमि थी। विद्या कम किंतु कविता के लिये रुचि अत्यंत अनुकूल थी। साबिर अली शाह के शागिर्द थे और फ़क़ीरों की तरह जीवन व्यतीत करते थे। मुशायरे में जाते तो कभी बैठते, कभी खड़े ही खड़े ग़ज़ल पढ़ कर चले जाते थे। जब इन्होंने अहमदशाह की प्रशंसा में क़सीदा कहा तो बादशाह ने इन्हें हज़ार रुपये नक़द और एक घोड़ा और एक तलवार बतौर इनाम के दिया। इससे इनका दिमाग़ चढ़ गया और ये राजकवि होने का दावा करने लगे। किसी बात पर मिर्ज़ा पर इन्होंने व्यंग्य कसा। इसके जवाब में मिर्ज़ा ने उल्लू और बनिया शीर्षक एक व्यंग्यात्मक कविता लिखी। परिणामतः दोनों पक्षों के आक्षेप-प्रत्याक्षेप हद से बाहर हो गए। फ़िद्वी नवाब जावत ख़ाँ के यहाँ नौकर हो गए थे और अंत में इन्हें भी लखनऊ जाना पड़ा। इनका दीवान अत्यंत रोचक है और उसमें ये अपने हर ग़ज़ल का अंत पैगंबर साहब या और किसी इमाम की स्तुति से करते हैं। जुलेखा का अनुवाद भी इन्होने नवाब साहेब के अनुरोध से पद्य में किया। **गुलज़ार इब्राहीमी** में लिखा है कि यह एक बड़े दंभी व्यक्ति थे। मिर्ज़ा के मुक़ाबले के लिए ये फ़रखाबाद भी गए। किंतु वहाँ से अपमानित होकर लौट आए।

२. ये गुणी व्यक्ति चाँदपुर के रहनेवाले थे। किंतु कविता करने में बड़े निपुण थे। इनका दीवान 'मीर' और 'मिर्ज़ा' के दीवानों से कदापि घटिया नहीं कहा जा

में लिखी गई थी। यह बुजुर्ग उनके शागिर्द होने के बावजूद किसी कारण उनके विरोधी हो गए थे। जब यह साक़ीनामा लिखा गया तो बहुत घबराए और आकर इनसे माफ़ी माँगी। मिर्ज़ा ने इनका नाम निकाल डाला और उसी जगह 'फ़ौक़ी' एक काल्पनिक शायर का नाम डाल दिया।

'सौदा' ने मर्सिये[1] और सलाम[2] भी बहुत कहे हैं। उस समय मुसद्दस[3] की चलन कम थी। प्रायः मर्सिये चार मिस्रों के होते थे। किंतु मर्सिया-रचना में जो आज प्रगति हुई है, उसे देख कर उस समय के मर्सियों की चर्चा करते हुए शर्म आती है। किंचित् इन्हीं मर्सियों को देखकर आगे चलकर यह मसल मशहूर हुई थी कि 'बिगड़ा शायर मर्सिया गो' और 'बिगड़ा गवैया मर्सिया ख़्वां'। सच यह है कि मर्सिये का शायर एक ऐसे आपदग्रस्त व्यक्ति की भाँति होता है, जो अपना दुखड़ा रोता है। जब किसी का कोई मर जाता है, रंज और ग़म की दशा में जो बेचारे की ज़बान से निकलता है, कहता है। इसमें कौन ऐसा बेदर्द होगा, जो उसमें ऐबजोई करेगा? वहाँ रचना में शुद्धता और अशुद्धता काव्य-कौशल या नई या अनोखी बातों को क्या ढूँढना? ये लोग केवल धार्मिक विश्वास के दृष्टि-कोण से मर्सियों की रचना करते थे। इस लिए काव्योचित नियमों का पालन कम करते थे और कोई इस पर ध्यान भी नहीं देता था। फिर भी मिर्ज़ा की भाषा-

---

सकता। किंतु क्या किया जाय, लोकमान्यता एक विलक्षण वस्तु ही है। इन्हें कोई ख्याति न मिली। पहले तो यह शाह हिदायत के शागिर्द हुए। इनसे ऐसी बिगड़ी कि इनके बारे में एक निंदात्मक कविता लिख मारी। आश्चर्य है कि बावजूद इसके कि शाह साहेब में हद से ज़्यादा सहनशीलता और विनम्रता थी, लेकिन उन्होंने भी इनके विरोध में एक निंदात्मक कविता लिखी। फिर ख़्वाजा मीर 'दर्द' के शागिर्द हुए। उनके बारे में भी कुछ उलटी-सीधी कहकर उनसे अलहदा हुए। फिर मिर्ज़ा की खिदमत में आए और इनसे भी कहा-सुनी हुई लेकिन मिर्ज़ा तो मिर्ज़ा थे, उन्होंने उपर्युक्त निंदात्मक रचना 'साक़ीनामा' के द्वारा इनकी खूब ख़बर ली।

[1] शोक काव्य।

[2] उर्दू पद्य की एक क़िस्म जिसमें करबला के शहीदों पर शोक प्रकट होता है।

[3] उर्दू पद्य की एक क़िस्म जिसमें चार मिस्रे एक क़ाफ़िये में और दो मिस्रे अलग दूसरे क़ाफ़िये में होते हैं। और यह छः मिस्रों का एक बंद कहलाता है। ऐसे से बंदों के समूह को मुसद्दस कहते हैं। प्रायः मुसद्दस में कोई उपदेश या किसी घटना का वर्णन होता है। अगर इस मुसद्दस में करबला की शहादत का वर्णन हो तो उसे 'मरसियः' कहते हैं। अगर प्रेम के त्याग वर्णन हो तो 'वासोख़्त' होता है। अगर नायिका के नखशिख का वर्णन हो तो 'सारापा' होता है।

रूपी कटार जब अपना आन दिखाती है तो दिलों में घाव ही कर जाती है। एक मत्ला: है :—

नहीं हलाल फ़लक पर महे मुहर्रम का,
चढ़ा है चर्ख़ पे तेग़ा मुसीबतो ग़म का ।।

एक और मर्सिये का मत्ला: है :—

यारो सुनो तो ख़ालिक़े अकबर के वास्ते,
इंसाफ़ से जवाब दो हैदर के वास्ते,
वह बोसा-गह नबी थी पयम्बर के वास्ते,
या ज़ालिमों के मुर्शिदे ख़ंजर के वास्ते ।।

उपर्युक्त दोषों के बावजूद यह जहाँ किसी परिस्थिति या घटना का वर्णन करते हैं, पत्थर के दिल को भी पानी कर देते हैं। और उनके इस गुण को आजकल के मर्सिया कहनेवालों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए. क्योंकि ये लोग अपने रचना-कौशल के आवेश में आकर इस राज से अलग हो गए हैं। मज़े की बात तो यह है कि आजकल के मर्सिया कहते हैं कि "सादा" के मर्सियों में मर्सियत नहीं, केवल शायरी है।

वासोख़्त, मुख़म्मस, तर्जीअबंद, मुस्तज़ाद, क़त्अ, रुबाइयां, पहेलियाँ इत्यादि सभी अपने अपने रचना-वैचित्र्य में अनुपम हैं। विशेष कर इनकी तारीखें ज्यों की त्यों ऐसी उपयुक्त और मौज़ूँ रची गई हैं कि आश्चर्य है कि यह इतनी लोकप्रिय क्यों न हुईं। तात्पर्य यह कि इन्होंने जो कुछ कहा है, उसे एक उत्कृष्टता प्रदान की है। मिर्ज़ा की पद्य रचनाओं की भाषा के बारे में तो सभी जानते हैं कि वह कभी दूध है, कभी शरबत। मगर इनके गद्य को चखने में कठिनाई होती है। केवल मिस्री की डलियाँ चबानी पड़ती हैं। और यह स्पष्ट मालूम होता है कि उर्दू का गद्य उस समय अविकसित अवस्था में था। इसकी ज़बान अभी खुली नहीं थी। चुनांचि शाल इश्क की रचना शैली से तो यह साफ़ पता चलता है कि उसकी भाषा उर्दू है। किंतु मिर्ज़ा बेदिल का गद्य बिल्कुल फ़ारसी जैसा लगता है। यह पुस्तक इस समय उपलब्ध नहीं। किंतु एक भूमिका में इन्होंने थोड़ा सा गद्य भी लिखा है, उससे उपर्युक्त कहानी की शैली का अंदाज़ मिलता है।

कविता के पारखी इस बात से सहमत हैं कि मिर्ज़ा काव्य-कला के एक साधनक्षम उस्ताद थे। वह ऐसी परिमार्जित रुचि ले कर आए थे, जो काव्य और साहित्य-रचना के लिए विशेष रूप से उपयुक्त थी। मीर साहिब ने भी इन्हें एक कुशल शायर की मान्यता दी है। इनकी कविताएँ यह साफ़ बता देती हैं कि इनके हृदय का कमल हर समय खिला रहता था। उसमें आप सब रंगों की रंगीनी और हर रंग में अपनी अलग तरंग देखते हैं। जब देखो तबीयत उमंग से भरी उत्साह और आवेग से छलकती हुई रहती थी। पद्यरचना

की प्रत्येक शाखा में इन्होंने अपनी रुचियों को परखा और उनमें कहीं भी अवरोध या अक्षमता महसूस नहीं किया। इनमें कुछ विशिष्ट गुण थे, जिनके कारण इनकी कविता अन्य कवियों की तुलना में अधिक परिष्कृत मालूम होती है।

पहले तो यह कि भाषा पर इनका एक स्वाभाविक अधिकार सा प्रतीत होता है। फिर इनकी रचनाओं में भाव का ओज और आवेग और उनके विषयवस्तु की मृदुलता दोनों वैसे ही भिने हुए लगते हैं, जैसे अग्नि में ऊष्णता और प्रकाश। शब्दों का विन्यसन और उनकी निर्दोष और संतुलित व्यवस्था, उनका पारस्परिक गठन इस प्रकार का है, जैसे विलायती तमंचे मे गोलियाँ चढ़ी हों। यह उनकी रचना का एक विशेष गुण है। इसलिये यदि इनके शेर का कोई अंश भूल जाय तो जब तक उन्हीं के शब्द वहाँ न बिठाए जायँ, शेर मज़ा नहीं देता। इनकी कल्पना में बड़ी नज़ाकत और विषयों में बराबर नयापन मालूम होता है। इनके शब्दों के बारीक तस्वीर पर इनकी भाषा साफ़ आईने का काम देती है। इनमें उपमा और अलंकार का प्रयोग भी है, लेकिन उसी मात्रा में जैसे स्वादिष्ट भोजन में नमक या गुलाब के फूल पर रंग। शब्दों को अतिरंजित करके उनके अर्थ और आशय की स्पष्टता में कमी नहीं आने देते।

इनकी तबीयत किसी शैली विशेष से बँधी नहीं थी। नए-नए विचार और चटख़ारे क़ाफ़िए जिस पहलू से जमते देखते जमा देते थे और जिस पहलू उन्हें जमाते थे, वहीं बरबस सुननेवालों को भले लगते थे। या यह इनके भाषा की ख़ासियत थी कि जो भी बात इससे निकलती थी, उसी का अंदाज़ नया और प्यारा लगता था। इनके समकालीन शायर यह स्वयं स्वीकार करते थे कि जो बातें वे ढूँढ कर और यत्न से पैदा करते थे, वे इस शायर को मानो पाँव के आगे पड़ी मिलती थीं।

जिन व्यक्तियों ने उर्दू भाषा को परिष्कृत और सुसंस्कृत किया, उनमें सौदा का निःसंदेह प्रथम स्थान है। इन्होंने फ़ारसी मुहावरों को भाषा में खपा कर ऐसा मिला दिया है, जैसे कीमियागर एक तत्व को दूसरे तत्व में आत्मसात कर देता है। और उसमें से एक तीसरा तत्व इस प्रकार जोड़ देता है कि किसी अम्ल से उस जोड़ का फिर खुलना असंभव सा हो जाता है। इन्हों ने हिंदी भाषा को भी फ़ारसी मुहावरों के मेल से अत्यंत रुचिपूर्ण बना दिया। इनमें से कुछ तो भाषा में घुल मिलकर प्रचलित हो गए, लेकिन कुछ आगे न चले।

यह इनकी रचना-शक्ति की सृजनात्मक प्रबलता थी, जिससे इस प्रकार दो भाषाओं के मिश्रित शैली से एक तीसरी भाषा पैदा हो गई और उसे जनसाधारण से ऐसी मान्यता मिली कि भविष्य के लिये वही भारत की भाषा ठहरी और जिसने अधिकारियों के राजकीय क्षेत्र पर और विद्वानों के ज्ञानकोष पर अधिकार जमा लिया। और इन्हीं की बदौलत अब ऐसा विश्वास किया जाता है कि भविष्य में यह भाषा प्रांजलता और साहित्यिक प्रौढ़ता का पदक लेकर सभ्य और सुसंस्कृत भाषाओं

के बीच एक समृद्ध स्थान प्राप्त करेगी। भारतीयों को सदा इनकी महत्ता के आगे संमान और कृतज्ञता से सर झुकाना चाहिए। ऐसी सधी हुई तबीयत कहाँ पैदा होती है, जो जनसाधारण की रुचि और साहित्यिक प्रवृत्ति की नब्ज़ को पहचाने और वही बातें निकाले, जिनपर लोकमान्यता आकृष्ट हो और वह भविष्य के लिये भाषा की परंपरा का निर्देशन करे ?

हर भाषा के कुशल लेखकों की यह आदत होती है कि वह कभी-कभी अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग अपने मुहावरों में कर लेते हैं। इसका उद्देश्य किसी-किसी उपयुक्त अवसर पर अपनी वाक्यचातुरी का ज़ोर दिखाना होता है और कहीं तो साधारण विदेशी भाषाओं के मुहावरों का प्रयोग उन्हें अनिवार्यतः करना पड़ता है। अनजान लोग समझते हैं कि प्रयोग करनेवाले ने ग़लती की। मिर्ज़ा ने भी कहीं कहीं ऐसे कतर ब्योंत किए हैं। चुनांचे एक जगह कहते हैं :—

'जैसे कहता है कोई हो तेरा सफ़्फ़न-सफ़्फ़ा'

एक ग़ज़ल में कहते हैं :—

लबो-लहजा तेरा सा हो कब ख़ूबाने आलम में,
ये गुलतुल-आम है जग में कि सब मिस्री की है डलियाँ ।।

——————

कल तो मस्त इस कैफियत से था कि आते देर से,
भर नज़र जो मदरसा देखा सो वह मैख़ाना था ।।

——————

साक़ सीमीं को तेरे देख के गोरी गोरी,
शम्अ मजलिस में हुई जाती है थोरी थोरी ।।

——————

अपने काबा की बुज़ुर्गी शेख़ जो चाहे सो कर,
अज़ रुए तारीख़ तो बेश अज़ सनमख़ाना नहीं ।।

(काबे की तारीख़ बुतख़ाने से ज़्यादा पुरानी तो नहीं)

फ़ारसी मुहावरों को भी देखना चाहिए कि किस सुंदर ढंग से प्रयोग में लाते हैं :—

है मुझे फ़ैज़े सोख़न इसकी ही मद्दाही का।
ज़ात पर जिसकी मुबर्हन कुनः इज़्ज़ो जल ।।[1]

+ \+ \+

---

[1] इज़्ज़त व अज़मत जिसकी ज़ात पर सजती है।

बहुत हर एक से टकरा के चले था काला ।
हो गया देख के वह ज़ुल्फ़ सियह फ़ाम सफ़ेद ।।

× + ×

ख़्याल इन अँखड़ियों का छोड़ मत मरने के बादज़ भी ।
दिल आया जो तू इस मैकदः में जाम लेता जा ।।

× × ×

'सौदा' तुझे कहता हूँ न ख़ूबाँ से मिल इतना ।
तू अपना ग़रीब आजिज़ दिल बेचने वाला ।।

+ + +

आशिक़ भी नामुराद हैं, पर इस क़दर कि हम ।
दिल को गँवा के बैठ रहे सब्र करके हम ।।

+ + +

'हकीम' के प्रति एक व्यंग्यात्मक शेर में कहा है :—

लिख दिया मजनूं को शेरे शुतर ।
कह दिया मुस्तस्क़ी से जा फ़स्द कर ।।

एक कहानी में लिखते हैं :—

क़ज़ाकार वह वालिए नामदार ।
हुआ दर्दे कूलंज से बेक़रार ।।

+ + +

मिर्ज़ा कभी कभी हिंदी के विषयों और शब्दों का बड़े सुंदर ढंग से प्रयोग करके उन्हें भारतीय भाषा का यथार्थ रूप दे देते थे। भाषा को इस प्रकार रोचक और मधुर बनाने में इन्होंने और सैयद इंशा दोनों ने योग दिया। चुनांचे यह कहते हैं :—

तरकश तरकश अलैंड सीना आलम का छान मारा ।
मिज़गाँ ने तेरे प्यारे अर्जुन का बान मारा ।।
मुहब्बत के करूँ भुजबल की मैं तारीफ़ क्या यारो ।
सितम परवत हो तो उस को उठा लेता है ज्याँ राई ।।
नहीं है घर कोई ऐसा जहाँ इसको न देखा हो ।
कन्हैया से नहीं कुछ कम सनम मेरा वह हरजाई ।।

+ + +

सावन के बादलों की तरह से भरे हुए ।
यह वह नयन हैं जिनसे कि जंगल हरे हुए ।।

बूंदी के जमघरों से वह भिड़ते हैं हम दिगर ।
लड़के मुझ ग्रासुग्रों के ग़ज़ल मुंकिरे हुए ।।
से दिल यह किस से बिगड़ी कि ग्राती है फ़ौजे इश्क़।
लख़्ते जिगर की लाश को ग्रागे धरे हुए ।।[२]

मिर्ज़ा स्वयं शब्दों की काट-छाँट करते थे ग्रौर यह इस सुंदर ढंग से करते थे कि यह जनसाधारण की बोल-चाल में स्वीकार कर लिए जाते थे। स्वर्गीय ग्रासफ़ुद्दौला की प्रशस्ति में एक क़सीदा कहा है, जिसके कुछ शेर लिखता हूँ। हिंदी विषय के साथ शब्दों की सुंदर-कतर-ब्योंत देखिए :—

तेरे साया तले है तू वह महंत ।
पशशः कर जाय देवो-दद से खड़ंत ।।
नाम सुन पील कोहे पैकर के ।
वह चलें हुए-शीर हो कर दंत ।।
सह्र सौलत के सामने तेरे ।
सामरी भूल जाय ग्रपनी पढ़ंत ।।
तेरी हैवत से नुह फ़लक के तले ।
काँपती है ज़मीं के बीच गड़ंत ।।
तकले की तरह बल निकल जावे ।
तेरे ग्रागे जो दो करे ग्रकड़ंत ।।
देख मैदाँ में तुझ को रोज़े नवर्द ।
मुँह पे रावन के फूल जाय बसंत ।।
तगतके पा ग्रगर सुने तेरे ।
रोज़ हैजा के सूर या सावंत ।।
नि का उनके ज़िरिह में हो यह हाल ।
मुर्ग़ की दाम में ही जूँ फड़कंत ।।

इस प्रशस्ति के बाक़ी शेर इसी तरह के हैं। मुर्ग़ की फड़कंत, जल का भस्मंत तीर की कमान से सरकंत, ज़मीन में खुदंत, कड़कंत, ग्रौर डपटंत, चौदंत, दबकंत, रुबाह शेर को समझती है क्या पशमंत, निचंत, (बेफ़िक्र), रुपयों की बिखरंत, तारों की छिटकंत, लिपटंत, पढ़ंत, घटंत इत्यादि।

---

२. हिंदोस्तान की एक प्राचीन परंपरा है कि जब सेनापति युद्ध में मारा जाता था तो उसके शव को ग्रागे लेकर सारी सेना के साथ धावा कर देते थे। सरहिंद पर जब दुर्रानी से शाही फ़ौज का युद्ध हुग्रा ग्रौर नवाब क़मरुद्दीन ख़ाँ ग्राहत हुए तो उनके पुत्र मीर मुन्नू ने यही किया ग्रौर उसने विजय भी प्राप्त किया।

हिंदोस्तान और ईरान के अन्य कवियों की तरह इनकी सभी रचनाएँ एक ही संग्रह में पाई जाती हैं। इसलिये यह कहना कठिन है कि कौन सी रचना किस समय की है और इनकी काव्यरुचि में कैसे-कैसे विकास और परिवर्तन हुए। विशेषतः यह कि इन्होंने अपनी भाषा में कब-कब और क्या-क्या संशोधन किए। संयोगवश मीर साहब को इतना अवकाश मिला कि यह अपने छह दीवानों का अलग-अलग संपादन कर सके। काव्य-संग्रहों की भूमिकाएँ और इनके उत्तरकालीन कवियों की रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले कहते हैं कि इनकी रचनाओं में बहुत कुछ निम्न स्तर की भी हैं और उसकी मात्रा कुछ कम नहीं है। फिर भी जिस तरह मीर साहेब की कविता में बहत्तर नश्तर बनाते हैं, इनकी प्रौढ़ और सशक्त कविताओं से बहत्तर ख़ंजर भी तैयार करते हैं। और इस बात से मैं भी सहमत हूँ कि इनकी जो रचनाएँ आधुनिक तर्ज़ के अनुकूल हैं, वह इतनी उत्कृष्ट हैं कि मैं उनकी समुचित प्रशंसा करने में असमर्थ हूँ। और दिल की बात पूछो तो जिन शेरों में पुराने मुहावरों के प्रयोग करने के अपराध के कारण उन्हें रद्दी ठहराया जाता है, आज के हज़ार मुहावरों को उनपर न्योछावर कर दें। सुन लीजिए :—

गर कीजिए इंसाफ़ तो की ज़ोरे वफ़ा में।
ख़त आते ही सब टल गए अब आप हैं न मैं॥
तुम जिनकी सुना करते हो क्या वात है उनकी।
लेकिन टुक इधर देखियो ऐ यार भला मैं॥
कैफ़ियतें ख्यम उसकी मुझे याद है 'सौदा'।
साग़र को मेरे हाथ से लीजो कि चला मैं॥

मेरे स्वर्गीय उस्ताद कहा करते थे कि जब सौदा के सामने कोई यह शेर पढ़ देता था या उनकी अपनी ही ज़बान पर आ जाता था तो ख़ुशी से विभोर होकर झूमने लगते थे और बड़ा आनंद लेते थे। इसी ढंग का एक शेर 'नज़ीरी' का याद आया। गोकि यह फ़ारसी भाषा में है मगर जी नहीं चाहता कि मित्रों को इसके रसास्वादन से वंचित रखूँ—

बूए यारे मन अज़ी सुस्त वफ़ा भी आयद।
गुल्म अज़ दस्त वगीरद कि अज़ कार शुदम॥

कविता-कानन के पुष्प संचायको, वह एक ऐसा साहित्यिक काल था, जब हिंदी भाषा की भूमि में, जहाँ दोहरों की स्वजात हरियाली उगी हुई थी, फ़ारसी पद्य का बीजारोपण हुआ। उस समय फ़ारसी के छंदों में शेर कहना और उधर के मुहावरों को इधर लेना और फ़ारसी में प्रयुक्त विषयों को हिंदी-परिवेश देना यह एक विशेष कौशल समझा जाता था। इस कुशल आविष्कारक ने अपने स्वाभाविक ओज और सशक्त भाषा के द्वारा फ़ारसी के शब्दालंकार, शैली और अछूते विषयों का इसमें समावेश किया और उसमें ऐसे लालित्य का संचार किया कि लोग युग्मार्थक शब्दों का

प्रयोग, अनुप्रास, शब्दालंकार इत्यादि जो हिंदी दोहरों के आधार माने जाते थे, उन्हें लोग भूल से गए। ऐसे परिवर्तनशील काल की रचनाओं में यदि कहीं शुष्कता या कहीं आर्द्रता पाई जाय तो आश्चर्य क्या ? इस प्रकार की आलोचना को हमें अनुचित या अशोभनीय नहीं समझना चाहिए।

इस समय उर्दू काव्य-कला को इस प्रकार की अनेक आपदाओं का सामना करना पड़ा। एक ओर तो उपर्युक्त कठिनाइयाँ दूसरी ओर प्राचीन शब्दावली का एक घना झाड़ झंखाड़, जिसका काटना छाँटना अत्यंत दुष्कर था। किंतु कुछ ऐसे महानुभाव आए, जिन्होंने इस जंगल के कुछ हिस्से साफ़ किए, कुछ क्यारियाँ बनाईं और बीज बोए। इनके अनुवर्ती आगंतुकों ने इस जंगल को काटा। वृक्षों को छाँटा। फुलवारी की सजावट की और साफ़ और सुघर बनाया। जो उनके पीछे आए, उन्होंने इसमें कुछ रविशें सजाईं, सैर करने के रास्ते बनाए, लता-कुंज और सजावटी फूल-पत्ते लगाए, फूल के पौधों से इसे और अधिक सुसज्जित किया। तात्पर्य यह है कि जैसे जैसे समय बीतता गया, भाषा में संशोधन और परिवर्तन होते रहे और होते रहेंगे। जिस भाषा को आज हम पूर्ण और शाश्वत समझ कर संतुष्ट हैं, क्या इसकी पूर्णता और अनश्वरता सदा बनी रहेगी ? कभी नहीं। हम किस मुँह से अपनी भाषा पर गर्व कर सकते हैं ? क्या पिछले दौर का दृश्य भूल गए ? ज़रा मुड़ कर देखो तो। इन आदरणीय महानुभावों की एक मजलिस का दृश्य। मुहम्मदशाही दरबार की खिड़कीदार पगड़ियाँ बाँधे हुए हैं। पचास-पचास गज़ घेरे के ज़ामे पहने हुए बैठे हैं। वहाँ अपनी कोई काव्य-रचना लेकर आओ। जिस भाषा को तुम उसकी नवीनता और ईजाद के लिये आज पुरस्कृत करते हो और प्रशस्ति-वाचन करते हो क्या वह उसे स्वीकार कर लेंगे ? नहीं कभी नहीं। वे हमारी शैली को निम्न स्तर की साहित्यकारिता और हमारी शब्द चातुरी को छिछोरापन समझकर मुँह फेर लेंगे। फिर ज़रा सामने, भविष्य की ओर आँखें उठाओ। देखा, उन विद्वानों को और जिनके आमद का सिलसिला अब शुरू हो चुका है। ये आएँगे और ये भी हमपर हँसते चले जाएँगे।

यह चमन यूँही रहेगा और हज़ारों जानवर,
अपनी अपनो बोलियाँ सब बोल कर उड़ जाएँगे ॥

मिर्ज़ा क़तील 'चार शरबत' में लिखते हैं :—

"मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' रेख़्ते की शायरी में उसी पाये के हैं जिसके कि फ़ारसी में मुल्ला 'ज़हूरी'। हालाँकि दोनों ज़बानें अलग-अलग हैं, मगर इन दोनो में कोई फ़र्क़ नहीं है।"

स्वर्गीय मिर्ज़ा 'क़तील' एक विलक्षण योग्यतापूर्ण व्यक्ति थे। मेरे जैसे अयोग्य व्यक्ति ने इनकी रचनाओं से बहुत लाभ उठाया है। किंतु 'ज़हूरी' की ग़ज़लें

ग्रौर क़सीदे दोनों ही उपमा ग्रौर ग्रलंकार की गुत्थियों में उलझे हुए रेशम की तरह हैं। सौदा की ग्रगर तुलना की जानी चाहिए तो 'ग्रनवरी' से, जो कि मुहावरों ग्रौर भाषा के प्रयोग दोनों ही के विशिष्ट ग्रधिकारी हैं, क़सीदे ग्रौर व्यंगात्मक रचनाग्रों के तो बादशाह ही हैं।

यह बात भी उल्लेखनीय है कि तसव्वुफ़ (ग्रध्यात्मवाद) जो एशिया की काव्यरचना की एक रुचिपूर्ण प्रवृत्ति ग्रौर प्रसाद है, उसमें मिर्ज़ा पड़ते हैं। उसमें तो ख़्वाजा मीर 'दर्द' ही ने विशिष्टता प्राप्त की।

कहते हैं कि मिर्ज़ा क़सीदे के बादशाह हैं। किंतु इनकी ग़ज़ल में मीर तक़ी के बराबर दिल को पिघलाने वाली ग्रौर जलाने वाली (गुदाज़ ग्रौर सोज़) मार्मिकता नहीं है। इस बात में कुछ तथ्य है। बल्कि मालूम होता है कि इनके सामने भी इस बात की चर्चा थी, क्योंकि वे स्वयं कहते हैं :—

लोग कहते हैं कि सौदा का क़सीदा है खूब,
उनकी ख़िदमत में लिए मैं यह ग़ज़ल जाऊँगा ॥

ग्रर्थात्, देखो तो सही, क्या मेरी ग़ज़ल कुछ कम है?

हकीम कुदरतुल्ला ख़ाँ 'क़ासिम' ग्रपने तज़्किरे में कहते हैं :—

"कुछ लोग कहते हैं कि मिर्जा रफी 'सौदा' ग़ज़ल कहने में उस रुतबे तक नहीं पहुँचे। लेकिन ऐसा नहीं है। हर फूल की रंगत ग्रौर खुशबू ग्रलग सलग होती है। मिर्ज़ा एक बहुत बड़े दरिया की तरह हैं। जब कि 'मीर' एक लंबी चौड़ी नहर की तरह हैं। काव्य-सिद्धांत ग्रौर व्याकरण का ज्ञान मिर्ज़ा की ग्रपेक्षा 'मीर' को ग्रधिक था। लेकिन शायरी की ग्रोज में मिर्ज़ा 'मीर' साहिब से कहीं बढ़चढ़ कर थे।

सच तो यह है कि क़सीदे, ग़ज़ल, मस्नवी इत्यादि विभिन्न प्रकार के पद्य-रचनाग्रों में शेर कहने का ढंग ग्रलग-ग्रलग होता है। जिस तरह क़सीदे के लिये उपालंभात्मक शब्द, विषय की गूढ़ता, रचना की गठन इत्यादि ग्रावश्यक उपादान हैं, उसी तरह ग़ज़ल के लिए प्रेमी ग्रौर प्रेमिका की प्रेमात्मक भावनाएँ, उनके मिलन की चर्चा, वियोग का उलहना, प्रेमी की दयनीय ग्रौर दुखप्रद दशा, प्रेमालाप जिससे घनिष्टता टपके ग्रौर जो ऐसी साफ़-साफ़ ग्रौर नर्म-नर्म हो, जैसे वही दोनों बैठे बातें कर रहे हों—इन सभी भावों ग्रौर विषयों की ग्रभिव्यक्ति के लिए शब्द भी भिन्न प्रकार के होते हैं ग्रौर इनका पद-विन्यास भी एक विशेष ढंग का होता है। मीर साहब की तबीयत में एक स्वाभाविक मार्मिकता ग्रौर उनके दिल में काव्योचित भावुकता भरी हुई थी। यह दोनों वृत्तियां ग़ज़ल की जान हैं। इसलिए इनकी ग़ज़लें ही हैं, जिनमें बह्र ग्रौर क़ाफ़ियों की विशेषताएँ हैं। मिर्ज़ा की काव्य-रुचि बहुरंगी ग्रौर बहुविषयी थी। उनकी कल्पना-शक्ति ग्रत्यंत ग्रोजपूर्ण ग्रौर ज़बान मंजी हुई थी। तौसिने फ़क़रान के मुँहज़ोर घोड़े की तरह जिस ग्रोर भी मुड़ता था रुकता न था। कोई भी पद या कोई

अनुप्रास हाथ आता, उसे तुरंत जिस मज़मून में बंध जाय, बाँध लेते थे। कभी कभी तो ग़ज़लों के शेर अपनी चुस्ती और दुरुस्ती में क़सीदे का रंग दिखाते हैं।

एक दिन लखनऊ में 'मीर' और 'मिर्ज़ा' की रचनाओं की समीक्षा करते हुए दो व्यक्तियों में वादविवाद हो गया और बात कुछ बढ़ गई। दोनों ख़्वाजा बासित के मुरीद थे। उन्हीं के पास गए और उनसे निवेदन किया कि वे इन दोनों शायरों के विषय में अपना विचार दें। उन्होंने कहा कि ये दोनों ही अत्यंत कुशल कवि हैं, मगर फ़रक़ केवल इतना है कि मीर साहब की कविता 'आह' है और मिर्ज़ा साहब की कविता 'वाह' है। उदाहरण के लिए उन्हों ने मीर साहब का यह शेर पढ़ा :—

सिरहाने मीर के आहिस्ता बोलो,
अभी टुक रोते-रोते सो गया है॥

फिर मिर्ज़ा का यह शेर पढ़ा:—

'सौदा' की जो बालें पे गया शोरे क़यामत,
खुद्दामे अदब बोले अभी आंख लगी है॥

इनमें से एक साहब जो 'सौदा' के पक्षधर थे, वह उनके पास गए और उनसे इस घटना के बारे में चर्चा की। 'सौदा' मीर साहब के शेर को सुन कर मुस्कराए और कहा कि शेर तो मीर साहब का है, मगर उनके दर्द में दवा की ख़्वाहिश मालूम होती है।

इनकी पुस्तक **'रसाला अब्रतुल-ग़ाफ़िलीन'** काव्य रचना के लिये एक पाठ्य-पुस्तक का काम देती है। इससे पता चलता है कि मिर्ज़ा केवल प्रकृतिजन्य शायर न थे, बल्कि काव्य-कला के सिद्धांतों से सुपरिचित थे। इस पुस्तक की अलंकारयुक्त वाक्य-रचना इनके भाषापांडित्य के साथ-साथ इनकी खुशदिली और स्वाभाविक चपलता का नमूना पेश करती है। इस पुस्तक के संकलन के बारे में एक कहानी मशहूर है, जो सुनने योग्य है। उस समय अशरफ़ अली खाँ नाम के एक कुलीन व्यक्ति थे। इन्हों ने फ़ारसी के साहित्य-ग्रंथों और विशिष्ट कवियों के दीवानों से १५ वर्ष के परिश्रम के बाद एक संकलन प्रस्तुत किया और उसकी शुद्ध और सही व्यवस्था के बारे में आदेश लेने के लिये मिर्ज़ा फ़ाख़िर 'मकीन' के पास, जो उस समय के फ़ारसी के प्रख्यात शायरों में थे, ले गए। उन्हों ने कुछ हाँ कुछ नहीं करके, कुछ आग्रह के बाद उपर्युक्त संग्रह को अपने पास लिया और उसको जाँचने लगे। मगर कहीं तो उस्तादों के शेरों की निरर्थक और अनुपयुक्त समझकर काट डाला, कहीं अपनी इस्लाह की छुरी से उन्हें घायल कर दिया। अशरफ़ अली ख़ाँ साहेब को जब यह हाल मालूम हुआ तो जाकर 'मकीन' के यहाँ से अपनी घायल और ज़ख़्मी पुस्तक को ले आए। उनकी पुस्तक शोधों की बहुतायत से छलनी सी हो गई थी, इस लिये उन्हें बहुत रंज हुआ। इसी मानसिक परिस्थिति में इस पुस्तक को 'सौदा' के पास ले जाकर उनसे सारा वृत्तांत कहा। और उनसे निवेदन किया कि आप ही 'मकीन' साहिब के

इस्लाहों के बारे में न्याय करें और इसके साथ यह भी अनुरोध किया कि आप इसे फिर से दुरुस्त भी कर दें।

मिर्ज़ा साहिब ने कहा कि "मेरा फ़ारसी भाषा में कोई विशेष अभ्यास नहीं है। उर्दू में जो कुछ अल्फ़ाज़ जोड़ लेता हूँ, ख़ुदा जाने उसे लोगों के दिलों में क्यों कर जगह पाने का ख़िलअत (पुरस्कार) मिला है। मिर्ज़ा फ़ाख़िर 'मकीन' तो फ़ारसीदाँ और फ़ारसी के विद्वान् हैं। उन्होंने जो कुछ किया, समझ कर किया होगा। आप को इस संग्रह के संशोधन की अपेक्षा हो तो स्वर्गीय शेख़ अली 'हज़ीं' के शिष्य शेख़ आयतुल्लाह 'सना' और मीर शमसुद्दीन 'फ़क़ीर' के शिष्य मिर्ज़ा भच्चू 'ज़र्रा' जैसे विद्वान् मौजूद हैं। इनके अलावा हकीम बू अली खाँ 'हातिफ़' बंगाल में, निज़ामुद्दीन 'सानअ' बिल्ग्रामी फ़रख़ाबाद में, शाह नूरुलऐन 'वाक़िफ़' शाहजहाँबाद में हैं। आपके संग्रह के संशोधन का इन्हीं विद्वानों को अधिकार है।'

जब मिर्ज़ा ने इन प्रसिद्ध फ़ारसी विद्वानों के नाम लिए तो अशरफ़ अली खाँ ने कहा कि इन लोगों को तो मिर्ज़ा फ़ाख़िर किसी गिनती में नहीं लाते। तात्पर्य यह है कि इनके आग्रह से मिर्ज़ा ने उपर्युक्त संकलन अपने पास रख लिया। इसे जब देखा तो उन्हें ऐसा लगा कि पूर्वकाल से आज तक जितने साधनक्षम शायर हुए हैं, उन सब की शायरी मिर्ज़ा फ़ाख़िर की छुरी से ज़ख़्मी होकर तड़प रही है। यह दशा देखकर मिर्ज़ा को भी बहुत दुःख हुआ। इसी परिस्थिति में उन्होंने **'रिसाला अब्रतुल-ग़ाफ़िलीन'** की रचना की और मिर्ज़ा फ़ाख़िर की धारणाओं को साहित्य-रचना के सिद्धांतों के अनुसार दोषपूर्ण प्रमाणित किया। इसके साथ-साथ उन्होंने अशरफ़ अली खाँ के दीवान का पुनरीक्षण कर के इसके दोषों की ओर ध्यान दिलाया और जहाँ-तहाँ उचित संशोधन भी कर दिया।

मिर्ज़ा फ़ाख़िर को भी इसकी ख़बर हुई। वह बहुत घबराए और यह चाहा कि ज़बानी संदेसों के द्वारा अपने इस्लाह के दाग़ों को धोएँ। इसलिये बक़ाउल्लाह ख़ाँ 'बक़ा' को मिर्ज़ा से बातचीत के लिये भेजा। वह मिर्ज़ा फ़ाख़िर के शिष्य थे और बड़े कुशल और जानकार कवि थे। मिर्ज़ा से और इनसे ख़ूब ख़ूब बातें हुईं और मिर्ज़ा फ़ाख़िर के कुछ शेर जिन की त्रुटियों की ख़बर उड़ते-उड़ते उन तक भी पहुँच गई थी, उनपर कहा सुनी भी हुई। इनमें से एक शेर इनका था :—

गिरफ़्तः बूद दरीं बज़्म चूँ क़दहे दिले मन,
शिगुफ़्तः रुये सहबा शिगुफ़तः कर्द मरा ॥

मिर्ज़ा के इस शेर के बारे में आपत्ति थी कि 'क़दह' को 'गिरफ़्ता दिल' कहना अनुपयुक्त है। साहित्यिकों ने हमेशा 'क़दह' की खिले फूल से अथवा हँसी से उपमा दी है, क्योंकि इसमें भी खिलने या मुकुलित होने का भाव निहित है।' बक़ा ने इसके प्रति बाद में शागिर्दी का पसीना बहुत बहाया और अंत में 'वाज़िल' का यह शेर भी अपने उस्ताद के समर्थन में लाए :—

चं निशात वाद वख़्शद व मने ख़राव वेतू,
न दिले गिरफ़्तः मानद क़दहे शराव वेतू ।।

'सौदा' इस शेर को सुनकर बहुत हँसे और कहा कि अपने उस्ताद से कहना कि उस्तादों के शेरों को देखा करो। यह शेर तो मेरे एतराज़ का समर्थन करता है। यानी यद्यपि शराब के प्याले की हँसी और ख़ुशी एक कहावत है और यह आमोद-प्रमोद का एक साधन भी कहा जाता है, लेकिन वह मुरझाए और बुझे दिल को अनुप्राणित और उद्दीप्त भी करता है।

ग़रज़ जब यह प्रयास सफल न हुआ तो मिर्ज़ा फ़ाख़िर ने और रास्ता पकड़ा। लखनऊ में उनके शागिर्दों की संख्या बहुत थी। इनमें बहुत से शेख़ज़ादे भी थे, जो कि एक समय अवध के प्रशासक बने हुए थे और अभी तक उनके दिमाग़ से सीनाज़ोरी और उद्दंडता न गई थी। एक दिन सौदा तो बेख़बर घर में बैठे थे, वे बलवा करके चढ़ आए। मिर्ज़ा के पेट पर छुरी रख दी और कहा कि जो कुछ तुमने कहा है, उसे वापस लो और हमारे उस्ताद के सामने चलकर फ़ैसला करो। मिर्ज़ा को शब्दों के गुल-बूटे और बातों का तोता-मैना तो बहुत बनाना आता था, मगर उनके लिये यह प्रसंग ही नया था। वह बहुत बातें भूल गए, बेचारे ने, जुज़दान (किताबों का बस्ता) अपने नौकर को दिया। ख़ुद पालकी में बैठे और उनके साथ हो लिए। इनके इर्द-गिर्द वह शैतान का लश्कर था और बीच में यह थे। चौक में पहुंचे तो उन्होंने चाहा कि यहाँ इन्हें बेइज़्ज़त करें। कुछ बाता-बाती करके फिर झगड़ने लगे। लेकिन जिसे ख़ुदा इज़्ज़त दे, उसे कौन बेइज़्ज़त कर सकता है। संयोगवश उधर से सादत अली ख़ाँ की सवारी आ निकली। भीड़ देखकर ठहर गए और पूछ-ताछ करके सौदा को अपने साथ हाथी पर बिठाकर ले गए। आसफ़ुद्दौला अंतःपुर में दस्तरख़्वान पर थे। सादत अली ख़ाँ अंदर गए और कहा कि 'भाई साहेब, बड़ा ग़ज़ब है। आपकी हुकूमत और शहर में यह हंगामा?' आसफ़ुद्दौला ने कहा, 'क्यों भई, ख़ैर तो है?' इन्होंने कहा, 'मिर्ज़ा रफ़ी' जिसको बाबा-जान ने बिरादरे-मन और मुशफ़िक़ मेहरबान-मन कह कर ख़त लिखा, आरज़ूएँ करके बुलाया और वह न आया। आज वह यहाँ मौजूद हैं और इस हालत में है कि उस वक़्त मैं न पहुँचता तो शहर के बदमाशों ने इस बेचारे को बेइज़्ज़त कर डाला था' और फिर उनसे सारी घटना बयान की।

देवता-स्वभाव आसफ़ुद्दौला घबराकर बोले कि 'भई, मिर्ज़ा फ़ाख़िर ने ऐसा किया तो मिर्ज़ा को न किया गोया हमको बेइज़्ज़त किया। बाबा-जान ने इन्हें भाई लिखा तो यह हमारे चचा हुए'। सादत अली ख़ाँ ने कहा 'इसमें क्या शक है'। उसी समय आसफ़ुद्दौला बाहर निकल आए। जब सारी घटना के बारे में सविस्तार सुना तो बहुत गुस्से हुए और हुक्म दिया कि 'इन शेख़ज़ादों का मुहल्ले का मुहल्ला उजड़वा कर फेंक दो और उन्हें शहर से निकलवा दो। और मिर्ज़ा फ़ाख़िर को जिस हाल में हों, उसी हाल में हाज़िर करो'। 'सौदा' की उदारता और नेकनीयती को देखिए।

हाथ बाँध कर सामने खड़े हो गए और अर्ज़ किया कि 'जनाब आली, हमलोगों की लड़ाई कागज़-कलम के मैदान में आप की फ़ैसल हो जाती है। हुज़ूर इसमें बीच-बचाव करने की तकलीफ़ न करें। इसमें गुलाम की बदनामी होगी। जितनी मदद आपकी मिहरबानी से पहुँची, वही काफ़ी है'। गरज़ मिर्ज़ा रफ़ी प्रतिष्ठा और पुरस्कार के साथ वहाँ से विदा हुए। नवाब ने इनकी सुरक्षा के लिये इनके साथ कुछ सिपाही कर दिए।

मिर्ज़ा के प्रतिद्वंदियों पर जब यह भेद खुला तो वह दरबार के संमानित सदस्यों के पास दौड़े। सलाह ठहरी कि यह मामला रुपये या जागीर का नहीं। वे लोग मिर्ज़ा फ़ाखिर को साथ लेकर मिर्ज़ा रफ़ी के पास जायँ और अपना अपराध क्षमा करवा लें। दूसरे दिन आसफ़ुद्दौला ने भरे दरबार में मिर्ज़ा फ़ाखिर को भी बुलाया और कहा कि तुम्हारी ओर से अनुचित और अशोभनीय व्यवहार हुआ है। अगर शायरी के मर्द-मैदान हो तो अब आमने-सामने सौदा के प्रति कोई हजो (निंदात्मक शेर) कहो। मिर्ज़ा फ़ाखिर ने कहा 'ईं अज़ मा नमी आयद' (यह मुझ से नहीं हो सकता हैं)। इसपर आसफ़ुद्दौला ने बिगड़ कर कहा 'दुरुस्त, ईं मी आयद के श्यातीन खुद रा बर सरे मीरज़ाए बेचारा फ़रिस्तादेद। अज़ ख़ाना ब-बाज़ारश कशीदंद व मी ख़ास्तंद आबरूयश बख़ाक रेज़ंद (ठीक है, यह तो तुम से नहीं हो सकता। लेकिन यह हो सका कि अपने शैतानों को इस मीरज़ादे के पास भेजकर, घर से बाज़ार में इसको खींचकर लाए और चाहा कि इनकी आबरू मिट्टी में मिलाएँ?' फिर सौदा की ओर इशारा किया। यहाँ क्या देर थी। ये आशुकवि थे। इन्होंने तुरंत यह रुबाई पढ़ी——

तू फ़ख़रे ख़रासानी वफ़ा साकत अज़ाऊ।
गौहर ब-दहाँ दारी वरा साक़त अजऊ।
रोज़ानो शबां ज़-हक़ ताला ख़्वाहम।
मरकब वहदत खुदाओ वासाक़्त अज़ाऊ॥

यह झगड़ा तो इस तरह रफ़ा दफ़ा हुआ। फिर भी दूर-दूर से व्यंग्यात्मक कविताओं के ज़रिए आपस में चोटें चलती रहीं। लेकिन मिर्ज़ा फ़ाखिर की कहीं इस प्रकार की रचनाओं को तो कोई जानता भी नहीं। हाँ सौदा ने इनके लिये जो कुछ कहा वह हज़ारों की ज़बान पर है।

मिर्ज़ा फ़ाखिर 'मकीन' असल में कश्मीरी थे। पहले फ़तुव्वत हुसैन ख़ाँ कश्मीरी से अपनी कविताओं का संशोधन करवाते थे। फिर अज़ीमाए कशमीरी के शिष्य हुए। इनकी विद्वत्ता में कोई संदेह नहीं। इन्होंने शुद्ध और स्वस्थ शब्दों के प्रयोग और शब्दानुसंधान में काफ़ी अभ्यास किया था। इनका दीवान लोकप्रिय नहीं हुआ। लेकिन इनकी कुछ उत्कृष्ट कविताएँ अलग-अलग हस्तलिखित पुस्तिकाओं में उपलब्ध हैं। जो उन्होंने सौदा के प्रति कहा और सौदा ने उन्हीं मिस्रों का प्रयोग

करके उन्हीं पर उलट दिए। कुछ शेरों को सौदा ने अपनी पुस्तक 'इब्रतुल ग़ाफ़िलीन' में मिर्ज़ा फ़ाख़िर के संबंध में की गई आलोचनाओं के प्रसंग में लिखे हैं। अस्तु, यह स्पष्ट है कि यह गुणी व्यक्ति थे और उनके समकालीन ने भी इनके काव्योचित गुणों को पर्याप्त मात्रा में मान्यता प्रदान की। इनके सैकड़ों शागिर्द ग़रीब और अमीर, लखनऊ और उसके आसपास हो गए। जीविकोपार्जन भगवान् भरोसे था और उस पर भी बेदिमाग़ी हद दर्जे की थी।

मौलवी ग़ुलाम ज़ामिन साहेब जो एक सुशिक्षित व्यक्ति थे और जिन्हें फ़ाज़िल की उपाधि भी थी, एक बार इनके पास अपनी एक ग़ज़ल लेकर गए और अर्ज़ किया कि आप मुझे अपने शागिर्द के रूप में स्वीकार कीजिए और इस कविता का संशोधन करने की कृपा कीजिए। मिर्ज़ा फ़ाख़िर ने उनके अनुरोध को टाल दिया। मौलवी साहेब ने फिर आग्रह किया और इन्होंने फिर इन्कार किया और उनसे उपेक्षापूर्ण व्यवहार भी किया। फिर भी मौलवी साहब हर प्रकार से उनसे विनम्रता और आदरपूर्वक अनुरोध करते ही रहे। परंतु मिर्ज़ा फ़ाख़िर उनकी शागिर्दी के लिये राज़ी न हुए। निराश होकर मौलवी साहेब यह शेर पढ़कर उठ खड़े हुए :—

मिर्ज़ा मकीन मा न शवद चूँ वकीन मा।
कीनस्त जुज़्व आज़म मिर्ज़ा मकीन मा॥

यह भी लोग जानते थे कि आपसी नोक-झोंक में प्रायः सौदा की ओर से पहल कम होती थी। हाँ, अगर उन्हें कोई छेड़ देता था तो फिर वह भी हद से परे पहुँचा देते थे। यह आगे चल कर मीर 'ज़ाहिक' के जीवन वृत्तांत से मालूम होगा।

आसफ़ुद्दौला एकबार शिकार खेलने गए। ख़बर आई कि नवाब ने भीलों के जंगल में शेर मारा। बावजूदे कि सदा उनके इनाम एकराम के एहसान से दबे रहते थे, मगर सौदा ने तुरंत एक चुटीला शेर कहा :—

यारो यह इब्न मुल्जम पैदा हुआ दोबारा।
शेरे खुदा को जिसने भीलों के बन में मारा॥

बेचारे लज्जित होकर चले गए। अपना तख़ल्लुस बदलकर 'इख़्तियार' कर दिया और किसी और के शागिर्द हुए। सौदा की तबीयत में जो शोख़ियाँ थीं, वह वास्तव में इतनी न थीं, जितना इन्हें लोगों ने डरावना बना रखा था। हाँ, जो इनसे लड़ता था, उसे बुरी तरह पछाड़ते थे। किंतु शिष्टता और न्यायप्रियता से परे नहीं होते थे।

(३) 'रासिख' अज़ीमाबादी का दीवान मैंने देखा है। इनकी कविताएँ बड़ी संयत और गंभीर हैं। बड़े साधनक्षम और अभ्यस्त कवि थे और उधर के सब लोग उन्हें उस्ताद मानते थे। वे मिर्ज़ा के पास शागिर्द होने के लिए आए। मिर्ज़ा ने कहा, 'कोई शेर सुनाइए'। उन्होंने पढ़ा :—

हुए हैं हम ज़ईफ़ अब दीदनी रोना हमारा है।
पलक पर अपनी आँसू सुबह पीरी का सितारा है ।।

मिर्ज़ा ने उठकर उन्हें गले लगा लिया। कुछ ऐसी ही घटना 'जुरअत' के साथ घटी थी।

(४) एक दिन मियाँ हिदायत (जो ख़्वाजा मीर 'दर्द' के शागिर्द थे) इनसे मिलने के लिए आए। साधारण शिष्टाचार के बाद पूछा, "कहिए मियाँ साहेब, आज-कल क्या शग़ल रहता है ?" उन्होंने कहा, "दुनियाँ के फ़िक्र फ़ुर्सत नहीं देते। तबीयत को एक रोग बकवास करने का लगा हुआ है। कभी-कभी अवसर पड़ जाने पर ग़ज़ल कह लेता हूँ"। मिर्ज़ा हँसकर बोले, "ग़ज़ल का कहना क्या ? कोई हज़ो कहा कीजिए"। बेचारे ने हैरान हो कर कहा कि 'हजो किसकी कहूँ' ? आपने कहा, 'हज्व को क्या चाहिए ? तुम मेरी हज्व कहो, मैं तुम्हारी हज्व कहूँ'।

(५) एक ईरानी ने, जो कि फ़ौज में नौकर था, अजब तमाशा किया। एक बार सौदा ने इसके बारे में हज्व कही और एक महफ़िल में इसके सामने ही पढ़ना शुरू कर दिया। वह ईरानी पहले तो बैठा सुनता रहा। जब हज्व ख़त्म हुई तो उठकर सौदा के सामने आ बैठा और इनकी कमर पकड़कर लगातार गालियों की झड़ बाँध दी। इन्हें भी ऐसा अनुभव आज तक न हुआ था। हैरान होकर कहा कि "ठहरिए, ठहरिए, ख़ान साहिब इस तरह किसी को बुरा भला कहना आपकी शान के ख़िलाफ़ है"। इसपर उस ईरानी ने अपनी कटार कमर से निकालकर इनके पेट पर रख दी और कहा, "जो तूने नज़्म में कहा अब उसे नसर में सुन। जो कुछ तू कहता है नज़्म होता है, नज़्म में कहना मुझको नहीं आता है इसलिए मैं उसे नस्र में ही कहता हूँ।"

(६) सैयद इन्शा की जवानी का आलम था। एक मुशायरे में उन्होंने ग़ज़ल पढ़ी :—

झिड़की वही, अदा सही, चीने ज़बीं सही।
सब कुछ सही पर एक नहीं की नहीं सही ।।

जब उन्होंने यह शेर पढ़ा कि :—

गर नाज़नी कहे से बुरा मानते हो तुम।
मेरी तरफ़ तो देखिए मैं नाज़नी सही ।।

सौदा मुशायरे में उपस्थित थे, बूढ़े हो गए थे, लेकिन तबीयत में जवानी की शोख़ी अभी क़ायम थी। मुस्कुरा कर बोले :—दर ईं चे शक ? (इसमें क्या शक है ?)।

(७) एक दिन सौदा मुशायरे में बैठे थे। लोग अपनी-अपनी ग़ज़लें पढ़ रहे थे, उसका पहला शेर था :—

दिल के फफोले जल उठे सीने के दाग़ से।
इस घर को आग लग गई घर के चिराग़ से॥

इन शब्दों में जो लहक थी, उससे सौदा भी चौंक पड़े। पूछा, 'यह शेर किसने पढ़ी" ? लोगों ने कहा "हज़रत इस साहबज़ादे ने"। सौदा ने भी उसकी बहुत तारीफ़ की और कई बार इससे शेर पढ़वाया और कहा कि "मियाँ लड़के, तुम जवान तो होते नज़र नहीं आते। खुदा की कुदरत इसी उम्र में यह लड़का शोलए इश्क़ से जल मरा।

(८) जबकि ईरान के लब्धप्रतिष्ठ शायर शेख़ अली हज़ीं हिंदोस्तान आए, तो उन्हों ने पूछा कि हिंदोस्तान में आज कल कौन सा कवि सर्वोत्कृष्ट माना जाता है, तो लोगों ने सौदा का नाम लिया। और सौदा उनसे स्वयं मिलने के लिए गए। शेख़ अपनी महान् विद्वत्ता और स्वाभाविक मृदुलता के लिए विख़्यात थे। उन्हों ने सौदा से उनके नाम और ठिकाने के बारे में पूछा और उनसे अपनी कोई कविता सुनाने की इच्छा प्रगट की। सौदा ने यह पेश किया :—

नाविक ने तेरे सैद न छोड़ा ज़माने में।
तड़फें है मुर्ग़ क़िब्ले-नुमा आशियाने में॥

शेख़ ने पूछा, "तड़फ़े" चे मानी दारद ? (तड़फे के क्या अर्थ हैं)। सौदा ने कहा "अहले हिंद तपीदन रा तड़फना मी गोयन्द" (भारतवासी तड़पने को तड़फना बोलते हैं)। शेख़ ने यह शेर फिर पढ़वाया और घुटने पर हाथ मार कर कहा, "मिर्ज़ा रफ़ी, तुमने क़यामत कर दी। "यह मुर्ग क़िब्ल: नुमा बाक़ी बवद, आँरा हम गुज़ाश्ती" (एक ही मुर्ग क़िब्ल: नुमा बाक़ी रह गया था, तुमने उसे भी नहीं छोड़ा)" यह कह कर उठ खड़े हुए और उन्हें छाती से लगाया और अपने पास बिठाया। कुछ लोग सुनी कहते हैं कि शेख़ ने कहा "दर पोच गोयाने हिंद बद नेस्ती" (हिंदोस्तान के अर्थहीन शायरी करनेवालों में तुम बुरे नहीं हो)"।

(६) ख़ान आरज़ू के मकान पर मुशायरा होता था। सौदा उस समय नौजवान थे। किसी मुशायरे में यह मतला पढ़ा :—

आलूदए क़तराते अरक़ देख ज़बीं को।
अख़्तर पड़े झाँके हैं फ़लक पर से ज़मीं को॥—सौदा

या तो जानकारी न होने से या इनकी ज़बान के तीखेपन के डर से किसी ने टोका नहीं, मगर ख़ाने आरज़ू जिनकी योग्यता रूपी धाई के दूध से 'मज़हर', 'सौदा', 'मीर', 'दर्द' इत्यादि जैसे उदीयमान कवि पले थे, उन्होंने तुरत यह शेर पढ़ा जिसका संकेत 'क़ुद्सी' के मतले की ओर है :—

शेरे सौदा हदी से क़ुदसी है।
चाहिए लिख रखें फ़लक पे मलक॥

और फिर क़ुदसी का यह शेर पढ़ा :—

आसूदए क़तराते अरक़ दीदः जबीं रा।
मख़तर ज़-फ़लक मी नगरद रुए ज़मीं रा।।[१]

सुनते ही सौदा उठ खड़े हुए, ख़ाँ साहेब के गले से लिपट गए और इस प्रकार कृतज्ञता के साथ ख़ुशी ज़ाहिर की जैसे ख़ाँ साहेब ने सचमुच इनके शेर को क़ुद्सी की उक्ति के रूप में स्वीकार किया है। इनका एक और शेर ऐसा ही है :--

बहार बे-सपरे जामो यार गुज़रे है।
नसीम तीर सी सीने के पार गुज़रे है।।--सौदा

यही भाव फ़ारसी के किसी उस्ताद ने अपने शेर में व्यक्त किया है :--

बहार बे-सपरे जामी यार मी गुज़रद।
नसीम हमनू खुदंग अज़ किनार मी ग़ज़रद।।[२]
वल्दुज्ज़ेनास्त हासिद मनम आंके तालश्र् मन।
वल्दुज्ज़ना कश आमद चो सितारए यमानी।।

मगर साहित्य-मर्मज्ञों का मत है कि इस प्रकार भाव और शब्द के दोबारा प्रयोग को साहित्यिक चोरी न कह कर उसे अनुवाद ही समझना चाहिए, क्योंकि शेर को शेर में ही अनुवाद करना एक कठिन कौशल है। इस मतले की बात छोड़ कर अन्य शेरों को देखें कि सौदा ने कैसे मोती पिरोए हैं। सचमुच इनका काव्य-संग्रह एक ऐसी नदी की तरह है, जिसकी धार में अनेक प्रकार के रत्न भरे हुए हैं। कौन कह सकता है कि इस रुत्बे का शायर एक मतले का भिखारी था, इसलिये उसे चुरा लिया। अबुलफ़ज़ल ने अपने एक पत्र में लिखा है :--

वल्दुज्ज्ज़ेनास्त हासिद सनम आँके तालश्र् मन।
वल्दुज्ज़ना कश आमद चो सितारए यमानी।।

यही शेर क़सायद निज़ामी में भी मौजूद है। और इसी विषय को अरबी भाषा में 'मुतनब्बी' ने भी कहा है।

स्वयं सौदा के मुँह से कही गई यह बात कही जाती है कि जो ग़ज़ल फ़ारसी की इनकी निंदा में मौलवी नज़रत कश्मीरी ने कही और उन्होंने उसे पाठांतर करके उन्हीं पर पलट दिया, उसके मतले पर ख़ान आरज़ू ने मिस्रे लगा दिए थे। बाक़ी सारी कविता मिर्ज़ा की है।

शेर नामौज़ूं से तो बेहतर है कहना रेख़्तः,
कब कहा मैं क़त्ल कर मज़मूँ किसी का रेख़्तः।
बेहयाई है यह कहना सुन के मेरा रेख़्तः,

---

[१] सौदा का उपर्युक्त शेर कुदसी के इसी शेर का उर्दू रूपांतर है।

[२] उपर्युक्त सौदा का शेर इसी फ़ारसी शेर का रुपांतर।।

ख़ून माना ता रफ़ीये वादः पेमां रेख़्तः ।
आबरूऐ रेख़्तः अज़ जोशे सौदा रेख़्तः ।।

(१०) कुछ विश्वस्त सूत्रों से एक लतीफ़ा सुना है कि किसी आदमी ने सौदा से पूछा, "बुलबुल मुज़क्कर (पुल्लिंग) है या मुअन्नस (स्त्रीलिंग) ?" मुस्कुराकर बोले कि :—

एक हो तो मर्द से औरत हो जाती है। इस लफ़्ज़ को देखो, इसमें दो हैं"। लेकिन आश्चर्य है कि उन्होंने अपनी एक ग़ज़ल में एक स्थान पर बुलबुल के लिये पुल्लिंग का प्रयोग किया है। इस ग़ज़ल के अंताक्षर है :—'असर लगा कहने', 'चश्मतर लगा कहने', 'तारे नज़र लगा कहने'। इसमें कहते हैं :—

सुने है मुर्गे चमन का तू नालः ऐ सय्याद,
बहार आने की बुलबुल ख़बर लगा कहने ।।

अक्सर लखनऊ वाले अब भी इसके लिये पुल्लिंग का ही प्रयोग करते हैं। 'सरवर' का एक शेर है :—

करेगा तू मेरे नालों की हसरी बुलबुल,
शऊर इतना तो कर जाके जानवर पैदा ।।
'सैरे चमन को चलिए बुलबुल पुकारते हैं' – आतिश
'जानवर का जो हुआ शौक़ तो पाले बुलबुल' – रिंद

मगर सच बात यह है कि उस समय तक शब्दों का लिंगभेद निर्धारित नहीं हुआ था। बहुत से ऐसे शब्द हैं, जिनको मिर्ज़ा और मीर साहेब ने पुल्लिंग में प्रयोग किया है। उनके बाद सैयद 'इन्शा', 'जुरअत', 'मसहफ़ी' से लेकर आज तक सब उन शब्दों को स्त्रीलिंग में प्रयोग करते हैं। चुनांचे मीर साहेब की तरह मिर्ज़ा साहेब भी कहते हैं :—

जान – 'कहा तबीब ने अहवाल देख कर मेरा,
कि सख़्त-जान है 'सौदा' का आह क्या कीजे ।।
दीद – 'बुताँ का दीद मैं करता हूँ शेख जिस दिन से,
हलाल तब से है मै मू-ब-मू मेरे दिल पर ।।
सैर – 'हर संग में शरार है तेरे ज़ुहूर का,
मूसा नहीं जो सैर करूँ कोहे तूर का' ।।
सैर – 'करें शुमार वहम दिल के यार दाग़ों का,
तू आके सैर करे आज दिल के बाग़ों का' ।।
सैर – 'बसकि पोंछू हूँ मैं अपनी चश्म खूं आलूद को,
जामा का हर एक तख़्ता सैर है गुलज़ार का ।।

जब मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' लड़के थे, उस समय मीर जाफ़र 'ज़टल' का बुढ़ापा था। उस ज़माने में अकसर लोग रंगीन छड़ी, जिसपर नक़्क़ाशी का काम होता था, टलहने के समय हाथ में रखा करते थे। एक दिन शाम के वक़्त मीर 'ज़टल' एक हरे रंग की छड़ी टेकते टहलने को बाहर निकले। मिर्ज़ा बग़ल में किताबों का बस्ता लिए सामने से आ रहे थे। उस समय आपसी शिष्टाचार की बड़ी पाबंदी थी। बडे बूढ़ों को सलाम करना और उनकी ज़बान से आशीर्वाद का प्रसाद लेना सामान्य शिष्टाचार समझा जाता था। मिर्ज़ा ने झुक कर सलाम किया, मीर ज़ाफ़र ने खुश हो कर दुआ दी। चूँकि बचपन में ही मिर्ज़ा के रुचि-लालित्य की चर्चा थी मीर साहेब उनसे कुछ बातें करने लगे। मिर्ज़ा इनके साथ हो लिए। इनके नवोदित काव्य-कल्पना को बढ़ावा देने लिये कहा कि 'मिर्ज़ा एक समस्या-पूर्ति तो करो 'लालः दर बाग़ दाग़ चूं दारद' ? (बाग़ में लालः के फूल (पोस्त का फूल) में दाग़ क्यों है ?) मिर्ज़ा ने सोच कर कहा :—'उम्रं कोतास्त ग़म फिज़ूं दारद' (उम्र कम और ग़म बहुत ज्यादा है)। मीर साहेब ने फ़रमाया, 'वाह मिर्ज़ा, दिन भर के भूखे थे, कोताह का 'हे' खा गए'। मिर्ज़ा ने फिर कहा, 'अज़ ग़में इश्क़ सीनः खूं दारद' (इश्क़ की लगन में सीने को खून से भरा रखता है)।

मीर साहेब ने फ़रमाया, 'वाह भई, दिल खून होता है, जिगर खून होता है, भला सीना क्या खून होगा ? सीना 'पुर-अज़-खूँ' होता है'।

मिर्ज़ा साहेब ज़रा सोचने लगे और कहा चे कुनद सोज़िशे दरूँ दारद' (क्या करे, भीतर एक जलन रखता है)।

मीर साहेब ने कहा, 'हाँ मिस्रा तो ठीक है, लेकिन ज़रा तबीयत पर ज़ोर देकर कहो'।

मिर्ज़ा चिढ़ गए और कह दिया, 'यह असा सब्ज़ ज़ेरे दारद एक सब्ज़ डंडा अपनी मेक़द के नीचे रखता है)।

मीर साहेब हँस पड़े और उनकी ओर छड़ी उठाकर कहा, 'क्यों, यह हम से भी ? देख, कहूँगा तेरे बाप से। बाज़ी बाज़ी बरेश बाबा हम बाज़ी❀। मिर्ज़ा लड़के तो थे ही भाग गए।

कुछ शेर जिनसे मीर और मिर्ज़ा के काव्य कौशल में अंतर का पता चलता है, नीचे उद्धृत किए जाते हैं। इन शेरों में दोनों उस्तादों की तबीयत बराबर लड़ी है। किंतु ज़रा दोनों के वाग्भंगिमा पर ध्यान दो :—

मीर — हमारे आगे तेरा जब किसी ने नाम लिया,
दिले सितमज़दः को हमने थाम थाम लिया॥
क़सम जो खाइए तो तालए ज़ुलेख़ा की,
अज़ीज़ मिस्र का भी साहेब एक गुलाम लिया॥

सौदा – चमन में सुबह जो इस जंगजू का नाम लिया,
सबा ने तेग़ का मौजे रवाँ से काम लिया ॥
कमाल बंदगीए इश्क़ है ख़ुदाबंदी,
कि एक ज़न ने महे मिस्र सा गुलाम लिया ॥
मीर – गिला मैं जिस से करूँ तेरी बेवफ़ाई का,
जहाँ में नाम न ले फिर आश्नाई का ॥
सौदा – गिला लिखूँ मैं अगर तेरी बेवफ़ाई का,
लहू में ग़र्क़ सफीनः हो आश्नाई का ॥
दिखाउँगा तुझे ज़ाहिद उस आफ़ते-दीं को,
ख़लल दिमाग़ में तेरे है पारसाई का ॥
मीर – चमन में गुल ने जो कल दावए जमाल किया,
जमाले यार ने मुँह उसका ख़ूब लाल किया ॥
सौदा – बराबरी का तेरी गुल ने जब ख़्याल किया,
सबा ने मार थपेड़ा मुँह उसका लाल किया ॥
मीर – दिल पहुँचा हलाकत को बहुत खींच कसाला,
ले यार मेरे सेल्लमहु-अल्लाह तआला ॥
सौदा – मैं दुश्मने जाँ ढूँढ़ के अपना जो निकाला,
सो हज़रते दिल सल्लेमहु-अल्लाह तआला ॥
मीर – एक महरूम चले 'मीर' हमीं दुनियाँ से,
वरना आलम को ज़माने ने दिया क्या क्या कुछ ॥
सौदा – 'सौदा' जहाँ में आके कोई कुछ न ले गया,
जाता हूँ एक मैं दिले पुर-आरज़ू लिए ॥
मीर – रात सारी तो कटी सुनते परीशाँ-गोई,
'मीर' जी कोई घड़ी तुम भी तो आराम करो ॥
सौदा – 'सौदा' तेरी फ़रियाद से आँखों में कटी रात,
अब आई सहर होने को टुक तो कहीं मर भी ॥
सौदा – होती नहीं है सुबह न आती है मुझको नींद,
जिसको पुकारता हूँ वह कहता है मर कहीं ॥
मीर – कुफ़्र कुछ चाहिए इस्लाम की रौनक़ के लिये,
हुस्न जुन्नार है तस्बीह सुलेमानी का ॥
सौदा – हुआ जब कुफ़्र साबित है वह तमग़ाए मुसल्मानी,
न टूटे शेख़ से जुन्नार तस्बीह सुलेमानी ॥

मीर – मत रंज कर किसी को अपने तू एतक़ाद,
दिल ढाए कर जो काबा बनाया तो क्या हुआ ।।
सौदा – काबा अगर चे टूटा तो क्या जाए ग़म है शेख़,
यह क़स्रे दिल नहीं कि बनाया न जायगा ।।
मीर – न भूल ऐ आरसी गर यार को तुझसे मुहब्बत है,
नहीं है अतबार इसका यह मुँह देखे की उल्फ़त है ।।
सौदा – बगोले से जिसे आसेब और सरसर से ज़हमत है,
हमारी ख़ाक यूँ बरबाद हो ऐ अब्र रहमत है ।।

'सौदा' की कुछ ग़ज़लें

ग़ैर के पास यह अपना ही गुमाँ है कि नहीं,
जल्वःगर यार मेरा वर्ना कहाँ है कि नहीं ।।
दिल के पुर्जों को बग़ल बीच लिए फिरता हूँ,
कुछ इलाज इनका भी ऐ शीशा-गराँ है कि नहीं ।।
महर हर ज़र्रा में मुझको ही नज़र आता है,
तुम भी टुक देखो तो साहब नज़राँ है नहीं ।।
जुर्म है इसकी जफ़ा का कि वफ़ा की तक़सीर,
कोई तो बोलो मियाँ मुँह में ज़ुबाँ है कि नहीं ।।
पासे नामूस मुझे इश्क़ का है ऐ बुलबुल,
वरना यां कौन सा अंदाज़ फ़ुगां है कि नहीं ।।
आगे शमशीर तुम्हारी कै भला यह गर्दन,
मू से बारीकतर ऐ खुशकमरां है कि नहीं ।।
पूछा 'सौदा' से मैं एक रोज़ कि ऐ आवारा,
तेरे रहने का मुअइयन भी मकां है कि नहीं ।।
यकबयक होके बरआशुफ़्तः लगा वह कहने,
कुछ तुझे अक़्ल से बहरः भी मियां है कि नहीं ।।
देखा मैं क़स्रे फ़रीदूँ के दर ऊपर एक शख़्स,
हल्क़ः ज़न होके पुकारा कोई यां है कि नहीं ।।

सीने में हुआ नाला व पहलू में दिल आतिश,
धड़के है पड़ा दिल कि न हो मुशतइल आतिश ।।

अश्क आतिशो खूं आतिशो हर लख़्ते दिल आतिश,
आतिश पे बरसती है पड़ी मुत्तसिल आतिश ॥
यक लह्ज़: तरफ़ होके मेरे दीदए दिल से,
नादिम तो समुंदर है सदा मुन्फ़इल आतिश ॥
याकूत नहीं है वह तेरे लाल से ऐ शोख़,
जा डूब मुई आग में होकर ख़जिल आतिश ॥
दाग़ आज से रखता नहीं इन संगदिलों का,
मुद्दत से हुई है मेरी छाती यह सिल आतिश ॥
दिल इश्क़ के शोला से जो भड़का तो रहा क्या,
ए लान हननि ला हनिबर तूज्जहसन इहजश ॥
यक क़तरए मै ले उड़ी 'सौदा' की जगह से,
बारुत के तूदे को है बस एक तिल आतिश ॥

दीं शेख़ी बरहमन ने किया यार फ़रामोश,
ये सुबहा फ़रामोश वह जुन्नार फ़रामोश ॥

देखा तो हरम को तो नहीं दैर की वुसअत,
इस घर की फ़िज़ाँ कर गया मेमार फ़रामोश ॥

भूले न कभी दिल से मेरा मिस्रए जांकाह,
नालः न करे मुर्ग़ गिरफ़्तार फ़रामोश ॥

दिल से न गई आह हवस सैरे चमन की,
और हमने किया रख़नये दीवार फ़रामोश ॥

या नाला ही कर मना तू या गिरिया को नासेह,
दो चीज़ न आशिक़ से हो यकबार फ़रामोश ॥

भूला फिरूँ हूँ आप को इक उम्र से लेकिन,
तुझको न किया दिल से मैं ज़िनहार फ़रामोश ॥

दिल दर्द से किस तरह मेरा ख़ाली हो सौदा,
वह नाशिनवा हर्फ़ में गुफ़्तार फ़रामोश ॥

जो गुज़री मुझपे मत इससे कहो हुआ सो हुआ,
बला कशाने मोहब्बत पे जो हुआ सो हुआ ॥

मुवादा हो कोई जालिम तेरा गरेबाँगीर,
मेरे लहू को तो दामन से धो हुआ सो हुआ ।।
पहुँच चुका है सरे ज़ख़्म दिल तलक यारो,
कोई सीओ कोई मरहम करो हुआ सो हुआ ।।
कहे है सुनके मेरी सरगुज़श्त वह बेरहम,
ये कौन ज़िक्र है जाने भी दो हुआ सो हुआ ।।
ख़ुदा के वास्ते आ दरगुज़र गुनह से मेरे,
न होगा फिर कभू ऐ तुन्द ख़ू हुआ सो हुआ ।।
ये कौन हाल है अहवाल दिल पे ऐ आँखों,
न फ़ूट फूट के इतना वहो हुआ सो हुआ ।।
दिया इसे दिलो दीं अब ये जान है सौदा,
फिर आगे देखिये जो हो सो हो हुआ सो हुआ ।।

नाविक ने तेरे सैद न छोड़ा ज़माने में,
तड़फे है मुर्ग़ क़िबलानुमा आशियाने में ।।
क्योंकर न चाक चाक गरेबाने दिल करूँ,
देखूँ जो तेरी ज़ुल्फ़ को मैं दस्तेशानः में ।।
ज़ीनत दलीलें मुफ़लसी, ही टुक कमां को देख,
नक़्शो निगार छुट नहीं कुछ इसके ख़ाने में ।।
ऐ मुर्ग़ दिल समझ के तू चश्मे तमा को खोल,
तूने सुना है दाम जिसे है वह दाने में ।।
चित्ले में खींच खींच किया क़द को जूँ क़माँ,
तीरे मुराद पर न बिठाया निशाने में ।।
पाया हर एक वात में अपने में यूँ तुझे,
माना को जिस तरह सुख़ने आशिक़ाने में ।।
दस्ते गिरह कुशा को न तज़ई करे फ़लक,
मेंहदी बंधी न देखी मैं अंगुश्ते शाने में ।।
हमसा तुझे तो एक हमीं तुझ से हैं कई,
जा देख ले तू आप को आईनाख़ाने में ।।
सौदा ख़ुदा के वास्ते कर क़िस्सा मुख़्तसर,
अपनी तो नींद उड़ गई तेरे फ़िसाने में ।।

उफ़ई को ये ताक़त है कि उससे बसर आवे,
वह ज़ुल्फ़े सियह अपनी अगर लहर पर आवे ।।
सूरत हमें इस मेहर की पहचाँ अगर आवे,
हर ज़र्रः में कुछ और ही झमका नज़र आवे ।।
मुझ चश्म से अब अश्क नहीं आने का नासेह,
आवे भी ग़मे दिल से तो लख़्ते ज़िगर आवे ।।
फ़िरता हूँ तेरे वास्ते मैं दर-बदर ऐ यार,
तुझ से न हुआ ये कि कभू मेरे घर आवे ।।
गोया दिले आशिक़ भी है एक़ फ़ीले सियह मस्त,
रुकता नहीं रोके से कसू के जिधर आवे ।।
कह कह के दुःख अपना मैंने किया मग्ज़ को ख़ाली
इतना न हुआ सुन के तेरी चश्म भर आवे ।।
शीशः न कहे राज़ मेरे दिल का तो ऐ जाम,
सरग़ोशी से इसकी न तेरी चश्म भर आवे ।।
क्या हो जो क़फ़स तक मेरे अब सहने चमन से,
दो बर्ग लिए गुल के नसीमे सेहर आवे ।।
सब काम निकलते हैं फ़लक तुझ से व लेकिन,
मेरे दिले नाशाद की उमीद बर आवे ।।
जब फूँकिए नाक़ूस सनम ख़ानए दिल शेख़,
काबा का तेरे बज़्द में दीवारो दर आवे ।।
नामे का जवाब आना तो मालूम है अब काश,
क़सिद के बदी-नेक की मुझ तक ख़बर आवे ।।
मैं भी हूँ ज़ईफ़ इस क़दर ऐ मूर कि वह अब,
ग़ुज़रे मेरे सर से जो तेरे ता कमर आवे ।।
सबसे कहे देता हूँ यह कह दें कि फिर आना,
बपली पे मेरे शेरे क़ियामत अगर आवे ।।
देता है कोई मुर्ग़ दिल उस शोख़ को सौदा,
क्या क़हर किया तूने ग़ज़ब तेरे पर आवे ।।
अब ले तो गया है पर इसे देखियो नादाँ,
पल में न उड़ाता वह अगर बालों पर आवे ।।

ख़बों में दिलदेही की रविश कम बहुत है याँ,
ख़्वाहाने जाँ जो चाहो तो आलम बहुत है यां ।।

ग़ाफ़िल न रह तू ऐ अहले तवाज़ूअ के हाल से
तेग़ों कमाँ की तरह ख़मोचम बहुत हैं याँ ।।

चश्में हवस उठाले तमाशे से जो हवाब,
नादीदनी का दीद बस एक दम बहुत है याँ ।।

ख़ने ज़िगर ब-आदमी लौज़ीना से बगाव,
सूरत मआश ख़ल्क़ की बरहम बहुत है याँ ।।

आँखों में दूँ इस आईना-रू को जगह वले,
टपका करे है बल्कि ये धर नम बहुत है याँ ।।

कटता है हालो माज़ीओ मुस्तक़बिल एक-एक,
जामे जहाँ-नुमा तो नहीं जम बहुत है याँ ।।

देखा जो बाग़े दहर तो मानिंद सुबहो ग़ुल,
कम फ़ुर्सती मिलाप की बाहम बहुत है याँ ।।

आया हूँ ताज़ा दीं बहरम शेख़ना मुझे,
पूजा नेमाज़ से भी मुक़द्दम बहुत है याँ ।।

'सौदा' कह उससे दिल की तसल्ली के वास्ते,
गोशः से चश्म के निगहे कम बहुत है यां ।।

इब्राहीम अली ख़ाँ 'तज़्किरए गुल्ज़ारे इब्राहीमी' में लिखते हैं कि मिर्ज़ा ग़ुलाम हैदर 'मज्जूब' मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' के बेटे हैं और अब (सन् ११९६ हि० में) लखनऊ में रहते हैं। अपनी विवेक, शालीनता और मिलनसारी के गुणों के लिए लोगों में मशहूर हैं। हकीम कुदरतुल्लाह ख़ाँ 'क़ासिम' कहते हैं कि एक भलेमानस जवान मुग़लज़ादा भी है, जो मिर्ज़ा 'सौदा' का दत्तक पुत्र है। वह सिपहगिरी से जीविका पालन करता है और अपने अभिभावक की शागिर्दी का दम भरता है। सौदा के इस बेटे 'मज्जूब' के कुछ शेर पेश हैं :—

+ + +

अदावत से तुम्हारी कुछ अगर होवे तो मैं जानूं,
भला तुम ज़हर दे देखो असर होवे तो मैं जानूँ।
न अंदेशे करो प्यारे कि शब है वस्ल की थोड़ी,
तुम अपनी ज़ुल्फ़ को खोलो सहर होवे तो मैं जानूँ।

हमारे तुम से जो अहदे-वफ़ा हों उनको तुम जानो,
मेरे पैमां में कुछ नौए दिगर होवे तो मैं जानूँ।
ज़रा तुम मारे काकुल को मेरे लब से लगा देखो,
हज़ारों साँप काटें फिर असर होवे तो मैं जानूँ।

+ + ×

ख़ूवां से जो दिल मिला करेगा,
डरता हूँ यही कि क्या करेगा।

+ + +

आवे भी मसीहा मेरे वालें पे तो क्या हो,
बीमार ये ऐसा तो नहीं जिसकी शफ़ा हो।

+ + +

ज़ोरो जफ़ा पे यार की दिल मत निगाह कर,
अपनी तरफ़ से होवे जहां तक निवाह कर।

+ + +

ख़ाकी खूँ में सूरतें क्या क्या न रलियां देखियां,
ऐ फ़लक वातें तेरी कोई न भलियां देखियां।

+ + +

आह में अपनी असर ढूँढ़े है ऐ मज़्ज़ूव तू,
बेद मजनूँ की न शाख़ें हमने फलियां देखियां।

× × ×

बस अब तेरी तासीर ऐ आह देखी,
न आया वह काफ़िर बहुत राह देखी ।।

+ + +

ख़ामोश जो इतना हूँ मुझे गुग न समझो,
इक अर्ज़ तमन्ना है कि आ लब पे अड़ी है ।।

+ + +

चाहूँ मदद किसी से न अग़ियार के लिए,
मैं भी तो यार कम नहीं को यार के लिए।

तौबा तले मैं बैठ के रोऊँगा ज़ार-ज़ार,
जन्नत में तेरे सायए दीवार के लिये।

है दर्द सर ही बुलबुले आज़ाद की सफ़ीर,
मौज़ूं है नाला मुर्ग़े गिरफ़्तार के लिए।

+ + +

मीर तक़ी 'मीर' ने 'मज़ज़ूब' के बारे में कुछ शेर कहे थे। वे ये हैं :—

ऐ 'मीर' समझियो मत मज़्ज़ूब को औरों सा,
है वह ख़लफ़े सौदा और अह्ले-हुनर भी है।

+ + +

अश्क आंख में हो इश्क़ से तादिल में ग़म रहे,
यह घर है वह ख़राब कि आतिश में नम रहे।
निकले अगर क़फ़स से तो खामोश हम सफ़ीर,
सय्याद ने सुना यह तराना तो हम रहे।

मीर ज़ाहिक

स्वर्गीय मीर 'ज़ाहिक' का नाम सय्यद गुलाम हुसेन था। इनके पूर्वज हैरात से आकर पुरानी दिल्ली में बस गए थे। ये सय्यद वंश के थे, यह मत प्रमाणित है। ये इमामी हरदी के वंशज थे और इनके घराने में शायरी भी परंपरा से चली आती थी। मीर साहिब एक अत्यंत विनोदप्रिय, खुशमिज़ाज, हँसमुख, और हँसोड़ व्यक्ति थे। इसीलिए इन्होंने अपना उपनाम भी 'ज़ाहिक' (मसख़रा) रखा। इनकी वेष-भूषा और चाल-ढाल दिल्ली के पुराने लोगों का पूरा नमूना था। सर पर अरब के निवासियों की तरह हरी पगड़ी, बड़े घेरे का जामा या जुब्बा और यह भी प्रायः हरे रंग का होता था, गले में ख़ाक-पाक का कंठा, दाहिने हाथ में एक चूड़ी जिस पर कुछ दुआएँ खुदी होती थीं, छंगुली में और अंगुलियों में भी क़ई अंगूठियाँ, दाढ़ी मेंहदी के रंग में रँगी हुई, किंतु बहुत बढ़ी नहीं, मगर रीशबच्चः मुंडाते थे। कभी कभी हाथों में भी मेंहदी लगाते थे। क़द नाटा और रंग गोरा था।

इनका कोई दीवान अभी तक हाथ नहीं आया, जिसके आधार पर इनकी कविता के बारे में कोई राय ज़ाहिर की जाय। कुछ इने-गिने लोगों में जो कुछ चर्चा है, वह उन निंदात्मक रचनाओं (हज्व) की बदौलत है, जो इनके बारे में 'सौदा' ने लिखी। मुग़ल-सल्तनत के ध्वंस ने इन्हें भी दिल्ली छुड़वाया और फिर यह फ़ैज़ाबाद में रहने लगे।

सौदा ने ज़ाहिक के हक़ में जो गुस्ताख़ी की, उसका कारण यह हुआ कि पहले ज़ाहिक ने ही किसी अवसर पर सौदा पर फ़बती कसी। सौदा इनके पास गए

और कहा कि आप बुज़ुर्ग हैं और हम छोटे हैं, आप सय्यद, मैं आपके पूर्वजों का ग़ुलाम। मैं इस योग्य नहीं कि आप मेरे विषय में कुछ कहें। ऐसा न कीजिए कि मुझ गुनहगार के मुंह से कुछ निकल जाय और क़यामत के दिन आपके पूर्वजों के सामने काला मुँह किए हाज़िर होना पड़े। ख़ुदा के बंदों के दिमाग़ ऊँचे होते हैं। उनकी ज़बान से निकला कि 'नहीं भई, यह शायरी है, इसमें क्या बड़ा क्या छोटा'? इस जवाब के बाद सौदा के पास और कोई चारा नहीं था। फिर जो कुछ इन्होंने ज़ाहिक के बारे में कहा वह भगवान् न किसी को सुनवाए। यह भी बुज़ुर्गों से सुना है कि सौदा ने इनके बारे में जो कुछ भी बक़वास की, मीर ज़ाहिक ने उन्हें उससे भी अधिक बुरा-भला कहा। लेकिन आश्चर्य यह है कि ज़ाहिक की उन रचनाओं का कोई अवशेष नहीं मिलता।

इनके पुत्र मीर हसन सौदा के शागिर्द थे। कहते हैं कि मीर ज़ाहिक की मृत्यु हुई तो सौदा फ़ातिहा के लिये गए और अपना दीवान साथ लेते गए। बेटे के सामने समवेदना प्रकट करने के बाद जो कुछ आपत्तिजनक रचनाएँ मृत व्यक्ति के बारे में की थीं उसके लिये पश्चाताप प्रगट किया और कहा कि "तुम्हारे पिता सय्यद साहब का अब परलोकवास हो गया। तुम उनके पुत्र हो। जो कुछ मुझसे अपराध हुआ क्षमा करो"। इसके बाद नौकर से अपना दीवान लेकर उसमें से जो निंदात्मक कविताएँ मीर ज़ाहिक के बारे में लिखी थीं, निकाल कर सब फाड़ डालीं। लेकिन बात तो यह थी कि सौदा की गज़लें उनके क़लम से निकलते ही बच्चे-बच्चे की ज़बान पर चढ़ जाती थीं। इसलिये मीर ज़ाहिक के बारे में लिखी गई वे अपाकृत रचनाएँ भी लोगों की स्मृति में बनी रहीं। लेकिन इनके ऊपर जो कुछ ज़ाहिक ने लिखा था, वह गुम हो गया।

सौदा के दीवान में मीर ज़ाहिक के विषय में जब यह कविता देखता था कि जिसमें उन्होंने कहा है 'यारब यह दुआ माँगता है तुझसे सिकंदर' तो हैरान होता था कि सिकंदर का यहाँ क्या काम? मीर मेहदी हसन 'फ़राग़' ने, ईश्वर उनकी आत्मा को शांति दे, इस घटना की इस तरह चर्चा की। एक बार और दिन की तरह मिर्ज़ा सुलेमान शिक़ोह के यहाँ उनके बाग़ीचे में तख़्त बिछे थे। शाहज़ादा ख़ुद मस्नद पर बैठे थे। शरीफ़ों और शायरों का जमघट था। मिर्ज़ा रफ़ी, 'सौदा' और मर्सिया करनेवाले 'सिकंदर' भी वहाँ उपस्थित थे। उसी समय मीर 'ज़ाहिक' वहाँ पधारे। इनके पुराने ढंग के सज-धज और वेष-भूषा पर, जिसपर कि उस समय के लोग भी अँगुलियाँ उठाते थे, शाहज़ादे मुस्कराए। मीर साहेब आकर बैठे। कुशलक्षेम पूछने के बाद हुक्क़ा सामने आया। संयोगवश शाहज़ादे ने मिर्ज़ा रफ़ी से कहा 'कोई शेर सुनाइए'। (सौदा और मीर ज़ाहिक के आपसी नोक-झोंक के बारे में तो इन्हें मालूम ही था। भगवान् जाने कुछ छेड़खानी के विचार से या संयोगवश यह अनुरोध उनके मुँह से निकल पड़ा)। सौदा ने कहा "मैंने तो इन दिनों कुछ कहा नहीं। मियाँ सिकंदर की ओर इशारा करके कहा कि इन्होंने एक मुख़म्मस कहा

है"। शाहज़ादे ने पूछा, "कौन सा ?" सौदा ने पहला ही बंद पढ़ा था कि मीर ज़ाहिक उठ कर सिकंदर से हाथा-पाई करने पर तुल गए। सिकंदर बेचारे हैरान कि उन्हें उस बंद की रचना से कोई मतलब नहीं, यह क्या संकट ग्रा पड़ी ? सब उठ खड़े हुए, दोनों साहबों को ग्रलग किया। ग्रौर सौदा जो देखिए तो किनारे खड़े हुए मुस्कुरा रहे हैं। यह पृष्ठभूमि है सिकंदर वाले मुख़म्मस की।

इस तरह से मैंने यह प्रयत्न किया कि इनके जलसे ग्रौर ग्रापसी वार्तालाप के विनोद ग्रौर मनोरंजन की कुछ चर्चा खोज निकालूँ। ग्रौर कुछ न हो तो इनकी कुछ पूरी रचनाएँ ही मिल जायँ। किंतु इस दिशा में कोई भी प्रयास सफल न हुग्रा। जब इनके कुलदीपक सय्यद खुरशीद ग्रली 'नफ़ीस' ने ही मेरे ग्रनुरोध की ग्रवहेलना की तो ग्रौरों से क्या ग्राशा की जाती।

तिश्ना बूदम जू-दमैं तेग़ तू ग्रावम ददन्द,
वज़ जवाबे लबे लाले तो जवावम दादन्द।

(मैं प्यासा हूँ ग्रौर तुम ग्रपनी तलवार के ग्राब से मुझे पानी देते हो। तुम ग्रपने लाम (रत्न) जैसे होठों से मुझे जवाब तो दो।)

मीर ज़ाहिक की मृत्यु की तिथि का भी पता न चला। संभव नहीं कि उनके गुणवान् बेटे ने किसी से तारीख़ न बताई हो। मगर इस लेखक को कौन बताए ? तज्किरा गुलज़ार इब्राहीमी (सन् ११९६ हि०) कहते हैं कि फ़ैज़ाबाद में हैं ग्रौर मौज से जीवन व्यतीत करते हैं। एक स्थान में इनके एक ही शेर का उल्लेख पाया :—

क्या दीजिये इस्लाह खुदाई को वगनां,
काफ़ी था तेरा हुस्न ग्रगर माह न होता।

ख़्वाजा मीर 'दर्द'

'दर्द' तख़ल्लुस (उपनाम) ग्रौर ख़्वाजा मीर नाम था। यह उर्दू भाषा के चार वरिष्ठ कवियों में एक ग्रत्यंत प्रसिद्ध कवि माने गए हैं। माँ की ग्रोर से इनका संबंध ख़्वाजा बहाउद्दीन 'नक़्शबंदी' से मिलता है। इनके पिता का नाम ख़्वाज़ा मुहम्मद नासिर 'ग्रंदलब' था। यह शाह गुलशन साहिब के मुरीद थे ग्रौर उनमें बड़ी श्रद्धा रखते थे। इनका कुल दिल्ली में पीरी-मुरीदी के कारण ग्रत्यंत प्रतिष्ठित ग्रौर पूज्य समझा जाता था। इन्होंने ग्रौपचारिक रूप से विद्याध्ययन किया ग्रौर कुछ समय मुफ़्ती दौलत साहिब से मस्नवी की शिक्षा ली। देश की बरबादी, सलतनत की तबाही, ग्राए दिन की लूट मार के कारण दिल्ली के धनी मानी घराने घर ग्रौर शहर छोड़ छोड़कर निकल गए। किंतु इनके धैर्य ग्रौर दृढ़ता का पाया न डिगा। भगवान् भरोसे जिस फ़क़ीरी गद्दी को पूर्वजों ने बिछाया था, उसीपर बैठे रहे। "जैसी नियत वैसी बरकत"। ईश्वर ने भी निभा दिया। उर्दू भाषा में लिखा गया इनका एक

Chambal eGangotri Urdu

छोटा सा दीवान है। इसमें सिवाय ग़ज़लों, बंदों और रुबाइयों के और कुछ नहीं। और कवियों की भाँति इन्होंने क़सीदे और मस्नवियाँ नहीं लिखीं। बावजूद इसके सौदा ने जो ग़ज़लें मीर तक़ी 'मीर' की ग़ज़लों पर लिखी हैं, उनसे इनकी ग़ज़लें घटिया नहीं हैं। फ़ारसी भाषा में लिखी गई ग़ज़लों का भी एक छोटा सा दीवान है। काव्य-रचना के प्रति इनकी रुझान पैदाइशी थी। चुनांचे पहले पहल १५ वर्ष की उम्र में ही, एकांत में ईश्वर की आराधना में समय व्यतीत करते हुए, **रिसाला इस्रारुलसलूतः** लिखा। २६ वर्ष की आयु में इन्होंने **वारदाते दर्द** नाम का एक और रिसाला लिखा और इसकी टीका के रूप में इलमुन्किताब की रचना की। इसमें **नालए-दर्द, आहे-दर्द, दर्दे दिल, सोज़े-दिल, शम्म-महफ़िल** इत्यादि १११ रिसाले हैं, जिन्हें सूफ़ी मत के अनुरागी आदर की दृष्टि से देखते हैं। इन्होंने **'वाक़याते-दर्द'** और एक रिसाला **'हुर्मते-गुना'** संस्मरण के रूप में भी लिखे, चूँकि उस ज़माने में कुलीन व्यक्तियों में, विशेषकर सूफ़ीमत के अनुयायियों में कविता करना एक अपेक्षित गुण समझा जाता था, इसलिये इनके पिता ने भी एक छोटे से सटीक दीवान और **नालए अन्दलीब** नाम के एक रिसाले की रचना की। इनके भाई मियाँ सय्यद मुहम्मद मीर ने अपना उपनाम 'असर' रखा था। उन्होंने भी एक दीवान की रचना की थी। बल्कि ख़्वाबो-ख़्याल नाम की एक इनकी मस्नवी भी मशहूर है, जो बहुत अच्छी लिखी है।

ख़्वाजा मीर 'दर्द' साहिब की ग़ज़लें ७ और ९ शेरों की होती हैं। मगर ये बिल्कुल चुनी हुई होती हैं। विशेषकर छोटे-छोटे छंदों में जो ग़ज़लें कहते थे, उनमें मानो तलवार के धार की तीक्ष्णता भर देते थे। इनकी कल्पनाएँ संतुलित और गंभीर होती थीं। इन्होंने अपनी रचनाओं को किसी निंदा से दूषित नहीं किया। इनके जैसी आध्यत्मिक विषय संबंधी रचताएँ उर्दू भाषा में आज तक किसी और ने नहीं कीं। मीर साहिब ने इन्हें आधा शायर कहा है। इनके समय की भाषा यदि सुनना चाहो तो इनका दीवान देख लो। 'मीर' और 'सौदा' की जो ज़बान थी, वही इनकी ज़बान है।

उस समय की कविताओं में साधारण प्रयोग के अनुसार इनकी कविताओं में जो भी 'नित' यानी 'हमेशा' 'टुक' यानी 'ज़रा' 'तई' यानी 'को', और 'यहाँ तई' यानी 'यहाँ तक', 'मुझ-साथ' यानी 'मेरे साथ' और 'ईधर', 'कीधर', 'जीधर' इत्यादि शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। इस दौर की भूमिका में 'मीर' और 'सौदा' के शेरों के साथ कुछ शेर इनके भी लिखे गए हैं। नमूने के तौर पर इनके दो तीन शेर यहाँ लिखता हूँ :—

चलिए कहीं उस जागेह कि हम तुम हों अकेले।
गोशा न मिलेगा कोई मैदान मिलेगा॥

'जागह के अतिरिक्त अक्सर 'की', 'के' और 'है' इत्यादि इनकी रचनाओं में दबे-दबे से निकलते हैं :—

एक लहज़: और भी वह उड़ाता चमन का दीद ।
फुरसत न दी ज़माने ने इतनी शरार को ।।
(इसमें 'दीद' को पुल्लिग रूप में बाँधा है)

इन उद्धरणों से मेरा तात्पर्य कोई इनकी भाषा की आलोचना करना नहीं है। उस समय की ज़बान ही यही थी। सय्यद इंशा ने भी लिखा है कि ख़्वाजा मीर 'असर' अपनी मस्नवी में एक स्थान पर 'दिसा' भी कह गए हैं। और बड़े भाई साहिब 'तलवार' को 'तरवार' कहा करते थे। किंतु इन शाब्दिक विलक्षणता पर ध्यान न भी दें तो कुछेक शब्दों के प्रयोग पर आश्चर्य होता है। जैसे ख़्वाजा मीर 'दर्द' की एक ओजपूर्ण ग़ज़ल का मतला है--

मद्रसा या दैर था या काबा या बुतख़ाना था ।
हम सभी मेहमान थे तो आपही साहेबे ख़ाना था ।।

गोया 'बुतख़ाना' (मंदिर) को बार-बार प्रयोग करने में आपत्ति थी, इसलिए उसे बार-बार प्रयोग न करके इसके पर्याय 'दैर' जिसके अर्थ भी बुतख़ाना ही है, का प्रयोग किया। लेकिन यह साफ़ मालूम होता है कि यह क़ाफ़िया शुद्ध नहीं है।

पिछले समय के लोग बड़े श्रद्धालु और आस्थावान् होते थे। इसीलिए जो लोग ईश्वर के नाम के भरोसे बैठ रहते थे, उनका जीवन बड़े सुख से बीत जाता था। यही कारण था कि ख्वाज़ा साहिब को नौकरी की या दिल्ली से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं हुई। शाही दरबार से पूर्वजों को दी गई ज़ागीरें चली आती थीं। अमीर ग़रीब सभी इनकी सेवा कराना एक पुण्य का कार्य समझते थे। यह निश्चित बैठे 'अल्लाह' 'अल्लाह' जपा करते थे। एक बार शाह आलम बादशाह ने स्वयं इनके पास आने की इच्छा प्रगट की, किंतु यह इसके लिये तैयार नहीं हुए। इनके यहाँ हर महीने एक साधारण जलसा सूफ़ियों का होता था। एक दिन इस जलवे में बादशाह बिना सूचना दिए ही चले आए। संयोगवश उस दिन बादशाह के पाँव में दर्द था, इसलिए उन्होंने पाँव फैला दिया। सौदा ने उन्हें टोका और कहा 'ऐसा करना फ़क़ीरों की महफ़िल के शिष्टाचार के प्रतिकूल है'। बादशाह ने विनयपूर्वक कहा, 'क्षमा कीजिए, मैं दर्द से विवश था'। इन्होंने कहा कि 'यदि आपको दर्द था तो आपने आने का कष्ट ही क्यों किया ?'।

संगीत में इनका अच्छा अभ्यास था। बड़े बड़े गुणी गवैये अपनी चीजें शोध के लिये लाकर इन्हें सुनाया करते थे। संगीत में एक प्रभावोत्पादक गुण है। यूनानी और अन्य प्राचीन दार्शनिकों ने इसे विज्ञान की एक शाखा कहा। संगीत चित्त को आह्लादित और आत्मा में स्फुरित करता है। इसी आधार पर सूफ़ियों के अनेक फ़िरक़े भी इसे अपनी उपासना का एक आवश्यक साधन मानते हैं। चुनांचे ऐसा रिवाज बँध गया था कि हर महीने की दूसरी और चौबीसवीं तारीख़ को शहर के बड़े-बड़े कलाकार, संगीतज्ञ, गुनी-मानी व्यक्ति, और संगीत-प्रेमी लोग इनके यहाँ

जमा होते थे और ईश्वर-आराधना और अध्यात्म-संबंधी गाने गाते थे। यह दोनों दिन इनके दो पूर्वकालीन गुरुओं के मृत्यु-दिवस थे। मुहर्रम शोक का महीना है, इसलिये इसमें दूसरी तारीख़ में गाने की जगह मर्सिया-ख़्वानी होती थी। मौलवी शाह अब्दुल अज़ीज़ साहिब का घराना और ख़्वाजा दर्द का ख़ानदान दोनों एक मुहल्ले में रहते थे। इनके पिता के समय शाह साहिब किशोरावस्था में थे। एक दिन उस जलसे में चले गए और ख़्वाजा साहिब के पास जा बैठे। शाह साहिब की मुरीद बहुत सी वेश्याएँ भी थीं और जब चलने का समय हुआ तो वे सब विदा लेने के लिये उनके सामने आईं। बावजूदे कि शाह साहिब उस समय कम उम्र थे, मगर उनका मुस्कान और घूरने का ढंग ख़्वाजा साहिब को आपत्तिजनक मालूम हुआ। और उन्होंने कहा कि, 'फ़क़ीर के नज़दीक तो यह सब माँ बहनें हैं' शाह साहिब ने जवाब दिया, 'क्या माँ बहिनों को लेकर इस तरह मजलिस में सबके साथ बैठना उचित और शोभनीय है'? ख़्वाजा साहिब चुप हो रहे।

ख़्वाजा मीर 'दर्द' के यहाँ कभी-कभी कछ ख़ास लोगों की गोष्ठी बैठा करती थी। उसमें यह अपने पिता की रचना नालए अंदलीबा और अपनी कविताओं के विषय में कुछ कुछ चर्चा और समीक्षा करते थे। एक दिन मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' से कहीं राह चलते भेंट हुई तो उनसे इस गोष्ठी में आने के लिए अनुरोध किया। मिर्ज़ा ने कहा कि 'साहिब, मुझे यह नहीं भाता कि सौ कौए काँव-काँव करें और बीच में एक पिद्दा बैठकर चूँ-चूँ करे'। उस ज़माने के बुज़ुर्ग गुणवान् और विद्वानों की हर तरह की बातें सुनकर उन्हें धैर्यपूर्वक सह लेना एक मार्यदोचित बात मानते थे। मिर्ज़ा साहिब मुस्कुरा कर चुपके हो रहे।

सौदा ने एक क़सीदा नवाब अहमद अली ख़ां के प्रशस्ति के रूप में कहा है और उसकी भूमिका में कुछ कवियों की चर्चा उन्हीं शोख़ियों के साथ किया है, जो इनका मामूली अंदाज़ है। उस प्रशस्ति का इसी प्रसंग में उल्लेख करते हैं :—

दर्द किस-किस तरह हिलाते हैं,
करके आवाज़ मुनहनी व हज़ीं।।
और जो अहमक़ इनके साम्अ हैं,
दम बदम इनको यों करें तहसीं।।
जैसे सुब्हान मन यरानी पर,
लड़के मकतब के सब कहें आमीं।
कोई पूछे ज़रा कि आलम में,
फ़ख़्र किस चीज़ का है इनके तईं।।
शेरो तक़तीय इनके दीवां की,
जम्अ होवें तो जैसे [illegible] नगीं।।

Channel eGangotri Group

इसमें भी देखिए तो आख़िर कार,
या तवारुद हुआ है या तज़्मीं ।।
इतनी कुछ शायरी यह करते हैं,
मेख़ दर मेक़द आस्मानो ज़मीं ।।

ख़ैर, यह तो शायरों की शोख़ियाँ हैं । लेकिन उनकी महत्ता और प्रतिष्ठा जो उस समय जग पर छाई हुई थी, उसके प्रभाव से 'सौदा' का हृदय भी अछूता न था । चुनांचे कहा है :--

सौदा बदल के क़ाफ़िया तू इस ग़ज़ल को लिख,
ऐ बे-अदब तू 'दर्द' से बस दू-बदू न हो ।।

एक व्यक्ति लखनऊ से दिल्ली चले । सौदा के पास गए और कहा कि दिल्ली जाता हूँ । किसी यार दोस्त से कुछ कहना हो तो कह दीजिए । मिर्ज़ा बोले 'भाई' मेरा दिल्ली में कौन है । हाँ, ख़्वाजा मीर 'दर्द' की तरफ़ अगर निकलना तो सलाम कह देना" ।

ज़रा विचारो तो मिर्ज़ा रफ़ी जैसे व्यक्ति को दिल्ली में (और दिल्ली भी उस ज़माने की दिल्ली) कोई आदमी मालूम न हुआ--जब कि वहाँ कैसे कैसे जवाहिर थे और कैसे कैसे जौहरी । सुब्हान अल्लाह । मेरे स्वर्गीय उस्ताद ने कैसे कैसे मोती पिरोए हैं :--

दिखलाए हमने आँख से लेकर जो दुर्रे-अश्क,
क़ायल हमारी आँख के सब जौहरी हुए ।।

ख़्वाजा साहिब का एक शेर है :--

बेगाना गर नज़र पड़े तो आश्ना को देख,
बंदा गर आए सामने तो भी ख़ुदा को देख ।।

इसी मज़मून का एक शेर फ़ारसी का है :--

बस कि दर चश्मो दिलम हर लहज़ा ऐ यारम तुई,
हरके आयद दर नज़र अज़दूर पिंदारम तुई ।।

जब इस शेर को शायर ने जलसे में पढ़ा तो मुल्ला सैदा ने, जो एक विनोद-प्रिय और मुहफट शायर थे, पूछा कि 'अगर सग दर नज़र आयद' । शायर ने बेसाख़्ता कहा :--'पिंदारम तुई' । बात तो न्यायोचित कही । ख़्वाजा साहिब ने अपने शेर में इस पक्ष को बड़ी सुंदरता से निबाहा है :--

ऐ 'दर्द', यह दर्द जी का खोना मालूम,
ज्यूँ लाला जिगर से दाग़ धोना मालूम ।।
गुलज़ार जहाँ हज़ार फूले लेकिन,
मेरे दिल का शिगुफ़्ता होना मालूम ।।

शाह हातिम की एक रुबाई भी इसी विषय पर लाजवाब है :—

इन सीम-बरों के साथ सोना मालूम,
क़िस्मत में लिखी है ख़ाक सो ना मालूम ॥
'हातिम' अफ़सोस दी-व-इम्रोज़ गुज़श्त,
फ़र्दा की रही उम्मीद सो ना मालूम ॥

मीर तक़ी और 'सौदा', और मिर्ज़ा जाने-जानां इनके समकालीन था। क़यामुद्दीन 'क़ायम' इनके ऐसे शिष्य थे, जिस पर गुरु को गर्व होना चाहिए। इसके अतिरिक्त हिदायत उल्ला ख़ां 'हिदायत', सनाउल्लाह ख़ां 'फ़िराक़' वग़ैरह भी विख्यात शायर थे।

ख़्वाजा मीर दर्द सन् ११९९ (हि०) में २४ सफ़र, जुमे के दिन दिल्ली शहर में मरे। इनके किसी श्रद्धालु मुरीद ने इनकी मृत्यु के अवसर पर कहा है :—

हैफ़, दुनिया से सिधारा वह खुदा का महबूब।

ग़ज़लें

जग में आकर इधर उधर देखा,
तू ही आया नज़र जिधर देखा ॥
जान से हो गये बदन ख़ाली,
जिस तरफ़ तूने आँख भर देखा ॥
नालः फ़रयाद आह और ज़ारी,
आप से हो सका सो कर देखा ॥
उन लबों ने न की मसीहाई,
हम ने सौ सौ तरह से मर देखा ॥
ज़ारे आशिक़ मिज़ाज है कोई,
दर्द को क़िस्से मुख़्तसर देखा ॥

+ + +

हमने किस रात नाला सर न किया,
पर उसे आह कुछ असर न किया ॥
सबके याँ तुम हुए करम-फ़रमा,
इस तरफ़ को कभी गुज़र न किया ॥
देखने को रहे तरस्ते हम,
न किया रह्म तूने पर न किया ॥

तुझ से ज़ालिम के पास मैं आया,
जान का मैं ने कुछ ख़तर न किया ।।
क्यों भवें तान्ते हो बंदानवाज़,
सीना किस वक़्त में सिपर न किया ।।
कितने बंदों को जान से खोया,
कुछ खुदा का भी तूने डर न किया ।।
आप से हम गुज़र गए कब के,
क्या है ज़ाहिर में गो सफ़र न किया ।।
कौन सा दिल है जिस में ख़ानाख़राब,
ख़ाना आबाद तूने घर न किया ।।
सब के जौहर नज़र में आए दर्द,
बे हुनर तूने कुछ हुनर न किया ।।

+ \+ \+

क़त्ले आशिक़ किसी माशूक़ से कुछ दूर न था,
पर तेरे अह्द के आगे तो ये दस्तूर न था ।।
रात मज्लिस में तेरे हुस्न के शोले के हज़ूर,
शमा के मुँह पे जो देखा तो कहीं नूर न था ।।
ज़िक्र मेरा ही वह करता था सरीहन लेकिन,
मैं ने पूछा तो कहा ख़ैर ये मज़कूर न था ।।
बावजूदेके पर-ब-बाल न थे आदम के,
वहाँ पहुँचा कि फ़रिश्ते का भी मक़दूर न था ।।
परवरिश ग़म की तेरे यहाँ तई तूकी देखा,
कोई भी दाग़ था सीने में कि नासूर न था ।।
मुहतसिब आज तो मैख़ाना में तेरे हाथों,
दिल न था कोई कि शीशः की तरह चूर न था ।।
दर्द के मिलने से ऐ यार बुरा क्यों माने,
इस को कुछ और सेवा दीद के मंजूर न था ।।

+ \+ \+

जग में कोई न टुक हँसा होगा,
कि न हँसने में रो दिया होगा ।।

उसने क़स्दन भी मेरे नालः को,
न सुना होगा गर सुना होगा ॥
देखिए ग़म से अब के जी मेरा,
न बचेगा बचेगा क्या होगा ॥
दिल ज़माना के हाथसे सालिम,
कोई होगा कि रह गया होगा ॥
हाल मुझ ग़मज़दे का जिसतिस ने,
जब सुना होगा रो दिया होगा ॥
दिल के फिर ज़ख़्म ताज़ा होते हैं,
कहीं गुंचा कोई खिला होगा ॥
यक बयक नाम ले उठा मेरा,
जी में क्या इसके आ गया होगा ॥
मेरे नालों पे कोई दुनिया में,
बिन किए आह कब रहा होगा ॥
लेकिन उसको असर खुदा जाने,
न हुआ होगा या हुआ होगा ॥
क़त्ले से मेरे वह जो बाज़ रहा,
किसी बदख़्वाह ने कहा होगा ॥
दिल भी ऐ 'दर्द' क़तरए खूँ था,
आसुओं में कहीं गिरा होगा ॥

× × ×

मेरा जी है जब-तक तेरी जुस्तजू है,
ज़बाँ तब तक है यही गुफ़्तगू है ॥
खुदा जाने क्या होगा अंजाम इसका,
मैं बेसब्र इतना हूँ वह तुंदख़ू है ॥
तमन्ना है तेरी अगर है तमन्ना,
तेरी आरज़ू है अगर आरज़ू है ॥
किया सैर सब हमने गुल्ज़ारे दुनिया,
गुले दोस्ती में अजब रंगो-बू है ॥

कसू को कसू तरह इज़्ज़त है जग में,
मुझे अपने रोने से ही आबरू है।।

ग़नीमत है ये दीद का दीदे याराँ,
जहाँ आँख मुँद-गई न मैं हूँ न तू है।।

नज़र मेरे दिल की पड़ी 'दर्द' किस पर,
जिधर देखता हूँ वही रू-ब-रू है।।

तुहमतें चंद अपने ज़िम्मे धर चले,
जिस लिये आए थे सो हम कर चले।।
ज़िंदगी है या कोई तूफ़ान है,
हम तो इस जीने के हाथों मर चले।।
क्या हमें काम इन गुलों से ऐ सबा,
एक दम आए इधर, ऊधर चले।।
दोस्तो देखा तमाशा याँ का बस,
तुम रहो अब हम तो अपने घर चले।।
आह बस मत जी जला तब जानिए,
जब तेरा अफ़सुँ कोई उस पर चले।।
शम्अ की मानिंद हम उस बज़्म में,
चश्म तर आए थे दामन तर चले।।
ढूँढते हैं आप से इस को परे,
शेख़ साहिब छोड़ घर बाहर चले।।
हम न जाने पाए बाहर आप से,
वह ही आड़ आ गया जिधर चले।।
हम जहाँ में आए थे तनहा वले,
साथ अपने अब उसे लेकर चले।।
जूँ शरर है हस्तिए बे-बूद याँ,
बारे हम भी अपनी बारी भर चले।।
साक़िया याँ लग रहा है चल चलाओ,
जब तलक बस चल सके साग़र चले।।
'दर्द' कुछ मालूम है ये लोग सब,
किस तरफ़ से आए थे कीधर चले।।

है ग़लत गर गुमान में कुछ है,
तुझ सिवा भी जहान में कुछ है ।।
दिल भी तेरे ही ढंग सीखा है,
आन में कुछ है आन में कुछ है ।।
ले ख़बर तेग़े यार कहती है,
बाक़ी इस नीम जान में कुछ है ।।
इन दिनों कुछ अजब है दिल का हाल,
देखता कुछ है ध्यान में कुछ है ।।
दर्द तू जो करे है जी का ज़ियां,
फ़ायदा इस ज़ियान में कुछ है ।।

गलीमे बख़्ते सियह सायःदार रखते हैं,
यही बिसात में हम ख़ाकसार रखते हैं ।।
वसाने काग़ज़े आतिश-ज़दा मेरे गुलरू,
तेरे जले भुने और ही बहार रखते हैं ।।
ये किसने हम से किया वादये हम आग़ोशी,
कि मिस्ले बह्र सरासर कनार रखते हैं ।।
हमेशा फ़त्ह नसीबी हमें नसीब रही,
जो कुछ की उपजी है जी में सो मार रखते है ।।
बला है नशये दुनिया कि ता क़ियामत आह,
सब अह्ले क़ब्र इसी का खुमार रखते हैं ।।
जहाँ के बाग़ से हम दिल सवा न फल पाया,
फ़क़त यही समरे दाग़ दार रखते हैं ।।
अगर्चे दुख़्तरे-रज़ के है मुहतसिब दर पै,
जो हो सो पर इसे अब तो यार रखते हैं ।।
हर एक शौलये ग़मे इश्क़ हमसे रोशन है,
कि बेक़रारी को हम बरक़रार रखते हैं ।।
हमारे पास है क्या जो करें फ़िदा तुझ पर,
मगर ये ज़िन्दगी ये मुस्तआर रखते हैं ।।

फ़लक समझ तो सही हमसे और गुलूगीरी,
ये एक जेब है सो तार तार रखते हैं ।।
बुतों के ज़ोर उठाये हज़ारहा हमने,
जो इस पे भी न मिलें, इख़्तियार रखते हैं ।।
भरी है आके जिन्होंने हवाये आज़ादी,
हवाब बार कल्लः भी उतार रखते हैं ।।
न बर्क़ है न शरर हम न शीला न सीमाब,
वह कुछ हैं पर, कि सदा इज़्तिरार रखते हैं ।।
जिन्हों के दिल में जगह की है नक़्श इबरत ने,
सदा नज़र में वह लौहे-मज़ार रखते हैं ।।
हर एक संग में है शोख़िये-बुतां पिन्हां,
खुनुक ये सब हैं पे दिल में शरार रखते हैं ।।
वह ज़िन्दगी की तरह एक दम नहीं रहता,
अगरचे दर्द उसे हम हज़ार रखते हैं ।।

पैदा करे हर चंद तक़द्दुस बंदा,
मुश्किल है कि हिर्स से हो दिल बरकंदः,
जन्नत में भी अक्लो शुरब से नहीं है नजात,
दोज़ख़ का बहिश्त में भी होगा धंधा ।।

सय्यद मुहम्मद मीर 'सोज़'

इनका 'सोज़' उपनाम और सय्यद मुहम्मद मीर नाम था । यह वही शख़्स हैं, जिन्हें मीर तक़ी ने 'पाव' शायर माना है । पुरानी दिल्ली में क़रावलपूरा एक महल्ला था, वहीं इनका निवास स्थान था । लेकिन पूर्वजों की मातृभूमि बुख़ारा थी । इनके पिता सय्यद ज़ियाउद्दीन एक बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति थे । तीरंदाज़ी में बड़े प्रवीन थे । यह हज़रत कुतुब आलम गुजराती के वंशज थे । शुरू में इन्हों ने अपना उपनाम 'मीर' रखा था । किंतु जब मीर तक़ी 'मीर' के उपनाम से विख्यात हुए तो इन्होंने अपना उपनाम बदल कर 'सोज़' रख लिया । एक शेर में इनके दोनों उपनामों का संकेत मिलता है :—

कहते थे पहले मीर मीर तब न हुए हज़ार हैफ़,
अब जो कहे है सोज़ सोज़ यानी सदा जला करो ।।

इनके विषय में बुज़ुर्गों से जो कुछ सुना या पुस्तकों में इनकी जैसी चर्चा पढ़ी उसकी पुष्टि इनकी रचनाओं से पूरी तौर होती है । यानी इनकी स्वाभाविक काव्य-

रुचि के आईने को जिस तरह इनकी सुगम भाषा ने साफ़ कर उसका परिष्कार किया, उसी तरह इनकी विनोद-प्रियता और जिंदा-दिली ने उसमें एक मनोहारी छबि दिखलाई। उसके साथ साथ अपनी सौजन्यता और सहृदयता और उससे भी अधिक अपनी मृदुलभाषिता के कारण ये समाज में बड़े सर्वप्रिय हो गए और फिर इनके विनम्र स्वभाव ने इनके इन सब गुणों की कांति और भी बढ़ा दी। ये स्वच्छंद प्रकृति के थे, किंतु इनमें शिष्टता भी उपयुक्त मात्रा में थी। इन सब कारणों से इनकी हीन आर्थिक परिस्थिति के बावजूद इनका चारों ओर काफ़ी सम्मान था। ये बराबर धनी-मानी व्यक्तियों के साहचर्य में रहते थे और इसी आधार पर इनकी जीविका भी चलती थी।

शाह आलम के ज़माने में जब दिल्ली के रहनेवालों की त्रस्त दशा हद से पार कर गई तो इन्हों ने सन् ११९१ हि० में फ़क़ीरी भेष धारण कर लखनऊ के लिये प्रस्थान किया। किंतु वहाँ भी जब इन्हें किसी प्रकार की सफलता न मिली तो सन् १२१२ हि० में मुर्शिदाबाद गए। यहाँ भी भाग्य ने इनका साथ न दिया और ये फिर लखनऊ वापस हुए। इस बार इनकी क़िस्मत ने पल्टा खाया और नवाब आसफ़ुद्दौला इनके शागिर्द हुए। इस प्रकार कुछ ही दिनों सुख से बीते थे कि ये बेचारे दुनिया से चल बसे। नवाब आसफ़ुद्दौला की गजलों को देखने से पता चलता है कि उन्होंने इन्हीं की शैली को अपनाया है।

तज़्किरा गुल्ज़ार इब्राहिमी के लेखक लिखते हैं:—"अब कि सन् ११९६ हि० में मीर मौसूफ़ लखनऊ में हैं, अबतक इन सय्यदुल-अलबार से राक़िम आसिम की मुलाक़ात नहीं हुई। अगर इसी बरस में कुछ अपने शेर और चंद फ़िक्रे नस्र के इस ख़ाकसार को भेजे हैं।" मीर सोज़ शख़्से अस्त कि हेच कस रा अज ऊ हिलावते जुज़ सिकवतो इकराह हासिल शवद व ईं नीज़ क़ुदरते कमाले ईलाही अस्त कि हर यक बल्कि ख़ारो-ख़से नीस्त कि बकारे चन्द बेयायद। अगर मुन्किरे सवाल कुनद कि नाकारये महज़ बेफ़ताद अस्त। ईं स्त कि नामश सोख़्ती अस्त।'❀

इनकी लिखावट बड़ी साफ़ और सुंदर होती थी। ईरान और ख़ुरासन इत्यादि देशों में ऐसी चलन है कि सुशिक्षित व्यक्तियों को जब आवश्यक दैनिक कृत्यों से अवकाश मिलता है तो वे ख़ाली नहीं बैठते। बल्कि वे सुंदर लिपि का अभ्यास किया करते हैं। इसलिये साधारणतया वहाँ के लोगों की लिखावट सुंदर होती है। पहले यहाँ भी यही चलन थी। लेकिन क्या कहें, यहाँ सुंदर लिखावट तो अब ताक़ पर धरी रह गई, भद्दी लिखावट में भी टोंटा पड़ गया है।

मीर 'सोज़' एक घुड़सवार थे और सिपाहगिरी में बड़े दक्ष थे। ख़ास कर तीरअंदाजी में बड़े कुशल लक्ष्यभेदी थे। ये व्यायाम किया करते थे और इनमें शारीरिक बल भी इतना था कि सब कोई इनके धनुष की प्रत्यंचा को चढ़ा न सकता था। इनकी मृत्यु सन् १२१३ हि० में लखनऊ शहर में ८० वर्ष की अवस्था में हुई।

इनके बेटे भी शायर थे और पिता के उपनाम के आधार पर अपना उपनाम 'दाग़' रखा था। युवावस्था में ही अपनी अकाल मृत्यु से पिता के दिल पर दाग़ दे गए। अधिक दुःख तो इस बात से है कि मृत्यु के बाद ढूँढने पर इनकी कोई रचना हाथ न आई। ये देखने में अत्यंत सुंदर थे और सौंदर्योपासक भी थे। अंत में एक प्रेयसी के विरह की व्यथा में इन्हों ने जान ही दे दी।

मीर 'सोज़' की भाषा बड़ी मधुर है। ऐसी भाषा तो सचमुच ग़ज़लों में जान डाल देती है जैसा कि सोज़ की ग़ज़लों से साफ़ प्रगट होता है। इनकी शैली औपचारिकता और कृत्रिमता के दोषों से बिल्कुल अछूती है और इनका रचना-सौंदर्य तो ऐसा था, मानो एक गुलाब का फूल एक हरी भरी टहनी पर कटोरे जैसा धरा हो और हरी हरी पत्तियों के बीच अपना खिला हुआ सौंदर्य दिखला रहा हो। जिन आँखवालों को भगवान् ने ऐसे सौंदर्य को परखने के लिये दृष्टि दी है, वह यह जानते हैं कि इस प्रकार के प्राकृतिक सौंदर्य के सामने हज़ारों बनावटी, बने सँवरे सुंदरता को न्योछावर किया जा सकता है। अलबत्ता इनकी ग़ज़लों में दो-तीन शेर के बाद एक आध जाकड़ी और पुराने शब्द अवश्य खटक जाते हैं। किंतु इस साधारण से दोष पर ध्यान देना उचित नहीं। "कि माकूल बफ़रमा गुले बेख़ार कुजा अस्त"❀।

ग़ज़ल का शाब्दिक अर्थ है 'प्रेयसी से प्रेमालाप'। किंतु साहित्यिक प्रयोग में ऐसी रचनाओं में प्रायः प्रेमी अपनी प्रेमिका से मिलन अथवा वियोग-संबंधी विचारों और कल्पनाओं का वर्णन ज़रा बढ़ा चढ़ा कर करता है और उससे अपने हृदय की लालसा की प्यास या संताप के दाह को शांत करता है। और इसकी भाषा भी ऐसी होनी चाहिए, मानो दोनों आमने सामने बैठे बातें कर रहे हों। बस ऐसी ही ज़बान 'सोज़' की रचनाओं की है। प्रेयसी को 'जानां' के बजाय सिर्फ 'जान' या 'मियाँ ज़ान' कह कर सम्बोधन करना इनकी एक मुहावराई विशेषता है।

'मजलिस रंगीन' के कुछ मजलिसों की चर्चा से और हम लोगों के रचना-काल के पूर्व के साहित्यिक विवेचनों से यह मालूम होता है कि इनकी कविताएँ मुहावरों की उपयुक्तता और भाषा के लालित्य के लिए एक कहावत सी बन गई है। इनके शेर ऐसे मालूम होते हैं जैसे कोई चाहने वाला अपनी चहेती से बैठा बातें कर रहा हो। वह इस तरह के प्रेमालाप को अपने शेरों में इस ढंग से बाँधते थे कि उसकी रचना की सुघराई को बनाए रखने के लिये किसी भी शब्द का आगे-पीछे करना असंभव था। मीर तक़ी 'मीर' अपनी किसी-किसी रचना में 'सोज़' के काव्य-कौशल के स्तर पर पहुँचते हैं। फिर भी इनमें और उनमें काफ़ी अंतर है। 'मीर' भी मुहावरों का प्रयोग बड़े सुन्दर ढंग से करते हैं, किंतु उनकी कविता में फ़ारसीयत की काफी पुट रहती है। और उनके विषय भी अधिक गंभीर होते हैं। 'सौदा' इनसे बहुत दूर हैं क्योंकि वे कविता के विषय-वस्तु को उपमा अलंकार के रंग में डुबो कर उसे मुहावरों से रचते हैं, और अपनी ओजस्वी काव्य-शक्ति के द्वारा शब्दों को आगे पीछे इस क्रम से जोड़ते हैं कि उन्हें देख कर बस मज़ा आ जाता है।

मीर 'सोज़' जैसे सीधे-सादे विषयों पर कविता करते थे, वैसे ही इनकी छंद-रचना भी सरल ही होती थी। और प्राय: रदीफ़ छोड़ कर क़ाफ़िए पर ही संतोष कर लेते थे। इनके शेरों की सादगी का स्वाद केवल मुहावरों की चाशनी में ढाला हुआ होता है। इनमें रुपक, अलंकार और फ़ारसी की अन्य विधाओं का अभाव है। इस आधार पर इन्हें उर्दू ग़ज़ल का शेख़ सादी कहना चाहिए। अगर उर्दू कविता इन्हीं की शैली अपनाती अर्थात् फ़ारसी के अतिरंजित कल्पनाओं का इसमें समावेश न होता और वर्णन शैली और अधिक शक्तिशाली बनती तो आज हमें उर्दू कविता को लेकर इतनी कठिनाइयों का सामना न करना पड़ता। अब तो हमें दो प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। एक तो इसमें रूपकों की रंगीनी और कल्पनाओं की अतिशयोक्ति जैसे तकिया कलाम की तरह हमारे ज़बानों पर चढ़ गई हैं। हमें इनकी लत छुड़ानी चाहिए। फिर इस में नई शैली और सरल और सुबोध कल्पनाओं का समावेश करना चाहिए। क्योंकि लंबे अरसे तक कहते कहते और सुनते सुनते कहनेवालों की ज़बान और सुननेवालों के कान इसके अंदाज़ के ऐसे आदी हो गए हैं कि न इसकी रचना में भाषा-लालित्य का नया पुट दिया जा सकता है और न इसके सुनने वालों को इसकी घिसी पिटी तर्ज़ से कोई ख़ास मज़ा मिलता है।

अधिकांशत: सौदा ने और कुछ मीर ने भी इस शैली में परिवर्तन लाने की कोशिश की। इन्होंने रूपकों में हिंदी मुहावरों का सम्मिश्रण किया और अपनी रचनाओं में रेख़्ता की गंभीरता के समावेश करने का प्रयास किया। यदि मीर और सौदा की भाषा में भेद जताना हो तो इतना कहना पर्याप्त होगा कि सौदा के दीवान में उर्दू भाषा रूपी नवयुवक अवस्था में कुछ वर्ष छोटा है। और यही बात उनके विषयात्मक निरूपण और मुहावरों के प्रयोग में भी लागू है। चुनांचे उसमें 'को' कर्म कारक के चिह्न के रूप में प्रयोग किया जाता है। 'लहू' और 'कभू' का क़ाफ़िया भी बाँधते हैं।-

सोज़ ने सिवाय ग़ज़ल के और कुछ नहीं कहा और उस समय तक उर्दू की शायरी की इससे ज़्यादा बिसात ही क्या थी। १२ पंक्तियों के प्रति पृष्ठ के कोई ३०० पृष्ठों का इनका संपूर्ण दीवान है। इसमें से २८८ पृष्ठों में ग़ज़लें, १२ पृष्ठों में मस्नवी, रुबाई और मुख़म्मस और बाक़ी पांच मिश्रों वाली रचनाएँ। आग़ाज़ मस्नवी का यह शेर है :—

दावा बड़ा है सोज़ को अपने कलाम का,
जो ग़ौर कीजिए तो है कौड़ी के दाम का॥

लतीफ़े—(१) एक दिन 'सौदा' के यहाँ मीर 'सोज़' तशरीफ़ लाए। इन दिनों शेख़ अली हज़ीं की एक ग़ज़ल की चर्चा थी जिसका मत्‌ला यह है :—

मी गिरफ्तेम बजाना सरे राहे गाहे,
ऊ हम अज़ लुत्फ़ निहां दाश्त निगाहे गाहे॥

मीर 'सोज़' ने अपना मत्ला पढ़ा :—

नहीं निकसे है मेरे दिल की उपाहे गाहे,
ऐ फ़लक बहरे ख़ुदा रुख़सत आहे गाहे ।।

मिर्ज़ा 'सौदा' सुनकर बोले कि "मीर साहब, बचपन में हमारे यहाँ पशोर की डोमिनें आया करती थीं। या तो यह लफ़्ज़ 'निकसे' तब सुना था या आज सुना।" मीर 'सोज़' बिचारे हँसकर चुपके हो रहे। फिर मिर्ज़ा ने उसी समय स्वयं मत्ला कह कर यह शेर पढ़ा :—

नहीं जूँ गुल हवस अब्र सियाहे गाहे,
काह हूँ खुश्क में ऐ बर्क़ निगाहे गाहे ।।

मियाँ 'जुरअत' भी वहाँ मौजूद थे। इनके साहित्यिक जीवन का वह शुरू ज़माना था। स्वयं कुछ कहने की जुरअत (साहस) न कर सके तो इनकी ओर से किसी और व्यक्ति ने कहा कि "हज़रत, यह भी कुछ अर्ज़ किया चाहते हैं"। मिर्ज़ा ने कहा, "क्यों भाई, क्या कहना चाहते हो ?" जुरअत ने पढ़ा :—

सरसरी उनसे मुलाक़ात है गाहे गाहे,
सुह्बते ग़ैर में गाहे सरे राहे गाहे ।।

सब ने इस शेर की तारीफ़ की। मिर्ज़ा साहिब ने भी शाबाशी दी और शेर को पसंद किया।

इसी पर एक और मत्ला याद आया है, चाहे 'ज़फ़र' का कहो, चाहे 'ज़ौक़' का समझो :—

इस तरफ़ भी तुम्हें लाज़िम है निगाहे गाहे,
दम बदम लह्जा ब लह्जा नहीं, गाहे गाहे ।।

(२) एक व्यक्ति ने 'सोज़' से आकर कहा कि "हज़रत, एक आदमी आपके तखल्लुस पर आज हँसते थे और कहते थे कि 'सोज़' 'गोज़' क्या तख़ल्लुस रखा है, हमें पसंद नहीं। इन्होंने कहने वाले का नाम पूछा तो उस व्यक्ति ने बहुत आग्रह करने पर बतला दिया। मालूम हुआ कि वह आदमी मुशायरों में अक्सर आया करते थे। मीर 'सोज़' ने कहा, "ख़ैर, कुछ मुज़ायक़ा नहीं", अबके जब कोई मुशायरा हो तो खुले मुशायरे में यही सवाल करना" चुनांचे उसने ऐसा ही किया और ज़रा ऊँचे स्वर में 'सोज़' से पूछा, हज़रत, आपका तख़ल्लुस क्या है ?" इन्होंने उत्तर दिया, "साहब, इस फ़क़ीर ने तख़ल्लुस तो 'मीर' किया था मगर उसको मीर तक़ी साहिब ने पसंद किया। फ़क़ीर ने ख़याल किया कि उनकी क़ाब्लियत के सामने इस तख़ल्लुस से मुझे कोई शोहरत न मिल सकेगी। इसलिये मजबूर हो कर मैंने अपना तख़ल्लुस 'सोज़' कर लिया। और उस आदमी की ओर, जो वहाँ उपस्थित था, इशारा करके कहा, "सुनता हूँ यह साहब अपना तख़ल्लुस 'गोज़' करते हैं"।

मुशायरे में एक क़हक़हा सा मत गया। लखनऊ में हज़ारों आदमी मुशायरे में जमा होते थे। जितने लोग वहाँ उपस्थित थे, सब के कान तक यह मज़ाक़ नहीं पहुँच सका। इसलिये कई कई बार उनसे कहला कर सुना। इधर वह व्यक्ति और उधर मीर तक़ी 'मीर' दोनों चुप बैठे सुना किए।

कविता करने के अलावा इनके कविता पाठ का ऐसा ढंग था कि जिससे इनकी कविता की रोचकता दुगुनी हो जाती थी। अपने शेर के भाव को इस तरह व्यक्त करते थे कि स्वयं उसके अंतर्विषय का एक सजीव रूप सा खड़ा कर देते थे। अन्य शायर भी उनकी नकल करने की कोशिश करते थे, मगर उनमें वह बात कहाँ? सोज़ के स्वर बड़े मर्मभेदी होते थे। शेर अत्यंत नर्मी और हृदयस्पर्शी लहजे से पढ़ते थे। और इसमें अपने विभिन्न अंगों से भी सहयता लेते थे। जैसे 'शमा' का मज़मून बाँधते तो पढ़ते समय एक हाथ से शमा और दूसरे हाथ की ओट से वहीं फ़ानूस तैयार करके बताते। अप्रसन्नता या क्रोध का भाव दर्शाना होता, तो ख़ुद भी त्योरी चढ़ाकर वहीं बिगड़ जाते। और यदि कोई इनके शेरों को ध्यान से पढ़े तो यह स्पष्ट मालूम होगा कि उनके पढ़ने में अंगचेष्टा और भावभंगिमा की काफ़ी गुंजाइश है। चुनांचे इन पंक्तियों को भी एक अवसर पर उन्हों ने एक बड़े रोचक अंदाज़ से पढ़ा था:—

गए घर से जो हम अपने सबेरे,
सलामुल्लाह ख़ाँ साहिब के डेरे॥
वहाँ देखे कई तिफ़्ले परी-रू,
अरे-रेरे, अरे-रेरे अरे रे॥

चौथा मिस्रा पढ़ते-पढ़ते वहीं ज़मीन पर गिर पड़े, गोया परीज़ादों के देखते ही उनका दिल क़ाबू से बाहर हो गया और ऐसे शिथिल हो गए, मानों अरे-रेरे कहते कहते ग़श खाकर मूर्च्छित हो गए।

एक ग़ज़ल के टुकड़े को इस अंदाज़ से सुनाया था कि सारे मुशायरे के लोग घबराकर उठ खड़े हुए:—

ओ मारे सियाहे ज़ुल्फ़ सच कह,
बतला दे दिल जहाँ छिपा हो॥
कुंडली तले देखिओ न होवे,
काटा न हफ़ी तेरा बुरा हो॥

पहले मिस्रे पर डरते डरते बचकर झुके, मानो कुंडली के नीचे देखने को झुके हों और जिस समय कहा 'काटा न हफ़ी' बस उसी समय हाथ को छाती तले मसोस कर सहसा ऐसे लोट गए कि लोग घबराकर उन्हें सम्हालने के लिये खड़े हो गए।[१]

---

[१] शुद्ध शब्द अफ़ई (काला साँप) है। मुहावरे में 'हफ़ी' कहते हैं।

उनके एक शागिर्द 'नवाज़िश' उपनाम के थे, जिनके विषय में हम अपने बचपन में सुना करते थे। अगर कुछ कहते थे तो वही अपने उस्ताद के अंदाज़ में कहते थे। फसानए अजायब के लेखक मिर्ज़ा रजब अली 'सरवर' इनके शागिर्द थे।

इनके दीवान की कुछ ग़ज़लें

सरे दीवान पर अपने जो बिस्मिल्लाह मैं लिखता,
बजाये मद्दे बिस्मिल्लाह मद्दे आह मैं लिखता ।।

मह्व को तेरे नहीं है कुछ ख्याले खूबोज़िश्त,
एक है इसको हवाये दोज़ख़ो बाग़े बहिश्त ।।

हाजियो, तौफ़े दिले मस्तां करो तो कुछ मिले।
वरना काबा में धरा क्या है बग़ैर अज़ संगो ख़िश्त ।।

नासेहा गर यार है हम से ख़फ़ा तो तुझको क्या।
चीने पेशानी ही है इसकी हमारी सरनविश्त ।।

'सोज़' ने दामन जोहीं पकड़ा तो वहीं छीन कर।
कहने लगा इन दिनों कुछ ज़ोर चल निकला है हिश्त ।।

भल्लः रे इश्क़ तेरी शौकतो शां।
भाई मेरे तो उड़ गये औसाँ ।।
एक डर था कि जी बचे न बचे।
दूसरे ग़म ने खाई मेरी जाँ ।।
बस ग़मे यार एक दिन दो दिन।
इस से ज़्यादह न होजियो मेहमां ।।
न कि बैठे हो पांव फैलाकर।
अपने घर जाओ ख़ाना-आबादां ।।
आरज़ी हुस्न पर न हो मग़रुर।
मेरे प्यारे, ये गो है ये मैदां ।।
फिर है नै ज़ुल्फ़ो ख़ाल ज़ेरे ज़ुल्फ़।
चार दिन तो भी खेल ले चौगां ।।
और तो और कहके दो बातें।
'सोज़' कहलाया साहिबे दीवां ।।

मेरा जान जाता है यारो बचालो,
कलेजा में कांटा गड़ा है निकालो ।।

न भाई मुझे ज़िन्दगानी न भाई,
मुझे मार डालो मुझे मार डालो ।।

खुदा के लिये मेरे ऐ हमनशीनों,
वह बांका जो जाता है उसको बुलालो ।।

अगर वह ख़फ़ा होके कुछ गालियां दे,
तुम दम खा रहो कुछ न बोलो न चालो ।।

न आवे अगर वह तुम्हारे कहे से,
तो मिन्नत करो घेरे घेरे मना लो ।।

कहो एक बन्दा तुम्हारा मरे है,
उसे जान-कन्दन से चल कर बचालो ।।

जलों की बुरी आह होती है प्यारे,
तुम इस 'सोज़' की अपने हक़ में दुआ लो ।।

+ + +

हुआ दिल को मैं कहता कहता दिवाना,
पर इस बेख़बर ने कहा कुछ न माना ।।
कोई दम तो बैठे रहो पास मेरे,
मियां मैं भी चलता हूँ टुक रह के जाना ।।
मुझे तो तुम्हारी खुशी चाहिये है,
तुम्हें गो हो मंजूर मेरा कुढ़ाना ।।
गया एक दिन इसके कूचे में नागाह,
लगा कहने चल भाग रे फिर न आना ।।
कहाँ ढूँढूं है है किधर जाऊँ यारब,
कहीं जाँ का पाता नहीं मैं ठिकाना ।।

+ + +

कहूँ किस से हिकायत आशना की,
सुनो साहब ये बातें हैं खुदा की ।।

दुआ दी तो कहने लगा कि दूर हो,
सुनी मैंने दुआ तेरी दुआ की ।।

कहा मैंने कि कुछ ख़ातिर में होगा,
तुम्हारे साथ जो मैंने वफ़ा की ।।

ग़रेबाँ ज़रा मुंह डाल देखो,
कि तुमने इस वफ़ा पर हम से क्या की ।।

तु कहता है कि बस बस चोंच कर बंद,
वफ़ा लाया है दत तेरी वफ़ा की ।।

अदम से ज़िन्दगी लाई थी वल्ला,
कि दुनिया जाये है अच्छी फ़िज़ाँ की ।।

जनाज़ा देखते ही सुन हुआ दिल,
कि है ज़ालिम दग़ा की रे दग़ा की ।।

तुझे ऐ 'सोज़' क्या मुश्किल बनी है,
जो ढूंढे है सिफ़ारिश अग़निया की ।।

कोई मुश्किल नहीं रहती है मुश्किल,
मुहब्बत है अगर मुश्किल-कुशा की ।।

× × ×

दिल के हाथों बहुत ख़राब हुआ,
जल गया बल गया कबाब हुआ ।।
अश्क आँखों से पल नहीं थमता,
क्या बला दिल है दिल में आब हुआ ।।
जिनको नित देख़ते थे अब उनका,
देखना भी ख़यालो ख़्वाब हुआ ।।
यार अग़यार हो गया है हाथ,
क्या ज़माने का इनक़िलाब हुआ ।।
सारा दीवाने जिन्दगी देखा,
एक मिस्रा न इनतिख़ाब हुआ ।।
'सोज़' बेहोश हो गया जब से,
तेरी सुहबत से बारयाब हुआ ।।

+ + +

आशिक़ हुआ असीर हुआ मुब्तला हुआ,
क्या जानिये कि देखते ही दिल को क्या हुआ ।।

सरे मश्क़े ज़ुल्म तूने किया मुझको वाह वाह,
तक़सीर ये हुई कि तेरा आशना हुआ ।।

दिल था बिसात में सो कोई इस को ले गया,
अव क्या करूँगा ऐ मेरे अल्लाह क्या हुआ ।।
पाता नहीं सुराग़ करूँ किस तरफ़ तलाश,
दीवाना दिल किधर को गया आह क्या हुआ ।।
सुनते ही 'सोज़' की ख़वरें मर्ग ख़ुश हुआ,
कहने लगा कि पिन्ड तो छूटा भला हुआ ।।

+ + +

आज इस राह दिल-रुवा गुज़रा,
जी पै क्या जानिये कि क्या गुज़रा ।।
आह ज़ालिम ने कुछ न मानी वात,
मैं तो अपना सा जी चला गुज़रा ।।
अब तो आ यार वस ख़ुदा को मान,
पिछला शिकवा था सो गया गुज़रा ।।
रात को नींद है न दिन को चैन,
ऐसे जीने से ऐ ख़ुदा गुज़रा ।।
'सोज़' के क़त्ल पर कमर मत वाँध,
ऐसा जाना है क्या गया गुज़रा ।।

+ + +

यार गर साहिवे वफ़ा होता,
क्या मियाँ जान क्या मज़ा होता ।।
ज़ब्त से मेरे थम रहा है सरश्क,
वर्ना अव तक थो वह गया होता ।।

जान के क्या करूँ वयान एहसां,
ये न होता तो मर गया होता ।।
रूठना तव तुझे मुनासिव था,
जो तुझे मैने कुछ कहा होता ।।

हाँ मियाँ जानता तू मेरी क़दर,
जो कहीं तेरा दिल लगा होता ।।
बुलबुल कहीं न जाईयो ज़िन्हार देखना,
अपने ही मन में फूलेगी गुल्ज़ार देखना ।।

+ + +

नाज़ुक है दिन ठेस लगाना उसे कहीं,
ग़म से भरा है ऐ मेरे ग़मख़ार देखना ।।
शिकवा अबस है यार के जोरों का हर घड़ी,
ग़ैरों के साथ शौक़ से दीदार देखना ।।
सौदा की बात भूल गई 'सोज़' तुझको हैफ़,
जो कुछ ख़ुदा दिखावे सो लाचार देखना ।।

कुछ कह तो क़ासिद आता है वह माह,
अल्हम्दोलिल्लाह अल्हम्दोलिल्लाह ।।
झूटे के मुँह में आगे कहूँ क्या,
अस्तग़फ़रुल्लाह अस्तग़फ़रुल्लाह ।।
यार आता है तेरे यार की ऐसी तैसी,
आज़माता है तेरे प्यार की ऐसी तैसी ।।

मीर मुहम्मद तक़ी 'मीर'

प्रस्तुत शायर का उपनाम 'मीर' और नाम 'मुहम्मद तक़ी' था। ये अकबराबाद के एक कुलीन घराने से थे और इनके पिता का नाम मीर अब्दुल्ला था। सिराजुद्दीन अली ख़ान आरज़ू, जो फ़ारसी भाषा के एक लब्धप्रतिष्ठ लेखक और भारत के एक प्रमाणसिद्ध साहित्यिक माने जाते हैं, अपने **गुल्ज़ारे इब्राहिमी** में लिखते हैं कि 'मीर' साहब का उनसे दूर का रिश्ता था। मीर साहिब ने तबियत की नज़र पाई थी, यानी ये एक सुसंस्कृत व्यक्ति थे। लोग मीर साहिब को ख़ान आरज़ू का भांजा कहते थे। असल में ये मीर अब्दुल्ला की पहली बीबी के बेटे थे। उनके मर जाने के बाद मीर अब्दुल्ला ने ख़ान आरज़ू की बहिन से ब्याह किया था। इसलिये 'मीर' ख़ान आरज़ू के सौतेले भांजे हुए।

मीर साहिब को बचपन से ही शायरी का शौक़ था। पिता के मरने के बाद यह दिल्ली आए और वहीं ख़ान आरज़ू के पास इन्होंने और इनकी शायरी ने परवरिश पाई, मगर ख़ान आरज़ू हनफी मत के थे और 'मीर' शीया थे। और फिर 'मीर' बड़े नाज़ुक मिज़ाज भी थे। किसी मसले पर मतभेद हो जाने के कारण बिगड़कर उनसे अलग हो गए।

यों तो किसी भी समाज में ईर्षालू व्यक्तियों का यह स्वभाव होता है कि किसी अन्य उदीयमान व्यक्ति के गुन की चर्चा होने लगे तो उसमें कोई रेफ़ लगाने का

अवश्य कोशिश करते, लेकिन ताज्किर-ए-शोरिश में इस बात का उल्लेख है कि इन्हों ने काव्य-जगत में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की । मैंने बड़े बूढ़ों से यह भी सुना है कि इन्होंने जिस समय अपना उपनाम 'मीर' रखा तो इनके पिता ने इन्हें ऐसा करने से मना किया और कहा 'ऐसा न करो । एक दिन तुम ख़्वाह-मखवाह सैय्यद हो जाओगे'। उस समय उन्होंने अपने बाप की सलाह न मानी । किंतु कालोपरांत यह सैय्यद हो ही गए । इस प्रसंग में 'सौदा' का एक क़तअ मैंने भी बुज़ुर्गों से सुना है मगर यह उनके दीवान में नहीं मिलता । किंचित् इस शेर में इसी विषय की ओर संकेत है :--

बैठे तनूरे तबा को जब गर्म करके 'मीर',
कुछ शीरमाल सामने कुछ नान कुछ पनीर ।।

और अंत में कहते हैं :--

मोरी के अब तो सारे मसालेह है मुस्तइद,
बेटा तो गंदना बने और बाप कोथ मीर ।।

इनके जीवन के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि आर्थिक हालत क्षीण होने पर भी ये स्वभाव के बड़े संतोषी थे और इन्होंने अपना जीवन बड़े संयम और शुद्धता से निबाहा । और इसी लिये लोगों की नज़र में इनकी जाती प्रतिष्ठा बराबर एक सी बनी रही । यों तो ज़माने के लोगों का क्या है ? किस किस को क्या नहीं कहते ? अगर वह सैय्यद न होते तो ख़ुद अपने बारे में क्यों कहते कि :—

फिरते हैं 'मीर' ख़्वार कोई पूछता नहीं,
इस आशिक़ी में इज़्ज़ते सादात भी गई ।।

मतलब यह कि इनका उपनाम 'मीर' था, फिर भी काव्य-गगन में यह सूर्य की भाँति चमके । कविता के पारखियों ने इनकी रचनाओं को जवाहिर और मोतियों के मोल परखा । और इनके यश को फूलों की सुगंध की तरह बिखेरा । इस देश में यही एक ऐसे भाग्यवान् कवि हैं, जिनकी गज़लें यात्री एक शहर से दूसरे शहर में उपहार के रूप में ले जाते थे ।

अकसर देखा गया है कि गुणी लोग प्रायः दरिद्रता और दुर्भाय की छाया में ही जीवन बिताते हैं । फिर भी मीर साहिब ने अपने को दीन-हीन नहीं समझा । बल्कि इन्हें अपनी उच्चदर्शिता का इतना गर्व था कि संसार की कोई विशिष्टता या अन्य किसी व्यक्ति की विद्वत्ता या महत्ता इन्हें बड़ी न दिखाई देती थी । इनके इस अतिशय स्वाभिमान रूपी स्वाभाविक दोष ने इन्हें अपने व्यक्तित्व के मामले में अत्यंत भावुक और संवेदनशील बना दिया था, जिसके कारण इनके जीवन में सांसारिक सुख, चैन और आर्थिक संपन्नता का सदा अभाव रहा । पर इसकी उन्हें परवा नहीं थी, क्योंकि उन्हें अपनी सहनशीलता और संतोषी मनोवृत्ति पर गर्व था ।

Aanav eGangotri Urdu

मीर साहिब के लिये ये आलोचनात्मक शब्द जो मैंने कहे हैं, इसके लिये मैं इनकी पवित्र आत्मा से क्षमाप्रार्थी हूँ। किंतु ईश्वर साक्षी है कि यह जो शब्द मैंने लिखें हैं, उनका उद्देश्य केवल लोगों को यह चेतावनी देना है कि जिन लोगों को इस दुनिया में जीवन-निर्वाह करना है, वह यह समझ लें कि मनुष्य के कौन से अवगुण उसके गुणों को निर्मूल्य और उपेक्षित बना देते हैं। और यही तथ्य 'मीर' के जीवन-दशा से प्रमाणित होता है। यद्यपि शहर दिल्ली में शाह आलम के दरबार और धनी-मानी व्यक्तियों की महफ़िलों में इन्हें सदा आदर और संमान मिलता रहा और इनकी गुणज्ञता और व्यक्तिगत सौजन्यता और आचार-व्यवहार के कारण सभी उनकी प्रतिष्ठा करते थे, लेकिन केवल आदर-संमान ही से ख़ांदान तो नहीं पल सकते, और उस समय दिल्ली में शाही कोश भी ख़ाली हो चला था। धनाभाव के कारण विवश होकर सन् ११९० हि० में इन्हें दिल्ली छोड़नी पड़ी।

जब लखनऊ चले तो पूरी गाड़ी का किराया भी पास न था। लाचार एक और यात्री के साथ शरीक हो गए और दिल्ली से विदा माँगी। थोड़ी दूर चल कर इनके सहयात्री ने इनसे कुछ बात करनी चाही। पर यह उसकी ओर से मुँह फेरकर बैठे रहे। कुछ देर के बाद फिर उसने बात की। मीर साहिब चिढ़ कर बोले, "साहिब क़िब्ला, आपने किराया दिया है। बेशक गाड़ी में बैठिए। मगर इससे आपसी बात-चीत का क्या तअल्लुक ?" उसने कहा, "हज़रत, इसमें हर्ज ही क्या है ? सफ़र में इससे कुछ दिल ही बहलेगा"। 'मीर' साहिब बिगड़ कर बोले, "ख़ैर साहिब, आपका भले ही दिल बहले, मगर मेरी तो ज़बान ख़राब होगी"।

लखनऊ में पहुँच कर जैसा मुसाफ़िरों का दस्तूर है, एक सराय में उतरे। मालूम हुआ कि आज यहाँ एक जगह मुशायरा है। रुक न सके। फ़ौरन ग़ज़ल लिखी और मुशायरे में जाकर शामिल हो गए। इनकी सज-धज पुराने चाल-ढाल की थी। ख़िड़कीदार पगड़ी, पचास गज़ के घेरे का जामा, एक पूरा थान पिस्तौलिए का कमर से बंधा, एक तह किया हुआ पटरीदार रूमाल उसमें खोंसा हुआ, मशरु का पायजमा, जिसके पूरे अरज का पायंचा, नागफनी की अनीदार जूती, जिसकी डेढ़ बित्ते की ऊंची नोक, कमर में एक ओर सीधी तलवार और दूसरी ओर कटार, हाथ में छड़ी। ग़रज़ जब महफ़िल में दाख़िल हुए तो वह तो शहर लखनऊ था। नए तर्ज़ और अंदाज़ और नई कतर-ब्योंत के बांके-टेढ़े जवान उस मुशायरे में जमा थे। इन्हें देख कर सब हँसने लगे। मीर साहिब बेचारे एक ग़रीब परदेसी, ज़माने के हाथों पहले ही मन हार चुके थे, उनकी हँसी ने और भी मन छोटा कर दिया ख़ैर, यह एक किनारे होकर बैठ गए। जब शमा इनके सामने आई तो फिर सब की नज़र पड़ी और वहाँ उपस्थित कुछ व्यक्तियों ने पूछा कि हज़ूर का वतन कहाँ है ? मीर साहिब ये चंद शेर बरजस्ता कह कर फिर अपनी तरही ग़ज़ल पढ़ी:—

क्या बूदो-बाश पूछो हो पूरब के साहिनी,
हम को ग़रीब जान के हंस-हंस पुकार के ॥

दिल्ली जो एक शहर था आलम में इन्तख़ाब,
रहते थे मुन्तख़ब ही जहाँ रोज़गार के ।।
उसको फ़लक ने लूट कर वीरान कर दिया,
हम रहने वाले हैं उसी उजड़े दयार के ।।

फिर तो इनके व्यक्तित्व से सब परिचित हुए और बड़ी विनम्रता से उनकी उपेक्षा करने की अशिष्टता के लिए क्षमा याचना की । ये लोग गुणग्राही थे। सुबह होते-होते शहर में यह बात फैल गई कि लखनऊ में 'मीर' साहब तशरीफ लाए हैं । धीरे-धीरे नवाब आसफुद्दौला के कानों तक यह ख़बर पहुँची और उन्हों ने इनके जीवन-निर्वाह के लिए दो सौ रुपये की मासिक-वृत्ति का प्रबंध कर दिया ।

सम्मान और प्रतिष्ठा तो गुण और योग्यता के अनुचर हैं। इसलिए लखनऊ में भी ये मीर साहिब को पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हुए। किंतु अहंमन्यता और नाज़ुकमिज़ाज़ी इनके जीवन के अभिन्न सहचर बने रहे। कभी-कभी ये नवाब साहिब के यहाँ हाज़िर हुआ करते थे। एक दिन नवाब साहिब ने उनसे एक ग़ज़ल के लिए अनुरोध किया। दूसरे, तीसरे दिन जब फिर गए तो पूछा कि 'मीर साहिब, ग़ज़ल लाए ?' मीर साहिब ने त्योरी बदल कर कहा 'जनाब आली, मज़मून गुलाम की ज़ेब में भरे नहीं कि कल आपने फ़रमाइश की और आज ग़ज़ल हाज़िर कर दें'। देवता प्रकृति नवाब ने कहा, 'ख़ैर, मीर साहिब जब आपकी तबीयत मुआफ़िक़ हो, कह दीजिएगा'।

एक दिन नवाब ने इन्हें बुला भेजा। जब पहुँचे तो देखा कि नवाब हौज़ के किनारे खड़े हैं। हाथ में छड़ी है। पानी में लाल हरी मछलियाँ तैरती फिरती हैं। आप उनका तमाशा देख रहे हैं। मीर साहिब ने ग़ज़ल सुनानी शुरु की। नवाब सुनते जाते थे और छड़ी के साथ मछलियों से भी खेलते जाते थे। मीर साहिब उनकी इस हरकत पर चिढ़ते और हर शेर पर ठहर जाते थे। नवाब कहे जाते थे कि 'हाँ पढ़िए'। आख़िर चार शेर पढ़कर मीर साहिब ठहर गए और बोले कि 'पढ़ूँ क्या, आप तो मछलियों से खेलते हैं। आप इधर ध्यान दें तो पढ़ूँ'। नवाब ने कहा, 'शेर अच्छा होगा तो आप ही ध्यान आकर्षित कर लेगा'। मीर साहिब को यह बात बहुत बुरी लगी। ग़ज़ल ज़ेब में डाल घर चले आए और फिर नवाब के यहाँ जाना छोड़ दिया। कुछ दिनों के बाद एक दिन बाज़ार में चले जा रहे थे। नवाब की सवारी सामने से आ गई। देखते ही नवाब साहिब बड़े प्रेम से बोले कि 'मीर साहिब, आपने बिल्कुल हमें छोड़ दिया। कभी तशरीफ़ भी नहीं लाते'। मीर साहिब ने कहा, 'बाज़ार में बातें करना शरीफों का तरीक़ा नहीं। यह क्या कोई बातचीत करने का मौक़ा है ?' ग़रज़ यह, कि यह पहिले की तरह अपने घर में बैठे रहे और चिंता और उपवास में ज़िंदगी बिताते रहे। अंत में सन् १२२५ हि० में सौ वर्ष की आयु होने पर इनकी मृत्यु हो गई। नासिख़ ने उस अवसर पर कहा:—

"वा-वैला मुर्द शहे शायरां"

(अफ़सोस कि शायरों का बादशाह मर गया)

इनकी रचनाओं का ब्योरा यों है कि छः दीवान ग़ज़लों के हैं। इनमें कुछ पन्ने ऐसे हैं, जिनमें फ़ारसी के कुछ अच्छे शेर हैं, जिन पर उर्दू भाषा मिस्रा लगा कर त्रिभुज और चतुर्भुज की रेखाओं से घेरा है और इस तरह शेरों के लिखने का इन्हों ने ही आविष्कार किया। कुछ पृष्ठ रुबाइयों और मुस्तज़ाद के हैं। चार क़सीदे हैं, जो कि धार्मिक पुरुषों के, और एक नवाब आसफ़द्दौला के यशोगान के रूप में हैं। कुछ मुखम्मस और तरजीअ हैं, जिनमें ख़ुदारसीदा लोगों की गुणगाथा है। कुछ मुख़म्मस हैं, जिनमें ज़माने की शिकायत है और जिनका तात्पर्य कुछ लोगों की निंदा करना है। दो वासोख़्त, एक हफ़्तबन्द हज़रत शाह विलायत की श्रेष्ठता के वर्णन मुल्ला हसन काशी की शैली में लिखी गई हैं। बहुत सी मस्नवियाँ हैं, जिनका अंर्तविषय बहुत स्पष्ट है। उनकी एक पुस्तक **'तज़किरए-निकातुल शुअरा'** है, जिसमें उर्दू के शायरों का वर्णन है। इसकी प्रतियां बहुत कम उपलब्ध हैं। एक छोटी सी पुस्तक है **'बफ़ैज़ मीर'**। मसहफ़ी अपने ज़िकिरए फ़ारसी में लिखते हैं "दावए शेर फ़ारसी न दारद मगर फ़ारसीश हम कमअज़ रेख़्तः नीस्त मी गुफ़्त के साले रेख्तः मौक़ूफ़ करदह बूदम दरां हाल दो हज़ार शेर गुफ़्तः तदवीन करदम"। अर्थात "फ़ारसी में शेर कहने का दावा मैं नहीं करता। लेकिन फ़ारसी के शेर भी रेख़्तः से कम नहीं हैं। कहते थे कि बरसों इन्होंने कहना छोड़ दिया था, इसी बीच दो हज़ार शेर कह कर मुरत्तब कर दिया।"

मालूम होता है कि मीर साहिब को ऐतिहासिक रचना में रुचि नहीं थी। इसलिये मर्सिये इनके दीवान में नहीं हैं। ग़ज़लों के दीवान रसपूर्ण और नीरस सभी प्रकार की कविताओं से भरे हैं, किंतु उनमें जो बढ़िया हैं, उनकी गिन्ती अपनी भाषा-लालित्य के कारण सर्वोत्कृष्ट उर्दू कविताओं में की जाती है। इनकी ग़ज़लों के बारे में उर्दू भाषा के पारखी एक मुहावरा बहुत दिनों से प्रयोग करते आ रहे हैं, 'सत्तर दो बहत्तर नश्तर हैं और बाक़ी तो मीर साहिब का तबर्रुक़ है'। लेकिन यह बहत्तर की संख्या काल्पनिक है, क्योंकि जब कहीं कोई तड़पा देने वाला शेर पढ़ा जाता है तो उसकी प्रशंसा में सभी काव्य-मर्मज्ञों से यही अतिशयोक्ति सुनी जाती है कि 'देखिए यह उन्हीं बहत्तर नश्तरों में से है'। मीर साहिब ने भाषा और काव्य-कल्पना में जितनी सरलता और सफ़ाई पैदा की है, उतना ही आलंकारिक शैली का कम प्रयोग किया है। यही कारण है कि इनकी ग़ज़लें ग़ज़ल-रचना के सिद्धांत के हिसाब से 'सौदा' की ग़ज़लों से अधिक अच्छी समझी जाती हैं। इसका साफ़ और सुलझा हुआ क़लाम अपनी सादगी में एक अंदाज़ दिखाता है और इसीलिये इनमें इनकी काव्य-कल्पना को दुर्बोध न बनाकर और रोचक बनाता है। यही कारण है कि इनकी कविता विशिष्ट वर्गों और जनसाधारण दोनों में समादृत और लोकप्रिय हो गई

[illegible] Gangotri Urdu

है। वास्तव में इन्होंने मीर 'सोज़' की शैली का अनुकरण किया है। मगर 'सोज़' की कविता में केवल बातें ही बातें थीं, पर मीर की कविताओं के विषय-वस्तु भी ठोस होते थे। इन्होंने घरेलू भाषा में गंभीरता का संचार कर उसे शिष्ट और शिक्षित-समुदाय में पेश किए जाने के योग्य बनाया।

चूंकि अर्थ और विषय-वस्तु की गंभीरता, शब्दों का ठाट-बाट, गठन की चुस्ती ये सब क़सीदों के अनिवार्य गुण माने जाते हैं और यह बातें मानसिक प्रफुल्लता और उमंग से ही उपजती हैं, इसलिये मीर साहिब ने क़सीदे कम लिखे और इसीलिए इनकी रचनाएँ अपेक्षाकृत निम्न स्तर की कही जा सकती हैं। इन्होंने काव्य-रसिकों से यह स्पष्ट तौर से कह दिया कि क़सीदा और ग़ज़ल दोनों की रचना-प्रविधियों में दिन और रात का अंतर है। और यहीं पर आकर 'सौदा' और 'मीर' की रचनाओं की विभिन्नता साफ़ दिखाई दे जाती है।

धनी-मानी व्यक्तियों के बारे में क़सीदा न कहने का एक उनका स्वाभिमान, स्वाभाविक संतोष और केवल ईश्वर पर भरोसा रखने की मनोवृत्ति भी थी। ये गुण उन्हें किसी मनुष्य की ख़ुशामद करने से रोकते थे। या तो कहें कि स्वाभिमान और अहंमन्यता के कारण वे अपने आप में ही डूबे रहते थे। और इसलिये अपनी ज़बान से किसी और की तारीफ़ उन्हें गवारा नहीं थी। वे स्वयं ही कहते हैं, और क्या खूब कहते हैं :—

मुझको दिमाग़ वस्फ़े गुलो यासमन नहीं।
मैं जूँ नसीम बाद फ़रोशे चमन नहीं॥
कल जाके हमने 'मीर' के दर पर सुना जवाब।
मुद्दत हूई कि याँ वो ग़रीबुल्वतन नहीं॥

उन्होंने कुछ मुख़म्मस ज़माने की शिकायत और समकालीन राज्य की दुर्व्यवस्था के रूप में कहे हैं और उनमें कुछ व्यक्ति-विशेष के नाम भी लिए हैं। किंतु ये रचनाएँ नितांत ओजरहित हैं और इसलिये इन्हें इनके संग्रह में नगण्य समझनी चाहिए। ऐसा समझ लें कि विधाता ने उनके दस्तरख़्वान से मद्ह (प्रशंसा, स्तुति) और क़द्ह (निंदा, हज्व) के दो प्याले उठाकर सौदा के यहाँ धर दिए थे।

इनके दीवान में दो वासोख़्त हैं और ये निस्संदेह लाजवाब हैं। साहित्यिक खोज-बीन करनेवालों ने फ़ग़ानी वहशी को फ़ारसी में मीर को उर्दू में वासोख़्त का आविष्कारक माना है। सैकड़ों शायरों ने वासोख़्त कहे हैं, किंतु कुछ ख़ास मुहावरों के प्रयोग को छोड़कर इस क्षेत्र में मीर साहिब की कल्पनाएं और वर्णन-शैली अनुपम समझी जाती है।

मनाक़िब (धार्मिक महात्माओं के यशोगान) में जो मुख़म्मस और तर्जो अबुंद इत्यादि कहे हैं, वास्तव में उनमें इन्होंने श्रद्धा और भक्ति के भावना-लालित्य का

हक़ बड़ी खूबसूरती से अदा किया है और यह इनके धार्मिक अवस्था को प्रमाणित करता है।

इनकी मस्नवियाँ विभिन्न पदों में हैं। इनके रचना-विध मीर साहिब की स्वाभाविक ऋजुता के द्योतक हैं। कुछ बड़े रोचक ढंग से लिखी गई हैं। इनमें **शोलए इश्क** और **दरियाए इश्क़** को तो काफ़ी ख्याति प्राप्त हुई। किंतु फिर भी ये मीर हसन की मस्नवी के टक्कर में नहीं। **जोशे इश्क़** में काफ़ी रोचकता और माधुर्य का आवेग है, मगर इसे कोई विशेष ख्याति नहीं मिली। **एजाज़े इश्क व ख़्वाबो ख़याल** छोटी रचनाएँ हैं और उस स्तर की नहीं है। **मआम्लाते इश्क़** उनसे बड़ी है, किंतु यह भी उससे निम्न स्तर की है। मस्नवी शिकारनामा में नवाब आसफुद्दौला के शिकार और उसके सफ़र का विशद वर्णन है, यद्यपि इसकी भाषा बहुत परिष्कृत नहीं, फिर भी मस्ती और मुहावरों की चुस्ती से ख़ाली नहीं है। इसमें जो इधर-उधर ग़ज़लें स्थान स्थान पर लगाई हैं, वह उसमें एक अजीब रोचकता लाती हैं। **साक़ीनामा** काफ़ी विनोदपूर्ण है। यद्यपि रचना छोटी है मगर अत्यंत रोचक और सुबोध ढंग से लिखी है। इनके अतिरिक्त बहुत सी छोटी मस्नवियाँ हैं। एक मस्नवी अपने मुर्ग़ के मरने पर मर्सिया के रूप में लिखी है। लिखते हैं कि मेरा प्यारा मुर्ग़ा था। बड़ा शरीफ़ था। बहुत खूब था। उसपर बिल्ली ने हमला किया। मुर्ग़े ने बड़ी बहादुरी से उसका मुक़ाबला किया और अंत में मारा गया। मस्नवी तो जैसी है वैसी है। मगर इस मुर्ग़ के आख़िरी वक़्त का बयान करने के लिये इनका एक शेर नहीं भूलता :—

झुका बसुए कदम सर खुरुसे बेजाँ का।
ज़मीं पे ताज गिरा हुद-हुदे सुलेमाँ का॥

एक मस्नवी में कहते हैं कि मेरी एक बिल्ली थी। बड़ी वफ़ादार थी। बड़ी संतोषी थी। इसके बच्चे न जीते थे। एक बार इसे पाँच बच्चे हुए। पाँचो जिए। तीन बच्चे लोग ले गए। दो रहे वह दोनों मादा थे। एक का नाम मोनी रखा और और एक का मानी। मोनी एक मेरे दोस्त को पसंद आई, वह ले गए। मानी बिचारी तबीयत की बड़ी ग़रीब थी, इसलिये उसने फ़क़ीर का साथ न छोड़ा। इन सबका उन्होंने बड़े विस्तार से वर्णन किया है।

एक कुत्ता और एक बिल्ला भी पाल रखा था। उनपर एक मस्नवी लिखी है। एक बार एक अमीर के साथ मेरठ तक सफ़र किया था। एक मस्नवी में उस सफ़र में उठाई गई बरसात की कठिनाइयों और रास्ते की मुसीबतों का सविस्तर वर्णन है। इससे यह भी अंदाज़ा कर सकते हैं कि हमारे देशवासी हमेशा से ही सफ़र करने को कैसी आफ़त समझते रहे हैं।

इन्होंने एक बकरी पाली। इसके चार थन थे। बच्चा हुआ तो दूध एक ही थन में उतरा। वह भी इतना कम था कि बच्चे को पूरा न पड़ता था। बाज़ार का

Chennai eGangotri Urdu

दूध पिला-पिलाकर उसे पाला। फिर बच्चे की सरज़ोरी और सरशारी की शिकायत करते हैं।

एक मस्नवी आसफ़ुद्दौला के विवाह की सजावट के बारे में कही है। एक मस्नवी 'झूठ' की ओर से लिखी, जिसका पदविन्यास मस्नवी का साधारण पदों से भिन्न है।

मनस्वी अज़दरनामा (या अजगरनामा) की चर्चा आगे चलकर की जायगी।

एक छोटी सी मस्नवी बरसात की शिकायत में लिखी है। घर का गिरना और इसके कारण बरसते मेह में घरवालों का उसमें से निकलने के लिये मजबूर होना बड़े मार्मिक ढंग से बयान किया है। यों तो किसी भी शायर की तबीयत में उद्वेग पैदा करने के लिये ऐसी घटनाएँ विशेष अनुकूल होती हैं, लेकिन मीर साहिब की तबीयत तो उनके मकान से भी पहिले गिरी हुई थी। वह यहाँ भी नहीं उभरी। 'सौदा' होते तो ऐसी बरसाती घटना को बयान करने में तूफ़ान पैदा कर देते।

मस्नवी 'तंबीहुलख़याल' में काव्य-कला के महत्व और इसकी मान्यताओं का बहुत अतिशयोक्ति के साथ वर्णन किया है कहते हैं कि पहले इस प्रतिष्ठित कला को प्रतिष्ठवान् पुरुष ही अपनाते थे। अब तो पाजी और कमीने लोग भी शायर हो गए हैं। इस प्रसंग में एक बज़ाज़ के लौंडे को बहुत बुरा भला कहा है। इनके अतिरिक्त कई और छोटी-छोटी मस्नवियाँ हैं, जो उल्लेखनीय नहीं।

इनका निकातुल शुअरा काव्य-प्रेमियों के लिये एक बड़ी उपयोगी रचना है। इसमें उर्दू कवियों के बारे में बहुत सी बातें इस समय के लोगों के जानने योग्य हैं, किंतु इसमें भी इनके कहने का ढंग यथासंभव अहंमन्यतापूर्ण है। भूमिका में लिखते हैं कि "यह उर्दू का पहिला तज़्किरा (चर्चा) है। इसमें एक हज़ार शायर का हाल लिखूँगा। मगर उनको न लूँगा, जिनके क़लाम से दिमाग़ परीशान हो" इन हज़ार में एक भी इनके व्यंग्य और निंदा से नहीं बचा। 'वली' जो उर्दू कविता के आदि पुरुष समझे जाते हैं, उनके बार में कहते हैं :—

"वे शायरेस्त अज़् शैतान मशहूर तर❀"

मीर ख़ाँ 'कमतरीन' दिल्ली में उस समय के एक पुराने शायर थे। उन्हें इस फ़िक्रे पर बड़ा क्रोध आया। एक नज़्म में पहिले तो बहुत कुछ कहा, अंत में आकर कहते हैं :—

वली पर जो सुख़न लाए उसे शैतान कहते हैं।

यह था संक्षेप में मीर साहिब की कृतियों का विवरण। मीर साहिब की भाषा सुसंस्कृत, भाव प्रांजल और स्पष्ट वर्णन ऐसा सुबोध, जैसे पारस्परिक वार्तालाप

❀ वे एक शैतान की तरह मशहूर शायर हैं।

करते हों। विचार और कल्पनाएँ सभी की रुचियों से मेल खाती हैं और ये उनमें मुहावरों का रंग देकर बातों में बड़े सुंदर ढंग से व्यक्त कर देते हैं। और भाषा ऐसी प्रभावोत्पादक कि वही बातें किसी अमूर्त विषय का मूर्त आकार बना देती है। इसलिये इनकी कविताओं में और शायरों की अपेक्षा यथार्थता कुछ अधिक मात्रा में बनी रहती है। बल्कि उनमें प्रायः ऐसा भास होता है कि जैसे प्रकृति की एक साफ़ तस्वीर खींच रहे हों। यही कारण है कि उनका प्रभाव हृदय पर चिरस्थायी होता है। 'मीर' को सचमुच हम उर्दू का शेख़ सादी कह सकते हैं।

उर्दू काव्य में आशिक़मिज़ाज शायरों की रंगीनियाँ और उनके कल्पनाओं की ऊँची पर्वाज़, उनके अतिशयोक्तियों की अतिशयता सभी पर ज़ाहिर हैं। लेकिन यह इस ज़बान का सौभाग्य समझिए कि मीर साहिब को आनंदोल्लास या भोग-विलास का मज़ा, या प्रेममिलन का आनंद कभी नसीब न हुआ। वही जीवन की कठिनाइयाँ, और भाग्य का निहोरा जो साथ लाए थे, उसका दुखड़ा सुनाते चले गए, जो आज तक दिलों में टीस और सीनों में दर्द पैदा करते हैं। क्योंकि ऐसे दुःख और विषाद से भरे विषय तो अन्य कवियों के लिये केवल काल्पनिक होते हैं, लेकिन इनके लिये तो वही इनके जीवन की वस्तुस्थिति थी। इनकी आशिक़ाना कल्पनाएँ भी नाकामयाबी, रोना-धोना, निराशा और वियोग के परिधान में ही प्रस्तुत की गई हैं, जो यह साफ़ बतला देती है कि वे जिस हृदय की उपज हैं, वह ग़म और दर्द का पुतला ही नहीं बल्कि तमन्नाओं और मुसीबतों का जनाज़ा था। सदा वैसे ही विचार उभरते रहते थे, जो इनके दिल पर गुज़रते थे, वही ज़बान से कह देते थे, सुननेवालों के लिये नश्तर का काम कर जाते थे।

इनकी ग़ज़लें विभिन्न प्रकार के छंदों से मिली जुली हैं और ऐसी लगती हैं, जैसे वे कहीं शरबत और कहीं दूध और शक्कर की मिलावट जैसी हों। छोटे छोटे छंदों में तो जैसे इन्होंने अमृत ही ढाल दिया हो। जो शब्द मुँह से निकलता है, भाव और प्रभाव दोनों ही से भीना निकलता है। मगर बुज़ुर्गों से मालूम हुआ कि इनकी मुशायरों की या फ़रमायशी ग़ज़लें ऐसी न होती थीं, जैसी कि अपनी स्वेच्छा से लिखी गई रचनाएँ। इन्होंने अक़्सर फ़ारसी की तरक़ीबों का या उनके मुवाहरों के अनुवादों को उर्दू भाषा के आधार पर रेख़्ता किया और कुछ को तो ज्यों का त्यों प्रयोग किया। इनमें से बहुतों को तो लोकप्रियता मिली, लेकिन कुछ को रुचि की स्वीकृति नहीं मिली। समकालीन व्यक्तियों ने कहीं, मगर बहुत कम। इसलिये कहते हैं:—

हंगामा गरम कुन जो दिले नासबूर था,
पैदा हर एक नाला से शोरे नशूर था॥

+ \+ \+

यह चश्म शौक़ तरफ़ः जगह है दिखाव की,
ठैरो क़द्र यह मिज़ः तुम इस मकान में ॥

× × ×

क्या कहिए हुस्न इश्क़ के आप ही तरफ हुआ,
दिल नाम क़त्रह ख़ून ये नाहक़ तलफ़ हुआ ॥

× × ×

दिल कि यक क़तरा ख़ूँ नहीं है बेश,
एक आलिम के सर बला लाया ॥

× × ×

हर दम तरफ़ है दिल से मिज़ाजे करख़्त का,
टुकड़ा मेरा ज़िगर है कही संग सख़्त का ॥

+ + +

उसका ख़िराम देख़ के जाया न जाएगा,
ऐ कबक फिर बहाल भी आया न जायगा ॥

+ + +

अपने दिल को नह्व-व-असद तो क्या हासिल नसीम,
गो चमन में गुंचए पज़मुर्दा तुझ से खिल गया ॥

+ + +

ख़्वाह प्याला ख़्वाह सबू कर हमें कुलाल,
हम अपनी ख़ाक पर तुझे मुख़तार कर चले ॥

+ + +

याद अय्याम यहाँ तर्के शकेबाई था,
हर गली कूचा मुझे कूचए रुसवाई था ॥

+ + +

ऐ तू कि यहाँ से आक़बते कार जायगा,
ये क़ाफ़ला रहेगा न जिन्हार जायगा ॥

+ + +

इसके अतिरिक्त फ़ारसी के किसी किसी मुहावरे का और उसके विशेष प्रयोग का संकेत भी कर जाते थे। किंतु इन्हें भी लोगों ने पसंद नहीं किया। जैसे,

Channel eGangotri Hindu

दीवाने को फूल की छड़ियाँ मारने का टोटका भी किया है और उसे दाग़े जनूँ भी दिया है।

जाती है नज़र हुस्न पे गह चश्मपरीदन,
याँ हमने परेकाह भी बेकार न देखा ॥

कहीं कहीं वाक्यचातुरी का प्रयोग करके इन्होंने अपनी भाषा को ओज का जौहर दिखाया है। कहते हैं :--

हर चंद नातवाँ हूँ पर आ गया जो दिल में,
देंगे मिला ज़मी से तेरा फ़लक कुलावा ॥

+ + +

दाग़ है तावाँ अलैहुर्रहमा का छाती पे मीर,
हो निजात उसकी बेचारा हम से भी था आश्ना ॥

+ + +

हज़ार शानः वो मिस्वाको ग़ुस्ल शौक़ करें।
हमारे अंदीयः में तो है वह पलीतो ख़बीस ॥

× × ×

रदीफ़ ताए मस्तातः फ़ौक़ानी की ग़ज़ल में यह शेर आया है। ऐसे प्रयोगों से यह नहीं कह सकते कि उन्हें इस शब्द के शुद्ध प्रयोग की जानकारी न थी। बल्कि यह समझना चाहिए कि ये भाषा के अधिकारी थे। और मुहावरों के उपर्युक्त प्रयोग को ही उनका मुख्य तात्पर्य समझते थे।

ऐ ख़ौशाहाल उसका जिसका वह।
हाल अमदन तबाह करते थे ॥
है तहे दिल बुतों का क्या मालूम।
निकले पर्दा से क्या—ख़ुदा मालूम ॥
मैं बेकरार ख़ाक में कब तक मिला करूँ।
कुछ मिलने या न मिलने का तो भी क़रार कर ॥
रहूँ जाके मर हज़रते यार में।
यही क़स्द है बंदः दरगाह का ॥
खुला नशे में जो पगड़ी का पेंच उसकी मीर।
समंदे नाज़ को एक और ताज़ियाना हुआ।
आवाज़ हमारी से न रूक हम हैं दुआ याद।
आवेगी बहुत हमसे फ़क़ीरों की सदा याद ॥

+ + +

सब ग़लती रही बाज़ीए तिफ़लाना की यकसूँ ।
वह याद फ़रामोश थे हमको न किया याद ॥
जुज़ मर्तबए कुल को हासिल करे है आख़िर ।
एक क़तरा न देखा जो दरिया न हुआ होगा ॥
अब्र उठा था क़ाबा से और झूम पड़ा मैख़ाना पर ।
बादः कशों का झुरमुट होगा शीशा और पैमाना पर ॥

+ + +

किसी व्यक्ति ने टोका कि 'हज़रत' असल मुहावरा फ़ारसी का है। फ़ारसी ज़बान वालों ने 'अब्रकिब्ल:' कहा है, 'अब्र काबा' नहीं। मीर साहिब ने कहा कि हाँ, किबल: का लफ़्ज़ भी प्रयोग किया जा सकता है। मगर क़ाबा से ज़रा मिस्रे की तरक़ीब गर्म हो जाती है। और यह सच कहा। जो भाषा के रसिक हैं, वही इस से रस ले सकते हैं। ख़्याल शब्द में जो प्रयोग मीर साहिब ने दिखलाया है, वह तो स्पष्ट मालूम होता है। प्राय: ऐसे शब्द हैं, जिनका प्रयोग अब स्त्रीलिंग में किया जाता है। लेकिन मीर साहिब ने उनको पुलिंग में ही बाँधा है:——

मिलाए ख़ाक में किस किस तरह के आलम याँ ।
निकल के शहर से टुक सैर कर मज़ारों का ॥

+ + +

कल जिसकी जांकनी पै सारा जहाँ टूटा ।
आज उस मरीज़ ग़म का हिचकी में जान टूटा ॥

+ + +

अहवाल खुश उन्हों का हम बज़म हैं जो तेरे ।
अफ़सोस है कि हमने वाँ का न बार पाया ॥

+ + +

कुछ स्थानों पर पुलिंग को स्त्रीलिंग भी कह जाते हैं :—

क्या ज़ुल्म है उस ख़ूनिए आलम की गली में ।
जब हम गए दो चार नई देखीं मज़ारें ॥

+ + +

मस्नवी शोलए इश्क़ में कहते हैं :——

ख़ल्क यकजा हुई किनारे पर ।
हश्र बर्पा हुई किनारे पर ॥

+ + +

मीर साहिब मझोले क़द के, दुबले पतले और गेहुएँ रंग के थे। वह हर काम गंभीरता से और धीरे-धीरे करते थे। और वह भी धीमें स्वर में। उनके स्वर में भी नर्मी और मृदुलता थी। वृद्धावस्था ने उनके इन स्वाभाविक विशेषताओं को और परिपक्व बना दिया था। क्योंकि सौ वर्ष की उम्र भी तो स्वभाव और व्यक्तित्व पर एक विशेष प्रभाव डालती है। मिर्ज़ा क़तील ने एक बार किसी मुशायेरे से लौटकर अपने एक मित्र के पास पत्र लिखा। उसमें उस जलसे की चर्चा वह इन शब्दों में करते हैं :—

"मीर साहब का जैसा अच्छा कलाम होता है, वैसे ही वह पढ़ते भी बहुत अच्छा हैं। वैसे ही उनके तमाम बदन में रेशा (हिलने की बीमारी) है। मैंने ऐसी आवाज़ किसी की नहीं सुनी। हाँ, वह ग़ज़ल खूब कहते हैं।"

मीर साहिब का स्वभाव और आचरण दोनों अत्यंत संतुलित और गंभीर थे, जिसे उनके संयम और सदाचार पूर्ण जीवन ने और भी समादृत बना दिया था। इसके साथ-साथ आत्मपुष्टि और स्वाभिमान हद से बढ़ कर था। परिणामस्वरूप किसी की सेवा-हजुरी में लगे रहना तो दरकिनार नौकरी के नाम तक से उन्हें चिढ़ थी। किंतु लोक-व्यवहार का प्रतिपालन जिस से कोई बच नहीं सकता, इन गुणों से मेल नहीं खाता। इसीलिए मीर साहिब उपवास करते थे, दुःख झेलते थे और अपनी अहंमन्यता के तले दुनियाँ और दुनियाँ के लोगों से मुंह फेरे हुए घर में बैठे रहते थे। उनके इस हठधर्मी के विषय में जो लोगों के विचार थे, उनकी जानकारी स्वयं मीर साहिब को भी थी। इसीलिये अपने और ज़माने के खरे दिन में लिखते हैं—

हालत तो यह कि मुझको ग़नों से नहीं फिराग़।
दिल सौज़िशे दरूनी से जलता है जूं चिराग़।
सीना तमाम चाक है सारा ज़िगर है दाग़।
है नाम मजलिसों में मेरा मीर बेदिमाग़।
अज़ बस के कम दिमाग़ी ने पाया है इश्तहार॥

इन सब के होते हुए भी वह बस अपनी सरल और सुबोध काव्य-शैली को ही अपनी एक शाश्वत जीवन-निधि समझते थे। और अमीर ग़रीब किसी की परवाह न कर अपनी फ़क़ीरी में भी अपनी धार्मिक आस्थाओं को ख़ुदा की नियामत समझ कर उसी दशा में उसकी याद में अपना मन रमाए रहते थे। इसलिये इनकी इस चारित्रिक दृढ़ता के गुण की प्रशंसा किन्हीं शब्दों में भी नहीं की जा सकती, जिसके कारण इन्होंने इतनी निःस्पृहता और निरतेक्षता के साथ संसार के सारे कष्ट झेले, जो अपनी आन-बान थी, उसे लिये लिये इस संसार से उठ गए और ख़ुदा ने जिस सीधी और ऊँची गरदन के साथ पैदा दिया था, उसे सीधी ही ख़ुदा के पास ले गए। क्षणिक सुख या सुविधा के लोभ से, या दरिद्रता के दुख के भय से उसे संसार के

अनधिकारी व्यक्तियों के सामने कभी न झुकाया। इनकी कविताएँ ही कहे देती हैं कि इनके दिल की कली कभी न खिली और न इनके त्योरी का बल ही सीधा हुआ। फिर भी ये कल्पना-साम्राज्य के एक उच्चदर्शी सम्राट् थे और भौतिक संसार की क्रूरता का जितना ही अधिक इन पर प्रहार होता था, उतनी ही उच्च इनकी कल्पनाएँ उठती थीं। इनके विषय में जितने आलोचनात्मक लेख हैं, उन सब में इस बात का उल्लेख है कि यदि इनका दंभ और इनकी बदमिज़ाजी केवल अमीरों के प्रति होता तो इतनी आपत्तिजनक न समझी जाती, किंतु खेद की बात यह ही है कि उन्हें किसी भी व्यक्ति में कोई गुण या खूबी न दिखाई देती थी। और यह बात ऐसे व्यक्ति के लिये विशेष रूप से अनपेक्षित और अशोभनीय समझनी चाहिए, जिसका उसके व्यक्तिगत गुणों और सदाचार पूर्ण जीवन के लिये सभी कोई आदर करता हो। बुज़ुर्गों की लिखी और कही सुनी बातों से पता चलता है कि ख़्वाज़ा हाफ़िज शीराज़ी और शेख सादी की भी यदि ग़ज़लें पढ़ी जाती थीं तो उनकी तारीफ़ में किसी का सर हिलाना वह गुनाह समझते थे। उनके सामने चाहे वह सादी या शीराज़ी क्यों न हो, उनकी क्या बिसात, लेकिन उस ज़माने में जो गुणज्ञता के कोषाध्यक्ष थे, उनके विचार और हौसले बड़े ऊँचे होते थे, इसलिये इस तरह की अहंमन्यता और बेदिमाग़ी उनकी ख़ूबियों पर और चार चाँद लगा देती थी। उनके अच्छे भाग्य थे कि उन्होंने आज का ज़माना न देखा।

मीर क़मरुद्दीन मिन्नत नाम के दिल्ली में एक शायर गुज़रे हैं। यह अपनी विद्वत्ता के कारण शाही दरबार के एक प्रतिष्ठित सदस्य समझे जाते थे। वह मीर साहिब के समय के एक नौसिखिया शायर थे। शेर कहने का शौक़ बहुत था। कुछ उर्दू में ग़ज़ल लिख कर संशोधन के लिए उनके पास ले गए। मीर साहिब ने उनका वतन पूछा। उन्होंने सोनीपत (जो पानीपत के इलाके में है) बतलाया। आपने फ़रमाया कि सैयद साहिब उर्दूए-मुअल्ला ख़ार दिल्ली ज़बान हैं। आप इसमें तकलीफ़ न कीजिए। कुछ फ़ारसी वारसी में कह लिया कीजिए।

सादत यार खाँ रंगीन जो नवाब तहमास्म बेस खाँ क़िलेदार शाही के बेटे थे, और जिनकी उम्र १४-१५ वर्ष की थी, बड़ी शानोशौक़त से इनके पास गए और संशोधन के लिये अपनी ग़ज़ल पेश की। सुन कर कहा कि साहबज़ादे आप ख़ुद अमीर हैं और अमीरज़ादे हैं, नेज़ःबाज़ी की कसरत कीजिए। शहसवारी इश्क़ फ़रमाइए। शायरी दिलख़राशी (हृदय को कष्ट देना) और जिगरसोज़ी (हृदय जलाना) का काम है। आप इसके दर पै न हों। जब उन्होंने बहुत आग्रह किया तो उपेक्षापूर्ण स्वर में कहा आपकी तबियत इस फ़न के मुनासिब नहीं है, यह आपको नहीं आने का, ख़ाह-मख़ाह मेरी और अपनी औक़ात ज़ाया करनी (समय बरबाद करना) क्या ज़रूर है? कुछ ऐसी ही घटना शेख़ नासिख़ के साथ भी घटी।

दिल्ली में मीर साहिब ने एक मस्नवी कही। अपने को अज़दहा ठहराया। और समकालिन शायरों को किसी को चूहा, किसी को साँप, किसी को बिच्छू, किसी

को कनखजूरा इत्यादि इत्यादि बनाया। इसके साथ एक कहानी लिखी कि वहीं मांद के भीतर एक भयानक अज़दहा रहता था। जंगल के ये सब कीड़े-मकोड़े इकट्ठा होकर उस अज़दहे से लड़ने गए। जब सामना हुआ तो उस अज़दहे ने ऐसी फुंकार मारी कि सब जल भुनकर मर गए। इस क़सीदे का नाम इन्होंने अज़दर (अजगर) नामा रखा और इसे एक मुशायरे के अवसर पर पढ़ा। मुहम्मद अमान निसार जो शाह हातिम के शिष्यों में एक अभ्यस्त कवि थे, वहीं महफ़िल के एक कोने में बैठ कर कुछ शेरों का एक क़ितअ लिखा और उसी समय मुशायरे के बीच उसे पढ़ा। चूंकि मीर साहिब की यह बात किसी को रुची नहीं थी, इसलिये इस क़िते पर खूब ठहाका लगा और 'निसार' साहिब के क़िते की बड़ी वाहवाही हुई। और मीर साहिब पर तो जैसी बीतनी थी, वैसी बीती ही। उस क़िते का भव यह है :—

हैदर करीर ने वह ज़ोर बख़शा है निसार,
एक दर में दो करूँ अज़दर के कल्ले चीर कर।।

लखनऊ में किसी ने इनसे पूछा कि क्यों हज़रत, आज कल शायर कौन है? मीर साहिब ने कहा, एक तो सौदा, यह ख़ाक्सार। और कुछ रुक कर कहा, आधे ख्वाजा मीर दर्द। किसी ने कहा कि हज़रत, और मीर सौज़ साहिब? ये चिढ़ कर बोले, मीर सौज़ साहिब भी कोई शायर हैं, उसने कहा कि आख़िर तो वह नवाब आसफ़ुद्दौला के उस्ताद हैं। इन्होंने कहा, ख़ैर, हों तो पौने तीन सही। मगर शरीफ़ों में ऐसे तख़ल्लुस हमने कभी नहीं सुने। मीर साहिब के सामने मज़ाल किस की थी, जो कहे कि इन विचारे ने तो अपना तख़ल्लुस मीर किया था, वह आपने छीन लिया। लाचार उन्होंने ऐसा तख़ल्लुस अपनाया जो कि आप को न पसंद आए न आप उसे छीनें।

लखनऊ के कुछ बड़े और पढ़े लिखे लोग जमा होकर एक दिन इनके यहाँ आए कि मीर साहिब से मुलाकात करें और उनके शेर सुनें। दरवाज़े पर आकर आवाज़ दी। लौंडी या मामा निकली। हाल पूछा और अंदर गई। एक बोरिया लाकर डयोढ़ी में रख गई। मीर साहिब अंदर से तशरीफ़ लाए। क्षेमकुशल पूँछने के बाद उन लोगों ने कुछ शेर कहने के लिए मीर साहिब से फ़रमायश की। मीर साहिब ने पहले तो कुछ टाला फिर साफ़ जवाव दिया कि साहिब क़िब्ला मेरे शेर आप की समझ में नहीं आएँगे। उन लोगों ने इस कहने का बुरा तो माना, किंतु शिष्टाचार को ध्यान में रखकर उन्होंने अपनी हल्की समझ को स्वीकारा, लेकिन फिर भी आग्रह किया। ये फिर भी राज़ी नहीं हुए। अंत में उन लोगों ने अप्रतिभ होकर कहा कि, हज़रत हमलोग अनवर और ख़ाक़ानी की रचनाएँ समझ लेते हैं तो आप के कहे हुए शेर क्यों न समझेंगे? मीर साहिब ने कहा यह दुरूस्त है, मगर उनकी शर्तें (टीकाएँ), मुस्तलहात (पारिभाषिक कोश) और फ़र्हंगें (शब्दकोश) मौजूद हैं। और मेरे क़लाम के लिये तो फ़क़त मुहावरा है या जामा मस्जिद की सीढ़ियाँ। और इन दोनों से आप सब महरूम (वंचित) हैं। यह कह कर एक शेर पढ़ा :—

इश्क़ बुरे ही ख़्याल पड़ा है चैन गया आराम गया,
दिल का जाना ठैर गया है सुबह गया या शाम गया ।।

और कहा कि अपनी किताबों के बमूजिब (अनुसार) आप कहेंगे कि ख़्याल की ये को ज़ाहिर करो। फिर आप कहेंगे कि ये तकतीअ (मात्रा) में गिरती है। मगर यहाँ इसके सिवा जवाब नहीं कि मुहावरा यही है।

जब नवाब आसुफुद्दौला की मृत्यु हो गई और सादत अली ख़ाँ का राज्यकाल शुरू हुआ उस समय ये दरबार जाना छोड़ चुके थे। वहाँ से भी कभी इनकी बुलाहट न होती थी। एक दिन नवाब की सवारी जा रही थी। ये तह्सीन की मस्जिद पर राह में बैठे थे। सवारी सामने आई। सब उठ खड़े हुए। मीर साहिब उसी तरह बैठे रहे। सैयद इंशा नवाब की मुसाहिबी में थे। नवाब ने पूछा, इंशा, यह कौन व्यक्ति है, जो अपने घमंड में उठा भी नहीं। इंशा ने निवेदन किया, जनाब आली, यह वही घमंडी भिखारी है, जिसकी चर्चा हुज़ूर में कभी कभी आया करती है। जीविका की यह दशा और मिज़ाज की यह हालत। आज भी शायद इसने उपवास ही किया होगा। सादत अली ख़ाँ ने वापस आकर उनकी मासिक वृत्ति पूर्ववत निश्चित कर दी। और एक हज़ार रुपया उनके निमंत्रण के लिये भिजवाया। जब चोबदार लेकर गया तो मीर साहिब ने उसे लौटा दिया कि इस रक़म को मस्जिद में भिजवा दिजिए। यह गुनहगार इतना मुहताज नहीं। सादत अली ख़ाँ यह जवाब सुन कर दंग रह गए। मुसाहिबों ने उन्हें फिर समझाया। और नवाब की आज्ञा से सैयद इंशा यह उपहार लेकर गए और अपने ढंग से उन्हें समझाया कि अपनी दशा पर न सही अपने बाल-बच्चों पर तो रहम कीजिए और बादशाह के भेजे हुए इस उपहार को स्वीकार कीजिए। मीर साहिब ने कहा कि जनाब, वह अपने मुल्क के बादशाह हैं, मैं अपने मुल्क का बादशाह हूँ। कोई अनजाने शख़्स का इस तरह बर्ताव होता तो शिकायत न थी। वह मुझे जानते हैं और मेरी माली हालत से भी वाक़िफ़ हैं। उसपर इतने दिनों के बाद एक दस रुपये के ख़िदमतगार के हाथ यह भेंट भेजी। मुझे अपनी फ़क़ीरी और फ़ाक़ा (उपवास) क़बूल है। मगर ऐसी बेइज़्ज़ती मैं नहीं सह सकता। लेकिन सैयद इंशा की वाक्यपटुता और वाचालता के सामने भला किसकी बात ठहर सकती थी। मीर साहिब ने उपहार स्वीकार कर लिया। और उसके बाद कभी कभी दरबार में जाने भी लगे। नवाब सादत अली ख़ाँ उनका इतना आदर करते थे कि उन्हें अपने सामने बिठलाते और उन्हें अपना पेचवान पीने के लिये पेश करने की कृपा करते थे।

मीर साहिब को बहुत तकलीफ़ में देख कर लखनऊ के एक नवाब साहिब इन्हें बाल-बच्चों के साथ अपने घर ले गए और अपने ज़नानख़ाने के पास एक अच्छे से घर में इनके रहने का प्रबंध कर दिया। इस मकान के बैठकख़ाने की खिड़कियाँ

बाग़ की ओर खुलती थीं। इस तरह उसमें उनके मनबहलाव के लिये सभी सुविधाएँ थीं। यह जिस दिन वहाँ आए खिड़कियाँ बंद पड़ी थीं। कई वर्ष उसमें रहे, लेकिन खिड़कियाँ उसी तरह बंद की बंद ही पड़ी रहीं। कभी उन्हें खोल कर बाग़ की ओर न देखा। एक दिन कोई दोस्त आए। उन्होंने कहा कि इस ओर तो बाग़ है। आप खिड़कियाँ खोलकर क्यों नहीं बैठते? मीर साहिब बोले कि क्या इधर बाग़ भी है। उन्होंने कहा कि इसीलिये तो नवाब साहब आप को यहाँ लाए थे कि यहाँ आपका जी बहलेगा और आप खुश भी रहेंगे। मीर साहिब ने कहा कि ग़ज़लों की फटी पुरानी पांडुलिपियों की फिक्र में लगा हुआ हूँ, कि उधर के बाग की ख़बर भी नहीं। यह कहकर चुपके ही हो रहे। कितनी तल्लीनता थी। कई वर्ष बीत जायँ, इतने करीब एक बाग़ हो और उधर देखने के लिये खिड़की तक न खोलें। अस्तु ज़िंदगी में इसी तरह उन्होंने दुनियाँ के बाग़ की ओर नज़र न उठाई। किंतु ईश्वर ने उनकी रचनाओं में वह बहार पैदा की कि ज़माना बीत गया, लोग आज तक उनके पन्ने उलटते हैं और उन रचनाओं से उनका मन किसी एक बाग़ से कहीं ज्यादा बहलता है।

मेरे उस्ताद एक अपने बुड्ढे मित्र को कहा हुआ एक क़िस्सा कहते हैं कि एक दिन वह मीर साहिब के पास गए। जाड़े का मौसम बीत रहा था। बसंत आने को था। देखा कि टहल रहे हैं, उनकी आकृति प्रफुल्ल है, और रह रह कर यह मिस्रा पढ़ते हैं :—

अब के भी दिन बहार के यूँ ही गुज़र गए ॥

यह सलाम करके बैठ गए। थोड़ी देर उठे और सलाम करके चले आए। मीर साहिब को इस आने-जाने की ख़बर न हुई। भगवान् जाने इसके दूसरे मिस्रे की फ़िक्र में थे या इसी मिस्रे का मज़ा लेने में मग्न थे।

गवर्नर जेनरल और अन्य बड़े-बड़े अंग्रेज अफ़सर जब लखनऊ जाते थे, इनके गुणों की ख्याति सुनकर और उन्हें संमानित करने के लिये या इसलिये कि ऐसे गुणी व्यक्ति का उनके मीर मुंशी द्वारा उनसे परिचय कराने का संमान प्रदर्शन करना उचित होगा, मीर साहिब को मिलने के लिये बुलाते। किंतु यह उनकी बराबर उपेक्षा करते और कहते कि मुझ से जो कोई मिलता है वह या तो मुझ फ़क़ीर के ख़ान्दान को संमानित करने के लिये या मेरी काव्य-रचनाओं के कारण। साहब लोगों को मेरे ख़ान्दान से कोई ग़रज़ नहीं और मेरी कविताएँ वे समझते नहीं। अलबत्ता, कुछ ईनाम दे देंगे। ऐसी भेंट-मुलाक़ात से सिवाय अपमान के और कौन सा लाभ होगा।

मुहल्ले के बाज़ार में एक अत्तार की दुकान थी। आप भी कभी-कभी उसकी दुकान पर जा बैठते थे। उसका कमसिन लड़का बहुत बनाव सिंगार करता रहता था। मीर साहिब को यह बुरा लगता था। इसपर कहते हैं :—

कैफ़ियतें अत्तार के लौंडे में बहुत हैं,
इस नस्ख़े की कोई न रही हम को दवा याद ॥

किसी समय तबियत में रंगीनी होगी। कह दिया :—

मीर क्या सादे है बीमार हुए जिसके सबब,
उसी अत्तार के लड़के से दवा लेते हैं॥

इनके एक समकालीन शायर बक़ाउल्लाह ख़ां 'बक़ा' ने दो शेर कहे :—

इन आँखों का नित गर यह दस्तूर है,
दो आबः जहाँ में यह मशहूर है॥
सैलाब से आँखों के रहते हैं ख़राबे में,
टुकड़े जो मेरे दिल के बस्ते हैं दो आबे में॥

मीर साहिब ने ख़ुदा जाने सुन कर कहा या यह केवल इन दोनों के ख्यालों की एकता रही हो :—

वे दिन गए कि आँखें दरिया सी बहतियाँ थीं,
सूखा पड़ा है अब तो मुद्दत से यह दो आबा॥

इस पर 'वफ़ा' ने बिगड़ कर ये शेर कहे :—

मीर ने गर तेरा मज़मूं दो-आबे का लिया।
ऐ वफ़ा तू भी दुआ दे जो दुआ देनी हो॥
या ख़ुदा मीर की आंखों को दोआबा कर दे,
और बीनी का यह आलम हो कि तरबीनी हो॥

लेकिन मीर साहिब ने इसी सिलसिले में एक मज़मून और निकाला :—

मैं राहे इश्क़ में तो आगे ही दो दिला था,
पुरपेच पेश आगा क़िस्मत से ये दो-राहा॥

वक़ा ने भी मीर साहिब के संबंध में और विषयों पर शेर कहे हैं :—

मीर साहिब फिर इससे क्या बेहतर,
इसमें होवे जो नाम शायर का॥
ले के दीवाँ पुकारते फिरिए,
हर गली कूचे काम शायरी का॥
तौबः ज़ाहिद की तोबा-तिल्ली है,
चिल्ले बैठे तो शेख़-चिल्ली है॥
पगड़ी अपनी संभालिएगा मीर,
और बस्ती नहीं ये दिल्ली है॥

किसी उस्ताद का एक फ़ारसी का शेर है :—

बगिर्द तुर्वतम हम शब हुजूम बुलबुल बूद,
मगर जिराग़ मज़ारम जराग़ने गुल बूद ।।

मीर साहिब के शेर में भी इस रंग का मज़्मून है मगर खूब बंधा है :—

जाए रोग़न दिया करे है इश्क़,
खूने बुलबुल चिराग़ में गुल के ।।

शेख़ सादी का शेर है :—

दोस्तों मना कुनिन्दम कि चेरा दिल बतू दादम,
बायद अव्वल बतु गुफ़तन कि चुनीं खूब चेराई—शेख़ सादी
चाहने का हमपै ये खुबां जो धरते हैं गुनाह ।
उनसे भी पूछा कोई तुम इतने क्यों प्यारे हो ।। — मीर
दस्त ख़्वाहम ज़द बदामाने सिकंदर रोज़ें हश्र,
शोख़ लैला अम रा रश्क मजनू करद अस्त ।। — नासिर अली
देख आईने को यार हुआ मह्वनाज़ का,
ख़ाना ख़राब हौजिओं आईनासाज़ का ।। — मीर
ज़िंदगी बरगर्दनम उफ़ताद बैदिल चारः नीस्त,
शाद बायद ज़ीस्तन नाशाद बायद ज़ीस्तन ।। — बेदिल
गौशागीरी अपने बस में है न है आवारगी,
क्या करें ऐ मीर साहिब बंदगी बेचारगी ।। — मीर

मुहम्मद अमान निसार मीर साहिब के शेरों पर बराबर शेर कहा करते थे। इनका शेर है :—

हम आगे ही समझे थे वह घर को सिधारेंगे,
जिस वक़्त गजर बजा था माथा मेरा ठनका था ।। — निसार
भवों तईं तुम जिस दिन सज निकले थे एक चिरा,
उस दिन ही तुम्हें देखें माथा मेरा ठनका था ।। — मीर

अक्सर मीर और मिर्ज़ा (सौदा) के शेरों के मज़्मून लड़ गए हैं :—

इस स्तर के शायरों को कौन कह सकता है कि उन्होंने एक दूसरे के मज़्मून की चोरी की। दूसरे वे समकालीन थे। एक शहर के रहने वाले थे। ऐसी बात होती तो उसी वक़्त शोर मच जाता। इन दोनों के शेर में मानों अंखमटकउवल होता था :—

न पढ़ियो यह ग़ज़ल सौदा तू हरगिज़ मीर के आगे,
वह इन तर्ज़ों से क्या वाक़िफ़ वह यह अन्दाज़ क्या समझे ।।

सौदा तु इस ग़ज़ल को ग़ज़ल दर ग़ज़ल ही लिख,
होना है तुझ को मीर से उस्ताद की तरफ़ ।।

मीर साहिब लिखते हैं :—

तरफ़ होना मेरा मुश्किल है मीर इस शेर के फ़न में,
यूं ही सौदा कभी होता है सो जाहिल है क्या जाने ।।

मिर्ज़ा रफ़ी सौदा, ख्वाजा मीर दर्द, मिर्ज़ा, जानेजानां मज़हर, क़ायम यक़ीन इत्यादि शायर इनके समकालीन थे। और मस्हफ़ी, जुरअत और मीर इंशा-अल्लाह ख़ाँ को इनके जीवन के अन्तिम काल में ख्याति मिली।

मीर साहिब के बेटे से लखनऊ में भेंट हुई। आप की बराबरी के शायर तो न थे। लेकिन भाग्यहीनता में उनके सपूत ही थे। यह एक बेलौस, निष्कपट और सदाचारी व्यक्ति थे। नाम तो इनका मीर अस्करी था, किन्तु लोग इन्हें मीर कल्लू ही पुकारते थे। उपनाम इनका 'अर्श' था। स्वयं शायर थे, दीवान भी लिखी थी और इनके कुछ शागिर्द भी थे। किसी मुशायरे में पढ़ी गई उनकी ग़ज़ल लखनऊ में हर व्यक्ति के ज़बान पर है :—

आसिया कहती हरसुबह ब-आवाज़ बुलन्द।
रिज़्क में मरता है रज़्ज़ाक दहन पत्थर के ।।

मीर साहिब की ग़ज़लें

बुर्क़: को उठा चेहरे से वह बुत अगर आवे,
अल्लाह की कुदरत का तमाशा नज़र आवे ।।
ऐ नाक़ए लैला दो क़दम राह ग़लत कर,
मजनूने ज़खुद रफ़त कभू राह पर आवे ।।
टुक बाद मरे मेरे तरफ़दारों कने तू,
कोई भेजियो ज़ालिम की तसल्ली तो कर आवे ।।
क्या ज़र्फ़ है गरद्दने तुनक-हासल को जो,
आशोब फ़ुगां के मेरे उहदे से बर आवे ।।
मुम्किन नहीं आराम दे बेताबी जिगर की।
जब तक न पलक पर कोई टकरा नज़र आवे ।।
मत मुस्तहिने-बाग़ हो ऐ ग़ैरते-गुलज़ार।
गुल क्या जिसे आगे से बास कर आवे ।।

खिलने में तेरे मुंह की कली फाड़े गरेबां ।
हिलने में तेरे होंठों के गुलबर्ग तर आवे ।।
हम आप से जाते रहे हैं ज़ौक़ै ख़बरश में ।
ऐ जाने बलब आमदः रह ता ख़बर आवे ।।
कहते हैं तेरे कूचा से मीर आने कहे है ।
जब जानये वह ख़बनः ख़राब अपने घर आवे ।।
है जी में ग़ज़ल दर ग़ज़ल ऐ तब्अ ये कहिये ।
शायद कि नज़ीरी के भी उहदे से बर आवे ।।
जब नाम तेरा लीजिये तब चश्म भर आवे ।
इस ज़िन्दगी करने को कहां से ज़िगर आवे ।।
तलवार का भी मारा ख़ुदा रखे हैं ज़ालिम ।
यह तो हो कोई गोरे-ग़रीबां में दर आवे ।।
मैख़ाना वह मंज़र है कि हर सुबह जहाँ शेख़ ।
दीवार पै ख़ुर्शीद का मस्ती से सर आवे ।।
क्या जाने वह मुर्ग़ाने गिरफ़तारे चमन को ।
जिन तक कि बसद नाज़ नसीमे सह आवे ।।
तू सुबह क़दमरंजः करे टुक तो है वर्ना ।
किस वास्ते आशिक़ की शबे-ग़म बसर आवे ।।
हर सू तेरे तसलीम रखे सैदे हरम हैं ।
वह सैदे फ़गन तेग़ बकफ़ ता किधर आवे ।।
दीवारों से सर मारते फिरने का गया वक़्त ।
अब तो ही मगर आप कभू दर से दर आवे ।।
वाएज़ नहीं कैफ़ियते मैख़ाना से आगाह ।
यक जुरआ बदित वर्ना ये मिन्दील घर आवे ।।
सन्नाअ हैं सब ख्वार अज़ अंजुम्ला हूँ मैं भी ।
है ऐब बड़ा इसमें ज़िसे कुछ हुनर आवे ।।
ऐ वह कि तू बैठा है सरे राह पै ज़िन्हार ।
कहियो जो कभू मीर बलाकश इधर आवे ।।
मत दश्ते मुहब्बत में क़दम रख कि ख़िज्र को ।
हर गाम पे इस राह में सफ़र से हज़ आवे ।।

कौफ़त से जान लब पै आई है,
हमने क्या चोट दिल पै खाई है ।।

लिखते रूक़आ लिखे गये दफ़तर,
शोख़ ने बात क्या वढ़ाई है ।।

आरज़ू उस वलन्द वाला की,
क्या वला मेरे सर पै लाई है ।।

दीदनी है शिकस्तगी दिल की,
क्या इमारत ग़मों ने ढाई है ।।

है सन्नो कि लाल हैं वह लव,
याने यक वात सी वनाई है ।।

दिल से नज़दीक और इतना दूर,
किसे इसको कुछ आशनाई है ।।

बे सतूं क्या है कोहकन कैसा,
इश्क़ की ज़ोर आज़माई है ।।

जिस मरज़ में कि जान जाती है,
दिलवरों ही की जह जुदाई है ।।

यां हुये ख़ाक से वरावर हम,
वां वही नाज़ खुदनुमाई है ।।
ऐसा मोती है जिन्दए जावेद,
रफ़तए-यार था जव आई है ।।
मर्गे-मजनूं से अक़्ल गुम है मीर,
क्या देवाने ने मौत पाई है ।।

× × ×

क़ाबे जां बलब थे हम दूरिय बुतां से ।
आए हैं फिर यारों अबके ख़ुदा के यां से ।।

तसवीर के से ताहर ख़ामोश रहते हैं हम ।
जी कुछ उचट गया है अब नालओ फ़ुगाँ से ।।

जब कौंदती है बिजली तब जानिबे गुलिस्तां ।
रखती है छेड़ मेरी ख़ाशाक आशियाँ से ।।

क्या ख़ूबी उसके मुँह की ऐ गुन्चे नक़्ल करिए ।
तू तो न बोल ज़ालिम बू आती है दहाँ से ।।

आँखों ही में रहे हो दिल से नही गए हो ।
हैरान हूँ ये शोख़ी आई तुम्हें कहाँ से ।।

सब्ज़ाने बाग़ सारे देखे हूए हैं अपने ।
दिलचस्प काहे को हैं इस बेवफ़ा जवां से ।।

की शस्तोशो वदन की जिस दिन वहुत सी उन्ने ।
धोए हैं हाथ मैंने उस दिन से अपनी जां से ।।

ख़ामोशी ही में हमने देखी है मसलहत अब ।
हर एक से हाल दिल का मुद्दत कहा ज़बां से ।

इतनी भी बदमिज़ाज़ी हर लह्‌जा मीर तुम को ।
उलझाओ है ज़मी से झगड़ा है आसमाँ से ।।

× × ×

ऐ नुकीले ये थी कहाँ की अदा ।
खुब गई जी में तेरी बाँकी अदा ।।

जादू करते हैं इस निगाह के बीच ।
हाय रे चश्म दिलबरां की अदा ।।

बात कहने में गालियाँ दे है ।
सुनते हो मेरे बद-जुबां की अदा ।।

दिल चले जाए हैं ख़िज़ाम के साथ ।
देखी चलने में इन बुतां की अदा ।।

ख़ाक में मिल के मीर हम समझे ।
बे-अदाई थी आसमां की अदा ।।

+ × ×

सुख़न मुश्ताक़ है आलम हमारा ।
वहुत आलम करेगा ग़म हमारा ।।

पढ़ेंगे शेर रो रो लोग बैठे ।
रहेगा देर तक मातम हमारा ।।

नहीं है मरजये आदम अगर ख़ाक।
किधर जाता है क़द्दे ख़म हमारा ॥

ज़मीनों आसमां ज़ेरो ज़बर हैं।
नहीं कम हश्र से उद्धम हमारा ॥

कसू के बाल बरहम देखते मीर।
हुआ है काम दिल बरहम हमारा ॥

× × ×

जान अपना जो हमने मारा था।
कुछ हमारा उसी में वारा था ॥

कौन लेता था नाम मजनू का।
जब्कि अहदे-जुनूँ हमारा था ॥

कोहो फ़रहाद से कहीं आगे।
सर मेरा और संगे ख़ारा था ॥

हम तो थे मह्‌व दोस्ती उसके।
गो कि दुश्मन जहां हमारा था ॥

लुत्फ़ से पूछता था हर कोई।
जब तलक लुत्फ़ हमारा था ॥

आस्यां की कसू के ख़ाक हुआ।
आस्मां का भी क्या सितारा था ॥

पावों छाती पै मेरे रख चलना।
याँ कभू इसका यूँ गुज़ारा था ॥

मोसमे गुल में हम न छुटे हैफ़।
गश्त था दीद था नज़ारा था ॥

इसके अबरू जो टुक झुके इधर,
क़त्ल का तेग़ से इशारा था ॥

इश्क़बाज़ी पें क्या मुए हैं मीर,
आगे ही जी उन्होंने हारा था ॥

× × ×

आया है अब्र जब का क़िबला से तीरा तीरा,
मस्ती के ज़ौक में हैं आखें बहुत सी खीरा ॥

ख़ुजलत से उन लबों की पानी हो बह चले हैं,
क़ंदो नबात का भी कितना है ख़ूब शीरा ।।

मजनूँ ने हौसले से दीवानग़ी नहीं की,
जागः से अपनी जाना अपना नहीं वतीरा ।।

उस राहज़न से मिल कर दिल क्योंकि खो न बैठे,
अंदाज़ो-नाज़ उचक्के ग़म्ज़: उठाईगीरा ।।

क्या कम है होलना की सहराए आशिक़ी का,
शेरों को इस जगह हर होता है कुश-अरीरः ।।

आईना को भी देखो पर टुक इधर भी देखो,
हैरान चश्मे-आशिक़ दमके है जैसे-हीरा ।।

नीअत पर बस बिना है याँ मस्जिद एक पड़ी है,
पीरे मुग़ाँ मुआ सो इसका वना ख़तीरा ।।

हमराह ख़ूँ तलक हो टुक पाँव के हुए से,
ऐसा गुनाह मुझसे वह क्या हुआ कबीरा ।।

ग़ैरत से मीर साहिब सब जज़्ब हो गए थे,
निकला न बूँद लोहू सीना जो उनका चीरा ।।

× × ×

मत सुबहो शाम तु पये ईज़ाये मीर हो,
ऐसा न हो कि काम ही उसका अख़ीर हो ।।

हो कोई बादशा-कोई या वज़ीर हो,
अपनी बला से बैठे रहे जब फ़क़ीर हो ।।

जन्नत की मिन्नत इनके दिमाग़ों से कब उठे,
ख़ाके रह उसकी जिनके कफ़न का अबीर हो ।।

क्या आबोताब से हो बैठें कारे इश्क़,
सूखे जिगर का ख़ूँ तो रवाँ जूये शीर हो ।।

छाती क़फ़स में दाग़ से हो क्यों न रश्के बाग़,
जोशे बहार था कि हम आये असीर हो ।।

याँ वर्ग गुल उड़ाते हैं परकालये जिगर,
जा अन्दलीब तू न मेरी हमसफ़ीर हो ।।

इसके ख़्याल ख़त में किसे याँ दिमाग़े हर्फ़,
करती है बे मज़ा जो क़लम की सरीर हो ।।
जिन्हार अपनी आँख में आता नहीं वह सैद,
फूटा दोसार जिसके जिसके जिगर का न तीर हो ।।
होते हैं मैकदे के जवाँ शेख़ जी बुरे,
फिर दर गुज़र ये करते नहीं गो कि पीर हो ।।
किस तरह आह ख़ाके मुज़ल्लत से मैं उठूँ,
उफ़ तादा-तर जो मुझसे मेरा दस्तगीर हो ।।
हद से ज़ियादः जोरी सितम खुशनुमा नहीं,
ऐसा सलूक कर कि तदारुक पज़ीर हो ।।
दम न ठैरे दिल में न आँखों में एक पल,
इतने से क़द से तुम भी क़यामत शरीर हो ।।
ऐसा ही इसके घर को भी आबाद देखियो,
जिस ख़ानोमाँ ख़राब का यह दिल मशीर हो ।।
तस्कीने दिल के वास्ते हर कम बग़ल के पास,
इंसाफ करये कब तईं मुश्किल हक़ीर हो ।।
हक़ वक़्त ख़ास हक़ में मेरे कुछ हुआ करो,
तुम भी तो मीर साहिब क़िबलः फ़क़ीर हो ।।

+ + +

दिले पुर खूं की इक गुलाबी से ।
उम्र भर हम रहे शराबी से ।।
जी ढहा जाये है सहर से आज ।
रात गुज़रेगी किस ख़राबी से ।।
खिलना कम कम कली ने सीखा है ।
उसकी आँखों की नीम-ख़ाबी से ।।
बुर्क़ा उठते ही चाँद सा निकला ।
दाग़ हूँ उसकी बेहिजाबी से ।।
काम ये इश्क़ में वहुत पर मीर ।
हम ही फ़ारिग़ हुये शिताबी से ।।

× × ×

दिल अजब शहर था ख़यालों का ।
लूटा मारा है हुस्न वालों का ।।
जी को जंजाल दिला को है उलझाओ ।
यार के हल्क़ा-क़ल्क़ा वालों का ।।

मूये दिल्बर से मुश्कब्ब है नसीम ।
हाल खुश उसके ख़स्ता-हालों का ।।
न कहा कुछ न आ फिरा न मिला ।
किया जवाब उन मेरे सवालों का ।।

दम न ले उसकी ज़ुल्फ़ों का मारा ।
मीर काटा जिये न कालों का ।।
है ग़ज़ल मीर ये शफ़ाई की ।
हमने भी तबअ आज़माई की ।।
उसके ईफ़ाये अह्द तक न जीये ।
उम्र ने हमसे बेवफ़ाई की ।।
वस्ल के दिन की आरज़ू ही रही ।
शब न आख़िर हुई जुदाई की ।।
इसी तक़रीब उस गली में रहे ।
मिन्नतें हैं शिकस्ता - पाई की ।।
दिल में उस शोख़ के न की तासीर ।
आह ने आह नारसाई की ।।
कासये चश्म लेके जूँ नरगिस ।
हमने दीदार की गदाई की ।।
ज़ोरो ज़र कुछ न था तो बारे मीर ।
किस भरोसे पे आशनाई की ।।

× × ×

हो गई शहर शहर रुसवाई । ऐ मेरी मौत तू भली आई ।।
यक बयाबां बरंगे सूरते जरस । मुझपे बेकसी वो तंहाई ।।
न खींचे तुझसे एक जा नक्शा । उसकी तस्वीर वह है हरजाई ।।
सर रखूँ उसके पाँव पर लेकिन । दस्त कुदरत ये मैं कहाँ पाई ।।
मीर जब से गया है दिल तब से । मैं तो कुछ हो गया हूँ सौदाई ।।

× × ×

आँखें नहीं हैं चेहरा पे तेरे फ़क़ीर के।
दो ठोकर हैं मीक के दीदार के लिए ।।

× × ×

कल तक तो फ़रीबंदः मुलाक़ात थी अपनी
इमरोज़ यक़ीं शुद की नदारी सरेअहली,
बेचारः ज़-लुत्फ़ तू वदिल दाश्त गुमां हां ।
क्या कहूँ मैं आशिकों माशूक का राज़ोनयाज़,
नाक़ः रा मीरांलैद लेला सूय ख़लवत गाहे नाज़ ।
सारबां दररह हदी मीख़्वांद वा मजनूं मीगरीस्त ।।

× × ×

अगरचे सैकड़ों उस जा पे थे खड़े ज़ानो मर्द
न शुद क़तील वलेकिन कि यक कस अज़ सरे दर्द
सरे व नाशे मने ख़स्तः जां वजंवनद ।।

× × ×

जो ऐ क़ासिद व पूछे मीर भी ईधर को चलता था ।
तो कहियो जब चला था मैं तो उसका दम निकलता था ।।
समा झसोस बेताबी से था कल क़त्ल में मेरे ।
तड़पता था इधर मैं यार उधर हाथ मलता था ।।

× × ×

सिकंदर है न दारा है न क़सरा है न क़ैसर है ।
ये बेतुलमाल मुल्के बेवफ़ा बे वारसा घर है ।।
न दर जानम कवा बाक़ी न अंदर दिल हवस मांद ।
क्या साक़ी कि है वीरानः अज़ बिस्यार कस मांद ।।

× × ×

या इलाही ता क़ियामत बर नयावद आफ़ताब ।

× × ×

साक़िया यां लग रहा है चल चलाओ ।
जब तलक बस चल सके साग़र चले ।।

× × ×

अज़ीज़ो मस्ते सुख़न होवो या कि सोते हो ।
उठो उठो कि बस अब सर पे आफ़ताब आया ।।

× × ×

चौथा दौर

भूमिका

क़हक़हे की आवाज़ सुनाई दी !
देखिए, इस नवायोजित मुशायरे में आमंत्रित शायर आ पहुँचे।
लेकिन ये वे पुराने लोग नहीं, ये तो कुछ और लोग दिखाई दे रहे हैं,
इनका आना ग़ज़ब का आना है।

आप देखेंगे कि, ये लोग ऐसे विनोदप्रिय और ख़ुशमिज़ाज हैं कि इनकी शोख़ी और चुलबुलाहट में गंभीरता लेशमात्र भी न होगी। इतना हँसेंगे और हँसायेंगे कि मुँह थक जायगा। किंतु इनके द्वारा न काव्य-कला में कोई प्रगति होगी न इनमें काव्य-कला-भवनों को और भव्य बनाने की क्षमता होगी। उन्हीं अटारियों पर कूदते फाँदते फिरेंगे। इस घर की सजावट से उस घर को सजाएँगें। और बस उन्हीं सज्जा-साधनों को रंग बदल कर दिखलाएँगे। उन्हीं फूलों को फिर से इत्र में बास देंगे। उनसे कभी हार बनाएँगे कभी गुलदस्ते सजाएँगे। कभी उन्हीं से फूल-गेंदें बनाएँगे और उनसे ऐसी गुलबाज़ी करेंगे कि होली की धींगा-धींगी भी फीकी पड़ जायगी। इन भाग्यवान् कवियों को समय भी अनुकूल मिलेगा। इन्हें ऐसे काव्य-रसिक लोग मिलेंगे कि इनका एक एक फूल पूरे केसर के बाग़ के मोल बिकेगा।

इस में मियाँ रंगीन सब से नए गुलदस्ते बनाकर लाए और उन्हें जलसे में उपस्थित आगंतुकों के सामने पेश किया। यानी रेख़ता में से रेख़्ती निकाली। उस समय की काव्य-प्रवृत्तियों से इतना तो अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि इस देश की आशिक़ाना शायरी कल्पना से वास्तविकता की ओर मुड़ रही थी। और प्रस्तुत काल के शुरू की कविताओं में यथार्थता का पुट दिया जाने लगा था। लेकिन आनेवाले दौर की रचनाएँ तो केवल हास्य और विनोद से ही रंजित पाई जाती हैं। इसलिये इन्हें सिवाय मसख़रापन और ठठोलेबाज़ी के कुछ नहीं कह सकते। बल्कि रंगीन और सैयद इंशा के दीवानों को लखनऊ के क़ैसर-बाग़ और वहीं के कारोबार और चहल-पहल की केवल उपज कहें तो इसमें कोई अनौचित्य या मिथ्यापवाद न होगा। यद्यपि इस शैली के मूल अविष्कारक मियाँ रंगीन ही थे किंतु सैयद इंशा ने इसमें इनसे कुछ अधिक सुधार-पाया दिखाया।

इन कुशल साहित्यकारों के समय में पूर्वजों की सैकड़ों बातें तिरस्कृत कर दी गईं. फिर भी जो बच गईं, उनका अनुमान नीचे दी गई कविताओं से लगाया जा सकता है। इन सभों में शेख़ मसहफ़ी के कुछ शब्द प्रयोगों से मालूम होता है कि इन्हें

अपने पूर्वजों की साहित्यिक देन से विशेष अनुराग था। सैयद इंशा और जुरअत ने इनमें से बहुत कुछ छोड़ दिया। मगर नित, ढक, अँखड़ियाँ, ज़ोर (अर्थात बहुत) का का प्रयोग निःसंकोच करते हैं। और बाछड़े, भल्लोर, झमकड़ा, अर्जी के प्रयोग तो सैयद इंशा की शैली की विशेषता थी। हाँ, इन्होंने अपने कहने का अंदाज़ ऐसा रखा है कि जो चाहते हैं कह जाते हैं। यहीं नी मालूम होता कि यह इनके साधारण बोलचाल की भाषा है या यह केवल मस्ख़रापन के लिये कहते हैं। अस्तु उन कवियों की कुछ रचनाओं का उल्लेख किया जा रहा है, जिनसे यह पता चलेगा कि उस समय तक इनके पूर्व काल के कौन कौन से मुहावरे प्रयोग में थे, जो अब परित्यक्त हो गए हैं और कौन शब्द ऐसे थे, जिनके प्रयोग की परंपरा उनके बाद आरंभ हुई।

शेख़ मस्हफ़ी कहते हैं :--

ओ दामन उठा के जाने वाले।
टुक हम को भी ख़ाक से उठा ले॥

+ \+ \+

तुर्बत पे मेरी पाए हिनाई न रख मियाँ।
कर रहम अब तो कब्र में आतिशफ़िशाँ न हो॥

शबे हिज्र सहराए जुल्मात निकली।
मैं जब आँख खोली बहुत रात निकली॥
तु ऐ मस्हफ़ी अब तो गमै सुख़न हो।
शब आई दराज़ और बहुत रात निकली॥

× × ×

दिल मेरे सोग में मत कर तू बिरादर मैला।
याँ समझ जाते हैं होता है जो तेवर मैला॥

+ \+ \+

है लुत्फ़े सैर शबे माह उन हसीनों में।
जिन्हों के रहती है अफ़शाँ चुनी ज़बीनों में॥

+ \+ \+

इन्हों को साहिबे ख़िरमन सभी समझते हैं।
जो मस्हफ़ी के हैं कहलाते ख़ोशः - चीनों में॥
बाग़वां हैं मुझे क्या काम तेरे गुलशन से।
हिरते - फ़िरते कभी इधर भी मैं आ जाता हूँ॥

हूँ तो गठरी पवन की मिस्ल हुबाब ।
लेकिन आबोहवा के हाथ में हूँ ।।
तुम जो पूछो हो सदा हाल रक़ीबाँ हम से ।
ये हँसी खूब नहीं ऐ गुले ख़ंदा हम से ।।
हैराँ सी जो निगाहें रह जातियाँ हैं तेरी ।
क्या आखें आरसी से शरमातियाँ हैं तेरी ।।

+ × ×

शोहरत बज़ेरे आस्माँ रखती थी हातिम की सख़ा ।
उसका नहीं मिलता निशां क्या जाने वह किधर गई ।।
तन के नशेमन से सफ़र दुश्वार उसे आया नज़र ।
सौ वार जाने मुज़्तरिब ईधर गई उधर गई ।।
नासूर दाग़े सीनः को माउल्हयात अपना समझा ।
तन ख़ाक का फिर ढेर है कजला जो यह अख़र गई ।।
गोया ज़मीने करबला थी क़त्लगाहे आशिक़ां ।
जो बदली आई उस तरफ याराँ बचश्मे तर गई ।।

× × ×

मसह्‌फ़ी नज़्मे ग़ज़ल में है यह किसका मक़दूर ।
जो जो तर्ज़ें कि हम ईजाद किया करते हैं ।।

+ + +

नर्गिस ने गुल की दीद को आँखें जो खोलियाँ ।
कुछ जी में जो समझ गई कलियाँ न बोलियाँ ,।
दह्‌शत ने हीलः जो ही रखा नित मसीह को ।
आख़िर न पट्टियाँ मेरे ज़ख़्मों की खोलियाँ ।।

+ + +

मैं ही जानूँ हूँ जो कुछ मुझ से अदाएँ की हैं ।
तेरी आँखों ने जफ़ाएँ सी जफ़ाएँ की हैं ।।

+ + +

क्या रूठ गया मुझसे मेरा यार इलाही ।
क्यों आँख मिलाता वह नहीं कुछ तो सबब है ।।

+ + +

न तेरे हुस्न के दिन और न बहारें वो रहीं।
न वो जाली न वो महरम न अज़ारें वो रहीं ॥

मुँह न खोले कभी घर आके मेरे हूरियों ने।
जब तलक बैठी रहीं रंट ही मारे वह रहीं ॥

तेरे बिन हमने न देखा कभी परियों की तरफ़।
गो ख़त-ओ-ख़ाल को नित अपने सँवारे वो रहीं ॥

दमशुमारी है अब अंजामे रयाकारी शेख़।
न वो तस्बीह के दाने न शुमारें वो रहीं ॥

मिल गए ख़ाक में क्या क्या न दफ़ीनान बुज़ुर्ग।
न वो लोहें न मुहज्जर न मज़ारें वो रहीं ॥
ऐ खुशाहाल उन्हों का कि जो कूचे में चेरे।
ख़ाक पिंडे पै मले बैठे हैं आसन मारे।

+ + +

और सैयद इंशाअल्लाह ख़ाँ कहते हैं--

दश्ते जुनूँ में आए बेला। सोने न पाए ढक पाँव फैला।
अंखड़िया सुर्ख़ हो गई जब से। देख लीजै कमाल बोसः का ॥

+ + +

टुक आँख मिलाते ही किया काम हमारा,
तिसपर यह ग़ज़ब पूछते हो नाम हमारा ॥

+ + +

एक छोड़ा न जिन्दः जाँ तूने,
ठौर रखा सभों को हाँ तूने।
वल्लाह रे यह दिमाग़ समझा है,
आप को शाख़े ज़ाफ़राँ तूने ॥

+ + +

जो हाथ अपने सब्ज़ः का घोड़ा लगा।
तो सुल्फ़े का और उसपै कोड़ा लगा ॥

अजी चश्मबद्दूर नामे खुदा।
तुम्हें क्या भला सुर्ख़ जोड़ा लगा ॥

+ + +

चेहरा मरीज़े ग़म का तेरे ज़र्द है सो है।
ईसा कने दवा न रही दर्द है सो है॥

+ + +

निकल के वादिए वह्शत से देख ऐ मजनूँ।
कि ज़ौर धूम से आता है नाक़ःए लैला॥

÷ + +

है नामे खुदा वाछड़े कुछ ज़ोर तमाशा - यह आपकी रंगत।
गात ऐसी ग़ज़ब क़ह्र फबन और झमकड़ा -- अल्लाह की क़ुदरत॥

+ + +

और जुरअत कहते हैं :—

नालए मौज़ूँ से मिस्रा आह का चस्पाँ हुआ।
ज़ोर यह मतला मेरा सर दफ़तरे दीवां हुआ॥
जिन्हों के नाम पहुँचते हैं यार तक दिन रात।
उन्हीं का काश कि जुरअत भी नामावर होता॥

+ + +

वह एक तो भभूका सा तिस पै ए जुरअत।
अकड़ तकड़ है क़यामत बाँकपन की सी॥

+ + +

देखना टुक याद हैं हम को भी क्या अइयारियाँ।
तेरी ख़ातिर करते हैं ग़ैरों की ख़ातिरदारियाँ॥

+ + +

वह गया जूँ शंअतन सारा अगर अच्छा हुआ।
नित के रोने से कुटी ऐ चश्मतर अच्छा हुआ॥

+ + +

सभी इनाम नित पाते हैं ऐ शीरीं-दहन तुझसे।
कभी तो एक बोसे से हमारा मुँह भी मीठा कर॥

+ + +

ख़बर उसको नहीं करता कोई। कि मियाँ, मुफ़्त है मरता कोई॥

+ + +

किसी गुल के लिए तुम आप गुल हो गुल न खाओ जी।
अमल नन्हा कलेजा है न दाग़ इसको लगाओ जी।।

+ + +

आतिशे इश्क़ को सीने में अवस भड़काया।
अब कहो खींचूँ हूँ मैं आहे शरर बार कि तू।।

+ + +

कल वाक़िफ़े-कार अपने से कहता था वह यह बात।
ज़ुरअत के जो घर रात को मेहमान गए हम।।

+ + +

तुम और किसी शहर चले हो तो बस अपने।
आलम ही वह नज़रों में नहीं सारे नगर का।।

+ + +

या हम ही नहीं हैं या नहीं ग़ैर, उपर को जो तू नज़र करेगा।

+ + ÷

हर दम जो अपने सामने बह गुलअज़ार है,
जिधर को आंख उठाते हैं बाग़े वहार है।

+ + ×

खींचकर आह जो मैं हाथ जिगर पर रखा,
दामन उसने भी उठा दीदए तर पर रखा।

+ + +

थी मेरी शक्ल कल उस बिन यह गुलिस्तां के बीच,
जैसे बैठे ख़फ़क़कनी कोई जिंदां के बीच।।

+ + +

ले चले ग़ैर को घर अपने बुला सैन से तुम,
अंखड़ियों से कभी यूं हम को इशारा न हुआ।

÷ + +

जिस पै नित तेग़ खिचे और सदा ज़ोर रहे,
तू ही इन्साफ़ कर अब क्योंकि न वह ठौर रहे।।

+ + +

ज़ुर्अत यह ग़ज़ल सुन के बतग़ैयुर क़वाफ़ी,
तकलीफ़ सुख़न-गोई की दी फेर किसी ने।

+ + +

इस ग़ज़ल में एक ग़ज़ल तू और ज़ुर्अत पढ़ सुना,
ज़ोर ही लज़्ज़त हमें तो दी तेरे अश्आर ने।

+ + +

यार का आस्तान पाया है,
ज़ोरे-दिल ने मकान पाया है।

+ + +

शेख़ बुलंदर बख़्श जुर्अत

जुर्अत इनका उपनाम होता था। लोग इन्हें शेख़ क़लंदर बख़्श के नाम से जानते थे। इनका असली नाम यहिआ अमान था। अकबराबाद के निवासी थे। मगर इनके पिता हाफ़िज़ अमान ख़ास दिल्ली के रहनेवाले थे। इनके बारे में जहाँ कहीं चर्चा हुई है, लिखा हुआ है कि इनकी वंशपरंपरा राय अमान मोहम्मद शाही से मिलती है। और अमान की उपाधि से अकबर के समय में इनके वंशज विभूषित किए गए थे। हकीम कुदरतुल्ला ख़ा क़ासिम ने लिखा है कि इनके पूर्वज शाही दरबार में दरबानी करते थे।

बड़े बूढ़ों ने ठीक ही कहा है कि यदि किसी के पूर्वजों की योग्यता और हैसियत का पता लगाना हो तो उसके नाम को देख लो। जैसी योग्यता होगी वैसा ही नाम रखेंगे। वास्तव में राय अमान मुहम्मद शाह के शासनकाल में दरबानी का काम करते थे। उस समय के तो दरबान भी आजकल के बड़े बड़े पदाधिकारियों से अधिक संमानित समझे जाते थे। किंतु उनकी नामवरी का एक विशेष कारण यह हुआ कि जिस समय नादिर शाह ने दिल्ली में क़त्लेआम का आदेश दिया तो कुछ लोगों ने अपनी इज़्ज़त और मर्यादा को बचाने के लिये अपनी जान गँवाने की चिंता न की और अपने घर और घरवालों की रक्षा के लिये डटे रहे और नादिरी सिपाही जब वहाँ पहुँचे तो तलवार का जवाब तलवार से दिया। इसमें दोनों ओर के लोग हताहत हुए। जब शांति स्थापित हुई और नादिर शाह के आहत सैनिकों और उनके हत्यारों के बारे में जांच की गई तो उनमें राय अमान भी पकड़े गए और उन्हें उन्हीं के शालपटकों से गला घोंटकर मार डाला गया।

जुर्अत मियां जाफ़र अली हसरत के शागिर्द थे। काव्य-कला के अतिरिक्त ये ज्योतिष के अच्छे विद्वान् थे और संगीत में भी रुचि रखते थे। सितार के अच्छे वादक

थे। पहले इन्होंने बरेली के नवाब हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ के बेटे नवाब मुहव्बत ख़ां के दरबार में नौकरी की। मीर इंशाअल्लाह ख़ां और इनकी गोष्ठी ख़ूब जमती थी। इस प्रसंग में एक शेर कहा था :—

वस कि गुल्चीं थे सदा इश्क़ के हम-वस्तां के।
हुए नौकर भी तो नवाब मुहव्वत ख़ां के॥

फिर सन् १२१५ हि० में ये लखनऊ पहुँचे और मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह की सरकार में नौकरी ली। एक बार वेतन मिलने में देर हुई। एक ग़ज़ल के मत्‌ल को लिखकर बड़े सुंदर ढंग से अपनी मांग पेश की :—

जुर्अत अव बंद है तनख़्वाह तो कहते हैं ये हम।
कि ख़ुदा देवे न जब तक तो सुलेमां कब दे॥

फ़ारसी की कहावत है, ता ख़ुदा न देहद सुलेमान के देहद (*जब तक ख़ुदा न दे तब तक सुलेमान कैसे दे)।

मियां जुर्अत के जीवन में जो एक अत्यंत दुःखद घटना हुई वह यह थी कि युवावस्था में ही इनकी आंखें जाती रहीं। कुछ लोग तो कहते हैं कि यह दुर्घटना चेचक के कारण हुई। किंतु मेरे स्वर्गीय उस्ताद ने एक दिन कहा कि भई, ज़माने की दो आंखें हैं। नेकी की आंख ने उनके काव्यकौशल को एक कुशल ग्राहक की नज़र से देखा। बदी की आंख यह न देख सकी और उसे उनके चरित्रपट पर जो एक अशोभन धब्बा लग गया था केवल वही दिखाई दिया। ऐसा कहते हैं कि पहले वह सचमुच अंधे न थे। जवानी की उम्र की शोख़ी का तक़ाज़ा था कि किसी ख़ास कारणवश इन्होंने अपने अंधे होने का बहाना किया। और फिर धीरे धीरे अंधे ही हो गए।

बुज़ुर्गों ने कहा है कि शराफ़त (सौजन्यता) और गरीबी (निर्धनता) में घनिष्ठ साहचर्य है। अमीरी और सौजन्यता का तोतिन का संबंध है। सौजन्यता संबंधी आचार-व्यवहार धनहीन ही ख़ूब निभाते हैं। कहते हैं अमारत आई, क़यामत आई। दौलत आई शामत आई। मियाँ जुर्अत में विनोदप्रियता, चुटकुले कहने की आदत और

---

*हसरत भी एक ख्याति प्राप्त शायर थे। मगर इनका असली पेशा अत्तारी था। इनका एक दीवान भी है। लेकिन उसके पढ़ने से फीके शरबत का ज़ायका मिलता है।

मिर्ज़ा रफ़ी ने इन्हीं की शान में एक ग़ज़ल कही है, जिसका मत्‌ल: है :—

बिहदाने का आँधी से उड़ा ढेर हवा पर।
हर मुर्ग़ उसे खाके हुआ सेर हवा पर॥

बस इसी तरह हज्व की आंधी में हकीम हसरत की सारी दुकान का ख़ाका उड़ाया है।

हंसोड़पन हद से ज़्यादा थी। और उस समय के अमीरों के लिये इससे जरूरी कोई काम धंधा ही नहीं था। न हि इससे अधिक मनोरंजक कोई कौशल। कहते हैं कि मिर्ज़ा क़तील, सैयद इन्शा और जुर्अत का यह हाल था कि घर में रहने न पाते थे। आज एक अमीर के यहाँ हैं। दूसरे दिन दूसरे अमीर आए, सवार किया और साथ ले गए। जहाँ गए सुख चैन के अतिरिक्त भोगविलास के सभी साधन प्रस्तुत। रात दिन हास्य और विनोद। एक बेगम साहिबा ने अपने घर में जुर्अत के चुटकुलें और नकलें सुनीं। उन्हें ये बहुत रुचे। और अपने नवाब साहिब से कहा कि हम भी इनकी बातें सुनेंगे। इन्हें घर में बुला कर खाना खिलाओ। पर्दा लगा दिया गया। अंदर वह बैठीं, बाहर यह बैठे। कुछ दिनों के बाद घर की ख़ास ख़ास बीबियों से इनका नाम का ही पर्दा रह गया। अन्य घर के लोग भी बिना किसी पर्दे के सामने फिरने लगे। धीरे धीरे परस्पर की आत्मीयता इतनी बढ़ गई कि बेगम साहिबा इनसे आमने सामने बातें करने लगीं। घर में कोई दादा, कोई नाना, कोई मामू, कोई चाचा कहता। शेख़ जुर्अत की आँखें दुखने आई। आँखों की कमज़ोरी का बहाना करके इन्होंने यह जताया कि इनकी आँखें जाती रहीं। इसी बहाने वह चाहते थे कि घर की सुंदरी कामिनियों को देख कर नयन का मज़ा लें। फिर तो वह निःसंकोच बिना किसी रोकटोक के घरों में जाने-आने लगे। जब आँख से देखते ही नहीं थे तो पर्दे की आवश्यता क्या। ऐसा देखा गया है कि मियां बीबी जिस मेहमान का बहुत आदर-सत्कार करते हैं, नौकर-चाकर उससे जलने लगते हैं। एक दिन दोपहर को वह सोकर उठे। शेख़ साहिब ने लौंडी से कहा कि बड़े लोटे में पानी भर ला। लौंडी ने कुछ ध्यान न दिया। इन्होंने फिर पुकारा। उसने कहा कि बीबी उसे पाख़ाने के लिये ले गई हैं। इनके मुंह से निकल गया। हुई है। सामने तो रखा है। देती क्यों नहीं। यह सुन कर वह अवाक् रह गई। बीबी दूसरे दालान में थीं। लौंडी उनके पास दौड़ कर गई और कहा कि बीबी, यह मुआ तो कहता है कि वह अंधा है। यह तो ख़ासा सुझक्खा है। अभी मेरे साथ यह घटना गुज़री। बस उसी समय इनका भाँडा फूट गया। किंतु इसमें संदेह नहीं कि अंत में ये आँखों को खो बैठे।

जुर्अत का औपचारिक विद्योपार्जन यद्यपि अपूर्ण रहा, क्योंकि अरबी भाषा से वे नितांत अनभिज्ञ थे, फिर भी अनौपचारिक रूप से इन्होंने पर्याप्त साहित्यिक योग्यता प्राप्त की थी और साहित्यिक रुचि की अनुकूलता तो ये तूती और बुलबुल की बोली की मिठास की तरह साथ लाए थे। अंतिम काल तक लखनऊ में रहे और वहीं सन् १२२५ हि० में इनकी मृत्यु हुई। शेख नासिख़ ने इनके मृत्युकाल के बारे में कहा हैं :—

जब मिया जुर्अत का बाग़े दहर से,
गुलशने फ़िरदौस को जाना हुआ।।
मिस्रए तारिख़ नासिख़ ने कहा,
हाय, हिंदोस्तान का शायर मुआ।।

इनके शेर लोकप्रिय हैं और लोग हर जगह उन्हें कहते हैं। इनका दीवान खोजने पर कहीं कहीं मिल जाता है। इसमें हर तरह की ग़ज़लें हैं—रूबाइयाँ, कुछ मुख़म्मस, वासोख़्त, कुछ निंदात्मक कविताएं (हज्वः) और तारीख़ें हैं। दीवान में शुष्कता-आर्द्रता बहुत नहीं है। मालूम होता है कि जो ढंग और शैली अपने उस्तादों से प्राप्त किया, उन्हीं का सुघरता से प्रयोग किया। फिर उन्हें निरंतर अभ्यास से साफ़ और चोखा बनाया, जिससे कि उनमें जितनी असमताएं थीं, समतल हो गईं। और इस तरह इन्होंने स्वयं एक शैलीकार के रूप में ख्याति पाई। इनकी काव्य-मर्मज्ञताका एक विशेष प्रमाण यह भी है कि इन्होंने क़सीदा वग़ैरह की रचनाशैली को बिल्कुल नहीं अपनाया। बल्कि यूँ कहे हैं कि फ़ारसी काव्यशैली का तो इन्होंने एक दम तिरस्कार ही किया। अपनी रुचि के अनुकूल होने के कारण ग़ज़ल की शैली के आधार पर ही अपनी कविताएँ रचीं। धनी-मानी और विनोदप्रिय व्यक्तियों की संगत ने इनकी भाषा और शैली को और भी गुन किया। यों तो इन्होंने एक दम मीर की शैली का ही अनुकरण करने का प्रयास किया मगर मीर की प्रांजल और सुबोध भाषा को इन्होंने एक ख़ास शोख़ी और बाँकपन मे रंगा जिसमे इनकी ग़ज़लों को लोकप्रियता और चिरस्थायी ख्याति मिली। आम लोगों में इनकी ग़ज़लों की धूम सी मच गई और शिक्षित समुदाय भी हैरान रह गए। इनकी शैली उनकी अपने ही ज़ेहन की उपज थी और आज तक इन्हीं की विशिष्टता समझी जाती है। यह जैसी उस समय लोकप्रिय थी, आजतक वैसी ही बनी हुई है। इसका विशेष गुण इसकी सुगमता और उपयुक्त मुहावरों का प्रयोग है। इनकी रचनाओं के विषयवस्तु केवल हुस्न और इश्क़ हैं। और आशिक़ और माशूक की प्रेम-भावनाएँ तो उनमें मादकता सी उँडेल देती हैं। इनकी काव्यरुचि ग़ज़ल के लिये विशेष रूप से अनुकूल थी, क्योंकि ये स्वयं विनोदप्रिय और खुशमिज़ाज थे और तबियत में भी आशिक़-मिजाज़ी भरी थी। यह सच है कि अध्ययन और चिंतन का अभ्यास अच्छी शायरी के आवश्यक आधार हैं, किंतु इनके स्वभाव में श्रमशीलता की जगह विनोदप्रियता अधिक थी। फिर भी उस समय की उदार प्रवृत्ति ने शक़रखोरे के मुँह में शकर दिया। इन्होंने अपना सारा जीवन ऐसे धनी-मानी व्यक्तियों की गुणग्राहकता और आदर-प्रतिष्ठा के सहारे गुज़ारा, जिनके लिये रातदिन शैर-शायरी के अतिरिक्त और कोई चर्चा ही न थी। अगर उनकी तबियत में इतनी विनोदप्रियता न होती और वे अध्ययन द्वारा अपनी रुचि को और पुष्ट और कल्पना को और अधिक सशक्त बनाने का प्रयास करते तो इतना तो अवश्व होता कि ये अपनी रचनाओं के विषयवस्तु और पदविन्यास में और विविधता ला सकते। लेकिन फिर उनमें यह रोचकता और चुलबुलापन कहाँ रहती। बुलबुल में वह स्वाभाविक उन्माद और उद्वेग न होता तो इतना चहकता कैसे। अगर फूलों की रंगीनी न थी तो तर्रारी तो ज़रूर थी, मगर मन की झुकान इन्हें किसी और तरफ खींच ले गई। यही कारण है कि इनकी रचनाओं में कल्पना की ऊँची उड़ान, शब्दों में गांभीर्य, और अर्थ में बारीकी का अभाव है। और इसी अभाव ने इन्हें क़सीदा जैसी रचनाओं के लिये अक्षम रखा और इसीलिये ये ग़ज़ल तक ही बने रहे। फिर भी

बहुत गहरे जा कर इनकी जैसी काल्पनिक अनुभूति होती थी, वैसी कह देते थे। मगर ऐसी कहते थे कि उनकी रचनाओं को पढ़कर अब तक दिल फड़क उठते हैं। ये मुशायरों में ग़ज़ल पढ़ते थे तो जलसे के जलसे लोट पोट हो जाते थे। सैयद इंशा जो इन्हीं की तरह गुणी और प्रतिष्ठासंपन्न थे अपनी रचनाओं में रंग बिरंग के रूप बदल कर मुशायरे में धूम मचाते थे। लेकिन ये केवल अपनी सीधी सादी ग़ज़लों से ही वही बात हासिल कर लेते थे।

उन दिनों मिर्ज़ा मोहम्मद तक़ी ख़ाँ तक़ी के मकान पर मुशायरा होता था और सब प्रतिष्ठान धनी मानी लोग और लब्धप्रतिष्ठ शायर वहाँ एकत्रित होते थे। मीर तक़ी मीर भी आते थे। एक बार जुरुअत ने एक ग़ज़ल पढ़ी। और ग़ज़ल भी ऐसी उतरी वाह वाही के शोर में पूरे शेर तक न सुनाई दिए। मियां जुरुअत ने या तो इस शाबाशी के उन्माद में, जो ऐसे वातावरण में किसी व्यक्ति को गर्व से भर देती है, या अपने चुलबुले स्वभाव के कारण मीर साहिब को छेड़ने के विचार से अपने एक शागिर्द का हाथ पकड़ कर उनके पास आकर बैठ गए और कहा कि हज़रत अगरचे आपके सामने ग़ज़ल पढ़नी बेअदबी और गुस्ताख़ी है, लेकिन इस ग़रीब ने (यानी हमने) जो अपनी मामूली ग़ज़ल पढ़ी वह आपने सुनी। मीर साहिब त्यौरी चढ़ा कर चुपके हो रहे। जुर्अत ने फिर कहा, मीर साहिब कुछ हूँ? हाँ, करके पिर टाल गए। जब इन्होंने अपने सवाल को फिर दुहराया तो मीर साहिब ने जिन लफ़्ज़ों में उन्हें फटकारा, वे सुनने के लायक हैं:—‘क़ैफियत तो यह है कि मियाँ तुम शेर तो कह नहीं सकते हो। बस अपनी चूमाचाटी कह लिया करो।’ मीर साहिब शायरों में एक संमानित बुज़ुर्ग समझे जाते थे। चाहे वो कैसे ही शब्दों में दूसरों के बारे में अपनी राय व्यक्त करें। लेकिन वे थे पक्के जौहरी और उन्होंने जवाहिर को खूब परखा। इसमें कोई संदेह नहीं कि आशिक़ और माशूक़ के प्रेम की बातों और हुस्न और इश्क़ के मामलों को जिस शोख़ी और चोचले से जुर्अत ने अदा की है, वह इन्हीं का हिस्सा था। आज तक किसी दूसरे को वह कौशल प्राप्त न हुआ। इन्होंने मीर और विदी की ग़ज़लों की मिलान में भी प्रायः ग़ज़लें लिखी हैं। मगर यह अपनी शोख़ी से उनमें जो रस घोल देते हैं, उन्हें और रसिक बना देते हैं:—

बुर्क़ा को उठा चेहरे से वह बुत अगर आए।
अल्लाह की क़ुदरत का तमाशा नज़र आए॥ ——मीर
इस दिल की तुफ़े आह से कब शोला वर आए।
विजली को दमें सर्द से जिसके हज़र आए॥ ——सौदा
हर्गिज़ न मुरादे दिले माशूक़ वर आए।
यारव न शबेवस्ल के पीछे सहर आए॥ —जुर्अत

× × ×

नाक़िस का सफ़ाकेश से मतलब न बर आए ।
जो कोर हो ऐनक से उसे क्या नज़र आए ।। – ज़ौक़
फ़िरदौस में ज़िक्र उस लबे शीरीं का गर आए ।
पानी दहने चश्मए कौसर में भर आए ।। – ज़ौक़
अब करके फ़रामोश तो नाशाद करोगे ।
पर हम जो न होंगे तो बहुत याद करोगे ।। – मीर
जिस रोज़ किसी और पै बेदाद करोगे ।
यह याद रहे हमको बहुत याद करोगे ।। – सौदा
है किसका जिगर जिस पै ये बदाद करोगे ।
लो हम तुम्हें दिल देते हैं क्या याद करोगे ।। – जुर्अत

× × ×

मुद्दई मुझको खड़े साफ़ बुरा कहते हैं ।
चुपके तुम सुनते हो बैठे इसे क्या कहते हैं ।। – मीर
तुने सौदा के तईं क़त्ल किया कहते हैं ।
यह अगर सच है तो ज़ालिम इसे क्या कहते हैं – सौदा
आईना रूख़ को तेरे अह्ले सफ़ा कहते हैं ।
इस पे दिल अटके है मेरा इसे क्या कहते हैं ।। – जुर्अत

× × ×

सौदा का एक मत्ला मशहूर है। मेरे स्वर्गीय उस्ताद उसपर जुर्अत का मत्ला पढ़ा करते थे। एक मिस्रा याद है दूसरा भूल गया हूँ। सारा दीवान छान डाला कहीं नहीं मिलता। शेरों की लुका-छिप्पी का यही हाल है। ऐसे कितने शेर हैं जिन्हें ऐसे विश्वस्त व्यक्तियों से सुन चुका हूँ, जो कि स्वयं उन मुशायरों में संमिलित होते थे। लेकिन अब दीवानों में उन शेरों को खोजिए तो नहीं मिलते। मेरे स्वर्गीय उस्ताद के सैकड़ों शेर ऐसे हैं, जिनकी स्मृति इस अधियन लेखक को अभी तक बनी हुई है। उनमें से कुछ तो दो एक लोगों की ज़बानी भी सुनी है।

सौदा का मत्ला है :—

कह देख तू रुस्तम से सर तेग़ तले धर दे ।
प्यारे यह हमीं से होकर कारे व हर मर्दे ।।

जुर्अत का पहला मिस्रा याद नहीं। दूसरा यह है :—

हर शहरे वा हर रस्मे, हर कारे वा हर मर्दे ।।

× × ×

हमारे आगे तेरा जब किसी ने नाम लिया ।
दिले सितनज़ज: को हमने थाम थाम लिया ।। – मीर

चमन में सुबह जो उस जंगजू का नाम लिया ।
सबा ने तेग़ का मौजे रवाँ से काम लिया ।। – सौदा
पास जा बैठा जो मैं कल एक तेरे हमनाम के ।
रह गया बस नाम सुनते ही कलेजा थाम के ।। – जुर्अत
चमन में गुल ने जो कल दावए जमाल किया ।
जमाले यार ने मुंह उसका ख़ूब लाल किया ।। – मीर
बराबरी का तेरी गुल ने जब ख़्याल किया ।
सबा ने मार थपेड़ा मुंह उसका लाल किया ।। – सौदा
जो तेग़े यार ने ख़ूंरेज़ी का ख़्याल किया ।
तो आशिक़ों ने भी मुंह उसका खूब लाल किया ।। – जुर्अत

× × ×

इनकी शायरी की शोहरत अभी दूर तक न फैली थी, उसी समय मिर्ज़ा रफ़ी और मीर सोज़ के जल्से में एक मज़ेदार घटना घटी, जिसका उल्लेख पृष्ठ पर किया गया है। वास्तव में शायर अपनी शायरी मां के पेट से लेकर निकलता है। इनकी कविताओं में कुछ ऐसे बिंदु हैं, जहां पारखियों की दृष्टि अटक जाती है। जैसे :—

हो के आज़ुर्दा जो वह हमसे परे फिरते हैं,
हाथ हम अपने कलेजे पै धरे फिरते हैं ।।

मिस्रा गर्म है किंतु धरे फिरते हैं के स्थान पर धरे धरे फिरते हैं कहते तो मुहावरा पूरा हो जाता ।

कभी वो चाँद का टुकड़ा इधर भी आ निकले,
ज़रा तु देख मुनज्जिम मेरे सितारे दिन ।।
दिखा दे शकल कि दीवारो-दर से सर अपना,
कहाँ तलक कोई तेरे क़रार पर मारे ।।
हजूमे दाग़ ने यह की है तन पै गुलकारी,
कि पहने हूँ तने उरियाँ लेबास फुलकारी ।।

ज़हूरल्लाह ख़ां नवा से किसी कारण इनकी अनबन हो गई थी। इन्होंने उनके विषय में निंदात्मक पद्य रचा। और यह वास्तव में बहुत सुंदर कहा। इस रचना का टेक यह है :—

ज़हूरे हश्र न हो क्यों जो कल्चड़ी गंजी,
हुज़ूर बुल्बुले बुस्ताँ कर नवा सन्जी ।।

ChannelKeGangotri Urdu

इसपर ज़हूर ख़ाँ ने भी बहुत कुछ कहा। मगर वह लोगों तक न पहुँचा। फिर भी जुर्‌अत की अंधी आँख को ओर इशारा करता हुआ उनके एक शेर की टेक याद है, जो कह देना प्रसंगोचित होगा :—

रात को कहने लगा ज़ोरू के मुंह पर हाथ फेर,
कुदरते हक़ से लगी हैं हाथ अंधे के वटेर।।

करैला भाँड का लतीफ़ा :—

करैला[1] नाम का दिल्ली का एक बड़ा मशहूर भाँड़ था। उसे वहाँ से नवाब सुजाउद्दौला अपने साथ लखनऊ ले गए। वह अपने हुनर का बड़ा गुनी था। एक दिन किसी महफ़िल में वह अपने दलवालों के साथ उपस्थित था। शेख़ जुर्‌अत भी वहाँ मौजूद थे। उसने इनकी नक़ल की, एक हाथ में लकड़ी लेकर दुसरा हाथ अंधों की तरह बढ़ाया। टटोल टटोल कर फिरने लगा और कहने लगा हुजूर, शायर भी अंधा, शेर भी अंधा, मज़मून भी अंधा :—

सनम, सुनते हैं तेरे भी कमर है।
कहां है किस तरफ को है किधर है।।

शेख़ साहब बहुत ख़फा हुए। लेकिन यह भी सैयद इंशा और मिर्ज़ा क़तील के दल के विशिष्ट सदस्य थे। घर आकर इन्होंने भी उसके विषय में एक परिहासात्मक कविता लिखी और उसकी खूब धज्जी उड़ाई। उसे सुन कर करैला बहुत कड़वाया। और दूसरे जल्से में फिर अंधे की नक़ल की और उसी तरह लाठी ले कर फिरने लगा। इनकी एक ग़जल है :—

इम्‌शब तेरी ज़ुल्फ़ों कि हिकायात है वल्लाह।
क्या रात है, क्या रात है, क्या रात वल्लाह।।

हर रात के उच्चारण पर लकड़ी का सहारा बदलता था—क्या रात हैं, क्या रात है, क्या रात है वल्लाह। इस ग़ज़ल के हर शेर की दूसरी पंक्ति एक ही

---

[1] मोहम्द शाही राज्यकाल जो कि एक उधेड़बुन का जमाना था लोगों की आर्थिक संपन्नता के लिहाज से एक अपूर्व समृद्धि का जमाना था। दरबार से जो अमीर किसी ओर जाता। वह अपनी आवश्यकता के सामान और निजी कारबार संबंधी आदमी दिल्ली से अपने साथ ले जाता था ताकि उसका हर काम हर रस्म और हर बात और सभी कारबार उसी ढंग से बने रहें, जिसका वह राजधानी दिल्ली में आदी था। नवाब सिराजुद्दौला मुर्शिदाबाद के सुबेदार हो कर गए तो अपने मंसबदारों और नौकर चाकरों के अतिरिक्त कई भाँड़, दो तीन गवैये, दो तीन रंडियाँ, एक दो भगतिए, दो तीन नानबाई, एक दो कुंजड़े और भड़भूजे तक भी साथ ले गए और यह ऐसा समय था कि दिल्ली का भड़भूजा भी दस बारह रूपये महीने के बिना दिल्ली से न निकलता था।

ढंग पर है। भांड सारी ग़ज़ल को इसी तरह महफ़िल में पढ़ता फिरा। शेख़ साहिब और भी चिढ़े और घर जा कर एक मज़ाक़िया कविता लिखी, उसका टेक यह था :—

अगला भूलै बगला भूलै सावन मास करैला फूलै।

उसको भी ख़बर हुई। बहुत जला भुना। फिर किसी महफ़िल में एक जच्चे का सवांग भरा और ऐसा दिखलाया कि इसके पेट में भुतना घुस गया है। स्वयं मुल्ला बन कर बैठा और जिस तरह भूत और झाड़-फूंक वालों में लड़ाई होती है उसी तरह झाड़ते झाड़ते बोला कि अरे अभागे, क्यों बेचारी माँ के जान को लगा हुआ है, जुर्अत हो तो बाहर निकल आ कि अभी जला कर राख कर दूँ। अंत में, इस नक़ल से चिढ़ कर, जुर्अत ने करैले भाँड़ की अबकी बार एक कविता लिखकर ऐसी ख़बर ली कि वह इनके पास दौड़ा आया। और अपने अपराध के लिये क्षमा माँगी और कहा कि अगर मैं नक़ल में आसमान के तारे तोड़ लाऊँ तो भी उसकी चर्चा महफ़िल के दायरे के भीतर ही रह जाती है। लेकिन आपकी शायरी की चर्चा तो आपके लिखते ही चारो ओर फैल कर लोगों की याद में पत्थर की लकीर बन जाती है। बस, गुस्ताख़ी के लिये अब हमें मुआफ़ कीजिए।

मैंने करैला भाँड़ का यह लतीफ़ा बड़े बूढ़ों से सुना था। मगर इनकी कविताओं के जो संग्रह हमें देखने को मिले, उनमें इनकी कोई भी निंदात्मक कविता ऐसी नहीं मिली, जिसके लिखने पर एक भाँड़ इतना घबरा जाय कि आकर इनसे अपनी नक़ल के लिये इतनी दीनता से क्षमा माँगे।

लतीफ़ा—एक दिन मीर इंशाअल्लाह ख़ाँ जुर्अत से भेंट करने के लिये आए। देखा तो सर झुकाए बैठे कुछ सोच रहे हैं। उन्होंने पूछा कि किस फ़िक्र में डूबे हुए हो। जुर्अत ने कहा कि शेर का एक मिस्रा दिमाग़ में अटक गया है। चाहता हूँ कि इसका दूसरा मिस्रा भी जोड़ दूँ। इंशा ने पूछा कि वह कौन सा मिस्रा है। जुर्अत ने कहा कि बड़ा ख़ूबसूरत मिस्रा है, लेकिन जब तक इसका जोड़ा न लगा लूँगा, तब तक न सुनाउँगा। इंशा ने बहुत आग्रह किया तो अंत में जुर्अत ने उसे पढ़ दिया :—

उस ज़ुल्फ़ पै फब्ती शबे देजूर की सूझी।

सैयद इंशा ने तुरंत कहा :—

अंधे को अंधेरे में बहुत दूर की सूझी।

जुरुअत हँस पड़े और अपनी लकड़ी उठा कर मारने को दौड़े। देर तक सैयद इंशा आगे आगे भागते फिरे और यह पीछे टटोलते फिरे। कैसे ख़ुशमिज़ाज लोग थे। कैसा आनंद और बेफ़िक्री का ज़माना था।

सैयद इंशा इनके नाम की एक पहेली रची थी, सरमुंडी निगोड़ी गुजरातिन। वास्तव में गुजरातिन जुरअ्रत की माँ का नाम था।

नवाब मुहब्बत ख़ाँ के मुख़्तार ने एक बार जाड़े में इनके पहनने के लिये कपड़ा बनवाने में देर की। जुरअ्रत ने इसपर एक शेर पढ़ा और बस समय पर उपहार में इन्हे कपड़े तैयार करवा कर मिल गए।

मुख़्तारी पै आप कीजिएगा न घमंड,
कहते हैं जिसे नौकरी है बीजे अरंड,
सरमाई दिलाइए हमारी वरना,
तुम खाओगे गालियाँ जो हम खाएँगे ठंड ॥

× × ×

जुरअत की ग़ज़लें

लग जा गले से ताब ऐ अब नाज़नीं नहीं।
है है खुदा के वास्ते मत कर नहीं नहीं ॥

क्या रुक के वह कहै है जो टुक इससे लग चलूँ।
वसवस परे हो शौक़ यह अपने तईं नहीं ॥

पहलू में क्या कहें जिगरो-दिल का क्या है रंग।
किस रोज अश्क खूनी से तर आस्तीं नहीं ॥

फुर्सत जो पाके कहिए कभू दर्द दिल सो हाय।
वह बद-गुमां कहे है कि हम को यक़ीं नहीं ॥

आतिश सी फुक रही है मेरे तन बदन में आह।
जब से कि रूबरू वह रुख़े आतिशीं नहीं ॥

उस बिन जहान कुछ नजर आता है आर ही ॥
गोया वह आस्मान नहीं वह ज़मीं नहीं ॥

क्या जाने क्या वह इसमें है लोटे है जिस पे दिल।
यूं और क्या जहान में कोई हसीं नहीं ॥

सुनता है कौन किससे कहूँ दर्द बेवसी।
हमदम नहीं है कोई मेरा हमनशीं नहीं ॥

हर चंद है ब लुत्फ़ शबे माह सेरे बाग़।
अंधेर पर यही है कि वह महजबीं नहीं ॥

आंखों की राह निकले है क्या हसरतों से जी ।
वह रूबरू जो अपने जो दमें वापसी नहीं ।।

तूफ़ाने गिरया क्या कहें कि वक़्त हम नशीं ।
मोजे सरश्क ता फ़लके हफ़तमीं नहीं ।।

हैरत है मुझको क्योंकि वह जुर्अत है चैन से ।
जिस विन क़रार जी को हमारे कहीं नहीं ।।

हम शब किसी कातुल की हिकायात है वल्लाह ।
क्या रात है, क्या रात है, क्या रात है वल्लाह ।।

दिल छीन लिया उसने दिखा दस्ते हिनाई ।
क्या हात है, क्या हात है, क्या हात है वल्लाह ।।

आलम है ज़वानी का जो उभरा हुआ सीना ।
क्या गात है, क्या गात है, क्या गात है वल्लाह ।।

दुश्नाम का पाया जो मज़ा उसके लबों से ।
सलवात है, सलवात है, सलवात है वल्लाह ।।

जुर्अत की ग़ज़ल जिसने सुनी उसने कहा वाह ।
क्या बात है, क्या बात है, क्या बात है वल्लाह ।।

× × ×

जादू है निगाह छब है ग़ज़ब क़हर है मुखड़ा ।
और क़द है क़यामत ।।

ग़ारतगेरदीं वह बुते क़ाफ़िर है सरापा ।
अल्लाह की क़ुदरत ।।

अठखेली है रफ़तार में गुफ़तार की क्या बात ।
हर बात जगत है ।।

और रंगे रुख़े यार है गोया कि भभूका ।
फिर तिस में मलाहत ।।

हैं बाल ये बिखरे हुए मुखड़े पे धुआं धार ।
जुं दूद बशोला ।।

हुस्ने बुत काफ़िर है ख़ुदाई का झमकड़ा ।
ढक देखियो सूरत ।।

अबरू फ़ने ख़ूंरेज़ी में उसके हैं ग़ज़ब ताक़।
शमशीर वर्हनः ॥

आँखों का ये आलम है कि आँखों से न देखा।
अफ़सूं है इशारत ॥

कान ऐसे कि कानों से सुने वैसे न अबतक।
न आँखों से देखे ॥

बाले के तसव्वुर में घेरे है गोया।
इक इक हलक़ए हैरत ॥

बीनी ये खुश अस्लव कि नथनों की फ़ड़क देख।
तड़पे है दो आलम ॥

है इसको लबे यार के बोसा की तमन्ना।
अरमान है हसरत ॥

दाँतो की सफ़ा क्या कहूं मोती की लड़ी है।
लब लाल के टुकड़े ॥

मिस्सी है बला तिस पै रखे पान का बीड़ा।
सो शोख़ी की रंगत ॥

दिल ख़ूँ करे वह दस्ते हिना-बस्तः सिर उसमें।
समरन की फबन हाय ॥

है वज़्अ तो सादी सी पै क्या क्या नहीं पैदा।
शोख़ी की शरारत ॥

उस उभरे हुए गात की क्या बात जिसे देख।
सब हाथ मले हैं ॥

और हाय रे हर बात में गर्दन का वह डोरा।
है दामे मोहब्बत ॥

गुलशन में फिरे टुक तो वहीं आतिशे गुल की।
गर्मी के अरक़ आए ॥

हर गाम पै चलने में कमर खाए है लचका।
अल्लाह रे नज़ाकत ॥

है क़हर सुरीं गोल वह और हाथ कहूं क्या।
रानों की गुदाज़ी ॥
फ़र्क़ इसमें नहीं फ़र्क़ से ले ताव-कफ़े पा।
है तुरफ़ा लताफ़त ॥
है इश्वा अन्दाज़ो अदा नाज़ो करिश्मा।
और गर्मी को शोख़ी ॥
हर अज़ो पे आँख अटके वह काफ़िर है सरापा।
एक मोहनी सूरत ॥

भूले से जो हम नाम लें तो रुक के कहे यूं।
इस नाम को कम लो ॥
फिर इसमें जो रुक जाए तो झट से यें कहना।
बस देख ली चाहत ॥
जुरअत ये ग़ज़ल गर्चे कही ऐसी है तूने।
है खूब सरापा ॥
पर कहके वह अशआर कर अब इसको दो-ग़ज़ला।
हो जिससे कि वहशत ॥
जुज़ बेकसी को यास नहीं है कोई जिस जा।
है अपनी वह तुर्बत ॥
अफ़सोस करे कौन बजुज़ दस्ते तमन्ना।
हूं कुश्तये हैरत ॥
जो मैंने कहा इससे दिखा मुझको रुख़ अपना।
बस दे न अज़ियत ॥
तो क्या कहूँ किस शक्ल से भूंझला के वह बोला।
तू देखेगा सूरत ॥
ये राह तकी उसकी कि बस छा गई यक बार।
आँखो पै सपेदी ॥
पैमाँ गुसल आया न वह दे वादए फ़र्दा।
तो सुबह क़यामत ॥

सौदाये मुहब्बत जो नहीं है तुझे ऐ दिल।
तो फिर मुझे वतला ॥

क्यों चाक किए अपने गरीवाँ की है फिरता।
आँखों पै है वहशत ॥

सौ बार ज़वां गर्चे मेरी कट गई जूं शमा।
और फिर हुई पैदा ॥

पर महफ़िले क़ातिल में मेरे मुँह से न निकला।
यक हर्फ़ शिकायत ॥

अब घर में बुलाने से अगर आती है सो सोंच।
वदनाम समझ कर ॥

आवाज़ ही तू दरपे मुझे आके सुना जा।
अज़ राहे मुरव्वत ॥

आलूदा हुआ खूँ से दिला दामने क़ातिल।
बिस्मिल हो जो तड़पा ॥

अफ़सोस सद अफ़सोस कि ये तुने क्या किया।
ऐ नंगे मुहब्बत ॥

जो वल्वलये शौक़ से हो मुज्तरो बेताब।
निकला ही पड़े दिल ॥

क्या क़हर है क्या जुल्म है महवूब गर उसका।
हो साहिबे अस्मत ॥

क्या खाक रहें चैन से बेचैनी को मारे।
वस है ये परेखा ॥

हम हो गए जिसके वह हुआ हाय न अपना।
क्या कीजिए क़िस्मत ॥

चुप इन दिनों रहता है जो वह सूरते तसवीर।
कुछ और है ख़फ़क़ान ॥

लग जाए फिर इससे मेरे क्यों दिल को न धड़का।
है मूजिबे हैरत ॥

दिल देके अजब हम तो मुसीबत में फँसे हैं।
एक पर्दानशीं को ॥

न जाने का घर इसके है मक़दूर हमारा।
न रहने की ताक़त ॥

या मुझको बुलाता था वह या आए था मुझ पास।
मुहब्बत की थी गर्मी ॥

अब इस को खुदा जाने दिया किसने ये भड़का।
जो ऐसी है नफ़रत ॥

ले नाम मेरा कोई तो दे सैकड़ों दुश्नाम।
गिन गिन के वह क़ातिल ॥

बेरहमी-वो बेदर्दी से परवा हो न असला।
सुन मर्ग की हालत ॥

आना मेरा सुन दर पे कहीं घर से चला जाय।
देखूँ तो न देखे ॥

और कोई सिफ़ारिश जो करे मेरी तो क्या क्या।
खींचे वह नदामत ॥

गर ख़्वाब में देखे मुझे तो चौंक उठे और।
फिर मूँदे न आँखें ॥

आवाज़ जो मेरी सी सुने तो वहीं घबरा।
खाने लगे दहशत ॥

अफ़सोस की गर्दूं ने अजब रंग दिखाया।
नक़शा ही वह बदला ॥

ले जान मेरी ख़ानए तन से तो निकल जा।
हो जाए फ़राग़त ॥

किस मुँह से करूँ अश्वगिरी इस की ब्यां में।
अल्लाह रे अदाएँ ॥

मिल बैठे हम और वह कभी क़िस्मत से जो यक जा।
तरफ़ः हुई मुहब्बत ॥

बेताब हो लग चलने का जो मैंने किया अज़्म ।
दे बैठे वह गाली ॥
कुछ और किया क़स्द तो किस नाज़ से बोला ।
वल ले, तेरी जुर्अत ॥

× × ×

अज़ल गर अपनी ख़याले जमाले यार में आये ।
तो फिर बजाये फ़रिश्तः पर मज़ार में आये ॥
भला फिर उसके उठाने में क्यों न देर लगे ।
किसी की मौत किसी के जो इंतिज़ार आये ॥
वएक़ करिश्मा जो वे इख़्तयार में कर डाले ।
वह अश्वः साज़ जो किसी के कब इख़्तयार में आये ॥
पस अज़ फ़िना जो तेरे दिलजले की ख़ाक उड़े ।
तो मुजतरिब सा धुआं एक नज़र ग़वार में आये ॥
फ़ग़ां फिर इसकी हो लबरेज़ यास क्योंकि न आह ।
बज़ेरे दाम जो मुर्ग़े चमन बहार में आये ॥
बलायें ले ले होने लगूं निसार तो बस ।
कहे हैं हँस के वह ऐसे जी अब प्यार में आये ॥
न पूछ मुझसे वह आलम कि सुबह नींद से उठ ।
जब अंखियों को वह मलते हुए ख़ुमार में आये ॥
न क्योंकि हद से फ़ज़ूं तर हो रुतबए गिरया ।
कि अब तो हज़रते दिल चश्म अश्कबार आये ॥
टलें न वां से अगर हमको गालियां लाखों ।
वह देने ग़ैरते गुल एक क्या हज़ार में आये ॥
मगर न कहियो कि मुज़तर हो तो न क्योंकि भला ।
वह दौड़ दौड़ तुम्हारे न रहगुज़ार में आये ॥
उठे जहाँ से न जुर्अत उठा के दर्दे फ़िराक़ ।
इलाही मौत भी आये तो वस्ले यार में आये ॥
याद आता है तो क्या फ़िरता हूँ घबराया हुआ ।
चंपई रंग उसका जोबन वह गदराया हुआ ॥

बात ही अव्वल तो वह करता नहीं मुझसे ।
और जो बोले भी है कुछ मुँह से शर्माया हुआ ।।

जाके फिर जाऊँ उस गली में दौड़ दौड़ ।
पर करूँ क्या मैं नहीं फिरता है दिल आया हुआ ।।

बे सबब जो मुझसे है वह शीलः खू सरगर्म जंग ।
मैं तो हूँ हैरां कि ये किसका है भड़काया हुआ ।।

वह करे अज़्मे सफ़र तो कीजिये दुनियाँ से कूच ।
है इरादा दिल में मुद्दत से ये ठैराया हुआ ।।

नोके मिज़गां पर दिले पज़मुर्दः यूँ सरनिगूँ ।
शाख़ पर झुक आयें हैं फूल मुर्झाया हुआ ।।

जाऊँ जाऊँ क्या लगाया है अजी बैठे रहो ।
हूँ मैं अपनी ज़ीस्त से आये ही उकताया हुआ ।।

तेरी दूरी से ये हालत हो गई अपनी कि आह ।
अन्क़रीब मर्ग हर एक अपना हमसाया हुआ ।।

क्या कहें अब इश्क़ क्या क्या करता है हमसे सलूक ।
दिल पे बेताबी का इक पुतला है बिठलाया हुआ ।।

है कुलक़ से दिल की ये हालत मेरी अब तो कि मैं ।
चार सू फिरता हूँ अपने घर में घबराया हुआ ।।

हुक्मे बारे मज्लिस अब जुर्अत को भी हो जाये जी ।
ये बेचारा कब से दरवाजः पे है आया हुआ ।।

× × ×

न जवाब लेके क़ासिद जो फिरा शिताब उलटा ।
मैं ज़मीं पर हाथ मारा बसद इज़्तराब उलटा ।।

दमें वस्ल इस ने रुख़ से जो न ढक नक़ाब उलटा ।
हमें लग गया दम इस दम बसद इज़्तराब उलटा ।।

तेरे दौर में हो मैकस कोई क्या फ़लक कि तेरी ।
वह है शक्ल जूँ धरा हो क़द है शराब उलटा ।।

ये वफ़ा की मैंने तिस पर मुझे कहते बे-वफ़ा हो ।
मेरी बंदगी है साहब ये मिला ख़िताब उलटा ।।

मेरे वख़्त हैं वह रक्श कि वह दे जो वादये शव ।
तो पहुँच के ता ब मग़रिब फिरे आफ़ताब उलटा ।।
किसी नुस्ख़ः में पढ़े था वह मक़ा में दिलनवाज़ी ।
मुझे आते जूँ ही देखा वरक़े किताव उलटा ।।
वह वहा के कासए-सर मेरे खूँ में शक्लै क़िश्ती ।
कहे है कि देखो निकला ये मूआ हवाब उलटा ।।
मेरे दिल ने दाग़ खाया जो बूए सोख़्तः है ।
ये जला बस एक पहलू न गया कवाब उलटा ।।
ग़ज़ल और पढ़ तू जुर्अत कि गया जो यहाँ से घर को ।
तो क़लाम सुनने तेरा मैं फिरा शिताब उलटा ।।

× × ×

मैं तड़प के संगे तुर्बत खसद इज़तराव उलटा ।
मेरी क़ब्र पर वह आकर जो फिरा शिताब उलटा ।।
मेरे सो सवाल सुनकर वह रहा ख़ामोश बैठा ।
नहीं ये भी कहने की जा कि मिला जवाव उलटा ।।
जो रखे बख़्ते बाज़ूँ वह ग़नी से मिल हो मुफ़लिस ।
कि रहे बआबे दर्या क़दहे हबाव उलटा ।।
शैव वस्ल ये क़लक़ था पै वह सो गया तो मुँह से ।
न ज़रा भी मैं दोपट्टः ज़रहे हिज़ाव उलटा ।।
हमें है ख़्याल इसका कि जो आया ख़्वाब में वह ।
तो ज़बाँ पे उसकी डर से न वह हमने ख़्वाव उलटा ।।
इसी दर तक आऊँगा मैं कि नहीं है दिल कहे में ।
मुझे फेरते अबस हो ज़रहे इताव उलटा ।।
तलब इससे कल जो मैं की तो भरा हुआ ज़मीं पर ।
मुझे शोख़ ने दिखाकर क़दहे शराव उलटा ।।
जो किनार मक़सद अपनी लगे वहके नाव गाहे ।
तो हवा थपेड़ मारे लगे वहने आव उलटा ।।
किसी तज़किरा में पढ़ने मेरे शेर जो लगा वह ।
तो हवा ने दूँ ही जुर्अत वरक़े किताब उलटा ।।

× × ×

इस ढव से किया कीजिये मुलाक़ात कहीं और ।
दिन को तो मिलो हमसे रहो रात कहीं और ॥

क्या बात कोई उस बुते ऐयार की समझे ।
बोले हैं जो हमसे तो इशारात कहीं और ॥

इस अब्र में पाऊं मैं कहाँ दुख़्तरे रज़ को ।
रहती है गुदाम अब तो वह वदज़ात कहीं और ॥

जिस रंग मेरी चश्म से वरसे है पड़ा ख़ूं ।
उस रंग की देखी नहीं वरसात कहीं और ॥

घर उसको बुला नज़र किया दिल तो वह जुर्अत ।
बोला कि ये वस कीजिये मदारात कहीं और ॥

+ \+ \+

जव ये सुनते हैं कि हमसायः हैं आप आये हुए ।
क्या दरोवाम पै हम फिरते हैं घवराये हुए ॥

आप से मैं तो न जाऊँ क्या कि वहाँ ।
दिले बेताव लिये जाये है दोड़ाये हुये ॥

घर में बेयार है शक्ल अपनी ये दिल के हमराह ।
दो गुनहगार हों जूं क़ैद में विठलाये हुए ॥

आये हो दस्त वक़ब्ज़ः हो तो फिर देर है क्या ।
सरे तस्लीम को हम बैठे हैं निहुड़ाये हुये ॥

आज भी उसके जो आने की न ठैरी तो वस आह ।
हम वह कर बैठेंगे जो दिल में हैं ठैराये हुये ॥

पैरहन चाक तेरे दर पै जो कल करता था ।
आज लोग उसको लिये जाते हैं कफ़नाये हुये ॥

मुर्दनी फिर गई मुंह पर मेरे जिनकी ख़ातिर ।
रंगरू क्या वह पड़े फिरते हैं चमकाये हुये ॥

अब्रे तस्वी की मानिन्द हम इस महफ़िल में ।
रो नहीं सकते पै आँखों में हैं अश्क आये हुये ॥

लोग गर हम से ये कहते हैं कि चलते हो जी वहाँ ।
अपने बेगाने सव इस बज़्म में हैं आये हुये ॥

Chambal eGangotri Urdu

दिल में तब सोच के इस बात को रो देते हैं।
क्या कहें उनसे कि हैं हम तो निकलवाये हुये ॥

करके मौज़ूं उन्हें जुर्अत ग़ज़ल इक और भी पढ़।
दिल में जो ताज़ः मज़ामीन हों ठैराये हुये ॥

+ + +

ख़ौफ़ कुछ खाते हो बेदार हम ऐ वाये हुये।
शबको तुम ख़्वाब में फिर आये तो घबराये हुये ॥

बेखुदी पर न हमारी मुतहैइयर हो कोई।
आये क्या आप में जी हम हैं कहीं आये हुये ॥

रंग और इस में नज़र आये हैं कुछ हज़रते दिल।
अश्के सुर्ख आँखों में फिरते हो जो चमकाये हुए ॥

रश्क की जा है ग़रज़ शहूर खुमोशां भी कि वहां।
सोते क्या चैन से हम पांव को फैलाये हुये ॥

देखियो शोखी कि कुचे में दिले आशिक़ को।
कैसी अठकैली से जाता है वह ठुकराये हुये ॥

जोशे बहशत से गरीबाँ को कर, चाक हम आह।
सुर्ख़ आँखें किये क्या बैठे हैं झुंझलाये हुये ॥

जाम देते नहीं मुझ को जो दमे बादा-कशी।
ये तो फ़रमाओ कि तुम किसको हो बहकाये हुये ॥

हसरत ऐ हमनफ़सां सेरे चमन मुफ़्त गई।
नख़्ल, वस्तां से क़फ़स है कई लटकाये हुये ॥

दूर छोड़ा हमें गुल्शन से ये रोने की है जा।
कि सज़ावारे असीरी भी न हम हाय हुये ॥

दमे रुख़सत कहे जुर्अत कोई इस काफ़िर से।
इक मसल्मान को क्यों जाते हो तड़पाये हुये ॥

× × ×

मीर हसन

हसन उपनाम और मीर गुलाम हसन इनका नाम था। ख़ास दिल्ली के रहनेबाले थे। पुरानी दिल्ली में सैयद बाड़ा एक था। वहीं इनका जन्म हुआ। युवावस्था में अपने पिता के साथ फ़ैज़ाबाद गए और नवाब सालारजंग के बेटे नवाब

सरफ़राज़ जंग की सरकार में नौकर हुए। कुछ दिनों यहाँ रहकर फिर लखनऊ आ गए। हंसमुख, खुशमिज़ाज और विनोदप्रिय थे, किंतु इन सबके साथ शालीनता और शिष्टता भी इनके विशेष गुण थे।

मझोला क़द, सुडौल शरीर, गोरा रंग था। कुलाचार और नैतिक शिष्टता में अपनी पैतृक परंपरा के अनुयायी थे। इतना था कि दाढ़ी मुँडाते थे। वाह वा, जवानी का आलम भी कैसा रंगीन होता है।

जवानी क़ुजाई कि यादत बख़ेर।

सर पर बाँकी टोपी, तन में तंज़ेब का अंगरखा, चुस्त आस्तीन, कमर से दुपट्टा बँधा रहे एक बाँकपन भी बेदिमाग़ी में तो ज़ेबा है :

वढ़ा दो चीन अब्र पर अदाए कज़ कुलाही का।।

जब तक दिल्ली में रहे पहले अपने पिता से, फिर ख़्वाजा मीर दर्द से शायरी में इस्लाह लेते रहे। अवध में जाकर मीर ज़ियाउद्दीन ज़िया के शागिर्द हुए। और मिर्ज़ा रफ़ी रोदा को भी अपनी ग़ज़लें दिखलाते थे। लखनऊ में आकर उनके काव्यकौशल की ख्याति और भी बढ़ी। इनके शेर ग़ज़ल की शायरी की परंपरा में मानों बाग़ में गुलाब के फूल की मानि हैं। और मुहावरों के सुंदर प्रयोग आशिक़ाना मज़मूनों के रंग में डूबे हुए हैं। इनके कहने का ढंग मीर सोज़ से बहुत मिलता जुलता है। इनके समीक्षक कहते हैं कि इनके क़सीदे इनकी ग़ज़लों के स्तर के न थे। और इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि दोनों की रचना-विधि एक दूसरे से बहुत दूर हैं।

सह्रूलब्यान का वास्तविक, विवेचन—इन्होंने बेनज़ीर और बद्रे मुनीर, दो व्यक्तियों की एक अत्यंत सुंदर कहानी लिखी। और इस काव्य-कथा का नाम सह्रूल्बयान रखा। कालोपरांत सभी कवियों और साहित्यिक इतिहासकारों ने इस कृति की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। इसके वर्णन की सुष्टुता, मुहावरों की रोचकता, विषय-लालित्य और उसके विवेचन की शैली और उस शैली की मृदुलता, प्रश्न और उत्तर की नोक-झोंक ये सभी प्रशंसा से परे हैं। इस रचना की सरल और सुबोध भाषा के कानों में प्रकृति ने कैसी अद्भुत सुनने की क्षमता दी थी कि सौ वर्ष आगे वालों की बातें भी सुन सकते थे। कि जो कुछ उस समय कहा साफ़ वही मुहावरा और वही बोलचाल है, जो आज हम तुम बोल रहे हैं। उस समय के अन्य कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त भाषा को देखो। हर पृष्ठ में बहुत से शब्द और उनके प्रयोग ऐसे हैं, जो आज अप्रयोजनीय और परित्यक्त समझे जाते हैं। पर हसन की रचनाएँ कुछ शब्दों को छोड़कर जैसी उस समय मनोरंजक और हृदयग्राही थीं, वैसी आज भी है। मैं क्या कहूँ आज किसका मुंह है, जो उन खूबियों के साथ पाँच शेर भी उनके जोड़ का

कह सके। विशेष कर कहावतों को तो वह इस सुंदरता से अपने शेरों में पिरो देते हैं कि ज़बान चटकारते रह जाओ और यह नहीं कह सकते कि यह कौन सा मेवा है। कवि-समुदाय के जगद्गुरु मिर्ज़ा रफ़ी सौदा और कवि शिरोमणि मीर तक़ी मीर ने भी अनेक गाथा-काव्य लिखे। किंतु रोचक और सुबोध ग्रंथों के संग्रह-कक्ष में मीर हसन की मस्नवी का स्थान न पाया। इनकी मस्नवी हर घर, हर दूकान बल्कि उसके शेर हर ज़बान पर चढ़े हुए हैं, इसलिए यहाँ उनके विस्तारपूर्वक वर्णन की कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती।

उर्दू भाषा में सैकड़ों मस्नवियां लिखी गईं। किंतु उनमें केवल दो रचनाएँ ऐसी निकलीं, जो कि लोक-रुचि के अनुकूल प्रमाणित हुईं। एक सह्‌रुलबयान और दूसरा गुल्ज़ारे-नसीम और आश्चर्य यह कि दोनों बिल्कुल अलग अलग रास्ते हैं। इसलिये मेरे लिये यह उचित होगा कि उनके बारे में कुछ लिखूँ और काव्य-मर्मज्ञों से अपने समीक्षात्मक विचारों के औचित्य अथवा अनौचित्य पर प्रमाण माँगूँ।

वस्तुतः मस्नवी एक बीती हुई घटना के वर्णन को कहते हैं। इसे किसी ऐतिहासिक परिस्थिति विशेष का विववरण भी कह सकते हैं। इसलिये सिद्धांततः उसकी रचना अत्यंत सुबोध एवं ऐसी सामान्य बोलचाल की भाषा में होनी चाहिए, जिसमें हम तुम बातें करते हों।

स्वर्गीय मीर हसन ने अपनी मस्नवी ऐसी प्रांजल भाषा, सरल मुहावरे और मीठी बोलचाल में लिखा है और उसे इस सुंदर ढंग से अदा किया है, जैसे उनकी रचना कोई स्वच्छ जलधारा हो। वास्तविक घटना का चित्र आँखों में खिंच जाता है और उन्हीं बातों की प्रतिध्वनि कानों में आने लगती है, जो उस समय वहाँ हो रही थी। इन ख़ूबियों के साथ-साथ रचना काव्योचित सिद्धांतों से बाल भर भी इधर या उधर नहीं गिरती। लोकप्रियता ने इस मस्नवी को हाथों में लेकर आँखों पर रखा। और आँखों ने दिल और ज़बान के हवाले किया। उसे केवल शिक्षित और सुसंस्कृत समुदाय की प्रशंसात्मक स्वीकृति पर संतोष न हुआ। बल्कि साधारण लोग, जो अक्षरों से भी परिचित नहीं थे, वे भी उसे मंतर की तरह जपने लगे। गायकों ने भी महफ़िलों में गा कर इस मस्नवी के मर्मस्पर्शी पदों को लुटाया और सुननेवालों को रुलाया।

पंडित दयाशंकर ने गुल्ज़ार नसीम लिखी और सचमुच कैसी सुंदर लिखी। इसकी शैली हसन के मस्नवी से बिल्कुल भिन्न है, क्योंकि पंडित जी ने हर विषय को उपमा के आवरण और अलंकार की लड़ियों से आभूषित किया। और उनकी यह शैली एक लुभानेवाले माशूक़ाना हाव भाव की तरह अच्छी लगती है। उसकी छटा बस उसी बांकपन की अदा जैसी मालूम होती है, जो परीज़ादे अपना बाँका दुपट्टा ओढ़ कर दिखाते हैं। और अकसर अपने शाब्दिक भाव को भी उन्हीं के भाव भंगियों की तरह दिखाते हैं। इन सबके होते हुए भी इनकी भाषा सरल और रचना परिमार्जित और निर्दोष है। इसके भाषा और वर्णन की संक्षिप्तता भी इनके मस्नवी

का विशेष गुण है, जिसका ज़िक्र कर देना उचित है। क्योंकि हर बात को इन्होंने इतने नपे-तुले शब्दों में कहा है, जिससे उसमें किसी प्रकार की बेतुकी बातों की गुंजायश नहीं होती। और यदि एक भी शेर बीच में से निकाल लें तो कहानी का सिलसिला ही बिखर जाय। इसकी इन विशेषताओं के कारण यह उचित ही था कि इसे विशिष्ट स्तर के शिक्षित वर्ग के लोगों की रुचिप्रियता मिलती। लेकिन यह सर्वसाधारण में भी लोकप्रिय हो गई। लोग उसके भाव की गंभीरता और बारीकियों को समझें या न समझें, मगर सभी उसे पढ़ते हैं। जितनी समझ में आती है, उतनी ही से मज़ा लेते हैं और आनंद से विभोर हो जाते हैं।

यह मस्नवी जब पंडित जी ने लिखी तो बहुत बड़ी थी। अपने उस्ताद, ख़्वाजा आतिश के पास उसे संशोधन के लिये ले गए। उन्होंने कहा, "भैया, इतनी बड़ी किताब को देखेगा कौन। वह अपना दहएक का कानून उसमें भी लगाओ।" इसमें इशारा इस ओर था कि पंडित जी शाही फ़ौज में मुंशी थे। और प्रशासनिक नियम के अनुसार सब के वेतन से दहएक्की काट लेते थे। घर-घर में इस कटौती की शिकायत की चर्चा थी। ये अपनी मस्नवी वापस ले गए और उसे मुख़्तसर किया तो ऐसा निचोड़ा कि बस इत्र निकाल कर रख दिया।

किसी अवसर पर मीर हसन कहीं यात्रा पर चले। उसी समय लोग शाह मदार की छड़ियों के मेले में भी जा रहे थे। उन्हों ने इस यात्रा के वर्णन को भी एक मस्नवी के साँचे में ढाला है। इसमें फ़ैजाबाद की तारीफ़ और लखनऊ की बुराई की है। इस मस्नवी से यह भी पता चलता है कि उस इलाक़े में स्त्रियों की वेशभूषा क्या थी और छड़ियों के मेले में जानेवालों की छोटी बड़ी रस्में कौन कौन सी थीं। मैंने यह मस्नवी दिल्ली तबाही से पहले देखी थी, किंतु अब कहीं मिलती नहीं। लोग इस रचना की बड़ी प्रशंसा करते हैं, मगर वास्तव में यह बद्रेमुनीर के स्तर को नहीं पहुँचती। इनकी एक तीसरी मस्नवी भी है, लेकिन लोगों को इसके बारे में जानकारी कम है।

मीर हसन का दीवान अब उपलब्ध नहीं है। लेकिन हकीम क़ुदरतुल्लाह ख़ां अपने गुलज़ार इब्राहिमी में : सन् ११९६ हि० में : लिखते हैं कि यह दीवान विभिन्न प्रकार की रचनाओं से भरा है। वे यह भी लिखते हैं कि सैयद साहिब ने अपनी रचनाओं को हमारे पास भेजा और उसी के साथ उन्होंने जो ख़त भेजा, वह यह है :—

ईश्वर ने इन्हें सच्चरित और सुभागी संतान दी। किंतु उनमें किसी ने अपने पिता की कीर्ति को जीवित और ज्वलंत रखने का विचार नहीं किया। इसके कई कारण हुए। जीवन की परिस्थिति ने उनके बेटों को न इतनी सामर्थ्य दी और न अपने धार्मिक और पारलौकिक व्यस्तताओं के कारण उन्हें इतना अवकाश ही मिला। और उस समय छपाई का प्रचार भी कलकत्ते से इस ओर तक नहीं पहुँचा था। उनके पोते स्वर्गीय मीर अनीस इत्यादि हुए, जिन्होंने अपने धार्मिक आस्था और

सद्प्रवृत्तियों के लिये अच्छी ख्याति पाई। और समय ने भी उन्हें ऐसा ऊँचा स्थान दिया, जहाँ से उनके दादा का काव्य-कौशल इनकी तुलना में निम्न स्तर का दिखाई पड़ने लगा। वे तो यह भी समझते थे कि उनके निजी ख्याति का दादा की कीर्ति से कोई संबंध नहीं। मुमकिन है कि यह ठीक भी हो। किंतु अफ़सोस यह है कि वर्त्तमान पीढ़ी कुछ ही समय के बाद और भविष्य की पीढ़ियों के लिये भी हसन की रचनाओं के विस्मृत और लुप्त हो जाने के कारण उनका अभाव महसूस करेंगी। समय परिवर्त्तनशील है, वह समय तो निकाल गया। फिर इस समय की उपलब्ध चीजें भी शायद आगे चलकर न मिलें। आज भी यह नौबत है कि उनकी पूरी पाँच ग़ज़लें भी न मिलीं, जिनका मैं इस पुस्तक में समावेश करता।

सैयद साहिब ने सन् १२०१ हि० पहली मुहर्रम को इस नश्वर शरीर को त्याग दिया। मुफ़्ती-गंज में नवाब क़ासिम अली ख़ाँ के बाग़ के पिछवाड़े दफ़न किए गये। उस समय इनकी आयु क्या थी, इसका पता नहीं लगता। शायद पचास वर्ष से कुछ अधिक रही होगी। इनके दो बेटे मीर ख़लीक़ और मीर ख़ल्क़ ने कुछ ख्याति प्राप्त की। शेख मस्हफ़ी ने इनके मरणोपरान्त इस घटना के विषय में एक शेर कह कर इनसे अपनी आत्मीयता और प्रेम का परिचय दिया है :--

चूँ हुस्न आं बुलबुले खुश दास्तां,
रो अजीं गुल्ज़ारे रंगो बू बताफ़त।
बस कि शीरीं बूंद नुतकश मस्हफ़ी,
शायरे शीरीं ज़बां तारीख़ याफ़त ।।

ग़ज़लें

जो चाहे आपको तो उसे क्या न चाहिए,
इंसाफ़ कर तू चाहिए फिर या न चाहिए।
मुझ ऐसा तुझको चाहे न चाहे अजब नहीं,
तुम सा जो चाहे तुझको तो फिर क्या न चाहिए।
किस को सुना के कहते हो मैं चाहता नहीं,
अब क्यों जी हम बुरे हुए अच्छा न चाहिए।
गर पास तेरे बैठूँ तो माज़र रख मुझे,
जिस जा पै शम्अ होवै तो परवाना चाहिए।
ऐशो वैसालो सोहवते यारां फ़िराग़े दिल,
इस एक जान के लिए क्या-क्या न चाहिए।
देते हो तुम दिखाई जो हमराह शैर के,
इस तरह से ग़रज़ तुम्हें देखा न चाहिए।

अब जैसे एक हुस्न से हंसे के हंस लिये,
पर इस तरह हर एक से ठट्ठा न चाहिए ।

+ + +

यह तर्फ़ः तर कि तेरी संभलती नहीं ज़बान,
और तेरे सामने मेरी चलती नहीं ज़बान ।

मेरा तो दिल चला तेरी बातों से शम्अ रू,
तू भी तो देख क्या तेरी जल्ती नहीं ज़बान ।

कल अहद कुछ किया था, दिया क़ौल आज कुछ,
फिर कहिओ तू कि मेरी बदलती नहीं ज़बान ।

सरगर्म सोज़े इश्क़ रहे है यह मिस्ले शम्अ ।
तन घुल गया है और पिघलती नहीं ज़बान ।।

सौ सौ तरह से करता हूँ तक़रीर में हुस्न ।
ओह्दः से हाल दिल के निकलती नहीं ज़बान ।।

× × ×

वो जबतक कि ज़ुल्फ़ें सँवारा किया ।
खड़ा उसपे मैं जान वारा किया ।।

अभी दिल को लेकर गया मेरे आह ।
वह चल्ता रहा मैं पुकारा किया ।।

कुमारे मुहब्बत में बाज़ी सदा ।
वह जीता किया और मैं हारा किया ।।

किया क़त्ल और जान बख़्शी भी की ।
हसन उसने एहसाँ दुबारा किया ।।

+ + +

ये दुम इसके वक़्त रुख़सत बसद इज़्तराब उलटा ।
कि बसूए दिल मिज़ः से वहीं खूने नाब उलटा ।।
सरे लोह उसकी सूरत कहीं लिख गया था मानी,
उसे देखकर न मैंने वर्क़ किताब उलटा ।।
मैं अजब ये रसम देखी मुझे रोज़े ईदे कुर्बां,
वही ज़ब्ह भी करे है वहीं ले सवाब उलटा ।।

ये अजब है मेरी क़िस्मत कि जो दिल किसी को दूँ मैं,
वह मेरे ही सर से मारे उसे कर ख़राब उलटा ॥
ये निक़ाब पोश क़ातिल कोई ज़ोर है कि जिसमें,
विसे खून सैकड़ों और न ज़रा नक़ाव उलटा ॥
जो वक़्ते गुस्ल अपना वह फिराले वा से मुँह को,
तो फिराते ही मुँह इसके लगे बहने आब उलटा ॥
मैं लिखा है ख़त तो क़ासिद पे ये होगा मुझपे एहसाँ,
इन्हीं पाँव फिर के तू आ जो मिले जवाब उलटा ॥
तेरे आगे मेह्‌र तावाँ है ज़मीं पे सर व सिजदः,
ये वरक़ का गंजफ़ः के नहीं आफ़ताव उलटा ॥
नहीं जाय शिकवा उससे हमें मस्हफ़ी हमेशा,
कि ज़माना का रहा है यूँही इन्किलाब उलटा ॥

× × ×

साफ़ चोली से अयाँ है बदने सुर्ख़ तेरा,
नहीं छुपता तेह शबनाम चमने सुर्ख़ तेरा ॥
यही आलम है अगर उसका तो दिखला देगा,
बारिशे खूँ का समां पैरहने सुर्ख़ तेरा ॥
वाये नाकामी कि आशिक़ को तेरे मौत आई,
क़ाबिले बोसा हुआ जब दहने सुर्ख़ तेरा ॥
ता कमर खून शहीदों के बहे गलियों में,
जब से पाजामा बना गुलबदने सुर्ख़ तेरा ॥
खूँ से आलूदा हुआ आता है तो ऐ अश्क सफ़ेद,
नाम हम क्यों न रखें यास्मिने सुर्ख़ तेरा ॥
आतशे तेज में ठैरा है कहीं यूँ भी सपंद,
कह रहा है यही ख़ाले ज़क़ने सुर्ख़ तेरा ॥
मस्हफ़ी खुश हो के माँगेगा तेरे क़ातिल से,
खूँ-वहा रोज़े क़ियामत क़फ़ने सुर्ख़ तेरा ॥

× × ×

कीसा माली से हुआ गुलबदने सुर्ख़ तेरा,
तालिबे आब ने हो क्यों चमने सुर्ख़ तेंरा ॥
यही पोशाक का है रंग तो ये गुल होगा,
तिश्नए नूने चमन पैरहने सुर्ख़ तेरा ॥

क्यों न हो मुर्दः हवस ज़िंदा बने जब ऐ शोख़,
पान से बैर बुहटी दहने सुर्ख़ तेरा ।।
मुझसे इन्कारे सितम कायदह ऐ मुर्गे फ़लक,
दाल है बच्चः ख़ोरी पर दहने सुर्ख़ तेरा ।।
काश ऐ कुश्ता तू महशर में उठे हो के फ़क़ीर,
गेरूआ मिट्टी में होवे कफ़न सुर्ख़ तेरा ।।
लबे पान-खुर्दह की उस गुल के जो सुर्ख़ी देखी,
रंग उड़ जायगा ए नारदने-सुर्ख़ तेरा ।।
सर पे ताविश में तू रखे तो दिले आशिक़ में,
आग भड़काए न क्यों बादज़ने सुर्ख़ तेरा ।।
मस्हफ़ी चाहिए क्या इस को दलीले क़ातेअ,
सब्ज़ है खुद बतख़ल्लुस सुख़ने सुर्ख़ तेरा ।।

× × ×

इक तो था आतिशे सोज़ां बदने सुर्ख़ तेरा,
शोला बर शोला हुआ पेरहने सुर्ख़ तेरा ।।
पान खाने की अदा ये है तो इक आलम को,
ख़ूँ रुला देगा मेरी जाँ दहने सुर्ख़ तेरा ।।
गो ख़ुशीदे शफ़क़ रंग को देता है फ़िशार,
पंजए रश्क से सैबे ज़क़ने सुर्ख़ तेरा ।।
शमा गुलगुं ग़मे परवानः में ख़ूँ इतना न रो,
तश्ते आतिश तो बना है लगने सुर्ख़ तेरा ।।
सुर्ख़ ऐयार से तू कम नहीं ऐ दुज़्दे हिना,
कफ़े रंगीने बुतां है दहने सुर्ख़ तेरा ।।
यूँही एक कुश्तः जो आया तो सफ़े महशर में,
आग देवागा लगा वाँ कफ़ने सुर्ख़ तेरा ।।
तू अगर नाफ़ए आहू है तो ऐ उक़दए ज़ुल्फ़,
है वह रुखसारए रंगीं ख़तने सुर्ख़ तेरा ।।
उसके मू-वाफ़ से भी शाना ने शा पूछा था,
दाम शबरंग है क्यों ऐ रसने सुर्ख़ तेरा ।।

हर परी चेहरा है पोशीदः लिबा से गुलगूं,
मैं तो दीवाना हूं ऐ अन्जुमने सुर्ख़ तेरा ।।
मस्हफ़ी ज़ख्म है तैशा का तेरे हर मू पर,
नाम हम क्यों न रखें कौहकने सुर्ख़ तेरा ।।

+ + ×

रंग-पां से जो हुआ गुल दहने मुर्ख़ तेरा,
मर गई देख के बुलबुल दहने सुर्ख़ तेरा ।।
पान खाकर जो मिस्सी ज़ेब किये तूने दोलब,
बन गया मिज़ए संबुल दहने सुर्ख तेरा ।।
सुर्ख़ तो था ही वले और हुआ गुलनारी,
पी के ऐ गुल क़दहे मुल दहने सुर्ख़ तेरा ।।
तब हो आशिक़ की शबे वस्ल तसल्ली ऐ गुल,
मस्रफ़े बोसा हो जब गुल दहने सुर्ख़ तेरा ।।
गुंचः-सां वा न हुआ आलमे मैनोशी में,
सुन के शीशः की भी बुलबुल दहने सुर्ख़ तेरा ।।
शानः करते जो सरेजाद तू दातों में रखे,
हो न ख़ुन्खारये काकुल दहने सुर्ख़ तेरा ।।
तेग़े मिर्रीख पै छुटती है हवाई अबतक,
कहाँ देखा था सरे पुल दहने सुर्ख़ तेरा ।।
मस्हफ़ी तुने ज़-बस गुलके लिए हैं बोसे,
रश्क से देखे है बुलबुल दहने सुर्ख़ तेरा ।।

+ + +

जो गुस्ताख़ानः कुछ इससे मैं बोला,
तो बस अबरू ने तेग़ा वोहीं तौला ।।
सुने आशिक़ न क्यों उसके ममोले,
कि चश्मे शोख़ है उसकी ममोला ।।
जज़ाक-अल्लाह बनाया तूने सय्याद,
क़फ़स में अज़ पये बुलबुल हंडोला ।।

न मारे दस्तो पा उसका बिस्मिल,
इलाही मार जावै उसको भूला ।।
लब उस गुलके हैं जामे बादये लाल,
मिस्सी ने उनमें आकर ज़ह्र घोला ।।
ये वह गुलशन है जिसमें ग़म के मारे,
तबस्सुम से कली ने मुंह खोला ।।
मेरी पुतली ने अश्के ख़ारी सर को,
बनाया है हथेली का फफोला ।।
कहीं मिलतें हैं ऐसे मस्हफ़ी यार,
न आवे दिल के भरने का मलौला ।।

+ + +

निगाहे लुत्फ़ के करते ही रगे अंजुमन बिगड़ा,
मोहब्बत में तेरी हम से हर एक अहले वतन बिगड़ा ।।
कुछ उसकी वज़ा बिगड़ी कुछ है वह पैमां शिकन बिगड़ा,
यह सजधज है तो देखोगे ज़माना का चलन बिगड़ा ।।
खुदा कहता था रोज़े हश्र में तुझसे समझ लूंगा,
तेरे तेशा से शीरीं का नक़शए कोहकन बिगड़ा ।।
मैं समझा गिरय: ने तासीर उस दम शमा मज्लिस की,
ये मोती अश्क का जाते हुए जब ता लगन बिगड़ा ।।
जो चंगे नाल: को हमने उड़ाया हिज्र की शब में,
कहेंगे सब कि तेरा खेल अब चर्ख़े कोहन बिगड़ा ।।
जिसे सब बांके और टेढ़े करें थे दूर से मुजरा,
वही रस्ता में आख़िर हमसे करके बाँकपन बिगड़ा ।।
तेरी मिज़गां की रावत चढ़ाई जब उनपै लड़ने को,
पड़ी पूना के अंदर खलबली सारा दकन बिगड़ा ।।
बुरी सूरत से रहना नंग है दुनिया में इंसाँ को,
वह गड़ जाता है खुद जीता जो कोढ़ी का बदन बिगड़ा ।।
हमेशा शेर कहना काम था वाला-नज़ादों का,
सफ़ीहों ने दिया है दखल जबसे बस ये फ़न बिगड़ा ।।

मकाने तंग में पाई न जा कलके तख़य्युल ने,
बना सब ख़ालो-खत मानी से इसका पर दह बिगड़ा ॥
नहीं तक़सीर कुछ दर्ज़ी की इसमें मस्हफ़ी हरगिज़,
हमारी ना दुरुस्ती से बदन की पैरहन बिगड़ा ॥

+ + +

दुआ देने से मेरे शब वह तुके तेग़ज़न बिगड़ा,
सिपाही ज़ादों का भी कुछ मैं देखुं हूँ बिगड़ा ॥
सुख़न सीधी तरह और वज़ा दादी बे-मिसी दंदाँ,
भला कितना लगे है मुझको उसका सादापन बिगड़ा ॥
किया ताराज यूँ पीरी ने हुस्ने नौजवानी को,
बवक़्ते सुबह आराईश का होवे जूँ चमन बिगड़ा ॥
सूई जिसको लगाई ज़ैद की माशूका ने अपनी,
सभी सँवरी वही मजनूँ का बस एक पैरहन बिगड़ा ॥
कमाले हुस्न ख़ालिक़ ने दिया है उस परीरू को,
न चितवन कज हुई उसकी न गाते में दहन बिगड़ा ॥
ये तस्वीरें अजब नवाब ने कोठी में बनवाई,
किसी की है फिरी ठूड़ी किसी का है दहन बिगड़ा ॥
न मारे हक़ किसी को करके मुफ़लिस वाये रुस्वाई,
जहाँ कौतह हुआ कपड़ा क़फ़न का वह क़फ़न बिगड़ा ॥
रिवाज उसने न पाया बल्कि अहदे ज़ुल्फे मुश्कीं में,
धरा नाफ़ा में जो बरसों रहा मुश्के ख़तन बिगड़ा ॥
अजाहब और ग़राहब बातें अब सुनने में आती हैं,
ख़ुमे नीली तेरा शायद कि चर्ख़े कोहन बिगड़ा ॥
ख़लल अंदाज जो लुकनत हुई उसकी फ़साहत में,
ज़बां पर उस बुते उल्कन की आया जो सुख़न बिगड़ा ॥
हमें तकलीफ़ नज़्मे शेर की देने से क्या हासिल,
ज़माना हमसे इन रोज़ों है याराने वतन बिगड़ा ॥
बहिम्मत जिससे शक्ले काफ़िर शीरीं बनाई थी,
उसी तेशः से फिर आख़िर को कारे कोहकन बिगड़ा ॥

रही ऐ मस्हफ़ी ता सुबह उसकी उस पे झुंझलाहट,
बनाने में जो आश्शातः से सब ख़ाल ज़क़न बिगड़ा ।।

× × ×

न गया कोई अदम को दिले शादां लेकर,
याँ से क्या क्या न गए असरतो अरमाँ लेकर ।।
जी ही जी बीच बहुत शाद हुआ करती हैं,
तेरी आरिज़ को बलायें तेरी मिज़गां लेकर ।।
क्या ख़ता मुझसे हुई रात कि उस क़ाफ़िर का,
मैंने ख़ुद छोड़ दिया हाथ में दामाँ लेकर ।।
बाग़ वह दश्ते जुनूं था कि कभीं जिस में से,
लाले गुल गए साबित न गरेबाँ लेकर ।।
तरफ़ः सूझी ये जुनूँ को तेरे दीवाने की,
राह में फ़ेंक दिए ख़ारे मुग़ीलां लेकर ।।
जुल्फ़ो रुख्सार का आलम है ग़ज़ब ही इसके,
शाद हो क्यों न दिले गिबरू मुसलमां होकर ।।
पर्दए ख़ाक में सी सो रहे जाकर अफ़सोस,
पर्दः रुख़सार पे क्या क्या महे तावाँ लेकर ।।
अब्र की तरह से कर देवेंगे आलम को निहाल,
हम जिधर जावेंगे ये दीदए गिरयाँ लेकर ।।
फिर गई सूए असीराने क़फ़स बादे सबा,
ख़बरे आमदे अय्यामे बहाराँ लेकर ।।
दोस्ती थी मुझे हर इक से गए ता देर-क़ब्र,
दोश पर नाश मेरी गिबरू मुसलमाँ लेकर ।।
रंज पर रंज जो देने की है ख़ूँ क़ातिल को,
साधा आया है बहम तेग़ो तमकदाँ लेकर ।।
मस्हफ़ी गोशए उज़लत को समझ तख़्ते शही,
क़्या करेगा तू अबस मुल्के सुलेमां लेकर ।।

+ + +

यार बिन बाग़ से हम आते हैं दुख पाए हुए,
अश्क आँखों में भरें हाथ में गुल खाए हुए ।।

आँख सीधी नहीं करता कि मुक़ाबिल हो निगाह,
आरसी नाज़ से वह देखे हैं शरमाए हुए ।।

किसके आने की ख़बर है जो चमन में गुलचीं,
जूँ सवा चार तरफ़ फिरते हैं घबराए हुए ।।

हम तो तरसे हैं सनम इक निगाहे दूर को भी,
बख़्त इनके है जो हर दम तेरे हमसाए हुए ।।

हुस्न ख़ज़लत-ज़दह की रंग दिखाता है नए,
आरसी भी इसे अब देखे ललचाए हुए ।।

उसके कूचः से जो उठ आते हैं हम दीवाने,
फिर उन्हीं पाँव चले जाते हैं बौराए हुए ।।

मस्हफ़ी क्योंकि अनाँगीर हो उसका जूँ बर्क़,
तोसने नाज़ को जब जाए हैं चमकाए हुए ।।

+ + +

ख़ामुश है अरस्तू व फ़लातूँ मेरे आगे,
दावा नहीं करता कोई मौजूँ मेरे आगे ।।

दानिश पे घमंड अपनी जो करता है वशिद्दत,
वल्लाह कि वह शख़्स है मजनूँ मेरे आगे ।।

लाता नही ख़ातिर में सुख़न बेहूदा गो का,
एजाज़ मसीहा भी है अफ़सू मेरे आगे ।।

दुश्वार है रतवा को पयंवर के पहुँचना,
है मूसाए इमरान भी हारूँ मेरे आगे ।।

बाँधे हुए हाथों को बउम्मीदे इज़ाबत,
रहते हैं खड़े सैकड़ों मज़मूँ मेरे आगे ।।

जब मौज पै आ-जाए है दर्याए तबीअत,
क़तरे से भी कम ठैरे हैं जीहूँ मेरे आगे ।।

बदबीनी पै आऊँ तो अभी अहले सफ़ा के,
हो जावें शुवः सब दूरे मकनूँ मेरे आगे ।।

उस्ताद हूँ मैं मस्हफ़ी हिकमत के भी फ़न में,
है कौदके नौदर्श फ़लातूं मेरे आगे ।।

+ + +

है तरब साग़रे पुरखूँ मेरे आगे,
साक़ी तू न लाना मए गुलगूँ मेरे आगे ।।

टुक लब के हिला देने में हिस्सने अज़म का,
हो जावे है अहवालो गरगुं मेरे आगे ।।

समझूं हूँ मुहरए बाज़ीचये तिफ़लाँ,
किस काम का है गुंबदे गरदूं मेरे आगे ।।

जब तेज़ी पै आता है मेरा तोसने ख़ामः
बन जावें हैं जब कौह भी हामूं मेरे आगे ।।

मैं गौज़ समझता हूँ सदा उसकी सदा को
गौ बोल उठे अद्धी की चूं चूं मेरे आगे ।।

सब ख़ोशः-उबा हैं मेरे ख़िरमान के जहाँ में,
क्या शेर पढ़ेगा कोई मौज़ूँ मेरे आगे ।।

क़ुदरत है ख़ुदा की कि हुए आज वह शायर,
तिफ़ली में जो करते थे ग़ां ग़ौं मेरे आगे ।।

मूसा का असा मस्हफ़ी है ख़ामः मेरा भी,
ग़ौ ख़स्म बने अस्वदे अफ़यूं मेरे आगे ।।

+ + +

सैयद इन्शाअल्लाह ख़ाँ इन्शा

प्रस्तुत शायर का इंशा उपनाम और सैयद इंशाअल्लाह ख़ाँ पूरा नाम था। ये हकीम मीर माशाअल्साह ख़ां के बेटे थे। एक संभ्रांत कुल के सदस्य होने का गौरव तो इन्हें मिला ही मगर इनकी निजी कीर्ति ने भी अपने पिता बल्कि अपने सारे कुल की कीर्ति में चार चांद लगाए। इनके पूर्वज हिंदोस्तान में नजफ़ अशरफ़ से आए थे। लेकिन कुछ लोग कहते हैं कि ये कश्मीर क्षेत्र के एक सैयद कुल के वंशज थे। वहाँ ये लोग किसी ज़माने में समरक़न्द से आए थे। फिर दिल्ली में आकर बस गए। धीरे-धीरे शाही दरबार में सरदारों की श्रेणी में पद प्राप्त किया और इस वंश के कुल सदस्यों की गिनती तो दरबार में ऐसे प्रभावशाली व्यक्तियों में हुई, जिनके स्वरों की गूंज तबले और नगाड़ों की गूंज से भी अधिक गहरी समझी जाती थी। कुल-व्यवसाय के अनुसार मीर माशाअल्लाह खाँ शाही दरबार में हकीम के पद पर नियुक्त थे और उनकी मान्यता अमीरों की श्रेणी में होती थी। इनकी कुलीनता और घरेलू आचार-व्यवहार का दिल्ली और लखनऊ के सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्मान करते थे। उसका एक अदना सा नमूना यह है कि इनके यहाँ औरतों के

वस्त्र या तो स्वयं घर ही में धो लेते थे या जला देते थे। धोबी को इस लिए न देते थे कि स्त्रियों के पहनने के वस्त्र किसी अपरिचित व्यक्ति के हाथ जाना अशोभनीय और अनुचित समझा जाता था।

ऐसा हुआ कि चुग़तई राज्यकाल में मीर माशाअल्लाह ख़ाँ को मुर्शिदाबाद जाना पड़ा। वहाँ भी इन्होंने अपने कुलाचार का पालन इसी निष्ठा से किया। और जिस प्रकार पहले कुलीन धनी-मानी व्यक्तियों के बच्चे शिक्षा पाते थे उसी प्रकार सैयद इन्शा की शिक्षा की भी इन्होंने व्यवस्था की। यह तो रही एक ऐसे पिता की कर्त्तव्य-निष्ठा की बात, जिसने अपने लाडले बेटे को इतनी अच्छी और उच्च स्तर की शिक्षा दिलवायी। लेकिन जिसके तबीयत में इतनी जन्मजात साहित्यिक रुचिपूर्णता हो ऐसा बेटा भी भला ही किसी को मिला होगा। जब यह उदीयमान बालक पढ़ लिख कर निकला तो उसकी सारी बौद्धिक शक्तियां उसी प्रकार ग्रहणशील बन गई थीं, जैसे कि किसी बाग़ का ऐसा पौदा, जिसके कोंपल, पत्ते, फूल-फल सभी ऐसे विकासशील अवस्था में पहुँच गए हों और वह ऐसा स्वस्थ्य पौदा हो कि जिस मिट्टी में या जिस जलवायु में लगा दिया जाय, उसी में पनप उठे। ऐसा प्रतिभाशाली और प्रखर बुद्धिवाला व्यक्ति हिंदोस्तान में कम पैदा हुआ होगा। इन्शा जिस-किसी भी बौद्धिक अथवा कलात्मक उपलब्धि का प्रयास करते, उसी में वे चिरस्थायी यश प्राप्त करते। उनकी रूचि ऐसे नरम धातु की तरह थी, जो किसी भी आकार में ढाली जा सकती थी। फिर भी चित्त में चपलता इतनी कि पारे की तरह अस्थिर और चंचल। इनकी रचनाओं में इन सभी विशिष्टताओं का प्रमाण मिलता है। इनके स्वभाव में शेर की तरह वह बुलंदी थी कि ये किसी दूसरे का जूठा शिकार न खा सकते थे। इस लिए इनकी रुझान पैत्रिक पेशे अर्थात् हकीमी की ओर न हुई। और चूँकि विचार और कल्पनाओं की इतनी रंगीनी सिवाय शायरी के और किसी फ़न के लिए उपयुक्त नहीं होती, इसीलिए ये शायरी की ओर झुके, जिसके लिए इन्हें एक दैवी क्षमता और प्राकृतिक रूचि मिली थी। और इस दिशा में भी ये अपना एक अलग ही मार्ग निकाल कर चले।

ये किसी से अपनी कविताओं का शोधन नहीं कराते थे। शुरू में अपने पिता को अपनी रचनाएं दिखा लेते थे। वास्तव में शैर शायरी का कूचा संसार में एक निराला ही कूचा है। जो लोग अक़्ल के भोंडे होते हैं, उनके लिए तो कोई उस्ताद कितना भी परिश्रम करे सब व्यर्थ हो जाता है। लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक नौसिखिया कलाकार जितना ही मेधावी और प्रतिभासंपन्न होता है, उतना ही अधिक उसे एक अच्छे निर्देशक की आवश्यकता होती है। जैसे एक तेज़ बछेड़ा अपना जौहर तभी दिखाता है, जब एक चतुर सवार के कोड़े तले निकलता है। नहीं तो बेढंगे तौर से हाथ पांव मारता है या अड़ियल और बदमाश हो जाता है। उसी तरह एक उदीयमान कवि की रचनाएं यदि किसी गुणी और अनुभवी उस्ताद की लेखनी से शोधी न जायं तो वह कवि निरुद्देश्य और मार्गभ्रमित हो जाता है। काव्य पारखियों ने उर्फ़ी की रचनाओं में यही खोट निकाली है।

मुग़ल राज्य के पतन-काल में जब हिंदोस्तान में चारों ओर तबाही फैली हुई थी, उसी उसी समय सैयद इंशा मुर्शिदाबाद से दिल्ली आए। उस समय दिल्ली के दरबार की दशा एक उजड़े मठ की सी थी, जिसके मठाधीश थे शाह आलम बादशाह। शाह आलम स्वयं भी शायर थे। चाहे शायरों की सम्मान-प्रियता से हो या अपने राजोचित बड़प्पन के कारण हो, जो तैमूरी वंश की एक विशिष्टता थी, उन्हों ने इस युवक कवि पर आदर-पुरस्कार के साथ अपनी उदार आत्मीयता का दामन उढ़ाया। सैयद इंशा दरबारियों की श्रेणी में सम्मिलत हुए और वहाँ अपनी शायरी के साथ-साथ केसर की फुलवारी की तरह अपनी ख़ुशदिली और विनोदप्रियता के फूल बिखेर कर और सुगंध फैलाकर शाही महफ़िल को प्रफुल्लित और सुवासित करने लगे। यहां तक कि ये शाह आलम के इतने प्रिय बन गए कि इनके बिना उन्हें एकदम भी चैन न पड़ता।

दिल्ली में उस समय सौदा और मीर जैसे बुज़ुर्ग शायर न थे, किंतु शायरी में रुचि रखनेवाले ऐसे बड़े बूढ़े अभी भी थे, जो उन बुज़ुर्गों के नाम लेने वाले थे। जैसे मीर दर्द के शागिर्द हकीम सनाउल्लाह ख़ाँ फ़िराक़ और हकीम क़ुदरतुल्लाह ख़ाँ क़ासिम मीर के शागिर्द हिदायत और मियां शकीबा, सौदा के शागिर्द मिर्ज़ा अज़ीम बेग अज़ीम, मीर ममनून सोनीपती के पिता मीर कमरुद्दीन मिन्नत, शेख़ वलीउल्लाह मुहिब इत्यादि। इन सभी महानुभावों के ख़ान्दानवाले शाही दरबार से संमानित थे और सर्वसाधारण भी उन्हें आदर की दृष्टि से देखता था। गरचे ये सभी विद्वान् थे और इनमें से कुछ काव्यकुशल भी थे, लेकिन इनमें वह योग्यता, वह प्रभावोत्पादकता कहाँ और यदि योग्यता भी हो तो ये बिचारे बूढ़े तो पुरानी लकीर के फ़क़ीर थे। सैयद इंशा का वह रुचि-लालित्य, वह मुखरता, भाव और भाषा के विन्यास की वह सुघरता, भाषात्मक कतर-ब्योंत की वह नई फ़बन, नूतनता का वह बाँकापन भला ये बूढ़े कहाँ से लाते। पारस्परिक ईर्ष्या भी साहित्यकरों और कवियों की एक विशेषता कही जाती है। इसलिये शुरू शुरू इस बिचारे परदेसी युवक को असहाय और मित्र-हीन समझ कर कुछ बूढ़े मस्ख़रों ने उसकी हँसी उड़ाई और मुशायरों में इस उच्चाकांक्षी कवि को पर्याप्त प्रशस्ति भी न मिल पाई। इन कारणों से सैयद इंशा को ऐसा लगा कि उनकी उपेक्षा और विरोध में सभी दिल्ली वाले एक गुट हो गए हैं।

यद्यपि उपर्युक्त सभी कवि वयोवृद्ध थे और काव्य-रचना में कुशल और अभ्यस्त थे, फिर भी ओज और उत्साह से भरा हुआ यह नवोदित कवि, जिसके सशक्त नए डैनों में ऊँची उड़ान भरने की लालसा थी, उन रूढ़िग्रस्त कवियों की देहरी पर दीप क्यों जलाता। संभव है कि दोनों पक्षों में मौखिक रूप से भी कुछ कहा-सुनी हुई हो। प्रस्तुत रचनाओं में पारस्परिक नोक झोंक और आलोचना-प्रत्यालोचना का श्रीगणेश हो गया। इनके विपक्षियों में एक मिर्ज़ा अज़ीम बेग थे। ये अपने को सौदा का शागिर्द कहते थे। और काफ़ी दिनों की काव्य-रचना के अभ्यास का इन्हें घमंड था। यों तो कविता के नाम कुछ तुकबंदी कर लिया करते थे, किंतु अपने को

हिंदुस्तान का एक बड़ा पहुँचा हुआ शायर समझते थे और विशेष कर इस प्रकार की चढ़ाउतरी में सबसे आगे बढ़ कर रहना चाहते थे। चुनांचे एक दिन ये मीर माशा-अल्लाह ख़ाँ के यहाँ गए और उन्हें अपनी एक ग़ज़ल सुनाई, जो रजज़ बह्र में थी, किंतु इनकी अज्ञानता के कारण इसके कुछ शेर रमल बह्र में जा पड़े थे। वहाँ सैयद इंशा भी मौजूद थे। वे इस ग़लती को ताड़ गए। ग़ज़ल की बड़ी प्रशंसा की और यह आग्रह किया कि मिर्ज़ा साहिब, आप इस ग़ज़ल को किसी मुशायरे में ज़रूर पढ़ें। मिर्ज़ा अज़ीम बेग ने तह की बात तो समझी नहीं एक आम मुशायरे में यह ग़ज़ल पढ़ दी। सैयद इंशा ने वहीं इसके अलग अलग पदों का विश्लेषण करके इसका रचना-दोष दिखाया। बिचारे मिर्ज़ा साहिब पर जो बीती सी तो बीती ही। सैयद इंशा ने इस अवसर पर अपने अन्य विरोधियों को भी आड़े हाथों लिया और कोई चूं तक न कर सका। बल्कि उसी अवसर पर एक खम्मस भी पढ़ा, जिसका मतला यह था :—

गर तू मुशायरे में सबा आज कल चले,
कहियो अज़ीम से कि ज़रा वह संभल चले ॥
इतना भी हद से अपनी न बाहर निकल चले,
पढ़ने को शब जो यार ग़ज़ल दर ग़ज़ल चले,
बह्रे रजज़ में डाल के बह्रे रमल चले ॥

मिर्ज़ा अज़ीम बेग ने भी घर जाकर इसके जोड़-तोड़ में भरसक एक मुख़म्मस लिख कर जी भर अपने दिल की भड़ास निकाली। मगर वह तो लड़ाई के बाद घूसा दिखलाना था। मिर्ज़ा के मुख़म्मस के कुछ चुने हुए बंद यहाँ देता हूँ। इसके दूसरे बंद रुचिहीन और अश्लील होने के कारण उल्लेखनीय नहीं हैं।

मिर्ज़ा अज़ीम बेग कहते हैं :—

वह पाज़िले ज़माना हो तुम जामए-उलूम।
तहसीले सर्फ़ो नह्व से जिनकी मची है धूम ॥
रमलो रियाज़ी हिकमतो हैअ्रत जाफ़र नजूम,
मन्तिक़ वयान मानी कहीं सब ज़मीं को धूम ॥
तेरी ज़वाँ के आगे न देहक़ां का हल चले ॥

एक दो ग़ज़ल के कहने से बन बैठे ऐसे ताक़,
दीवान शायरों की नज़र से रहे बताक़ ॥
नारि अली नज़ीरी की ताक़त हुई है ताक़।
हर चंद अभी न आई है फ़हमीद जिफ़्तो ताक़ ॥

टँगरी तले से उर्फ़ी व कुदसी निकल चले ।।
था रोज़ फ़िक्र में कि कहूँ मानी वो मिसाल,
तजनीस वह्म रिआयते लफ़ज़ी व हम ख़्याल ।।
फ़रके रजज़ रमल न लिया मैंने गो संभाल,
नादानी का मेरे न हो दाना को एहतमाल ।।
गो तुम वक़द्रे फ़िक्र यही कर हमल चले ।।
नज़दीक अपने आप को कितना ही समझो दूर,
पर खूव जानते हैं मुझे जो हैं ज़ी शउर ।।
वह वह्‌र कौन सी है नहीं जिसपे याँ उब्वर,
कव मेरी शायरी में पड़े शवहे से क़सूर ।।
वन कर क़मल निकालने को तुम ख़लल चले ।।
मौज़ूनी व मआनी में पाया न तुमने फ़र्क़,
तब्दील वह्र से हुए वह्रे खुशी में ग़र्क़ ।।
रोशन है मिस्ल मेह्र ये अज़ ग़र्ब ता व फ़र्क़,
शहज़ोर अपने ज़ोर में गिरता है मिस्ले वर्क़ ।।
वह तिफ़ल क्या गिरेगा जो घुटने के वल चले ।।
कमज़ाफ़ी से तुम्हें तो यही आई है उमंग,
कीजे नमूद ख़ल्क में अव कर सुख़न की जंग ।।
अपने तईं तो वहेस्यते आता है यार नंग,
इतना भी रखिए हौसला फव्वारह-सां न तंग ।।
चूल्लू ही भर जो पानी में गज़ भर उछल चले ।।
क्यों जंगे गुफ़्तगू को तुम उठ दौड़े इस क़माश,
करते जो भरी पायचः होता न परदा फ़ाश ।।
पर समझें कव यह वात जो कुन्दे हों नातराश,
तेग़े ज़वां को म्यान में रखते तुम अपने काश ।।
नाहक़ जो तुम इज़ार से वाहर निकल गए ।।

× + ×

इस घटना के वाद सैयद इंशा में गर्व की मात्रा और बढ़ गई और अब हर ग़ज़ल में आत्मश्लाघा का आदेश रहने लगा, यहाँ तक कह गए कि मेरे और इन लोगों

की रचनाओं में उतना ही अंतर है, जितना कि कलामे इलाही और मुसेलिमे कज़्ज़ाव की अल्फ़ेल माल्फ़ेल में।

मुशायरों में बादशाह भी अपनी ग़ज़ल भेजा करते थे। और बादशाहों की रचनाएँ जैसी होती हैं, वह तो मालूम ही है। सैयद इंशा ने उनसे यह शिकायत की कि अमुक अमुक व्यक्ति आपकी ग़ज़लों की हँसी उड़ाते हैं। यद्यपि बादशाह का इन कुलीन ख़ानेज़ादों पर हर तरह का अख्तियार था और अगर वे चाहते तो उन्हें बरबाद कर सकते थे, लेकिन इंशा के कहने के कारण इतना किया कि मुशायरों में अपनी ग़ज़लें भेजनी बंद कर दी। यारों को भी इनके इस तरह महज़ शिकायत करने की ख़बर लग गई। उन्हें इसका बहुत रंज हुआ। इसी घटना के बाद जो मुशायरा हुआ, उसमें कमर बाँधकर निपटने आए। यहाँ तक कि कुछ लोग हरवे हथियार से लैस होकर और भाई बंद और दोस्तों को साथ लेकर आए। कुछ तो इधर उधर छिपा रखा था। पीरों और बुजुर्गों की मनौतियाँ भी माँगी गई थीं। मुशायरे में वली उल्लाह मुहीब ने यह क़ितः पढ़ा :—

मज्लिस में चुके चाहिए झगड़ा शुअरा का
ऐसे ही किसी साहिबे तौक़ीर के आगे
यह भी कोई दानिश है कि पहुँचे यह क़ज़ाया
अकबर तई या शाह जहाँगीर के आगे ।।

मिर्ज़ा अज़ीम बेग ने कहा, बाबा, मैंने अपनी :—

अज़ीम अब गो हमेशा से है यह शेर हकना शिआर अपना,
तरफ़ हर एक से हो बहस करना नहीं है कुछ इफ़्तख़ार अपना ।।
कई सुखन बाज़ खंड गोयों में हो न हुआ एतबार अपना,
जिन्हों की नज़रों में हम सुबक हैं दिया उन्हीं को वक़ार अपना,
अजब तरह की हुई फ़राग़त गदहों पे डाला जो बार अपना ।।

किसी लहरें मारती हुई नदी के आगे घास फूस की क्या बिसात थी। सैयद इंशा ने एक ग़ज़ल आत्मश्लाघा भरी लिखी और उस मुशायरे में पढ़ी और अपने तो लोगों के दिलों पर ग़ज़ब ढाया :—

एक तिफ़्ल दबिस्तां मेरे आगे।
क्या मुँह है अरस्तू जो करे चूँ मेरे आगे ।।

क्या माल भला क़स्रे फ़रीदूँ मेरे आगे।
काँपे है पड़ा मुम्बदे गरदूँ मेरे आगे ।।

मुरज़ाने उलि अज्नए मानिंद कबूतर।
करते हैं सदा अज्ज़ से यूँ यूँ मेरे आगे ।।

मुँह देखो तो नक़्क़ारची पीले फ़लक भी ।
नक़्क़ारे बजाकर कहे दूँ दूँ मेरे आगे ।।

हूँ वह जबरूती कि गरोहे हुक्मा सब ।
चिड़ियों की तरह करते हैं चूं चूं मेरे आगे ।।

बोले है यही ख़ामः किस किस को मैं बाँधू ।
बादल से चले आते हैं मजमूँ मेरे आगे ।।

मुजरे को मेरे खुसुओ परवेज़ हो हाज़िर ।
शीरीं भी कहे आके बला लूँ मेरे आगे ।।

क्या-आके डरावे मुझे ज़ुल्फ़े शबे यल्दा ।
है देव सफ़ेदे सेहरी जूँ मेरे आगे ।।

वह मारे फ़लक कहकशां नाम है जिसका ।
क्या दस्त जो बल खा के करे फूँ मेरे आगे ।।

+ + +

सैयद इंशा के बाद हकीम मीर क़ुदरतुल्ला ख़ाँ क़ासिम के शेर कहने की बारी आई । इन्होंने इतना कहा कि सैयद साहिब, ज़रा इसको भी मुलाहिज़ा कीजिए । मुशायरे के अध्यक्ष को ऐसी आशंका हुई कि प्रत्युत्तर में शायद सैयद इंशा की निंदा की जाय । आपस की अप्रियता हद से ज़्यादा न बढ़ जाय, इसलिये उसी समय उठे कि दोनों में मेल करवा दें । सैयद इंशा ने भी इस अवसर पर अपनी कुलोचित सौजन्यता और शिष्टता बर्ती । उठकर हकीम साहिब के गले लिपट गए और कहा कि हज़रत हकीम साहिब, आपने न सिर्फ़ मेरे चचेरे भाई हैं, बल्कि एक विद्वान् और प्रतिष्ठित शायर हैं । भला मैं आप पर कटाक्ष कैसे कर सकता हूँ अलबत्ता मुझे मिर्ज़ा अज़ीमबेग से शिकायत है कि वह ख़्वाह-मख़्वाह बददिमाग़ी करते हैं । दाद देना तो दरकिनार वह मेरे शेर पर सर तक नहीं हिलाते । आख़िर किस बिर्ते पर । मतलब यह कि इस घटना के परिणाम स्वरूप इन लोगों में फिर से सुलह हो गई और आपसी सद्भावपूर्ण संबंध फिर से स्थापित हो गया ।

उस समय दिल्ली में बादशाह केवल शतरंज के बादशाह थे । नीच और क्रूर गुलाम क़ादिर बादशाह को धनहीन ही नहीं दृष्टिहीन भी कर गया था । लेकिन फिर भी सैयद इंशा उनसे अपना स्वार्थ हज़ार तरह से साध किया करते थे । उदाहरण के लिये जुमरात का दिन होता तो बातें करते करते सहसा चुप हो जाते और कहते कि पीरो मुर्शिद, इस गुलाम को अब जाने की इजाज़त दें । बादशाह कहते ख़ैर तो है, कहाँ जाओगे । इंशा कहते, हुज़ूर आज जुमरात है । चाहता हूँ कि नबी करीम जाऊँ । वह दीन दुनिया के बादशाह का दरबार है । वहाँ कुछ दुआ माँगूँ । शाह आलम संमान सूचक शब्दों में कहते, हाँ, हाँ भई ।

ज़रूर जाना चाहिए । सैयद साहिब, भई मेरी ओर से भी कुछ दुआ मांग देना । इंशा कहते, 'हुज़ूर, इस दास की और कौन सी दुआ हो सकती है यही दीन की आरज़ू है, दुनिया की मुराद है। यह कह कर फिर चुप हो रहते । बादशाह कुछ और बात करने लगते । कुछ क्षणों के बाद सैयद इंशा फिर बोल उठते, पीरोमुर्शिद, फिर तो इस ग़ुलाम को हुक्म दीजीए । बादशाह कहते कि, हैं, ऐ भई इंशाअल्लाह ख़ाँ, तुम अभी गए नहीं ? ये कहते, हुज़ूर बादशाह आलीजाह के दरबार से ग़ुलाम ख़ाली हाथ क्यों कर जाय, कुछ पूजा भेंट, कुछ चिराग़ी के लिये बख़्शिश तो चाहिए ही । बादशाह कहते, हाँ भई, दुरूस्त, दुरूस्त । मुझे तो इसका ख़याल ही नहीं रहा । यह कहकर जेब में हाथ डालते और कुछ रुपये निकाल कर दे देते । मीर इंशाअल्लाह ख़ाँ लेते और दो एक शब्द आशिर्वाद के कह कर फिर कहते कि हुज़ूर, दूसरी जेब में भी अगर आप हाथ डालें तो फ़िद्वी का काम पूरा हो, क्योंकि वहाँ से फिरकर आना भी तो है । बादशाह कहते, हैं, हाँ भई, सच है, सच है और भला वहाँ से दो दो खजूरें तो किसी को लाकर दो । बाल बच्चे क्या जानेंगे कि तुम आज कहाँ गए थे । इस प्रकार अक्सर अपनी वाक्पटुता से ये अपना उल्लू सीधा कर लिया करते थे । लेकिन फिर यह कब तक आख़िर दिल्ली से दिल उचाट हुआ, लखनऊ में आसफ़ुद्दौला की उदारता की तुलना में लोग हातिम का नाम भूल गए थे । और वहाँ के निवासी भी ऐसे गुणग्राही थे कि वहाँ जो दिल्ली से गया फिर न वापस हुआ । इसीलिए सैयद इंशा ने भी उसी ओर मुड़ने की ठानी । वहाँ पहुँचते ही इनकी विद्वता और प्रतिष्ठा के ज़ोर और शायरी के शोर से वहाँ के मुशायरे गूंज उठे । अपनी पुरानी नमकख़्वारी के संबंध के आधार पर मिर्ज़ा सुलेमान शिकवा की सरकार में पहुँचे । वह शाह आलम के बेटे थे । बाप दादा के पोषित व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति और आत्मीयता दिखाना उचित ही था । इसके अतिरिक्त ये शायर भी थे । इसलिए इनके यहाँ दिल्ली के साधारण लोगों के अलावा शायरों का जमघट भी दोनों वक्त रहता था । सौदा, मीर, सोज इत्यादि के जीवन-पृष्ठ को ज़माना उलट चुका था । मसहफ़ी, जुर्अत. मिर्ज़ा क़ातील इत्यादि शायरों और शेर समझनेवालों के जलसे रहते थे । जो महफ़िल ऐसे गुलदस्तों से सजाई जाय, वहाँ की रंगीनियाँ क्या कुछ होंगी, जी चाहता है उनकी बातों से एक गुलज़ार खिला दूं । लेकिन अक्सर ये फूल ऐसे भद्दे काँटों में उलझे हुए हैं कि उन्हें इन पन्नों पर फैलाते डर लगता है कि कहीं इनके काग़ज़ फट कर पुर्जे-पुर्जे न हो जायँ ।

पहले मिर्ज़ा सुलेमान शिकवः मसहफ़ी से इस्लाह लिया करते थे । जब सैय्यद इंशा पहुँचे तो मसहफ़ी का मसहफ़ उन्होंने ताक़ पर रख दिया बुज़ुर्गों से यह सुना है, और रचना शैली से भी यह पता चलता है कि शाहज़ादा साहिब के दीवान की ग़ज़लें और अक्सर अन्य ग़ज़लें भी सैय्यद इंशा की ही इस्लाह की हुई या कही हुई हैं । इनके दीवान के पहले ही मत्ले से यह बात ज़ाहिर होती है :—

दिला अब तो इश्क़ के दरिया में डाला,
तवक्कलना अल्लाह है ताला ॥

क्योंकि इस प्रकार का पद-प्रयोग सैय्यद इंशा की ही विशिष्टता थी।

यों तो सैय्यद इंशा को शाहज़ादा साहिब के अलावा अन्य सभी अमीरों और रइसों के दरबार में भी प्रतिष्ठा और संमान प्राप्त था, फिर भी इनकी उच्चाकांक्षाएँ अपनी उड़ान के लिये बराबर डैने खोले रहती थीं। वहाँ तफ़ज्जुल हुसेन ख़ाँ नाम के एक व्यक्ति थे। अबुल फ़ज़ल और सैय्यदुल्लाह ख़ाँ शाहजहानी के बाद अल्लामा की पदवी यदि किसी को प्रदान की गई तो इन्हीं को। वे अपनी विद्वत्ता और व्यवहारकुशलता से इधर अंग्रेजी सरकार के विश्वासभाजन और उधर लखनऊ सल्तनत के दरबार के एक विशिष्ट सदस्य और सादत अली खाँ के सलाहकार भी बन गए थे। इनके मेलजोल से गुण और वैभव दोनों ही प्राप्त किए जा सकते थे। इसलिए सैय्यद इंशा ने भी इनसे हेलमेल बढ़ाया। खान साहिब भी इंशा की योग्यता और कुलीनता के कारण इन्हें अपने निकट एक संमानित स्थान देते थे और इस बात की चिंता में रहते थे कि इनकी परिस्थिति के अनुकूल इनके जीविकोपार्जन की कोई अच्छी व्यवस्था की जाय। एक दिन अपनी वाचालता के प्रवाह में सैयद इंशा एक शब्द बोल गए, जिसके दो अर्थ लगाए जा सकते हैं। लेकिन उर्दू में इसका जो अर्थ होता है, उस अर्थ में उसका ऐसे जल्सों में प्रयोग करना शिष्ट नहीं समझा जाता। चूंकि यह स्वयं दूसरों की रुचि के एक अभ्यस्त पारखी थे, इसलिये कहने को तो कह गए, लेकिन ख़ान अल्लामा की नज़र ताड़कर बोले कि मारवाड़ी ज़बान में इस शब्द का प्रयोग बेवकूफ़ के लिये होता है। इन्होंने कुछ सोचकर कहा कि ख़ैर ख़ान साहिब, अंदाज़ मालूम हो गया। इंशा अल्लाह जल्द कोई सूरत हो जायगी। दूसरे ही दिन नवाब सादत अली ख़ाँ से इनके प्रतिष्ठित और योग्य व्यक्तित्व की चर्चा करके कहा, आपकी सोहबत में इनका होना हर छोटे बड़े काम के लिये अच्छा होगा।

यह सुनकर उन्होंने इनसे मिलने की इच्छा प्रकट की। दूसरे दिन ख़ाँ साहिब सैय्यद इंशा को उनके यहाँ ले गए और वहाँ नौकरी लगते ही इंशा ऐसे शीरोशकर हुए कि फिर नवाब साहिब को इनके सिवा और किसी की बात में मज़ा ही न आता था।

इसमें संदेह नहीं कि अपने रोज़मर्रा की शास्कीय शिष्टाचार बर्तने और प्रशासनिक व्यवस्था में लगे रहने के कारण नवाब साहिब में एक प्रकार की बौद्धिक मामलों में रूचि खो बैठे थे। मगर एक जीती जान को कभी कभी मनबहलाव और मनोरंजन के लिए कुछ समय चाहिए ही। और सैय्यद इंशा तो ऐसे व्यक्ति थे, जो हर महफ़िल में गुलदस्ता और हर बाग़ में फूल जैसे खिल उठते थे। यों तो ये किसी ख़ास सेवाकार्य में नियुक्त नहीं किये गए, किंतु दरबारदारी के साथ हरदम की मुसाहबत ही में लग गए। अपने इस प्रतिष्ठाकाल में इन्हों ने बहुत से लोगों और विशेष कर अनेकों विद्वान् और कुलीन व्यक्तियों को राज़ी दिलवा करने की और यश कमाया, जिससे अधिक मूल्यवान् जीवन में कोई और कमाई नहीं हो सकती।

हज़ारों व्यक्तियों को अच्छे अच्छे पदों पर पहुँचाया। मगर स्वयं शायर ही रहे। इसका कुछ संकेत इनकी निजी परिस्थिति से मिलता है।

समय का दस्तूर है कि वह तंदुरूस्ती से रोग और जिंदगी से मौत पैदा कर देता है। मुसाहबत की बेतकलुफ़ी में एक दिन हँसी हँसी में ही नवाब साहब और सैय्यद इंशा में यकायक वैमनस्य पैदा हो गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि यह अपनी नौकरी से बरख़ास्त कर गिए गए। और इसके बाद यह चहकता हुआ बुलबुल अपने घर के पिंजड़े में बंद रहने लगा। और इसी उपेक्षित और अज्ञात अवस्था में इनकी कब मृत्यु हुई, इसकी भी किसी को ख़बर न हुई। बसंत सिंह निशात के तारीख़ी क़िता : जिससे मौत की तिथि निकाली जाती है : से मालूम होता है कि इनकी मृत्यु सन् १२३३ हि० में हुई।

ख़बरे इन्तक़ाले मीर इन्शा,
दिले ख़मदोद: ता निशात ॥
साले तारीख़े ऊ ज़जाने अजल,
उर्फ़िए वक़्त बूद इन्शा-गुफ़त ॥

१--इनके जीवन वृतांत से मालूम होता है कि इनकी रचनाओं का संग्रह काफ़ी समृद्ध होगा। लेकिन जो मेरी नज़र से गुज़रे हैं, उनमें से उल्लेखनीय ये हैं :—

(१) कुल्लियात जिसमें उर्दू ग़ज़लों का एक पूरा दीवान, (२) दीवान रेख़्ती और रेख़्ती में पहेलियाँ और मुस्तज़ाद, तिलिस्मी नुस्ख़े और पुश्तु का व्याकरण, (३) उर्दू के क़सीदे, हम्द, नात, धार्मिक नेताओं की स्तुति, दिल्ली के बादशाह की स्तुति और धनी मानी व्यक्तियों का स्तवन, (४) फ़ारसी भाषा का उसी भाषा में व्याकरण, (५) फ़ारसी की ग़ज़लों का दीवान, (६) फ़ारसी में लिखी हुई मस्नवी शीर बिरंज, (७) एक फ़ारसी की मस्नवी जिसमें सभी अक्षर बिना बिंदु के लिखे हैं और उसके शीर्षक भी बिना बिंदु के हैं, (८) फ़ारसी भाषा में लिखा हुआ नवाब सादत अली ख़ाँ का शिकारनामा (९) गर्मी, भिड़ों, खटमलों, मखियों, पिस्सुओं इत्यादि की शिकायत में लिखी निंदात्मक ग़ज़लें, (१०) एक आशिकाना मस्नवी, (११) हाथी और चंचल प्यारी हथिनी का व्याह, (१२) उर्दू और फारसी में विविध शेर, मुअम्मे, रूबाइयाँ, तारीख़ें, पहेलियां चीस्तानें, (१३) बिना बिंदुओं का दीवान, (१४) अरबी का मआतए आमिल का फ़ारसी में अनुवाद, (१५) उर्दू में खिला मर्ग़नामा, जिसमें मुर्ग़बाज़ी के नियम मस्नवी के तौर पर लिखें हैं, जो इनके स्वभाविक हास परिहास से भरा है।

२--**दरियाए लताफ़त**--उर्दू का एक व्याकरण, मंतिक़, माने, बयान इत्यादि में।

३--एक दास्तान उर्दू गद्य में ऐसी लिखी है कि इसमें एक भी शब्द अरबी फ़ारसी का नहीं आने दिया। किंतु उर्दू के भाषात्मक स्तर से ये रचना कहीं

गिरी नहीं। हाँ, वहीं चोचले, वहीं चुहलें इसमें भी भरी पड़ी हैं। यह पुस्तक बस लगभग ५० सफ़हों की होगी। इसकी थोड़ी इबारत नमूने के तौर पर लिखता हूँ :—

"अब यहाँ से कहने वाला यूँ कहता है। एक दिन बैठे बैठें यह बात अपने ध्यान चढ़ी कोई कहानी ऐसी कहिए, जिसमें हिंदी छूट और किसी बोली की पुट न मिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। तब मेरा जी फूल कर कली के रूप खिले। अपने मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढ़े लिखे पुराने ठाग बड़े ढाग यह खड़ाग लगाए। सर हिला कर, मुँह थुतका कर, नाक-भौं चढ़ाकर गला फुलाकर लाल आँख पथरा कर लगे कहने, यह बात होती दिखाई नहीं देती। हिंदुईपन भी न निकले। और भाखापन भी न ठस जाय। जैसे भले मानुस अच्छे लोग आपस में बोलते चले आते हैं। ज्यों का त्यों वही सब डोल रहे और छाँव किसी की न पड़े। यह नहीं होने का। मैंने उनकी ठंडी साँस की फाँस का ठोका खा कर झुझला कर कहा, मैं कुछ ऐसा बड़ा बोला नहीं जो राई को परबत कर दिखाऊँ और झूठ सच बोल कर उँगलियाँ नचाऊँ। और बेसुरी और बेठिकाने की उल्झी तानें लिये जाऊँ। मुझ से न हो सकता तो भला मुँह से क्यों निकालता। जिस ढब से होता इस बखेड़े को टालता। अब इस कहानी को कहनेवाला यहाँ आप को जलाता है। और जैसा कुछ उसे लोग पुकारते हैं वह सुनाता है। अपना हाथ मुँह पर फेरकर, मूँछों को ताव देता हूँ और आप को जताता हूँ। जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव भाव और राव-चाव और कूद-फाँद और लपट-झपट दिखाऊँ। आप के ध्यान का थोड़ा जो बिजली से भी बहुत चंचल है, देखते ही हिरन के रूप में अपनी चौकड़ी भूल जाय।" चौतुका :—

घोड़े पै अपने चढ़ के आता हूँ मैं,
करतब जो जो हैं सब दिखाता हूँ मैं,
उस चाहनेंवाले ने जो चाहा तो अभी,
कहता जो कुछ हूँ कर दिखाता हूँ मैं॥

ग़ज़लों का दीवान :—एक विचित्र रचनात्मक मायाजाल है। भाषा पर पूर्ण अधिकार वर्णन की रोचकता, मुहावरों की लावण्यता, शैली की सुघर काट-छाँट सभी निरालीं हैं, मगर इनकी छटा इतनी परिवर्तनशील है कि अभी कुछ है अभी कुछ। जो ग़जलों या ग़ज़लों के शेर पिंगल के सिद्धांतों पर आधारित हैं, वे ऐसे हैं कि उनका जोड़ मिलना कठिन है। और जहाँ तबियत और किसी ओर जा पड़ी तो उसका ठिकाना नहीं। ऐसीं ग़ज़लों में ग़ज़लियात के किसी भी नियम की पाबंदी नहीं। कारण यह है कि इस शायर के पास विषयों और शब्दों का इतना बड़ा ज़ख़ीरा था कि उससे जिस प्रकार की चीज़ चाहता था, निकाल कर रख देता था। जिस मुशायरे में इन्होंने इस तई पर ग़ज़ल पढ़ी।

लगा के बर्फ़ में साक़ी सुराहिए में ला।
जिगर की आग बुझे जल्द जिससे वह शै ला॥

'यह कुल पाँच शेरों की ग़ज़ल थी' उस मुशायरे में जुरअ़त और मसहफ़ी भी मौजूद थे। मगर सब ने अपनी अपनी ग़ज़लें हाथ से रख दीं कि अब उन्हें पढ़ना बेकार है। एक मुस्तज़ाद की तर्ह में जब लगातार इन्होंने तीन ग़ज़लें पढ़ीं तो मुशायरे में एक धूम सी मच गई। मसहफ़ी और जुरअ़त भी उस वक्त मुशायरे में उपस्थित थे और उन्होंने भी ग़ज़लें पढ़ीं। लेकिन वह वैसे ही थीं, जैसे एक जड़ाऊ ज़ेवर के आगे तिनका। जुर्अ़त एक मौके पर कहते हैं :—

अब तलक आँखों में साक़ी है नशा छाया हुआ,
चंपई रंग उसका और जोवन भी गदराया हुआ ।।

और सैयद इंशा कहते हैं :—

बर्क़ चश्मक ज़न है साक़ी अब्र है आया हुआ,
जामें मैं दे तू किधर जाता है मचलाया हुआ ।।

और इस ग़ज़ल के अंतिम मिस्रे ने तो बस कमाल कर दिया :—

दिल लगाया है कहीं इंशा ने शायद दोस्ती,
इन दिनों आता नज़र है सख़्त घबराया हुआ ।।

रेख़्ती के शेख़ रंग का तो सादत यार ख़ाँ रंगीन ने आविष्कार किया। किंतु इसमें सैय्यद इंशा की रंगीन तबियत ने भी उनसे कम रंग नहीं घोला। यह स्पष्ट है कि भोग-विलास और आमोद-प्रमोद का जीवन और आमोद-प्रिय लोगों की संग-सुहबत ऐसी ओछी और गंदी काव्य-प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने में वही तासीर रखती है, जो पेड़ पौधों के लिये खाद। इसलिये दिल्ली के फ़ाक़ामस्तों में तो कम, पर लखनऊ के वातावरण में इसकी पूरी तरक़्क़ी हुई।

जान साहिब का दीवान इसका नमूना मौजूद है। ऐसे वातावरण में ज़नाना मिज़ाजी और साहसहीनता और बुज़्दिली जो जनसाधारण में पैदा हुई, उसके लिये इस प्रकार की शायरी का भी काफ़ी उत्तरदायित्व था, ऐसा समझना ग़लत न होगा। पर इस अंदाज़ में जो पहेलियाँ और तिलिस्माती नुस्ख़े लिखे हैं, उनकी रचना शैली काफ़ी मज़ेदार है।

हिंदुस्तान की विभिन्न प्रादेशिक भाषाएँ तो मानो उनके घर की लौंडियाँ थीं। अभी पंजाब में खड़े हैं तो अभी पूरब में बैठे बातें करते हैं। कभी ब्रजवासी हैं, कभी मरहठे, कभी कश्मीरी, कभी अफ़ग़ान। मानों सब भाषाओं में इन्होंने कुछ न कुछ कहा है। यहाँ पूरबी के इनके दो शेर प्रस्तुत करता हूँ, जो सुबोध भाषा में लिखे हैं :—

पथकरी में फिकर भई मुफत आए के,
झाऊ मियाँ कोओं है जो पट किस घुमाय के।

इंशाला खाँ मियाँ बड़े फाज़िल ज़हीन हैं,
सदरः पढ़े हैं जिन सेती तिलबिलम ग्राय के ।।

इनके शब्द रेशम के धागे पर मोती की तरह ढलकते ग्राते हैं। इसका सबब यही कह सकते हैं कि इनकी काव्य-रचना की भाषा ग्रौर शैली में एक स्वाभाविक प्रवाह ग्रौर प्रांजलता थी। इनके शब्दों के उपयुक्त प्रयोग ग्रौर इनका शब्द विन्यास जो इनके शैली की विशिष्टता थी, इनकी रचनाग्रों की गठन को ग्रार्गन बाजे की तरह सुस्वर बना देते हैं। ग्राश्चर्य तो यह है कि इनकी भाषा, जो प्रांजलता का एक सांचा है, उससे ग्रगर निरर्थक शब्द भी किसी रूप में मिलता है, जो इन्होंने शेख मसहफ़ी के संबंध में लिखीं, जो यहाँ ग्रपनी ग्रश्लीलता के कारण उद्धृत नहीं की जा रही हैं।

इनके क़सीदे बड़ी धूम धाम के हैं। शब्दों की सजधज, कल्पना की ऊँची उड़ान की कोई सीमा नहीं। किंतु कभी कभी चलते चलते एक ऐसी चाल बदलते हैं कि ग्रादमी हैरान रह जाता है। वह यही बात है कि ग्रपनी ज़बानदानी के ग्रावेश ग्रौर धारा प्रवाह की तरंग में ग्राकर कभी किसी चुलबुले प्रशंसा के वर्णन की कोई सुंदर युक्ति, कोई नई काँट-छाँट ऐसी सूझ जाती है कि उसे प्रयोग किए बिना नहीं रह सकते। ग्रौर वहीं क़सीदे की गंभीरता ग्रौर मर्यादा के सिद्धांत इनके हाथ से जाते रहते हैं। इसमें कभी तो इनकी रचना में शोख़ी ग्रौर एक प्रकार का बाँकपन पैदा हो जाता है ग्रौर कभी वह एक निम्न स्तर पर उतर जाती है। मगर फ़िर मज़ा यह है कि इनमें भाषा संबंधी जो स्वाभाविक रुचिपूर्णता है, वह इनकी रचना को स्वाद रहित ग्रौर नीरस नहीं होने देती। ग्रौर इसी वास्ते जिस दरबार या जल्से में क़सीदा पढ़ते थे, सुभान ग्रल्लाह ग्रौर वाह वाह कहने के सिवा सुनने वालों को ग्रौर किसी बात की सुध ही नहीं रहती थी। इनके इस ग्रतिशयता का कारण यह था कि इनका भावबोध ग्रत्यंत सशक्त था ग्रौर यह उसके प्रयोग में कोई संयम न बरतते थे। इन क़सीदों में काफ़ी मज़ा ऐसे प्रसंगों में ग्राता है, जहाँ जैसे किसी महान् व्यक्ति की प्रशंसा करते करते तुरत उससे कहते हैं कि ईरान के बादशाह दारा तुम्हें ईरान में बैठाकर कह रहे हैं ग्रौर झट कुछ शेर फ़ारसी के इस तरह कह जाते हैं कि जैसे विदेश से सीधा ग्राया हुग्रा ग्राग़ा ग्रपनी ऐसी वैसी बातें कह कर शीराज़ी मदिरा की दो दो घूंट पिला जाय। फिर उसी के बराबर ग्ररश का एक कुलीन ग्ररबी, जुब्बा पहने, ग्रबा ग्रौर ग्रम्मामः सजे सामने ग्रा खड़ा होता है। फिर शाह बुख़ारा तुर्किस्तान से तुर्की में ग्रावाज़ देते हैं। ग्रौर साथ ही ग्राली जाह क़ाबुल ग्रपनी ग्रफ़ग़ानी में यह कहते हैं। ग्रौर ब्रज की गोपियाँ यूं कहती हैं। ग्रौर पंजाब में झंग सियाले की जट्टियाँ यूँ कहती हैं। इत्यादि। तात्पर्य यह कि इस प्रकार विभिन्न प्रकार की रचना-विलक्षणता इनके दीवान में जगह-जगह पाई जाती है।

फ़ारसी भाषा के भी यह एक अच्छे विद्वान् थे। इस भाषा में जब यह नज़म (पद्य) या नस्र (गद्य) लिखते थे तो यही मालूम होता था कि शीराज़ी बुल्बुल सामने बोल रहा है। लेकिन उपर्युक्त दोष फ़ारसी रचनाओं में और भी स्पष्ट हो जाते हैं। क्योंकि फ़ारसी भाषा में शब्दाडंबर की बहुत अधिक गुंजाइश है। और विषयों की तो इतनी बहुलता है कि चाहें तो आसमान से तारे उतार लाएँ। उर्दू की तरह फ़ारसी के कसीदों में भी अपेक्षित संयम नहीं बरतते। उसके नियमों की भी अवहेलना कर मुहावरों की नमकीनी और बोलचाल की शोख़ी से अपनी रचना में मज़ा पैदा करने का प्रयास करते हैं। और निस्संदेह इस उद्देश्य में इन्हे पुरी सफलता भी प्राप्त होती है, क्योंकि भावों की अभिव्यक्ति और रचना की प्रांजलता के विचार से इन्हें फ़ारसी भाषा पर भी पर्याप्त अधिकार था। इन्होंने अपने एक क़सीदे को जिसमें सभी शब्द बिना नुक्ते के हैं, अनेक अलंकारों से सुसज्जित कर, अपने रचना-कौशल का परिचय दिया है और बड़े गर्व से इसका नाम तुरूल्क़लाम रखा है। इस क़सीदे पर इन्हें स्ववं भी बड़ा वर्ग है।

इनके फ़ारसी के दीवान में फ़ारसी का भी यही हाल है। बातों ही बातों का मजा है। जिस ग़ज़ल को देखो जैसे दो ईरानी खड़े बातें कर रहे हैं। और बातें क्या केवल मस्ख़रापन। विषयतत्व कुछ भी नहीं। यह सब कुछ है, किंतु भाषा की रोचकता और वर्णन की सुघरता की जितनी प्रशंशा की जाय थोड़ी है। और इसमें कुछ संदेह नहीं कि यदि कुछ क्षणों के लिये अपना स्वाभाविक मस्ख़रापन छोड़ देते और अपनी भाषा पर थोड़ा संयम बरतते तो भगवान् जाने अपने समय के ख़ाक़ानी और अनवरी होते या सादी वा ख़ुसरो।

किसी मौक़े पर एक हाल के आए हुए ईरानी को पद्य में पत्र लिखते हैं। इस पत्र की भाषा, और अंतर्विषय दोनों ही अत्यंत रोचक हैं। और इससे यह भी पता चलता है कि उस समय वे अधिकतर घर ही पर रहा करते थे।

नज़म में लिखा गया पत्र :—

तू ऐ नसीम सेहर-गह ज़जानिवे इन्शा,
बरू बख़िदमते हाजिव अलीए शीराज़ी,

सलामे शौक़ रसानो वगो व-अजज़े न्याज़,
कि मैं मज़द वकमाले तू हर क़दर नाज़ी,

वले ज़नफ़ख़ए रूहुल-कुदर मदद आही,
अज़ा मसीह ज़मानो सरासर मज़ाज़ी,

हमाए आलिमें कुदसी-सहीमे त अन्क़ास्त,
चो ताएराने बहिश्त वरीं ख़श आवाज़ी,

क़सीदहो ग़ज़ले फ़िल्वदीह अ्रत दादम,
अ्लुब्बे मरतबः दारी बलंद परवाज़ी ।।

कसे बपेशे तू दीगर चे लाफ़े शेर ज़नद,
बफ़िक्र सादी शीराज़ रा तू अ्रंबाज़ी ।।

बखाने रुस्तमे दस्तानी ए़ नेकीकिरदार,
बहर तरफ़ के कुनी क़स्द रख़्श में ताज़ी ।।

हनोज़ क़ैद न दारी चो सर्व अ्राज़ादी,
बहर कुज़ा के दिलत में कशद रअ्रफ़ज़ारी ।।

तू सर बमुह्र नए हमची नामए शाहाँ,
अ्रगरचे फ़िक़रए मख़सूस मतलबे राज़ी ।।

वई जरीमः के हाज़िर बख़िदमत नशुदम,
तबक़्क़ो ईके ज़चश्मे ख़दम नयंदाज़ी ।।

बदूने हुक्मे वज़ीरुलममालिक ए अ्रफ़ग़ा,
चसां कुनम हरकते नौकरीस्त या वाज़ी ।।

नमाज़ो रोज़ा माफ़-अ्रस्त उज्र अगर बाशद,
बगो बराए चे दीगर बशिकवा परवाज़ी ।।

वईद नीस्त पैए सोर अ्रगर बख़ानए मन,
क़दम गुज़ारी व गाहे ज़लुत्फ़ बनवाज़ी ।।

+ + +

इन्होंने अ्रबी भाषा में भी कुछ कविताएँ रची हैं। अ्रौर उर्दू की ग़ज़लों में अ्रबी वाक्यों का ऐसी सुंदरता से प्रयोग करते हैं, जैसे अ्रँगूठी में नग लगा दे। ऐसी ही एक ग़ज़ल का मत्लः हैं :—

सनमा बेख़्बे करीम यहाँ वह हर एक तेरा है मुब्तला,
कि अ्रगर अ्रलस्तो बेरब्बेकुम तू कहे तो कहदें अ्रभी बला ।।

ऐ इश्क़ मुझे शाहिदे अ्रसली को दिखा ला,
कुम ख़ुज़ बेयदी वफ़फ़कल्लाहो तआला ।।

मुझे क्या मलाएके अ्रर्श से मुझे इश्क़ तेरा है ऐ ख़ुदा,
बहुत उनको लिखूँ तो वस्सलाम अ्रला मनित्तबाअ्रल्हौदा ।।

+ + +

भाता है ये भूक प्यास सब कुछ सहना,
और रोज़ों में इंतज़ार मग़रिब रहना ।।

आपस में सहरगही की चुहलें और फिर,
किस्सोमे ग़दन नवैतो उनका कहना ।।

भाता है ये भूक प्यास सब कुछ सहना,
और रोज़ों में इंतज़ारे मग़रिब रहना ।।

आपस में सहरगही की चुलें और फिर,
विस्सीने ग़दन नवेतो उनका कहना ।।

+ + +

आरामो निशातो ऐश करदंद हजूम,
एजाबो क़बूल जुमलगी शुद मालूम ।।
बा दुख़्तरे रज़ पीरेमुग़ां उक़दम बस्त,
क़दक़ल्तो क़बिल्तो बिस्सिदाक़िल मालूम ।।

÷ + +

मैं कूचये इश्क़ की जो करता हूँ सेर,
आराम में और उसमें तो ज़ाती है बैर ।।
हर गाम मेरी ज़बां पै जारी इंशा,
रब्बे यस्सिर है और तम्मिमबिलख़ेर ।।

+ × ×

मस्नवी शीर बिरंज :—इन्होंने फ़ारसी भाषा में मौलाना रोम की शैली में लिखी है। किंतु यह नहीं मालूम होता कि इस शैली की खिल्ली उड़ाते हैं या उसका अनुकरण करते हैं, क्योंकि कहीं तो साधारण बोलचाल की भाषा प्रयोग करते हैं और कत्तीं से परे के शब्दों का प्रयोग करके शब्दाडंबर रचते हैं। और स्थान-स्थान पर अरबी भाषा के शेर और मिस्रों का प्रयोग भी करते जाते हैं। किंतु विषय वस्तु केवल मस्ख़रापन की बातें और क़िस्से कहानियाँ हैं। उन्हें कविता के रूप में अध्यात्म का पुट दे देते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्होंने खीर में नमक डाल कर आध्यात्मिक ज्ञान को एक उपहास का विषय बनाया है। किंतु यह उनकी बाल्यकाल की रचना मालूम होती है।

शिकारनामा :—सादत अली खां का शिकारनामा फ़ारसी भाषा में लिखा गया है। इसमें भाषा की मिठास, शैली की चुस्ती और उसमें इनकी रुचि की चपलता ने जो

लुत्फ़ पैदा किया है, वह पढ़ते ही बनता है। यहाँ उससे कुछ उदाहरण के बिना जी नहीं मानता :—

शिकारनामा

ईं के कनूँ मीगुज़रद दर शुमार,
वस्त फ़ौजूँ अज़ दो सदी यक हज़ार ।।

साख़्तः दर खा़मये इन्शा वतन,
चंद हज़ार आहुये मुश्के ख़तन ।।

व कि कनूँ सैदे मुज़ामीं कुनम,
बारगीए नातिकः रा ज़ीं कुनम ।।

अज़ मददे शेरे ख़दाये वदूद,
सूरते अंक़ाए तरव परकशूद ।।

जेह्लोज़का रक़्स चो ताऊस कर्द,
मस्त शुदः आहुए सहरानवर्द ।।
ताऐरे एक़्बाल व नश्वोनुमा,
सायः फ़गन गश्त वसाने हुमा ।।

ख़ेज़ दिला सुब्हे सआदत दमीद,
फ़स्ले गुलो बाद वहारी वज़ीद ।।

अशरफ़े ख़ेले वज़राये ज़मां,
नाज़िमे मुल्के हमः हिंदस्तां ।।

सफ़दरो मनसूरो साख़ियो शुजाअ,
वस्त कमर अज़ पये क़त्ले सवाअ ।।

ताख़तः अज़ ख़ानः वअज़्मे शिकार,
कर्द वर बुर्जे असद जांनिसार ।।

+ \+ \+

दर तारीफ़ ख़ेमः ओ ख़रगाह वा नौबतो नक़्क़ारहो मा यत्अल्लक़ो बिज़्लेका :—

ताकि वज़द ख़ेमः ए ज़रीं तनाव,
आमदः दर बुर्ज़े हमल आफ़ताव ।।

गश्त ज़-नक़्क़ारः सदाए बुलंद,
ज़िंदःवमां [illegible] [illegible]गजंद ।।

Channel eGangotri.org

वज़ दुहले नुक़र: बरआमद बजोश,
ता बतवाँ ता वतवाँ हाँ ख़रोश ।।

हिल्लते सैदास्त दर ग्राईने मन,
दीने मनो दीने मनो दीने मन ।।

वाशुद: ज़ी सां दहने कर्रना,
वाद-बदेह वाद-वदेह वा-दुग्रा ।।

दुश्मने ई ख़ानः जिगर ख़ूं बवद,
दूं बवदो दूं बवदो दूँ बवद ।।

ऐश वरूँ ग्रज़ हदो ग्रंदाज़ शुद,
रस्में कुहन ग्रज़ सरे नौ ताज: शुद ।।

ग़लग़लये कोस ब-कीवाँ रसीद,
ग्राव शुद: ज़ूहरये वेवे सफ़ेद ।।

कोह ची ग़रीदने पीलश शुनीद,
सूरत ख़रतूम वे ग्रज़ दूर दीद ।।

गुफ़ वरूँ ग्रामद: ग्रज़ ज़ैर ग्रब्र,
सूर सराफ़ील पये सैद वब्र ।।

वक़्त हमा नस्त कि सीमुर्ग़ क़ाफ़,
बगुररद ग्रज़ कुल्लये लाफ़ो गज़ाफ़ ।।

ग्राँचे नदीदस्त फ़रीदूं बख़्वाब,
जुम्ल: मुहथ्यिास्त बरादर रकाब ।।

चूंकि वदीद ईं हम: ग्रज़मो शिकाव:,
लर्ज़ं वर उफ़ताद वर ग्रंदामे कोह ।।

× × ×

फ़ौजे ज़फ़र मौजे वईं इज़्ज़ो जाह,
गर्द रसानेद चो बर ग्रोज माह ।।

शैकतश इंशा बख़ते ज़र नविश्त,
फ़िक़रए तारीख़ मुज़फ़्फ़र नविश्त ।।

+ + +

खुद चो बर अस्प अरबी बर नशिस्त,
आमदः बर फ़ौजे ग़ज़लां शिकस्त ।।

अस्प चे अस्प अश्हबे बाद सबा,
अस्प मगो शहे रुख़े गुल्गूं क़बा ।।

अस्प बई शोख़ीए दिलचस्प को,
हूर बगो, अस्प मगो अस्प को ।।

अस्प मदां लभये शर्क़ अस्त ई,
अस्प कुजा चश्मके वर्क़ अस्त ई ।।

पेश रवे रौदते तबजये सलीम,
गाम नहद बर बरो दोशे नसीम ।।

ज़ेब दहे कोहो व्याबाने नजद,
क़ैस अगर बनिगरद आयद बवज्द ।।

सीरते लैला रसदश दर ख़याल,
बाहमः चालाकीओ हुस्नो जमाल ।।

बीनदश अज़ नादिरे किश्वरसिताँ,
वस्फ़ कुनद बा हमः ईरानियाँ ।।

+ + +

इन्होंने हज्वें (निंदात्मक कविताएँ) उर्दू में लिखी हैं। ख़्याल कीजिए कि जिन्हें अपना स्वाभाविक बाँकपन ग़ज़ल और क़सीदे में सीधा सीधा नहीं चलने देता, उन्होंने ऐसी कविताओं में कैसे छींटे उड़ाए होंगे।

आशिकाना मस्नवी :––बहुत संक्षेप और कम परिमाण में लिखी है और इसके विषय में कोई विशेष बात नहीं कही जा सकती। एक हाथी और चंचल प्यारी हथिनी की मूल कहानी अंग्रेज़ी में लिखी इनके हाथ आई थी। इनके जैसी पैनी दृष्टिवालों की आँख सदा ऐसे रोचक विषयों की ताक में रहती है। और यह तो तैयार माल मिला। तो इन दोनों का विवाह जिस धूमधाम से किया है, वह तमाशा देखने लायक़ है।

विविध रचनाएँ :—शैर, क़िते, पद्य में लिखे गए पत्र, रूबाइयाँ, पहेलियाँ, चीस्तानें, चुटकुल्ले––इन सब से दीवान भरा पड़ा है। मगर सबका आधार हास्य-विनोद है। स्पष्ट है कि विवेकपूर्ण पढ़नेवालों के लिए इनमें से कुछ तो ग्राह्य होगा और बहुत कुछ केवल बकवास।

दीवान बेनुक़ंत :––जिसके सभी अक्षर बिना नुक्ते के प्रयोग किए हुए लिख गए हैं। काव्य रचना-संबंधी एक साधारण अभ्यास है। इसके विषय में कुछ विशेष लिखने योग्य बात नहीं है।

मस्नवी मात: ए खामिल :––अरबी भाषा में फारसी काव्य-शैली के आधार पर लिखी गई एक रचना है। यद्यपि वह बुड्ढे होकर भी बच्चों से आगे दौड़ते थे, किंतु यह रचना उनके आरंभ काल की ही मालूम होती है।

दरियाए लताफ़त :––उर्दू भाषा का एक व्याकरण है। यद्यपि इस पुस्तक की शैली भी हास्य और विनोदपूर्ण है। मगर यह उर्दू का पहला व्याकरण है, जो किसी उर्दू भाषाभाषी ने अपनी ज़बान में लिखी है। इसमें पहले उर्दू बोलनेवालों के विभिन्न फ़िरकों की बोलियों के नमूने दिखाए हैं और उनमें भाषात्मक तथ्य और काव्यमर्मज्ञता दर्शाई है। फिर व्याकरण के नियम दिए हैं और मस्खरापन से लेकर भद्दी बातों तक कोई बात बाक़ी नहीं छोड़ी। फिर भी एक भाषावैज्ञानिक उसमें से भी कुछ ऐसे तत्व निकाल ले सकता है, जो समयोपरांत ढूंढने पर भी न मिलेंगे। इसके बाद कई अध्यायों में अरूज़ (छंदशास्त्र) क़ाफ़िया (अनुपास:) मंतिक़ (तर्कशास्त्र) मानी (अर्थ:) बयान (वर्णन) इत्यादि उर्दू भाषा में लाए हैं।

यह मिर्ज़ा क़तील की रचना है। मगर इस हम्नाम में सभी नंगे थे। उनके यहां भी सिवाय शुहदेपन के और दूसरी बात नहीं। फिर भी सच तो यह है कि जो कुछ है, मजे से ख़ाली नहीं है। कविता में ही छंदःशास्त्र के सिद्धांत और व्याकरण लिखे हैं। मगर तक़्तीअ में मफ़ाईलन, मफ़ाईलन, मफ़ाईलन की जगह कहते हैं परी ख़ानम, और फ़ाईलन, फ़ाईलन, फ़ाईलन, की जगह चित लगन, चित लगन चित लगन :—

मफ़उल मफ़ाइलन मफ़उल मफ़ाइलन,
बी जान परी ख़ानम बी जान परी ख़ानम ॥

और

फ़ाइलन मफ़ाईलन फ़ाइलन मफ़ाईलन,
चित लगन परी खानम चित लगी परीख़ानम ॥

पारिभाषिक शब्द भी नए नए रखे हैं। इसलिए पद्य के प्रकारों में मुसल्लम का नाम तिकड़ा और मुरब्बा का नाम चौकड़ा रखा है। इत्यादि इत्यादि। तर्कशास्त्र में भी अपने पारिभाषिक पद अलग निकाले हैं, जैसे :—

इल्म	ज्ञान	निस्बत सबूतिय	मान लेना
इल्म हसूली	ध्यन	निस्बंत बल्ली	पूरा तोड़
इल्म हजूरी	आप ज्ञान	बदीही	परघट
तसव्वुर	ध्यान	नज़री	गुप्त
तस्दीक़	ज्यों का त्यों	तसल्सुल	उलझा सूत

मौजूअ	बोल	दौर	हेर फेर
महमूल	भरपूर	मुताबेक़त	ठीक ठीक
राब्त:	जोड़	तज़म्मोनी	कहसर
निस्बत	मिलाप	इल्तज़ामी	उपरी लगाव
क़ज़ीय:	बात		

इसी तरह मानी, बयान इत्यादि से।

हिंदी और भारतीय प्रसंग संबंधी विषयों को सौदा ने बहुत सुंदर ढंग से बाँधा है। मगर सैय्यद इंशा ने भी इस दिशा में उछलते-कूदते खूब क़दम मारे हैं। और यह मज़े की बात है। क्योंकि अपने देश के होते अरब से नज्द, ईरान से बेसतून और क़स्रे शीरीं, तूरान से जीहूँ-व-सीहूँ को हिंदोस्तान में लाने की क्या ज़रूरत, इसलिये सैयद इंशा कहते हैं:—

लिया गर अक़्ल ने मुँह में दिले बेताब का गुटका,
तो जोगी जी, धरा रह जायगा सीमाब का गुटका॥

× × +

सनमख़ान: में जब देखा बुतो नाक़ूस का जोड़ा,
लगा ठाकुल के आगे नाचने ताऊस का जोड़ा॥
मिले पारे से जो हड़ताल करके राख का जोड़ा,
तो ताबे सुरजी उगलें कोई नब्बे लाख का जोड़ा॥
नहीं कुछ भेद से ख़ाली ये तुलसी दास जी साहब,
लगाया है जो एक भौंरे से तुमने आँख का जोड़ा॥
लिपट कर कृष्णजी से राधिका हँसकर लगीं कहने,
मिला है चाँद से ऐ लो अँधेरे गाध का जोड़ा॥
यह सच समझो कि इंशा है जगत् सेठ इस ज़माने का,
नहीं शेरो सुख़न में कोई इसके साख का जोड़ा॥

× × ×

ऐ इश्क़ अजी आओ महाराजों के राजा, दंडवत है तुमको,
कर बैठे हो तुम लाखों करोड़ों ही के सर चट, एक आन में चटपट॥

+ + +

ये जो महंत बैठे हैं राधा के कुंड पर,
औतार बन के गिरते हैं परियों के झुंड पर॥

+ + +

है नूरे वसर मरदुम्के दीदा में पिनहाँ मानिंद कन्हैया,
सो अश्क के क़तरों से पड़ा खेले है झुरमुट और आँखें हैं पनघट ।।

+ + +

दिले सितमजद: बेताबियों ने लूट लिया,
हमारे क़िब्ला को वहहाबियों ने लूट लिया ।।

सुनाया रात को क़िस्स: जो हीर-रांझे का,
तो अह्ले दर्द को पंजाबियों ने लूट लिया ।।

+ + +

यूँ चले मिज़गां से अश्के ख़ूंफ़िशां की मेदनी,
जैसे वहराइच चले वाले मियाँ की मेदनी ।।

और मक़्त: की अकड़ देखने योग्य है :--

रूस्तमान: देख इंशा को क़शूने शाह में,
सब ये कहते हैं कि आई सीस्ताँ की मेदनी ।।

+ + +

फबन, अकड़, छब, निगाह, सज-धज, जमाल ओ-तर्ज़े ख़िराम आठों,
न होवें उस बुत के गर पुजारी, तो क्यों हो मेले का नाम आठों ।।

+ + +

तात्पर्य यह कि सारी रचनाओं के संग्रह का परिमाण देखकर मालूम होता है कि नए-नए प्रयोग और नवीन भाषात्मक आविष्कारों को ध्यान में रखते हुए यह कहना होगा कि ये साहित्यिक कला-क्षेत्र के सम्राट् थे और इसीलिये यदि इन्हें उर्दू का अमीर ख़ुसरो कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। वल्कि कसीद: तुरुलक़लाम में जहाँ विभिन्न शब्दालंकारों के नीचे एक ऐसा मिस्रा लिखा है; जो कि तीन भाषाओं में पढ़ा जा सकता है, वहाँ यह बड़े गर्व से कहते हैं कि अमीर ख़ुसरो ने केवल तीन शब्दों का एक ऐसा ही पद लिखा था; जिसका उन्हें बड़ा गर्व था। मैंने तो ऐसा एक पूरा मिस्रा ही प्रस्तुत कर दिया। मैं तो इसे केवल मम्दूहा स्तुतु अर्थात् और उसके मदह (स्तुति) की बरकत समझता हूँ।

यद्यपि इस प्रकार की साहित्यिक नटविद्या आजकल उपेक्षित और बेकार समझी जाती है, फिर भी इस बात के लिये हम क्यों न इसके प्रति अपना आभार प्रगट करें कि हमारी भाषा में इस प्रकार की कला न नई उपमाएँ और रोचक रूपकों

के लिये रास्ते खोला, इससे बढ़ कर यह कि उनमें फ़ारसी के भाषात्मक ग्रंथियों को बड़ी खूबसूरती से खोला। इनकी ग़ज़लों में इसका काफी संकेत मिलता है।

इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इन्होंने जो जो नए साहित्यिक प्रयोग या आविष्कार किए, उनमें कुछ स्थानों पर तो इन्होंने निस्संदेह केवल साहित्यिक धींगा-धींगी की है, मगर वहाँ भी उनकी शैली और भाव में अभिव्यंजना-लालित्य का पुट अवश्य है। सच तो यह है कि इनके भावावेश का प्रदर्शन अपने समय से बहुत पहले हुआ। यदि उनका जन्म सौ वर्ष बाद हुआ होता तो ये हमारी भाषा का फ़ैशन बड़े सुंदर ढंग से बदल सकते। देखिए वह क़सीदः, जिसकी रचना इन्होंने तृतीय जार्ज के अभिषेक के अवसर पर की थी :—

क़शीदः

वगियाँ फूलों की तैयार कर ए बूए समन,
कि हवा खाने को निकलेंगे जवानाने चमन ।।
आलम इत्फ़ाले नवातात पै होगा कुछ और,
गोरे काले सभी बैठेंगे नए कपड़े पहन ।।
कोई शब्नम से छिड़क बालों पै अपने पौडर,
कुर्सिए नाज़ पे जल्वा की दिखावेगा फबन ।।
शाख़े नाज़ुक से कोई हाथ में लेकर एक केत,
हो अलग सबसे निकालेगा निराला जोबन ।।
नस्तरन भी नई सूरत का दिखावेगा रंग,
कोच पर नाज़ की जब पाँव रखेगा बन ठन ।।
अपने गीलास शिगूफ़े भी क़रेंगे हाज़िर,
आके जब गुंचए गुल खोलेंगे बोतल के दहन ।।
अहल नज़्ज़ारः की आँखों में नज़र आवेंगे,
बाग़ में नर्गिसे शहला के हवाए चितवन ।।
और ही जल्वे निगाहों को लगेंगे देने,
उदी बानात की कर्ता से शिकोहे सौसन ।।
कत्ते हिल हिल के बजाएँगे फ़िरंगी तंबूर,
लालः लावेगा सलामी को बना कर पल्टन ।।
खींच कर तार रगे अब्रे बहारी से कई,
खुद नसीमे सेहर आवेगी बजाती अरगन ।।
अपनी संगीनें चमकती हुई दिखलावेंगे,
आ पड़ेगी जो कहीं नहर पै सूरज की किरन ।।

नैन बाज़ी के लिये खोलकर अपनी मिन्क़ार,
आके दिखलावेगी बुल्बुल भी जो है उसका फ़न ।।
अर्दली के जो गरांडील हैं होंगे सब जमा,
आन कर अपना बिगुल फूँकेगा जब सुखदर्सन ।।
आएगा नज़र को शीशा की घड़ी लेके हबाब,
यास्मीं पत्तों की पीनस में चलेगी बनठन ।।
निग्हत आवेगी निकल खोल कली का कमरा,
साथ होलेगी नज़ाक़त भी जो है उसकी बहन ।।
हौज़े संदूक़े फ़िरंगी से मुशाबेह होंगे,
उसमें होवेंगे परीज़ाद भी सब अक्से फ़िगन ।।

× × ×

एक स्थान पर घोड़े की तारीफ़ में कहते हैं :—

है इस आफ़त का सबुकसेर कि राक़िब उसका,
हाज़िरी खाए जो कलकत्ते तो लंदन में टिफ़न।।

उनका शेरों का पढ़ना भी एक विशेष अंदाज़ रखता था; जिससे शेर की शान और रचना-लालित्य दोनों दुगुनी हो जाती थी। यहाँ तक कि प्रायः मुशायरे में दूसरे शायर भी उनसे अपनी ग़ज़लें पढ़वाया करते थे; क्योंकि उनकी ज़बान में पढ़ने के समय मानों चकमक पत्थर का प्रभाव जैसा हो जाता था; जिससे निकल कर उनके काव्य ध्वनि का ओज और उष्मा दुगुनी ही नहीं, दसगुनी हो जाती थी। इसमें संदेह नहीं कि उनका काव्य-पथ मीर और मिर्ज़ा ने पहले ही प्रशस्त कर रखा था। मगर उस पथ पर उछलते कूदते ये ऐसे निडर और बेलाग निकले, जैसे कोई अच्छा तलवार भाँजने वाला तलवार के मजे हुए हाथ फ़ेंकता जाय।

इनके दीवान को देखने से इनके ढंग और इनके स्वभाव का चित्र सामने खिंच जाता है। जब वह मुशायरे में आते या दरबार में जाते तो एक ओर मुड़कर लोगों को अदब से सलाम किया; दूसरी ओर मुस्करा दिया। किसी ओर ज़रा मुँह चिढ़ा दिया; कभी एक छँटी दाढ़ी के साथ एक शिष्ट व्यक्ति के रूप में; कभी दिल्ली के बाँके छैला के रूप में; कभी वह आधी दाढ़ी भी उड़ा दी। कभी भों का ही सफ़ाया करया कर दिया।

कुल्लियात के देखने से यही इसके शेरों की भी दशा मालूम पड़ती है। और वास्तव में मनोरंजन और हँसी मज़ाक के ख्याल से तो किसी जल्से में इनका आना भाँड के आने से कम न होता था। इसीलिए मस्हफ़ी ने इनकी निंदा करते हुए कुछ झूठ नहीं कहा :—

वल्लाह कि शायर नहीं तू भाँड है भड़वे।

यद्यपि जिस सीमित परिधि में हमारे फ़ारस और हिंदोस्तान के शायर अपने पाँव में जंजीर बाँधे घूमते हैं, सैय्यद इंशा भी उसी में फिरते हैं। फिर भी ये अपने समकालीन शायरों के कल्पनापरक इश्क़िया परंपरा से एकदम बँधे हुए नहीं थे। इसका एक कारण यह भी था कि प्रायः इनकी ग़ज़लों और क़सीदों के रदीफ़ क़ाफ़िये और बहुत बीहड़ होते थे। और फिर उनके क़ाफ़िए इतने कुढब होते थे कि आशिक़ाना शायरी उनमें ठीक उतरती ही नहीं थी। इसलिये इन्होंने अपनी रचनाओं का असूल यह रखा था कि कैसा भी क़ाफ़िया और कैसा भी मज़मून हो, जिस साँचे में तुरत ढल जाय, उसी में उसको ढाल दें। साथ इसके यह भी है कि शायर को अधिकतर जनसाधारण की रूचि पर भी ध्यान रखना पड़ता है, जिन्हें ज़्यादा मज़ा इश्क़िया रचनाओं के बाद हँसी-ठठोल में ही मिलता है। इसलिये चूँकि उनकी तबियत इसके लिये अत्यंत अनुकूल थी, वह हर क्षण इसके नये नमूने प्रस्तुत करते रहते थे। इसीलिए अपने घर में बैठकर जैसी भी रचना करें, जब यारों के जल्से में या मुशायरों के रंगस्थल पर आके अपना जादू का दिया जलाते थे तो वह स्थान प्रशंसा और वाह-वाह के ध्वन्यालोक से आलोकित हो जाता था। वस्तुतः वह अपनी तर्ज़ के स्वयं आदि कवि थे और उन्हीं से उसका अंत भी हो गया।।

कुछ लोग कहते हैं कि सैय्यद इंशा की सभी कविताएँ समान रूप से सराहनीय नहीं हैं। यह बात ठीक है। किंतु इनकी अतिक्रमण कुछ अज्ञानता के कारण नहीं था बल्कि या तो उन्होंने ऐसा जान बूझकर किया या वह इनके अल्हड़पन से हुआ; क्योंकि ये अपनी अहमन्यता और योग्यता के ज़ोर के सामने नियम और उसके माननेवालों की परवा नहीं करते थे। वस्तुतः इनके काव्य-कौशल के आदेश ने इनकी स्वाभाविक प्रखरता के अम्ल से सभी नियमों और व्याकरण-सिद्धांतों को पानी-पानी कर दिया। इन्होंने शब्दों और मुहावरों में अनगिनत कतरब्योंत किए। यह काट-छाँट यदि कुछ ही स्थानों पर होते तो क्षम्य होते क्योंकि ऐसे रचनाकुशल कवि से बढ़कर भाषापटु और भाषाविद् भला कौन था। विशेषकर जब वह व्यावहारिक कुशलता और योग्यता से भी संपन्न हो, किंतु इनकी रचना-विषमता की बहुतायत ने हमें भी इनकी सफ़ाई में अधिक कुछ न कहने के लिये विवश कर दिया है और वह काव्य-सुरा का मदमाता किसी के कहने की परवाह भी तो नहीं करता था। बल्कि जब कोई शामत का मारा इनकी कोई ऐबजोई कर बैठता तो उसे कभी प्रमाण से कभी तथ्यपूर्ण या तथ्यहीन युक्तियों से लाजवाब कर देते; साथ ही उसे निंदा की गोलियों की बौछार का शिकार भी बना देते। फिर भी इनकी रचनाओं से कोई भी विवेकपूर्ण जिज्ञासु बहुत कुछ लाभ उठा सकता है। प्रायः इनकी शैली की नवीनताएँ वैसी ही अछूती हैं, जैसे बसंत के नए खिले फूल, जिन्हें सर पर चढ़ा लेने को जी चाहता है। बहुत सी ऐसी हैं, जिनपर सिवा इसके कुछ नहीं कह सकते कि ख़ताए बुजुर्गां गिरफ़तन ख़तास्त (बुजुर्गों का दोष निकालना भी एक दोष है)।

लोग कहते हैं कि सैय्यद इंशा की रचनाएँ रिंदाना[1] हैं, इनमें जो फक्कड़पन और निम्नोक्तियाँ हैं, वह भोजन में नमक की तरह ठीक मात्रा में न होकर कुछ अधिक पड़ गई हैं। इस कहने में कुछ तथ्य अवश्य है। किंतु काव्यरचनाओं के गुण और दोष के बारे में उसकी समकालीन जन-रुचि ही पर्याप्त निर्णायक होती है। सैय्यद इंशा के समय में शाह और अमीर से लेकर भिखारी और ग़रीब तक इन्हीं बातों से खुश होते थे और उनकी गुणग्राहकता और उदारता ऐसी थी कि अदनी-अदनी कविताओं पर वह इतना न्यौछावर कर देते थे, जो आजकल लेखकों को उनकी सारी पुस्तकों के लिये नसीब नहीं होता। सैय्यद इंशा अगर यह न करते तो क्या करते? पेट को काट कर कहाँ फेंक देते? जीवन-संघर्ष में सफलता के लिये यह एक आवश्यक गुण है कि इस जीवन के हंगामों, इसके उतार-चढ़ाव से हतोत्साह न हो। बल्कि जो रोड़े रास्ते में आएँ उन्हें ठोकर मारकर हटा दे और आगे बढ़ जाय। यदि न्याय की दृष्टि से देखें तो यह मानना पड़ेगा कि जो कुछ यह बहुमुखी प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति कर गया, वह हर एक का काम न था। नवाब मुस्तफ़ा ख़ाँ शेफ़्तः का गुलशने बेख़ार जब देखता हूँ तो ख़ार में सैयद इंशा के बारे में जो कुछ भी लिखा है: 'काँटे' का नहीं 'कटार' का घाव दिल पर लगता है। लिखते हैं कि सैय्यद इंशा से यह प्रश्न किया जा सकता है कि उन्होंने ऐसे रास्ते पर पाँव ही क्यों रखा, जिस पर उनका दामन मैले कीचड़ से लथ-पथ हो जाय। किंतु अनुभव रूपी राजमार्ग पर चलने वाले जानते हैं कि जब त्योहारों की रानी होली खेली जाती है तो बड़े बड़े शौक़ीन और शिष्ट लोग भी अपनी पगड़ियों पर उसके छींटे लेना एक शोभनीय बात समझते हैं। तो फिर इंशा और उनके समकालीन देश और समय की चलन

---

[1]—इसका कारण यह था कि इनके पूर्वजों को सरकार से शोहदों को वज़ीफ़े बाँटने की सेवा सुपुर्द की गई थी। उनके भाई जब दिल्ली आए तो वह भी एक पारे का कंठा गले में पहने थे। और अपनी चाल-ढाल भी उसी ढंग की रखते थे। चुनांचे मिर्ज़ा इंशा अल्लाह ख़ाँ ने स्वच्छंद और मनमौजी की अंदाज़ में एक कविता लिखकर ऐसे लोगों की भाषा को सराहा है और अपने अन्य ग़ज़लों में भी उसी का झलक दिखाया है। दरियाए लताफ़त में शोहदों के बारे में सैयद इंशा स्वयं लिखते हैं कि शोहदे अपने वाकचार में अभद्र और अश्लील शब्दों का बहुतायत से प्रयोग करते हैं और उनके बहुत से नमूने भी दिए हैं।

एक बार किसी शेर पर सैय्यद इंशा और शेख़ मस्हफ़ी में कुछ अनबन हो गई। और दोनों में मनचले स्वभाव और मुँहफटे होने के कारण आपस में खूब चोटें चलीं। उस समय आसफुद्दौला शिकार पर गए थे। इसलिए उन्होंने ऐसे अवसर पर अपने लखनऊ में न होने पर बहुत खेद प्रगट किया और बड़े चाव से उन रचनाओं को मँगाकर सुना और इनाम भेजे। वास्तव में उनका एक एक मिस्रा हँसी और क़हक़हों का मंतर है। पर यदि आज उन्हें कोई लिख भी दे तो उस पर अभियोग लगा कर उसे अदालत में मुजरिम ठहराया जाय।

से बचकर कहाँ निकल जाते यहीं रहना था और इन्हीं लोगों के सहारे जीवन का निर्वाह करता था। और मज़े की बात यह थी कि इन सब बातों के होते हुए भी इनकी आन-बान और कुल की मर्यादा वैसी ही बनी रही। और इनके भाविक भी इनसे उसी तरह आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करते थे। और इन्हीं चाहनेवालों की फ़रमाईशें होती थीं, जो न धरी जाती थीं न उठाई जाती थीं। और वे फ़रमाइश करनेवाले कोई छोटे लोग न थे, जो समझाए से समझ जाएँ या टाले से टल जाएँ। कभी तो शाहआलम, दिल्ली के बादशाह थे। कभी मिर्ज़ा सुलेमान शिकवा थे। कभी सादत अली ख़ाँ अवध के नवाब इत्यादि इत्यादि। कुछ ऐसी ग़ज़लें हैं, जिनसे मालूम होता है कि किसी भावावेश में सादत अली ख़ाँ की ज़बान से एक मिस्रा निकल गया। अब उस ग़ज़ल की पूर्ति करना इनका काम था। एक बार किसी शख़्स की पगड़ी वेढंगी बँधी थी, सादत अली ख़ाँ ने कहा कि :—

पगड़ी तो नहीं है यह फ़रासीस की टोपी।

बस इंशा ने इस पर एक सारी ग़ज़ल ही कह डाली।

सादत अली ख़ाँ बजरे में लेटे हुए, मीर इंशा अल्लाह ख़ाँ की गोद में सर धरे हुए, हल्के से नशे में, दरिया की सैर करते चले जाते थे। दरिया के किनारे एक हवेली पर लिखा देखा, "हवेली अली नक़ी बहादुर की"। कहा कि इंशा, देखिये किसी ने तारीख़ कही मगर रचना पूरी न कर सका। भई तुमने देखा। बहुत अच्छी समस्या है। तुम इसकी पूर्ति कर दो। उसी समय इंशा ने एक रूबाई प्रस्तुत की:—

न अरबी, न फ़ारसी, न तुर्की,
न सम की, न ताल की, न सुर की।
यह तारीख़ कही है किसी लुर की,
हवेली अली नक़ी ख़ाँ बहादुर की॥

समकालीन परिस्थिति के विषय में एक घटना उल्लेखनीय है, जब कि शाह नसीर देहलवी लखनऊ गए और वहाँ की पथरीली ज़मीन में फूल उगा कर मुशायरों को सजाना शुरू किया। वे सैय्यद इंशा से भी मिले क्योंकि वे ही यहाँ दिल्ली-वालों की काव्य-परंपरा को बनाए रखने का बीड़ा उठाए बैठे थे और कहा कि भई मीर इंशाअल्लाह ख़ाँ, मैं तो केवल तुम्हारे ख्याल से यहाँ आया हूँ, वर्ना लखनऊ में मेरा कौन बैठा था, जिसके पास मैं आता। उस समय बहुत रात बीत चुकी थी। मीर इंशाअल्लाह ख़ाँ ने कहा कि शाह साहिब, यहाँ के दरबार का रंग-ढंग कुछ और हैं। क्या कहूँ, लोग जानते हैं कि मैं शायरी करके नौकरी बजा लाता हूँ। मगर मैं खुद नहीं जानता कि मैं क्या कर रहा हूँ। देखो, सुबह का गया गया शाम को आया था। कमर खोल ही रहा था कि चोबदार आया और बोला कि जनाबे आली फिर याद फ़रमाते हैं। गया तो देखता हूँ कि कोठे पर फ़र्श किया हुआ है। चाँदनी रात है। पहियेदार

छपरखट में आप बैठे हैं। फूलों का गजरा सामने धरा है। आप उसे उछालते जाते हैं। और पाँव के इशारे से छपरखट आगे बढ़ता जाता है। मैंने सलाम किया। हुक्म हुआ कि इंशा, कोई शेर तो पढ़ो। अब बताइए ऐसी हालत में जबकि अपना ही क़ाफ़िया तंग हो फिर शेर क्या ख़ाक याद आए, ख़ैर, उस समय जो कुछ सूझी कहकर पढ़ दिया :—

लगा छपरखट में चार पहिए उछाला तूने जो ले के गजरा,
तो मौज दरियाए चाँदनी में वह ऐसा चलता था जैसे बजरा॥

बस यही शेर सुनकर खुश हो गए। अब बताइए क्या इसे शायरी कहते हैं। इसी तरह इन्हें अकस्मात् ऐसे मौकों का सामना करना पड़ता था, जो कि आगे के बयान से ज़ाहिर होगा। तात्पर्य यह कि इस प्रसंग में मियाँ बेताब का यह कथन उल्लेखनीय है कि सैयद इंशा की फ़ज़लोकमाल (प्रतिष्ठा और योग्यता) को शायरी ने खोया। और शायरी को सादत अली ख़ाँ के मुसाहबत ने डुबोया।

एक दिन नवाब साहिब के साथ बैठे ये खाना खा रहे थे। और गर्मी से घबरा कर अपनी पगड़ी सर से उतार कर रख दी थी। मुंडा हुआ सर देखकर नवाब की तबियत में चुहल सूझी। हाथ बढ़ाकर मुंडे सर पर पीछे से एक चपत जड़ दी। आपने जल्दी से पगड़ी सर पर रख ली और कहा, सुभान अल्लाह, बचपन में बुज़ुर्ग समझाया करते थे, वह बात सच निकली कि नंगे सर खाना खाते हैं तो शैतान चपत मारते हैं।

सादत अली ख़ां ने जो हर चीज़ में सुघरापा और सफ़ाई पसंद करते थे, यह आदेश जारी किया कि उसके दफ़्तर के सभी कर्मचारी सुंदर और शुद्ध लेखक हों। और हर अशुद्ध लेख के लिये एक रुपया जुर्माना मुक़र्रर कर दिया। संयोगवश उनके कर्मचारियों में एक बहुत बढ़िया और शुद्ध लिखनेवाले मौलवी साहब थे। उन्होंने भूल से हिसाब के खाते में अज्नास के स्थान में अज्ना लिख दिया। सादत अली ख़ाँ हर चीज़ पर स्वयं दृष्टि रखते थे। उनकी निगाह इस भूल पर पड़ गई। मौलवियों को समझाने में ज़रा विद्वता लगानी पड़ती है। उन्हें कुछ फ़ारसी और अरबी के शब्द कोश के हवाले से अज्ना शब्द का अर्थ समझाया। कुछ व्याकरण के नियमों के अनुसार उसकी व्युत्पत्ति बताई। इसके बाद नवाब ने सैयद इंशा को इशारा किया। उन्होंने तो बस इसपर रुबाइयों और क़ितों की झड़ी लगा दी :—

अज्नास की फ़र्द पर यह अज्ना कैसा, यां अब्रे लुग़ात का गरजना कैसा।
गो हों अज्ना के माने जो चीज़ उगे, लेकिन यह नई उपज का उपजना कैसा॥

उन मौलवी साहिब का नाम मौलवी सज्जन था। इसलिये उसकी ओर भी इशारा करते हैं :—

तरख़ीम के क़ायदे से सजना लिखिए,
और लफ़ज़ ख़िरद जना को ख़जना लिखए।
गर हमको अजी न लिखिए होवे लिखना,
तो करके मुरख़्तम इसको अजना लिखिए॥

× × ×

अज्नास के वदले लिखिए अजना क्या ख़ूब,
क़ामूस की राद का गरजना क्या ख़ूब।
अज़ रूए लुग़त नई उपज की ली है,
इस तान के बीज का उपजना क्या ख़ूब॥

× × ×

और पूर्वी लहजे में :—

अज्नास के मौक़न में अज्ना आया,
सल्माए अलूम का यह सजना आया।
अज्ना चीज़ेस्त कां बरोयद ज़-जमीं,
यह तुख़्मे लुग़त का लो उपजना आया॥

+ + +

रात काफ़ी बीत चुकी थी और इंशा के मज़ाक़िया चुटकुलों और मस्ख़रापन की आतिशबाज़ी छूट रही थी। ये बिदा लेना चाहते, किंतु अवसर न मिलता था। नवाब के एक मुसाहिब बकहरे (एक गाँव) के रहनेवाले अक्सर शहरियों की बातों पर कटाक्ष किया करते थे और नवाब साहिब से कहा करते थे कि वे अनायास सैय्यद इंशा की क़ाब्लियत को बढ़ाते चढ़ाते रहते हैं। वास्तव में वह इतने क़ाबिल नहीं हैं। उस अवसर पर उन्होंने बक़ा का यह मत्लः उसकी प्रशंसा करते हुए पढ़ा :—

देख आईन : जो कहता है कि अल्लाह रे मैं,
उसका मैं देखने वाला हूँ वक़ा वाहरे मैं॥

सबने इस मत्ले की दाद दी। नवाब ने भी यह पसंद किया। उन्होंने कहा कि हुज़ूर सैयद इंशा से इसकी समस्या पूर्ति कराएँ। नवाब ने इंशा की ओर देखा। मत्ला वास्तव में दु:साध्य था। फिर भी इंशा ने अपनी बुद्धि लड़ाई। कल्पना ने काम न किया। नवाब ने फिर आग्रह किया। सैय्यद इंशा ने तुरत निवेदन किया। कि ग़ज़ल पूरी तो नहीं हुई मगर इस मौक़े के लिये एक उपयुक्त शेर सूझ गया है अगर हुक्म हो तो अर्ज़ करूँ :—

एक मिल्की खड़ा दरवाज़े पे कहता था रात,
ग्राप तो बहुतेरे जा पाड़ः रहे बाहरे मैं ॥

इस तरह के इनके बहुत से ग्रौर लतीफ़े, जो शालीनता ग्रौर श्लीलता की मर्यादा का ग्रतिक्रमण करते हैं, लिखे हुए पाए जाते हैं। मैंने जिन लतीफ़ों को यहाँ लिखा है, उन्हें भी मैं इस पुस्तक में लिखे जाने के योग्य नहीं समझता। किंतु जो उदारमना कटीले वृक्ष में भी फूल ही देखते हैं, वे इन कथानकों को एक लब्धप्रतिष्ठ कवि की कल्पना ग्रौर रुचि की चपलता ग्रौर शोख़ी के नमूनों के रूप में देखेंगे। ग्रौर वह यह भी स्वीकार करेंगे कि इस कलाविद् को समय के पहचानने ग्रौर ग्रपने समकालीन व्यक्तियों से ग्रपना मतलब साधने की कला में कैसी कुशलता थी।

एक दिन नवाब ने रोजा रखा ग्रौर यह ग्रादेश दिया कि कोई ग्राने न पाए। सैय्यद इंशा को एक ज़रूरी काम था। यह पहुँचे। पहरेदार ने कहा कि ग्राज ग्रंदर जाने की ग्राज्ञा नहीं है। ग्रागे ग्राप मालिक हैं। नवाब की इनपर बड़ी कृपा थी ग्रौर इनसे बड़ी ग्रात्मीयता बरतते थे। लेकिन यह उनके मिज़ाज से सतर्क रहते थे। कुछ देर तो ग्रसमंजस खड़े रहे। ग्रंत में कमरबंद खोल, पगड़ी सर से ग्रलग धर ग्रपना ग्रबा क़बा उतार डाला ग्रौर एक दुपट्टा ग्रौरतों की तरह ग्रोढ़ नाज़ नख़रे के साथ नवाब के सामने जाकर खड़े हो गए। ज्यों ही उनकी दृष्टि इनपर पड़ी, उँगली नाक पर धर कर बोले :—

मैं तेरी सद्क़े निस्ख ऐ मेरी प्यारी रोज़ा,
बंदी रख लेगी तेरे बदले हज़ारी रोज़ा ॥

नवाब बेतहाशा हँस पड़े। इंशा को जो कुछ कहना सुनना था, कहा ग्रौर हँसते खेलते चले ग्राए।

इनके जीवन वृत्तांत से यह भी मालूम होता है कि उन्होंने जनसाधारण ग्रौर विशेष कर दिल्ली वालों के पारस्परिक ग्राचार व्यवहार ग्रौर उनके निजी रिवाजों के प्रतिपालन का मानो बीड़ा उठाया हुग्रा था। उस समय लखनऊ में मीर ग्रली साहिब नाम के एक मर्सिया पढ़ते थे। वे ग्रच्छे संतीतज्ञ भी थे। मगर ग्रपने घर ही में मजलिस करके मर्सिया पढ़ने वाले रहते थे, कहीं जाकर न पढ़ते थे। नवाब ने उनके गुणों की चर्चा सुनकर उन्हें ग्रामंत्रित किया, किंतु वह ग्राने के लिये राज़ी न हुए। ग्रौर कई निमंत्रणों के बाद यह भी कहा कि यदि वह हमारे शासक हैं तो मैं भी सैय्यद वंशज होने के नाते शाहज़ादा हूँ। उन्हें मेरे यहाँ ग्राने में ग्रार क्यों हैं? नवाब ने कहा कि सैय्यद मेरे यहाँ हज़ारों से ग्रधिक हैं। मीर साहिब ने यदि गर्व किया तो इसी बात पर कि वे सैय्यद थे। ग्रब डोम भी हो गए। ख़ैर, ग्राने न ग्राने का उन्हें ग्रधिकार है। मीर ग्रली साहिब ने यह सुनकर बहुत विचार करने के बाद एक दम लखनऊ छोड़कर दकन चले जाने का निश्चय किया। सैय्यद इंशा जब शाम को घर ग्राए तो देखा कि घर में यात्रा की कुछ तैयारी हो रही है। कारण

पूछा तो मालूम हुआ कि मीर अली साहिब लखनऊ से जा रहे हैं। चूंकि आपके भाँजे भी इनके शिष्य हैं, इसलिये वह भी अपने उस्ताद के साथ जाना चाहते हैं। मीर अली साहिब के प्रस्थान का कारण पूछा तो उपर्युक्त घटना की सूचना मिली। उसी समय कमर बाँध कर दरबार में पहुँचे। सादत अली ख़ाँ ने आश्चर्यान्वित होकर पूछा कि ख़ैर तो है फिर क्यों आए। इन्होंने एक ग़ज़ल पढ़ी, जिसका एक शेर यह है :—

दौलत बनी है और सआदत अली बना,
यारब बना बनी में हमेशा बनी रहे ॥

फिर कहा कि हुज़ूर गुलाम जो उस समय रुख्सत होकर चला तो मन में यह बात आई कि अपने दूल्हा राजा की दुलहिन (सल्तनत रूपी नववधू) को ज़रा देखूं। हुज़ूर, वह तो सचमुच बारह उभरन सोलह सिंगार से सजी थी। सर पर झूमर–वह कौन मौलवी दिलदार अली साहिब। कानों में झुमके–वह कौन दानी साहिबज़ादे। गले में नौलखाहार–वह कौन ख़ान अल्लामः। मतलब यह कि इस तरह कुछ और आभूषणों का नाम लेने के बाद कहा कि हुज़ूर, ग़ौर जो करता हूँ तो नाक में नथ नहीं, दिल धक से हो गया कि अल्लाह सुहाग बनाए रखे। यह क्या नवाब ने पूछा कि फिर वह कौन कहा हुज़ूर, नथ मीर अली साहिब इसके पश्चात् उपर्युक्त घटना का सविस्तार वर्णन किया। नवाब ने हँसकर कहा कि मीर साहब को मेरी तरफ़ से जो ग़लतफ़हमी हुई वह भ्रांतिपूर्ण है। मैं ऐसे सुयोग्य व्यक्ति को लखनऊ का गौरव समझता हूँ। तात्पर्य यह कि इस निराधार अपयश से नवाब साहब को बचाने के सिलसिले में उनसे अपने पदोन्नति का परवाना और ५००१ रुपये ख़िलअत लेकर दरबार से वापस आए।

उस ज़माने में जान बेली साहिब अवध के रेज़िडेंट थे। जब सैयद इंशा नवाब सादत अली ख़ां की सेवा में नियुक्त हुए तो एक दिन जान बैली के आने की सूचना मिली। नवाब ने कहा, इंशा आज तुम्हें भी हम साहिब से मिलाएँगे। इन्होंने निवेदन किया कि आप मेरे आक़ा हैं। आप की तो मेरे उपर हर प्रकार से कृपादृष्टि है। लेकिन आने पर इनसे मेरा कोई औपचारिक परिचय न कराइएगा। जिस समय जान बेली साहिब आए नवाब और वह सामने कुर्सियों पर बैठे। सैयद इंशा नवाब के पीछे खड़े होकर रूमाल हिलाते रहे। बातें करते करते जान बेली ने इनकी ओर देखा। इन्होंने मुँह बिचका कर ज़रा चेहरा बना लिया। उन्होंने आँख नीची करलीं। मगर मन में हैरान हुए कि इस मनुष्य का कैसा अजीब चेहरा है। यह विचार करते ही उनकी दृष्टि फिर इनपर पड़ी। अबकी बार इन्होंने ऐसा चेहरा बनाया कि उससे भी अजीब। वह लजाकर दूसरी ओर देखने लगे। फिर जो देखा तो ऐसा चेहरा बदला कि पहले से भी विचित्र। अंत में जान बेली ने नवाब साहिब से पूछा कि यह मुसाहिब आपकी सेवा में कब से नियुक्त हुए, मैं आज ही इन्हें देख रहा हूँ। नवाब ने कहा, हाँ, आपने इन्हें नहीं देखा। सैयद इंशाअल्लाह

ख़ां यही हैं। जान बेली साहिब बहुत हँसे। इनसे अपना परिचय करवाया फिर तो इनकी वाक्यपटुता ने उनको ऐसा प्रभावित किया कि जब आते तो पहले पूछते कि सैयद इंशा कहा हैं :—

जान बेली साहब के साथ अली नकी ख़ां जो कि रेज़िडेंसी के मीर मुंशी थे, वह भी आया करते थे। इनकी उनकी बड़े मज़े की चोटें हुआ करती थीं। एक दिन बातचीत के सिलसिले में किसी की ज़बान से निकला :—

शायद कि पलंग ख़ुफ़ियः बाशद।

मीर मुंशी ने कहा कि गुलस्तां के हर शेर में अन्योक्तियाँ हैं और मज़ा यह कि सभी अर्थपूर्ण हैं। इसलिये हो सकता है कि शायद कि पलंग ख़ुफ़िया बाशद, गुलिस्तां की ही एक पंक्ति हो। सादत अली ख़ां ने सैयद इंशा की ओर देखा। इन्होंने हाथ बांधकर अर्ज़ की कि हुज़ूर मीर मुंशी साहिब बहुत ठीक कहते हैं। इस गुलाम ने भी एक नुस्ख़ा गुलिस्तां में यही देखा था :—

ता मर्द सुख़न नगफ़ीयः बाशद,
ऐबो हुनरश नहफ़ियः बाशद।
दर बेशः गुमाँ मबर कि ख़लीस्त,
शायद कि पलंग ख़ुफ़िया बाशद॥

+ \+ \+

बल्कि उस नुस्ख़े पर कुछ टिप्पणी भी की गई थी और गफ़ीयः और नह्‌फ़ीयः के कुछ अर्थ भी लिखे हुए थे। क्यों मीर मुंशी साहिब, आपको याद है न। मीर मुंशी साहिब अत्यंत लज्जित हुए। जब वह बिदा होते तो सैयद इंशा कहा करते मीर मुंशी साहिब का अल्लाह बेली।

एक दिन इसी तरह के किसी जलसे में कुछ ऐसा प्रसंग आया कि सादत अली ख़ां ने कहा हिज्र बिल्फ़तह भाषा के लिहाज़ से शुद्ध है। जान बेली ने कहा यह मुहावरे के खिलाफ़ है। सादत अली खां बोले कि यदि कोश के आधार पर ठीक है तो प्रयोग से क्या प्रयोजन। इतने में सैयद इंशा आ गए। जान बेली साहिब ने पूछा, क्या सैयद इंशा, हिज्र और हज्र में तुम्हें कौन सा उच्चारण ठीक मालूम होता है। उन्हें प्रसंग में यह बात छिड़ी थी। इसकी ख़बर न थी, सहसा कह बैठे हिज्र बिल्कसर। मगर साथ ही सादत अली ख़ां की तेवर ताड़ गए और तुरत बोले कि हुज़ूर जव ही तो जामी फ़रमाते हैं :—

शबे वस्ल अस्त व ते शुद नामए हिज्र,
सलामुन हेया हत्ता मत्लइल फ़िज्र॥

यह सुनते ही सादत अली ख़ाँ खुश हो गए और दरबार के लोग हँस पड़े।

मिर्ज़ा सुलेमान शिकवः का घर नदी के किनारे था। मालूम हुआ कि कल यहाँ किसी स्नान का मेला है। सैय्यद इंशा ने, जिनका रंग गोरा और शरीर हृष्ट-पुष्ट था, जिसपर सभी वस्त्र फ़बते थे, एक कश्मीरी पंडित का भेस बनाया और पूजा पाठ की सब सामग्री तैयार किया। प्रातः काल में सबसे पहले नदी के किनारे एक धर्ममूर्त्ति महंत का बाना बना जा बैठे और खूब ज़ोरशोर से श्लोक पढ़ना और मंत्र जपना शुरू कर दिया। लोग स्नान के लिये आने लगे। मगर स्त्री, पुरुष, बच्चा, बूढ़ा जो आता वो अनायास एक हृष्टपुष्ट और सुडौल व्यक्ति देखकर इन्हीं की ओर झुकता। यह उनसे पूजा करवाते, और तिलक लगाते थे। जिन मित्रों से इन्होंने इस मख़ौल का रहस्य बतला दिया था, इन्होंने मिर्ज़ा सुलेमान शिकवः को इसकी सूचना दी। वह उसी समय दोस्तों की भीड़ लिए हुए नदी के किनारे अपने कोठे पर आए तो देखते हैं कि सचमुच इंशा के सामने अनाज, आटा, पैसे, कौड़ियों के ढेर लगे हैं और वह भी और सब पुजारियों की तुलना में अधिक। ऐसी घटनाओं का वर्णन का तात्पर्य इंशा की विनोदप्रियता और उनकी बहुमुखी कौशल को प्रमाणित करने के साथ साथ यह भी बतलाना है कि जिस दिशा में जायगा औरों से कुछ अच्छा ही निकलेगा।

फ़ायक़ उपनाम का कोई एक दुर्दशाग्रस्त शायर था। पता नहीं किस बात पर इनसे रूष्ट हो गया कि इनकी निंदा में एक कविता लिखी और स्वयं लाकर इन्हें सुनाई। इन्होंने उसकी बहुत प्रशंसा की। बहुत उछले, बहुत कूदे और पाँच रुपए भी दिए। जब वह चला तो बोले ज़रा ठहरिएगा। अभी आपका यथेष्ट पुरस्कार बाक़ी है। क़लम उठाकर शेर लिखे और हवाले किया :—

फ़ायक़े बेह्या चो हजूम मुफ़त,
दिले मन सौख़्त सौख़्त सौख़्तः वह।

सिलहअश पंज रुपए दादम,
देहने सग बलुकमः दोख़्तः वह॥

दिल्ली में हाफ़िज़ अहमद यार नाथ के एक बड़े शिष्ट, साहचर्य प्रिय और नामी हाफ़िज़ थे और सरकार में कुरान के हाफ़िज़ों के पद पर नियुक्त थे। यों तो दुनिया में ऐसा कौन था, जिससे सैय्यद इंशा याराना न बर्तें, मगर हाफ़िज़ अहमद यार से इनकी काफ़ी पटती थी। उनका सजा कहा था अल्लाह हाफ़िज़ अहमद यार। हाफ़िज़ साहिब एक दिन इंशा से मिलने चले। रास्ते में वर्षा होने लगी और वहाँ पहुँचते मूसलाधार पानी बरसने लगा। यह उनके घर जाकर बैठे ही थे कि अंतःपुर, नंग धड़ंग एक खारूए की लुंगी बाँध आप दौड़े आए। इन्हें देखते ही उछलने लगे। हाथ फैला फैलाकर चक्कर काटते थे और कहते जाते थे :—

भर भर छाजों बरसत नूर,
रद् बलैय्याँ दुश्मन दूर॥

हाफ़िज़ जी जब बिदा होते थे तो यह उनके जाने के समय हमेशा कहा करते थे :—

अल्लाह हाफ़िज़ अहमद यार । इंशा के इस प्रकार के हज़ारों मखौल दिन रात बात में होते रहते थे ।

किंतु अफ़सोस इस बात का है कि सादत अली ख़ाँ और सैयद इंशा की मित्रता का अंत इसके कई कारण हुए । पहली बात तो यह थी कि यद्यपि इन्होंने अपनी रंगीली तबियत के प्रभाव से उन्हें परचा तो ज़रूर लिया था, किंतु यथार्थ में इनके और उनके संबंध में इन्हीं का एक शेर चरितार्थ होता था :—

रमत वह बोले मुझसे हँस कर चाह मियाँ कुछ खेल नहीं,
मैं हूँ हँसोड़ और तू है मुक़त्तः मेरा तेरा मेल नहीं ।।

उदाहरण के रूप में मेलों तमाशों में चलने के लिये कुछ तो मित्रों का आग्रह और कुछ इस प्रकार के मनोरंजन में स्वयं अपनी रुचि का आग्रह । मतलब यह इन्हें जाना ज़रूर और यह बात सादत अली ख़ाँ तबियत के बिल्कुल प्रतिकूल होती । एक बार ऐसा हुआ कि वह अपने सरकारी कागज़ात देख रहे थे । मुसाहिबों के साथ यह भी उपस्थित हैं । इसमें एक आध चुट्कुला भी होता जाता है । इन्होंने अर्ज़ की हुज़ूर आज आठों का मेला है । उन्होंने कहा लाहौल विला क़ूवत । सैय्यद इंशा बोले कि मुनासिब तो यह था कि हुज़ूर भी तशरीफ़ ले चलते । नवाब ने कहा, इंशा ऐसी ख़राब जगहों में जाना तुम्हें किसने बताया है । इन्होंने विनयपूर्वक कहा, हुज़ूर वहाँ तो जाना धार्मिक विश्वास के नाते एक पुण्य कार्य है । और एक सामाजिक दायित्व भी है । एक लिहाज़ यह हमारा कुल धर्म है । और फिर इन सब की अलग अलग व्याख्या भी की । अंत में, अपने काम में व्यस्त, सुनते ऊब कर नवाब ने कह दिया, बस अपना क़िस्सा मोख़्तसर करो और जल्दी सिधारो । उसी समय मूछों पर ताव देते हुए इंशा गर्वीले स्वर में बोले, कौन है आज सिवा सैयद इंशा के कि जो कुछ कहे उसे अक़्ल से, नक़्ल से, आयत से और रवायत से प्रमाणित कर दे । ऐसी बातों से कभी तो नवाब का मन बहलाव हो जाता था । किंतु कभी कभी अपने शांत और गंभीर स्वभाव के कारण वे चिढ़ जाते थे । विशेष कर जब चलते समय इंशा कुछ आर्थिक माँग पेश कर बैठते थे, क्योंकि वह शाह आलम न थे । सादत अली ख़ाँ थे :—

गर जाँ तलबी मुज़ायका नीस्त,
ज़रा मैं तलबी सुख़न दरीं अस्त ।।

ग़ज़ब यह हुआ कि एक दिन दरबार में कुछ ख़ांदानी शरीफ़ों की कुलीनता के बारे में चर्चा हो रही थी । सादत अली ख़ाँ ने कहा कि क्यों भई, हम भी नजीबुत्तफ़ैन हैं, इसे भाग्य का फेर [illegible] बहुत बोलने का बुरा नतीजा । सैयद इंशा बोल उठे कि, हुज़ूर, बल्कि अंजब । सभी जानते थे कि सादत अली

ख़ां एक बांदी[1] के पेट से जन्में थे। वह एक दम चुप हो गए और दरबार के लोग भी सक्ते में आ गए। यद्यपि इंशा ने फिर और बातें बना बना कर अपनी कही हुई बात को मिटाना चाहा मगर क़िस्मत के कमान से तीर निकल चुका था। उसकी चुभन नवाब के दिल से कभी न निकली।

इस घटना के बाद इनके प्रति नवाब के व्यवहार में फ़र्क आ गया। वह इस फ़िक्र में रहने लगे कि कोई बहाना मिले कि इनकी अशिष्टता के लिये इन्हें पूरी सज़ा दी जाय। ये भी भाँत भाँत के चुटकुलों से उनके दयादृष्टि और सहभाव के लौट आने की प्रतीक्षा करते रहते। किंतु किसी भी तरह उनके दिल में बैठी हुई गाँठ खुल न सकी। एक दिन सैय्यद इंशा ने एक बहुत ही गरम लतीफ़ा सुनाया। सादत अली ख़ाँ ने कहा कि इंशा जब कहता है, ऐसी बात कहता है कि न देखी हो न सुनी हो। यह मूँछों पर ताव देकर बोले, हुज़ूर के इक़बाल से क़यामत तक ऐसी ही कहे जाउंगा कि न देखी हो न सुनी हो। नवाब तो ताक में थे। ज़रा रोष में बोले कि भला ज़्यादा नहीं, केवल दो लतीफ़े रोज़ सुना दिया कीजिए। किंतु शर्त यही है कि न देखे हों, न सुने हों, नहीं तो ख़ैर नहीं होगी। सैय्यद इंशा समझ गए कि यह रंगढंग तो कुछ और हैं। ख़ैर, उस दिन से उन्हें दो लतीफ़े प्रतिदिन सुनाने शुरू कर दिए। मगर कुछ दिनों में ऐसी दशा हो गई कि दरबार को जाने लगते तो जो पास बैठा होता, उसी से कहते कि भई, कोई नक़ल, कोई चुटकुला याद हो तो बताओ। ज़रा नवाब को सुनाएँ। वह कहता कि जनाब, भला आपके सामने और हम चुटकुले कहें। यह कहते कि मियाँ, कोई बात चिड़ियाँ के चिनौने

---

[1] ——विश्वस्त लोगों की ज़बानी मालूम हुआ कि जब क़िज़लबाश ख़ाँ की पुत्री गुन्ना बेगम के रूप और सौंदर्य, शिष्टता और सुघारापा, प्रत्युत्पन्नता और सुरूचिता की ख्याति चारों ओर फैली तो नवाब शुजाउद्दौला ने जो उस समय युवावस्था में थे, उनसे विवाह करना चाहा। राजकुल के नियम के अनुसार बुज़ुर्गों ने इस प्रस्ताव के लिये बादशाह से अनुमति माँगी। बादशाह ने कहा इस संबंध में तो मैं एक दूसरा ही निर्णय कर चुका हूँ। बात ऐसी थी कि उन्होंने एक कुलीन सैय्यदज़ादी लड़की को एक पुण्य का काम समझकर बेटी की तरह पाला था। बाद में उसी के साथ शुजाउद्दौला की शादी की और इस धूम-धाम से की, जैसी किसी शाहज़ादी की हुई हो। यही कारण था कि शुजाउद्दौला और सभी कुल के सदस्य इनका बड़ा आदर करते थे। दुलहिन बेगम साहिबा इनका नाम था और यह असफुद्दौला की माँ थीं। सादत अली ख़ाँ को बचपन में मँगलू कहते थे, क्योंकि इनका जन्म मंगलवार को हुआ था। इनके प्रति बेगम के जो विचार थे, उसे वे अक्सर ज़ाहिर करती थीं। मगर इनकी प्रतिभा और बुद्धिमत्ता के लक्षण बचपन ही से स्पष्ट थे। नवाब शुजाउद्दौला कहा करते थे कि बेगम, अगर मंगलू के सर पर तुम हाथ रखोगी तो अपनी सेना के झंडे में तुम्हारे दुपट्टे का फरेरा लगाएगा और यमुना के उस पार गाड़ेगा।

की तुम्हें याद हो तो कह दो। मैं लोन मिर्च लगाकर उसे खुश कर लूंगा। उन्हीं दिनों एक दिन ऐसा हुआ कि सादत अली ख़ां ने इन्हें बुला भेजा। यह किसी और अमीर के यहाँ गए हुए थे। चोबदार ने आकर सूचना दी कि घर नहीं मिले। इस पर ख़फ़ा होकर इन्शा को आदेश दिया कि हमारे सिवा किसी और के यहाँ न जाया करो। इस बिना ज़ंजीर की क़ैद से इन्हें बड़ा कष्ट हुआ। एक नई विपता जो इन पर ढाई, वह यह कि इनके एक नौजवान बेटे तालिउल्लाह ख़ाँ की मृत्यु हो गई। इससे वे इतने शोकातुर हुए कि इन्हें कुछ मानसिक विकार सा हो गया। यहाँ तक कि एक दिन सादत अली ख़ाँ की सवारी इनके घर की ओर से निकली। ये कुछ शोक-संतप्त, कुछ क्रोध से व्याप्त, कुछ स्वाभाविक निरंकुशता के उद्वेग में बीच रास्ते खड़े होकर नवाब की शान में कुछ सख़्त-सुख़्त सुना गए। सादत अली ख़ाँ ने जाकर इनकी तनख्वाह बंद कर दी। अब भला इनके पागलपन में क्या कसर रही।

सादत यार ख़ाँ रंगीन इनके बड़े यार थे और दस्तार-बदल भाई थे। सैयद इन्शा स्वयं कहते हैं :—

अजब रंगीनियाँ होती हैं कुछ बातों में ऐ इन्शा,
बहम मिल बैठते हैं जब सआदत यार ख़ां और हम।।

ख़ां साहिब कहा करते थे कि लखनऊ में सैयद इन्शा के वह वह रंग देखे, जिसे याद करके दुनिया से जी फिर जाता है। एक तो वह उनके ओज का ज़माना था, जब कि वह सआदत अली ख़ाँ की नाक के बाल थे। अपनी असीम योग्यता और ख़ुशमिज़ाजी के कारण सर्वसाधारण के आकर्षण-बिंदु थे। उनके दरवाज़े पर घोड़े, हाथी, पालकी, नालकी की भीड़ से रास्ता न मिलता था। फिर जो मैं लखनऊ गया तो दूसरी वह दशा देखी कि यों बाहर से दुरुस्त मालूम होती थी, किंतु वस्तुतः उनके भाग्य रूपी वृक्ष की जड़ में दीमक लग गई थी। मैं एक व्यक्ति से भेंट करने गया। वह बातचीत के सिलसिले में आज कल के दोस्तों की बेमुरव्वती और कृतघ्नता की शिकायत करने लगे। मैंने कहा, यह सच है। मगर फिर भी अच्छे लोगों से ज़माना ख़ाली नहीं है। उन्होंने इस विषय में कुछ अतिशयोक्ति की। मैंने कहा कि हमारे मित्र इन्शा हैं कि दोस्त के नाम पर जान देने को तैयार रहते हैं। वह चुप हो गए और कहा कि हमें एक तरबूज़ा खुद बाज़ार से लाकर खिला दो। मौसम का मेवा कुछ बड़ी बात भी नहीं है। मैंने कहा भला यह भी कुछ फ़र्माइश है। वह बोले कि बस मेरी तो इतनी सी ही फ़र्माइश है। मगर शर्त यह है कि वह खुद लाकर खिलाएँ। बल्कि चार आने पैसे भी आप मुझसे ले जायँ। मैं उसी समय उठकर उनके यहाँ पहुँचा। इन्शा अपनी आदत के अनुसार देखते ही दौड़े। दौड़े बलाएँ लीं। जम-जम आइए, नित नित आइए, कहकर बलाएँ लेने लगे। मैंने कहा यह नाज़ नख़रा तनिक अभी ताक़ में रखो। पहले एक तरबूज़ा तो लाकर खिलाओ। गर्मी ने मुझे जला दिया। उन्होंने आदमी को पुकारा। मैंने कहा आदमी

की सही नहीं। तुम आप जाओ और एक अच्छा सा शहीदी तरबूज़ा देखकर लाओ। उन्होंने कहा, नहीं, आदमी होशियार है। अच्छा ही लाएगा। मैंने कहा, नहीं, खाऊंगा तो तुम्हारा ही लाया हुआ खाऊँगा। उन्होंने कहा, तू दीवाना हुआ है। यह बात क्या है। तब मैंने उस व्यक्ति के फ़र्माइश की कहानी सुनाई। उस समय उन्होंने एक ठंडी साँस भरी और कहा कि भाई, वह आदमी सच्चा और हम तुम दोनों झूठे। क्या करूँ ज़ालिम की क़ैद में हूँ। सिवा दरबार जाने के घर में से निकलने का हुक्म नहीं।

तीसरा रंगा मियाँ रंगीन बयान करते हैं कि मैं सौदागरी के लिये घोड़े लेकर लखनऊ गया और सराय में उतरा। शाम हुई तो पता चला कि कहीं क़रीब ही मुशायरा होता है। खाना खा कर मैं भी जलसे में पहुँचा। अभी दो तीन सौ आदमी आए थे। लोग बातें करते थे। हुक़्क़े पी रहे थे। मैं भी बैठा हूँ। देखता हूँ कि एक शख़्स मैली कुचैली रूईदार मिर्ज़ई पहने, सर पर एक मैला सा फंटा, घुटन्ना पाँव में, गले में पैक़ियों का तोबड़ा डाले, एक ककड का हुक़्क़ा हाथ में लिए आया और सलाम-अलैकुम कह कर बैठ गया। किसी किसी ने उससे कुशल-क्षेम भी पूछा। उसने अपने तोबड़े में हाथ डालकर तंबाकू निकाला और अपनी चिलम पर सुल्फ़ा जमा कर कहा कि भई, ज़रा सी आग हो तो इस पर रख देना। उसी समय लोगों के स्वर ऊँचे हुए और गुडगुड़ी, सटक पेचवान लोग उनके सामने प्रस्तुत करने लगे। वह चिड़चिड़ा कर बोले कि साहिब हमें हमारे हाल पर रहने दो। नहीं तो हम जाते हैं। सबने उसकी बात मान ली और उसकी आज्ञा का पालन किया। दम भर बाद फिर बोला कि क्यों साहिब अभी मुशायरा शुरू नहीं हुआ, लोगों ने कहा, जनाब, लोग जमा होते जाते हैं। सब साहिब आ जायें तो शुरू हो। वह बोला कि साहिब, हम तो अपनी ग़ज़ल पढ़े देते हैं। यह कह कर तोबड़े में से एक काग़ज़ निकाला और ग़ज़ल पढ़नी शुरू कर दी :—

कमर बाँधे हुए चलने को याँ सब यार बैठे हैं,
बहुत आए गए बाक़ी जो हैं तैयार बैठे हैं॥
न छेड़ ए निक्हते बादे बहारी राह लग अपनी,
तुझे अठखेलियाँ सूझीं हैं हम बेज़ार बैठे हैं॥

तसव्वुर अर्श पर है और सर है पाए साक़ी पर,
ग़रज़ और धुन में इस घड़ी मेखार बैठे हैं॥
बसाने नक़्श पाए रह्रवाँ कूए तमन्ना में,
नहीं उठने की ताक़त क्या करें लाचार बैठे हैं॥

ये अपनी चाल है उफ़तादगी से अब कि पहरों तक,
नजर आया जहाँ पर सायए दीवार बैठे हैं॥

कहाँ सब्रौ तकम्मुल आह नंगो नाम क्या शै है,
मियां रो पिट कर इन सब को हम इकबार बैठे हैं ।।
नवीबों का अजब कुछ हाल है इस दौर में यारों,
जहाँ पूछो यही कहते हैं हम बेकार बैठे हैं ।।
भला गर्दिश फ़लक की चैन देती है किसे इंशा,
ग़नीमत है कि हमसूरत यहाँ दो चार बैठे हैं ।।

× × ×

वह तो ग़ज़ल पढ़, काग़ज़ फेंक, सलाम अलेकुम कह कर चले गए। मगर पृथ्वी और आकाश में सन्नाटा छा गया और देर तक लोगों के हृदय ऐसी भावनाओं से द्रवीभूत रहे, जिसका वर्णन करना कठिन है। ग़ज़ल पढ़ते समय मैंने भी पहचाना। उनकी दशा देखकर अत्यंत दुख हुआ। और घर पर जाकर फिर भेंट की।

चौथी बार जब लखनऊ गया तो पूछता हुआ घर पहुँचा। दैव की कैसी विडंबना है कि जिस दरवाज़े पर हाथी झूमते थे, वहाँ देखा कि धूल उड़ती है और कुत्ते लोटते हैं। डेवढ़ी पर दस्तक दी। अंदर से किसी बुढिया ने पूछा कि कौन है भाई। वह उनकी बीबी थीं, मैंने कहा सादत यार ख़ाँ दिल्ली से आया है। चूंकि सैयद इंशा से मेरी बड़ी गहरी दोस्ती थी, उस साध्वी स्त्री ने मेरा स्वर पहचान लिया और दरवाज़े पर आकर बहुत रोई और कहा कि भइया उनकी तो अजब हालत है। ए लो, मैं हट जाती हूँ तुम अंदर आओ और खुद ही देख लो। मैं अंदर गया। देखा कि एक कोने में बैठे हैं। बदन नंगा है। दोनों घुटनों पर सर झुकाए हुए हैं। आगे राख के ढेर हैं। एक टूटा सा हुक़्क़ा पास रखा है। या तो वह शानो शौकत के जमघट देखते थे, कैसे तपाक से और हँसते हुए मिलते थे, या यह दशा देखी। सहसा दिल भर आया। मैं भी वहीं ज़मीन पर बैठ गया और देर तक रोया। जब जी हल्का हुआ तो पुकारा, सैय्यद इंशा, सैय्यद इंशा। सर उठाकर उन्होंने उन निराश और हतप्रभ नेत्रों से देखा, जो मानों कहते थे कि क्या करूँ आँख में आँसू नहीं। मैंने पूछा, क्या हाल है ? एक ठंडी साँस भर कर कहा कि शुक्र है। फिर इस तरह सर को घुटनों पर रख लिया कि फिर न उठाया।

कुछ यूनानी दार्शनिकों का सिद्धांत है कि प्रत्येक मनुष्य की आयु उसकी साँसों की संख्या पर आधारित है। मैं कहता हूँ जिस तरह कि हर एक आदमी जितने साँस या जितनी रोज़ी अपने हिस्से का लाता है, उसी तरह वह अपने जीवन भर की हँसी खुशी का योगफल भी लिखकर लाता है।। सैय्यद इंशा ने अपने हिस्से की हँसी की पूंजी को, जो उनके जीवन भर की पूँजी थी, कुछ ही दिनों में ख़र्च कर डाला। इसलिए उनका बाक़ी जीवन या तो उससे रिक्त रह गया या उसकी जगह शोक और निराश से भरा रहा।

ग़ज़लें

झिड़की सही अदा सही चीने जबीं सही,
ये सब सही पर एक नहीं की नहीं सही ।।

मरना मेरा जो चाहे तो लग जा गले से ढक,
अब का ही दम ये मेरा दमे वापसीं नहीं ।।

गर नाज़नीं के कहने से माना बुरा हो कुछ,
मेरी तरफ़ तो देखिए मैं नाज़नीं सही ।।

आगे बढ़े जो जाते हो क्यों कौन है यहाँ,
जो बात हमको कहनी है तुमसे नहीं सही ।।

मंज़ूर दोस्ती जो तुम्हें है हर एक से,
अच्छा तो क्या मुज़ायका इंशा से कीं सही ।।

ये नहीं बर्क़ इक फ़िरंगी है,
रअदो वाराँ क़शूने जंगी है ।।

कोई दुनिया से क्या भला मांगे,
वह तो बेचारी आप नंगी है ।।

वाह दिल्ली की मस्जिदे जामेअ,
जिसमें बराक़ फ़र्श-संगी है ।।

हौसला है फ़राख़ रिन्दों का,
ख़र्च की पर बहुत सी तंगी है ।।

लग गये ऐब सारे उसके हाथ,
यूँ कहा जिसको मर्दे बंगी है ।।

डरो वहशत की धूमधाम से तुम,
वह तो इक देवनीव बंगी है ।।

जोगी जी साहब आपकी भी वाह,
धर्म मूरत अजब कुढंगी है ।।

आप ही आप से पुकार उठता,
दिल भी जैसे कड़ी फ़िरंगी है ।।

चश्मे वदेदूर शेख़ जी साहिव,
क्या इज़ार आप की उटंगी है ।।

शेख़ सादिए वक़स है इन्शा,
तू अबूबकर साद ज़ंगी है ।।

+ + +

जिगर की आग बुझे जिससे जल्द वह शै ला,
लगाके वर्फ़ में साक़ी सुराहिए मै ला ।।

क़दम को हाथ लगाता हूँ उठ कहीं घर चल,
खुदा के वास्ते इतने तू पाँव मत फैला ।।

निकल के वादिए वहशत से देख ऐ मजनूँ,
कि ज़ोर धूम से आता है नाक़ए लैला ।।

गिरा जो हाथ से फ़र्हाद के कहीं तेशा,
दरूने कोह से निकली सदाए वावेला ।।

नज़ाकत उस गुले राना की देखियो इन्शा,
नसीमे सुवह जो छू जाय रंग हो मैला ।।

+ + +

जमाले अज़मते दादरो ख़ालिक़े मलकूत,
ख़्याल करके ये कहता हूँ मल्लः रे जवरूत ।।

नमूदे सतवते परवरदिगार है देखा,
जहाँ तलक कि करे काम ये नज़र का सूत ।।

मुहित इसमें है तिमसाल जलवए वाजिब,
अगरचे आईनए-मुम्किनात है नासूत ।।

जहे करीम की करूबियां को जिसने दिया,
मुदाम मशग़लए सैर गुल्शने लाहूत ।।

हसन हुसेन की ख़ातिर से बख़्शा देवेगा,
गुनाहगारों को कस्रे जमुरदो याक़ूत ।।

कि जिसमें सैकड़ों हूरें हजार-हा ग़िल्माँ,
हर एक मिस्ले क़सर है वदून रीशो वरूत ।।

वयमन सुव्ह्ये सुव्हान रव्वेयल आला,
अता करे जो तफ़ज़ुल से क़ुद्सियों का कूत ।।

बग़ैर उसके करम के नहीं बन आता बात,
हज़ार गर्ये पढ़ा कीजिए दुआए क़नूत ।।
बयान ज़ात के औसाफ़ किस से हो इन्शा,
सिफ़ात जिसकी मैं हम्पाले अर्श हैं मबहूत ।।

ख़्याल कीजए क्या आज काम मैंने किया,
जब उन ने दी मुझे गाली सलाम मैंने किया ।।

कहा ये सब्र ने दिल से कि लो ख़ुदा हाफ़िज़,
कि हक़्क़े बंदगी अपना तमाम मैंने किया ।।

जुनूँ ये आप की दौलत हुआ नसीब मुझे,
कि नंगी नाम को छोड़ा ये नाम मैंने किया ।।

लगा ये कहने कि ख़ैर इख़्तिलात की ख़ूबी,
हवाले यार के ख़ाली जो जाम मैं ने किया ।।

झिड़क के कहने लगे लग चले बहुत अब तुम,
कभी जो भूल के उनसे कलाम मैंने किया ।।

किया ज़वानिए दिल गर बयाँ कि कहता है,
सनम को अपने ग़रज़ अब तो राम मैंने किया ।।

कहीं न गानियो बुहतान है ये सब उस पर,
हँसी के वास्ते ये इत्तिहाम मैंने किया ।।

तुम्हारे वास्ते तुम अपने दिल में ग़ौर करो,
कभी किसी से न हो जो मुदाम मैं ने किया ।।

मुक़ीमे काबये दिल जब हुआ तो ज़ाहिद को,
रवाना जानिबे बैतुल्हराम मैंने किया ।।

मज़ा ये देखियेगा शेख़ जो रूके उल्टे,
जो उनका बज़्म मैं कल एह्नराम मैंने किया ।।

अजब तरह के मज़े चाँदनी में देखे रात,
क़रार जाके जो बर पुश्ते बाम मैं ने किया ।।

हवस ये रह गई साहब ने पर कभी न कहा,
कि आज से तुझे इंशा गुलाम मैं ने किया ।।

× × ×

दीवार फाँदने में देखोगे काम मेरा,
जब घम से आ कहूँगा साहब सलाम मेरा ।।
हमसाया आपके मैं लेता हूँ इक हवेली,
इस शह्र में हुआ गर चंदे मुक़ाम मेरा ।।
जो कुछ कि अर्ज़ की है सो कर दिखाउँगा मैं,
वाही ने आप समझें यूँही क़लाम मेरा ।।
अच्छा मुझे सताओ जितना कि चाहो, मैं भी,
साझूँगा गर है इंशा - अल्लाह नाम मेरा ।।
मैं ग़श हुआ कहा जो साक़ी ने मुझसे हँस कर,
ये सब्ज़ जाम तेरा और सुर्ख़ जाम मेरा ।।
पूछा किसी ने मुझको उनसे कि कौन है यह,
तो बोले हँस के ये भी है इक गुलाम मेरा ।।
मह्शर की तश्नगी से क्या ख़ौफ़ सैय्यद इंशा,
क़ौसर का जाम देगा मुझको इमाम मेरा ।।

× × ×

हैं ज़ोर हुस्न से वह निहायत घमंड पर,
नामे ख़ुदा निगाह पड़े क्यों न दंड पर ।।
तावीज़े लाल ही के न फिरिए घमंड पर,
इक नीला डोला बांधिए इस गोरे दंड पर ।।
यारब सदा सुहाग की मेंहदी रचा करे,
पत्ते नुचें खुचें रहे आफ़त अरंड पर ।।
ये बाड़ मेरी काट के दी किसने इस क़दर,
जो तुम रगड़ रहे हो सर वही करंड पर ।।
दो तीन दिन तो हो चुके अब फिर चलो वहीं,
फ़ीरोज़शह की लाठ के उस चौथे खंड पर ।।
वह पहलवान सादह लबे जूं ये दंड पेल,
बैला कि कोई ग़श हो तो ऐसे भुसंड पर ।।
गुलबर्ग तर समझ के लगा बैठी एक चोंच,
बुलबुल हमारे ज़ख़्म जिगर के खुरंड पर ।।

इंशा बदल के क़ाफ़िए रख छेड़ छाड़ के,
चढ़ बैठ एक और वछेड़े अकंड पर ॥

× × ×

ये जो महंत बैठे हैं राधा के कुंड पर,
औतार बन के गिरते हैं परियों के झुंड पर ॥

ऐ मौसिमें ख़ज़ाँ लगे आने को तेरे आगे,
बुलबुल उदास बैठी है एक सूखे दंड पर ॥

शिव के गले से पारवती जी लिपट गईं,
क्या ही वहार आज है ब्रह्मा के रूण्ड पर ॥

राजा जी एक जोगी के चेले पे ग़श हैं आप,
आशिक़ हुए हैं वाह अजब लुंड मुंड पर ॥

इन्शा ने सुन के क़िस्सए फ़रहाद यूँ कहा,
करता है इश्क़ चोट तो ऐसे ही भण्ड पर ॥

× × ×

जो चाहे तू मुझ से हँसोड़े की ख़ैर,
तू यूँ देख इस घोड़े जोड़े की ख़ैर ॥

कद: दे नशा के मेरे रखश को,
मियाँ साक़ी इस सिल्फ़े कोड़े की ख़ैर ॥

दिखाई मुझे सैर बाग़े हरम,
इलाही हो इस सब्ज घोड़े की ख़ैर ॥

हँसाया जो मैंने तो बोले, नहीं,
नज़र आती कुछ इस निगोड़े की ख़ैर ॥

लगा बैठ इन्शा को ठोकर तू एक,
और अपने सोने के तोड़े की ख़ैर ॥

+ + +

कू सौलते अस्कंदरो कू हशमते दारा ऐ साहिबे फितरत,
पढ़ फ़अतबेरू या उलिल अब्सार का आया तो हो तुझे इबरत ॥

मस्तान: जो मैंने क़दहे बंग चढ़ाया दर आलमे वहशत,
तब ख़िज्र पुकारा कि हानिय्यीव व मारिय्यी अब देख हलावत ॥

है जी में फ़कीरों की तरह ख़ींच लंगोटा और बाँध के तहमत,
जा कुंज ख़राबात में ढक घोंटिए सब्ज़ा यूँ कीजिए इबादत ।।
ऐ हज़रते इश्क़ आइए साईं अजी झोला याँ कीजिए इनायत,
मुर्शिद मेरे मालिक मेरे हादी मेरे दाता दीजिए मुझे नेमत ।।

माथे पर मेरे ख़त अल्लिफ़ अल्लाह का खींचो सौपो मुझे बिस्तर,
तुम मूंड गुरू पीर ये बंदा हुआ चेला जी से करे ख़िदमत ।।
मैं ख़ाक नशीं हूँगा गरोहे फुक़रा से क्या समझे हो मुझको,
रूमाल छड़ी ले के जो टक खींचूँ उदासा दिखलाऊँ करामत ।।

गर ऐर कनां दर में जा निकलूँ तो बोलूँ नाकूस को सुनकर,
हां ब्रह्मणो बुतकदा इश्क़ अस्त सदारा है तुझसे भी उल्लफ़त ।।
खुश रहते हैं चार अबरू की बतलाके सफ़ाई कानिद क़लंदर,
न हमको ग़मे दुज़्द न अंदेशए काला है खूब फ़राग़त ।।

दरवेश बलानोश बलाचट हैं मियां दोस्त पीनक में जो आवें,
अफ़ई को मसल कर करें अफ़यून का घोला हैं ऐसे ही आफ़त ।।
गाढ़े हैं हम उससे भी जो खुत्के को हिलाकर ललकारे था यूँही,
देता हूं हिला कंगूरए अर्शे मुअल्ला रखता हूं ये ताक़त ।।
आज़ादों के लहजा में गज़ल तूने सुनाई अज़ बहूरे तफ़अनुनु,
अब अपनी तू बोली के कुछ अशआर कह इंशा हो जिससे ज़राफ़त ।।

है नामे खुदा वां छिड़े कुछ ज़ोर तमाशा ये आपकी रंगत,
गात ऐसी ग़ज़ब क़ह्र फबन और झमकड़ा अल्लाह की क़ुदरत ।।
मैंने जो कहा हूँ मैं तेरा आशिक़े शेदा ऐ कान मलाहत,
फ़रमाने लगे हँस के सुनो और तमाशा ये शक्ल ये सूरत ।।

इल्हादो, तसव्वुफ़ में जो था फ़र्क़ बहम यां असला न रहा कुछ,
पर्दा जो तऐयुन का महब्बत ने उठाया कसरत हुई वहदत ।।
तासीर है क्या खाक में इस नज़्द की कहदे तू मूझको तो बारे,
हिर फिर के जो आ निकले है यां नाक़ये लैला ऐ जज़्ब महब्बत ।।

काबा का करूं तोफ़ कि बुतखाना को जाऊँ क्या हुक्म है मुझको,
इरशाद में हक़ में भी कुछ होवबा आया ऐ पर्दि तरीक़त ।।

हूँ पर्तवे रूहुलकदस इस अह्द में मैं भी ईसा की तरह से,
यूँ चाहिए बेसाख्ता रहवाने कली सा मेरी करे बेग्रत ।।
ग्राए जो मेरे घर में वह शव राह करम से मैं मूँद दी कुंडी,
मुँह फेर लगे कहने तग्रज्जुब से कि ये क्या ई तेरी ये ताक़त ।।
लूटा करें इस तौर मज़े ग़ैर हमेशा टुक सोचो दिल में,
तरसा करे हर वक़्त ये बंदा ही तुम्हारा ग्रल्लाह की कुदरत ।।
दीवारे चमन फ़ाँद के पहुँचे जो हम उन तक इक ताक की ग्रोझल,
तरसां हो ये फ़रमाने लगे कूट के माथा ऐ वाये फ़ज़ीहत ।।
ख़ुर्शीद छुपा शाम हुई शेख़ जियो साहब ग्रव देखते क्या हो,
चिड़ियों ने लिया ग्राके दरख़्तों पै वसेरा चूँ चूँ करे हज़रत ।।
ले वर्फ़ की ज़ंजीर को ढक सूँड में ग्रपनी ऐ ग्रब्र के हाथी,
सिंदूर लगा माथे इस रंगे शौफ़क़ का वा ग्रज्मतो शौकत ।।
चल आठों के मेले की ज़रा दीद करें हम हैं सैर की जागेह,
सुम बैठ चढ़ा यारों के फिर मेर रक्‌ददा मत रअद की सुन घत ।।
शव महफ़िले होली में जो वारिद हुग्रा ज़ाहिद रिंदों ने लिपट कर,
दाढ़ी को दिया उसके लगा वज क़तूना ग्रौर बजने लगी गत ।।
तव मग़बचे कहने लगे ढक पर बलो नाचो रख नाक पे उँगली,
ग्रार ग्राए जी आए से बुरा माने सो भड़ुवा है मौसमे इश्रत ।।
कश्मीरी मुग्रल्लिम को जो इक तिफ़ल ने लागेह ग्रंगूर के दाने,
लाकर दिए ग्रौर उनसे खाइये मेवह है क़िस्मे विलायत ।।
लहूजा में तकश्मुर के मुकत्तः हो ये बोले शागिर्द से अपने,
चल सामने से मेरे उठा कर यनें लेजा यन्में नहीं लज़्ज़त ।।
ये साथ ग्रंगुर-नाक है वरू जैसे तुझको सौ कौड़ी के दस हैं,
वावा ये तकिया है ये छुटा-ज़ान्त है उसका काना न यसे मत ।।
अव ग्रौर रदीफ़ ग्रौर क़वाफ़ी में ग़ज़ल पढ़ लेकिन इसी ढब से,
ता शायरों के ग्रागे हो इस वज़्म मैं इंशा ज़ाहिर तेरी शौकत ।।
लेने जो बलायें लगे हम आपकी चट पट तो बोल उठे झट ,
चल जा अबे रे-वाव ज़बर रोहो परे हठ है यह भी बनावट ।।
इन ग्रांखों को मैं हल्क़ए ज़ंजीर करूँगा ऐसा ही बला हूँ,
छोड़ूँ हूँ कोई ग्रापके दरवाज़ह की चौखट जब तक न खुले न पट ।।

मर जाये लहू छाँट न गूँगा हो वह क्योंकर जो शाख़ा के देखे,
सुर्ख़ी तेरी आँखों की और अब्र की खिचावट सुरमा की घुलावट ।।

है मादने अनवारे इलाही दिले आशिक़ सोचो तो अज़ीज़ो,
इस छोटी सी जगह में ये वुसअत ये समावट अल्लाह रे जम्घट ।।

क्या फबती है ऐ नाम खुदावा छिड़े आहा होंठों पे तुम्हारे,
इक बोसा के सदमे से धुवां घर निलाहट मिस्सी की उदाहट ।।

मैं रूप बदल और हो चुपके से जो पहुँचा बैठे थे जहाँ वह,
सुन कहने लगे मेरे दबे पाँव की आहट है एक तू नटखट ।।

थी गर्म ये कुछ मज्लिसे मैं रात की साक़ी सब कहते थे ज़ाहिद,
है तौब: शिकन आज सुराही की ग़टाग़ट मल्ल: रे जमावट ।।

मैं रूप बदल और हो चुपके से जो पहुँचा बैठे थे जहाँ वह,
सुन कहने लगे मेरे दबे पाँव की आहट है एक तू नटखट ।।

थी गर्म ये कुछ मज्लिसे मै रात की साक़ी सब कहते थे ज़ाहिद,
है तोब: शिकन आज सुराही की ग़टाग़ट भल्ल: रे जमावट ।।

ऐ वाह रे बालीदगी और चंपई रंगत ये गात ये सजधज,
और जामए शब्नम की वह चोली की फसावट बाज़ूँ की गलावट ।।

मत छेड़ो मुझे देखो अभी कहने लगोगे अच्छा किया तुमने,
चोली मेरी कड़ी हुई दामन भी गया फट लग जायेगी यह रट ।।

है नूर बसर मर्दुमके दीद: में पिन्हाँ यूँ जैसे कन्हैया,
सो अश्क के क़तरों से पड़ा खेले है झुरमुट और आँखें हैं पन्घट ।।

ऐ इश्क़ अजी आओ महाराजों के राजा दंडवत है तुमको,
कर बैठे हो तुम लाखों करोंड़ों ही के सर चट इक आन में झटपट ।।

फिरता है समाँ आँखों में अवतक वही इंशा है ज़ालिम अरे क्यों,
बाहम वह लिपट सीने में आजानी रुकावट वह प्यार की करवट ।।

वह सेज भरी फूलों की मख़मल के वह तकिए कमख़्वाब की पोशिश,
पर्दे वह तमामी के वह सोने का छपरखट और उसकी सजावट ।।

× × ×

है यह उस महजबीन की तस्वीर,
या किसी हूर ऐन की तस्वीर ।।

बन गई दूदे आह मजनू में,
एक मोहमल नशीन की तस्वीर ।।

अपने दाग़े जिगर में सूझी है,
मुझको उस नाज़नीन की तस्वीर ।।

देख ले उसकी चीन पेशानी,
देख ले उसकी पेशानी,
है ये ख़ाक़ाने चीन की तस्वीर ।।

नज़र आती है अश्के इंशा में,
जिसरईले अमीन की तस्वीर ।।

+ \+ \+

मिल गए सीनः से सीने फिर ये कैसा इजतिराब,
मर मिटे पर भी गया अपने न दिल का इज़तिराब ।।

क्यों पड़ी थलकें न आँखों आँसुओं के बोझ से,
है दिले सदा पारा को सीमाव का सा इजतिराव ।।

रूह का ये हाल है याँ क़ाफ़िला से पड़ के दूर,
कर रही हो जिस तरह महमिल में लेता इज़तिराव ।।

पूछते क्या हो कि तेरे दिल में क्या है मुझसे पूछ,
और क्या यां ख़ाक होगी जोश है या इज़तिराव ।।

दम लगा घुटने अजी मैं क्या कहूँ कल रात को,
तुम न आए तो किया याँ जी ने क्या क्या इज़तिराव ।।

क्या ग़ज़ब था फाँद कर दीवार आधी रात को,
धम से मेरा कूदना और वह तुम्हारा इज़तिराव ।।

था वह धड़का पर मज़े के साथ सदक़े उसके जी,
फिर करे अपने नसीब अल्लाह वैसा इज़तिराव ।।

उसकी चाहत में जवानी अपनी जो थी चल वसी,
है पर अब तक जी को जैसे का तैसा इजतिराव ।।

पीरो मुर्शिद का ये मिस्रा हस्बे हाल इंशा के है,
मर मिटे पर भी गया अपने न दिल का इजतिराब ।।

× × ×

पगड़ी तो नहीं है ये फ़रासीस की टोपी,
या वक़्ते सलाम उतरे है इवलीस की टोपी ॥

है शेख़ के सर ऐसी ही तलबीस की टोपी,
जिससे कि पड़ी कापे है इवलीस की टोपी ॥

देते हैं कुलः अपने मुरीदों को जो सूफ़ी,
कहते हैं यही थी सरे जरजीस की टोपी ॥

सो चिकटी हुई है ये मुनाग़ज़ कि जहां में,
ऐसी तो न होगी किसी साईस की टोपी ॥

हुद हुद को खुशी तब हुई जिस दम नज़र आई,
हाथों में सुलेमान के बिलक़ीस की टोपी ॥

कल सौज़ने ईसा में पिरो ख़त्ते शुआई,
खुर्शीद ने सी हज़रते इदरीस की टोपी ॥

क्यों वास्ते जर्राब के मेरी न हो हाज़िर,
गुलमान की और हूरे फ़रादीस की टोपी ॥

परियों के घरों में वही चोरी के मज़े लें,
जिनके पास हो जिन्नों की जवासीस की टोपी ॥

मुम्किन हो धर दीजिए बनाकर तेरे सर पर,
ज़रबफ़त महो ज़ौहरओ बरजीस की टोपी ।

अंग्रेज़ के इक़बाल की है ऐसी ही रस्सी,
आवेख़्तः है जिसमें फ़रासीस की टोपी ॥

इन्शा मेरे आग़ा की सलामी को झुके हैं,
सुक्काने सरा परदए तक़दीस की टोपी ॥

× × ×

मुझे क्यों न आवे साक़ी नज़र आफ़ताब उलटा,
कि पड़ा है आज ख़ुम में कदहे शराब उलटा ॥

अजब इलके मुल्क के हैं अजी आप भी कि तुमसे,
कभी बात की जो सीधी तो मिला जवाब उलटा ॥

चले थे हरम को रह में हुए एक सनम के आशिक़,
न हुआ सवाब हासिल ये मिला अज़ाब उलटा ॥

ये शबे गुज़श्तः देखा वह ख़फ़ा से कुछ हैं गोया,
कहीं हक़ करे कि होवे ये हमारा ख़्वाब उलटा ।।

अभी झड़ लगा दे बारिश कोई मस्त भर के नारा,
जो ज़मीं पे फेंक मारे क़दहे शराब उलटा ।।

ये अजीब माजरा है कि बरोज़े ईद कुबाँ,
वही ज़ब्ह भी करे है वही ले सवाब उलटा ।।

हुए वादा पर जो झूठे तो नहीं मिलाते तेवर,
ऐ लौ देखा कुछ तमाशा ये सुनो अलाव उलटा ।।

खड़े चुप हो देखते क्या मेरे दिल उजड़ गए को,
वह गुनह तो कह दो जिससे ये देहे ख़राब उलटा ।।

ग़ज़ल और क़ाफ़ियाँ मैंने कहे सो क्योंकि इन्शा,
कि हवा ने खुद बखुद आ वर्क़े किताब उलटा ।।

× × ×

मुझे छेड़ने को साक़ी ने दिया जो जाम उलटा,
तो किया बहक के मैंने उसे इक सलाम उलटा ।।

सिहर एक आश फेंका मुझे जो दिखा के उनने,
तो इशारह मैंने ताड़ा कि है लफ़्ज़े बाम उलटा ।।

ये बला धूँआ नशा है मुझे इस घड़ी तो साक़ी,
कि नज़र पड़े है सारा दरो सेहनो बाम उलटा ।।

बढ़ूँ इस गली से क्योंकर कि वहाँ तो मेरे दिल को,
कोई खींचता है ऐसा कि पड़े है गाम उलटा ।।

दरे मैकदा से आई महकैस आई महक ऐसी ही मज़े की,
कि पछाड़ खा गिरा वाँ दिले तिश्नः काम उलटा ।

नहीं अब जो देते बोसह तो सलाम क्यों लिया था,
मुझे आप फेर दीजिए वह मेरा सलाम उलटा ।।

लगे कहने अब मुबल्लः तुझे हम कहा करेंगे,
कहीं उनके घर से बढ़कर जो फिरा गुलाम उलटा ।।

मुझे क्यों न मार डाले तेरी ज़ुल्फ़ उलट के काफ़िर,
कि सिखा रखा है तूने इसे लफ़्ज़े बाम उलटा ।।

निरे सीधे सादे हम तो भले आदमी हैं यारो,
हमें कज जो समझे सो खुद वल्दुलहराम उलटा ।।

तू जो बातों में रुकेगा तो यह जानूंगा कि समझा,
मेरे जानो दिल के मालिक ने मेरा कलाम उलटा ।।

फ़क़त इस लिफ़ाफ़े पर है कि ख़त आशना को पहुँचे,
तो लिखा है उसने इन्शा ये तेरा ही नाम उलटा ।।

+ + ×

परतो से चाँदनी के है सैहने बाग़ ठंडा,
फूलों की सेज पर आकर दे चिराग़ ठंडा ।।

शफ़क़त से हाथ तो घर ढक दिल्पे मेरे ता हो,
ये आग सा दहकता सीना का दाग़ ठंडा ।।

मै की सुराही ऐसी ला वर्फ़ में लगा कर,
जिसके धूँए से साक़ी होंवे दिमाग़ ठंडा ।।

तजनीस जिस दनी की हो जोश चश्म यारो,
हमने मुदामा पाया उसका औजाग़ ठंडा ।।

हैं एक शख्स लाए ख़स की शराब इंशा,
धो धा गुलाब से तू कर रख अयाग़ ठंडा ।।

शेख़ ग़ुलाम हम्दानी मस्हफ़ी

इनका उपनाम मस्हफ़ी था और नाम गुलाम हम्दानी । पिता का नाम वली मोहम्मद था । ये अमरोहा के रहनेवाले थे । युवावस्था में दिल्ली विद्योपार्जन के लिये गए । इनमें काव्यप्रियता मानो जन्मजात थी । इसने इनकी उपार्जित योग्यता को सबल बताया । शुरू से ही स्वभाव में दीनता, विनय और शिष्टता थी । इसके साथ साथ इनमें सौजन्यता और खुशमिज़ाजी भी पर्याप्त मात्रा में थी । इसलिये दिल्ली के प्रतिष्ठित व्यक्तियों तक उनकी पहुँच हो सकी । मुशायरों का आयोजन भी करते थे । और इनके व्यत्तित्व के आकर्षण और निजी गुणों के कारण सभी शायर और गण्यमान्य व्यक्ति उनमें संम्मिलित होते थे । दिल्ली का वह पतन काल था और अनेक कुलीन, विद्वान् और कलाप्रिय व्यक्ति अपना अपना घर छोड़ कर अन्य स्थानों को जाने लगे थे । इसलिये इन्होंने भी शहर छोड़ने की सोची । उनकी जन्म भूमि तो यहाँ न थी फिर भी दिल्ली की रहाइश में भगवान् जाने क्या मिठास है कि ये स्वयं कहते हैं :—

दिल्ली कहें हैं जिसको ज़माने में मस्हफ़ी,
मैं रहने वाला हूँ उसी उजड़े दयार का ॥

इसी तरह अपनी रचनाओं में भी प्रायः दिल्ली के निवासी होने का गर्व किया करते हैं।

अवध में आसफ़ुद्दौला का राज्यकाल था। उस समय ये लखनऊ पहुँचे और मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह के अधीन उनकी सेवा में जो सभी दिल्ली वालों के लिये पनाह और आश्रय समझी जाती थी, नियुक्त हो गए। उनके कुछ ग़ज़लों में भी इस ओर संकेत है। एक जगह यह कहते हैं :—

तख़्ते ताऊस पै जब होवे सुलेमाँ का जलूस,
मूरछल हाथ में मैं बाल हुमा का ले लूँ ॥

तात्पर्य यह कि अपने निरंतर जोग से इन्होंने अपनी योग्यता का विशिष्ट और साधारण दोनों वर्गों में धाक जमाया। वह कितने विद्वान् थे, इसकी ठीक जानकारी तो प्राप्त नहीं, किंतु समकालीन वृत्तांतों और उनके काव्य-संग्रहों से यह प्रमाण मिलता है कि ये फ़ारसी भाषा से सुपरिचित थे और काव्य-कला में भी प्रवीण थे। गद्य और पद्य दोनों प्रकार के साहित्यों का गहन अध्ययन होने के कारण इनकी जानकारी विस्तृत और विचार ऊँचे थे।

इनकी अध्ययनप्रियता ऐसी थी कि लखनऊ में एक व्यक्ति के पास कुल्लियाते नज़ीरी था। उस ज़माने में पुस्तकों को लोग एक अत्यंत मूल्यवान और सम्मानित सामग्री समझते थे। उस पुस्तक का मालिक उसके दुर्लभ होने के कारण किसी को मंगनी देने के लिये राज़ी न होता था। किंतु इनके लिये इतनी बात पर राज़ी हुआ कि वे स्वयं आकर पुस्तक का एक एक अध्याय ले जाया करें और जब उसे समाप्त कर लें तो उसे लौटाकर दूसरा ले जायँ। मस्हफ़ी का घर शहर के एक छोर पर था और उसका दूसरे छोर पर। फिर भी नियमपूर्वक एक दिन बीच देकर यह वहाँ जाते और पुस्तक का एक खंड बदल कर दूसरा ले आते। वहाँ से ले आने के समय राह में उसे पढ़ते आते। घर पर आकर उसकी प्रतिलिपि बनाते या उसको संक्षेप में लिख लेते और लौटते हुए फिर पढ़ते जाते। यह हम लोगों के लिये खेद का विषय है कि कल छपाई की सुविधा के कारण दुकानों में ऐसी पुस्तकें पड़ी हैं, जो किसी समय देखने को भी मयस्सर न थीं। किंतु उनके प्रति हम इतने उपेक्षित हो गए कि किसी समय देखने को भी हैं कि उनकी ओर आँख उठाकर देखते भी नहीं। हमें उन लोगों पर आश्चर्य होता है, जो इस बात की शिकायत करते हैं कि हमारे पूर्वजों की तरह अब हम लोगों में उतनी योग्यता नहीं होती। बात यह है कि पहले जो लोग पुस्तकें पढ़ते थे तो उसके अंतर्विषय को अपनी बुद्धि और मस्तिष्क से इस प्रकार आत्मसात कर लेते थे, जिससे उनमें लिखी बातें उनके हृदय पर अंकित हो जाती थीं। आजकल

के लोग पुस्तकें पढ़ते भी हैं तो इस तरह पन्नों को देखते—उलटते चले जाते हैं, जैसे बकरियाँ हैं कि किसी फुलवारी में घुस गई हैं। जहाँ मुँह पड़ गया एक बुकट्टा भर लिया। मानों एक प्रकार का कोई क्षणिक लोभ रूपी चर्वाहा इनकी गर्दन पर सवार हो और वह इन्हें हंकाए लिए जाता हो। बस कोई परीक्षा पास करके एक प्रमाण-पत्र लो और कोई नौकरी लेकर बैठ रहो। और खेद का विषय तो यह कि अक्सर नौकरी भी नसीब नहीं होती, किसी ठोस ज्ञान के उपलब्धि की बात तो दरकिनार।

पुराने मुहावरों के प्रयोग के लिहाज़ से हमें मस्हफ़ी को सोज़, सौदा और मीर की भाषा परंपरा में रचना करनेवालों का अंतिम शायर कहना चाहिए। वह इन्शा और जुरअत से आयु में बहुत बूढ़े थे। या तो उनके बुढ़ापे ने उनकी काव्य-कल्पना के डैनों को कमज़ोर कर दिया था या प्राचीनता के प्रति इनकी निष्ठा इन्हें नवीनता की सुघराई और उसके बनाव-सिंगार की ओर आकर्षित न होने देती थी। इस अकिंचन लेखक की भी वही दशा है कि हज़ार कोशिश करता हूँ फिर भी नए साहित्यिकों के हाव-भाव और चोंचलों से इसका हृदय किसी तरह प्रभावित नहीं होता। शेख़ मस्हफ़ी ने लखनऊ में सैकड़ों शागिर्द किए। मगर यह अबतक उनके किसी समकालीन लेख से नहीं प्रमाणित हुआ कि यह स्वयं किसके शागिर्द थे। यह बहुत दिनों जिए और इन्होंने अपनी रचनाओं में अपने चिरायु होने का कहीं कहीं संकेत भी किया है। बुढ़ापे में इन्होंने दूसरा विवाह किया। तबियत की रंगीनी ने मिस्सी लगा कर बूढ़े दातों की भी रंग लिया। सैयद इन्शा ने इनके संबंध में जो निंदात्मक ग़ज़लें लिली हैं, उनमें उन्होंने इन सब बातों की चर्चा की है।

ये जब तक जीवत रहे, लखनऊ में ही रहे और वहीं सन् १२४० हिं० में इनका देहांत हुआ। सैयद इन्शा, जुरअत, मीर हसन इत्यादि शायर सब इनके समकालीन थे।

उपलब्ध सामग्री से पता चलता है कि इनकी रचनाओं में छः दीवान बड़े उत्कृष्ट हैं, जिनमें हज़ारों ग़ज़लें, बहुत से क़सीदे, रूबाइयाँ, और साधारण तज्मीनें हैं। एक क़सीदा के दीवान के प्रस्तावना में लिखते हैं :—

मस्हफ़ी आज दुआ माँगे है तुझ से यारब,
एक है ज़ात तेरी सबपे ग़फ़ूर और रहीम ॥
यह जो दीवान छओं इसके हैं मानिंद सुहेल,
बज़्मे शाहाँ में लिबास इनका रहे जिल्दे अदीम ॥

एक उर्दू और एक फारसी शायरों का जीवनवृत्त और एक दीवान फ़ारसी का भी लिखा है। मगर मेरे पास उनके जो दीवान हैं, उनमें से एक पर दीवान हफ़्तुम लिखा है। और एक दीवान और है। इसमें इनका और सैयद इन्शा के झगड़ों की चर्चा है। यह किंचित् उनका आठवाँ और अंतिम दीवान होगा।

इनके दीवान इनकी काव्य-कुशलता को पूरी तरह प्रमाणित करते हैं। विभिन्न प्रकार की ऐसी ग़ज़लें हैं, जिनकी रचना बड़ी बीहड़ रचना-भूमि पर की गई है। लेकिन वे भी इनके अभ्यासिद्ध होने के कारण खिलती हुई सी प्रतीत होती हैं। इन ग़ज़लों में इन्होंने शब्दों को कुछ आगे पीछे और विषयों को कुछ ऊँच नीच करके इस कुशलता से अपने शेरों में खपाया है, जिससे इनकी काव्य-निपुणता का ख़ासा परिचय मिलता है। इसके साथसाथ यह मौलिक मुहावरों का रूप भी जैसे का तैसा ही बनाए रखते हैं। इस प्रकार की इनकी शैली में कुछ कुछ सौदा की छाया पड़ती मालूम होती है। जहाँ प्रांजलता है, वहाँ ऐसा मालूम होता है कि ये मीर सोज़ की शैली का अनुकरण कर रहे हैं। इसी दिशा में प्रायः इनके शेर मीर साहिब की भी झलक दिखाते हैं। किंतु इनमें जो विशिष्टताएँ हैं, वह बिल्कुल इनकी अपनी ही हैं। जब वह अपनी तरह कहते हैं तो बस फिसिड्डी हो जाते हैं। बात यह है कि इनकी काव्य-प्रवृत्ति में इतनी उर्वता और इतना आवेग था कि इन्होंने रचनाओं की भरमार कर दी। इसलिये उनमें थोड़ा बहुत बकवास की मात्रा अधिक हो गई है, जिसके कारण इनकी कविताओं में आनंदोत्पादक गुण का अभाव सा मालूम होता है। ग़ज़लों में सब रंग के शेर हैं। किसी शैली विशेष को इन्होंने नहीं अपनाया। उनमें कुछ ग़ज़लें तो अपनी प्रांजलता और स्पष्टोक्ति के कारण लाजवाब हैं। कुछ में बस यही साधारण बातें हैं, जिन्हें ढीले ढाले शब्दों की लच्छियों में बाँधते फिसफिसाते लगातार कहते चले गए हैं। इसका कारण कुछ तो इनकी वाचालता है और कुछ दिल्ली और अमरोहे की भाषा और शैली का फ़र्क़।

इनके क़सीदे अच्छे हैं और प्रायः मुशकिल छंदों में बाँधे गए हैं। कुछ हम्द और नात हैं। कुछ मिर्ज़ा सुलेमान शिक्वः और लखनऊ के राज्याधिकारियों की शान में लिखे गए हैं। उनमें भारी भरकम शब्द, ऊँची बातें, फ़ारसी की उम्दा शैली और सुंदर तरकीबों के जो जो साधन हैं, सब उनमें मौजूद हैं। अल्बत्ता छंदों में विन्यासन की दृढ़ता और आवेश के प्रभाव की कमी है। शायद रचना की बहुलता ने उसे धीमा कर दिया, क्योंकि नदी का पानी दो पहाड़ों के बीच में घुटकर बहता है तो बड़े आवेग से बहता है। जहाँ फैल कर बहता है, वहाँ उसका आवेग कम हो जाता है शायद लोगों के आग्रह और अनुरोध की पूर्ति करने के बाद उन्हें इतना अवकाश न मिलता हो कि अपनी काव्योचित कल्पना को सुसंयमित कर के अपनी रचनाओं का निर्माण अधिक सुव्यवस्थित रूप से करते।

इनके फ़ारसी भाषा में लिखे गए दीवान उर्दू के समकालीन कवियों की फ़ारसी रचनाओं के अनुपात में अधिक हैं।

इन्होंने तज़्किरे अनेकों लिखे हैं और चूंकि इनका जीवनकाल उस्तादों के समय के समीप था और इन्हें वयोवृद्ध व्यक्तियों के संपर्क का अवसर भी मिलता रहता था,

इसलिये अनेक तज़्किरों में बहुत सी रोचक वार्त्ताओं, घटनाओं और परिस्थितियों की चर्चा मिलती है, और उनमें इन्होंने अपने सब शागिर्दों की भी सूची दी है।

तात्पर्य यह कि शायरी की सभी शाखाओं में कुछ न कुछ लिखा है और उसके लिये पूर्वकालीन उस्तादों ने जिन नियमों और सिद्धांतों को निर्धारित किया था, उनका शब्दश: बल्कि अक्षरश: पालन किया। हाँ, इनमें अपने समकालीन शायरों की तरह तबियत में चुलबुलाहट और बातों में शोख़ी नहीं पाई जाती, क्योंकि इसमें अपना कोई बस नहीं। यह तो एक दैवी देन है। सैय्यद इंशा हमेशा भाषा संबंधी नियमों से आड़े तिरछे चलते थे, किंतु उनकी वह स्वच्छता और ख़ुदराही भी एक अजब बाँकपन दिखाती है। यह भी अपने आशय को बहुत खूबी और सुंदर ढंग से अदा करते हैं, किंतु बेचारे क्या करें कि इनकी तर्ज़ से वह अमरोहपन नहीं जाता। तनिक अकड़ कर चलते हैं तो इनकी शोख़ी बुढ़ापे का अलोना नख़रा जैसा लगता है। सैय्यद इंशा सीधी साधी बातें भी कहते हैं तो इस अंदाज़ से अदा करते हैं कि कहने और सुननेवाले दोनों का मन घड़ियों थिरकता रहे और उसके स्वाद से ज़बान चटख़ारे भरती रहे। मरहफ़ी का यह हाल है कि सिद्धांतों से माप कर और नियमों से तौलकर बात कहते हैं। फिर भी देखो तो कहीं फीके हैं कहीं मीठे हैं। सच कहा है कहनेवाले ने कि भाषा की सफ़ाई या सजावट के लिये किसी नियम की क़ैद नहीं। जिसकी भाषा स्वभावत: रुचिपूर्ण हो उसपर सिद्धांत और नियम सभी क़ुर्बान किए जा सकते हैं।

शेर भी गोयम ब-अज़ आबे हयात,
मन न दानम फ़ायलातुन फ़ायलात ।।

एक पनिहारिन को देखकर शेख़ साहिब के मनचले मुँह में पानी भर आया है। उस प्रसंग में कहे गए ग़ज़ल के कुछ विनोदपूर्ण शेर मुलाहिज़ा फ़रमाइए :—

पानी भरे हैं यारों याँ क़िर्मिज़ी दोशाला,
लुंगी की सज दिखाकर सक़्नी ने मार डाला,
काँधे पे मुश्क लेकर जब क़ुद को ख़म करे है,
काफ़िर का नशए हुस्न हो जाय है दोबाला ।।
दरयाए ख़ूँ में क्यों कर हम नीम क़द न डूबें,
लुंगी के रंग से जब वाँ ता कमर हो लाला ।।

यह सब कुछ सही। किंतु जिस शायर के क़लम ने आठ दीवान लिखकर डाल दिए, उसकी काव्य-निपुणता में रेफ लगाना और संदेह करना बिल्कुल अन्यायपूर्ण होगा।

इनके अभ्यास-कौशल और रचना-प्राचुर्य सभी उर्दू भाषा के इतिहासकारों ने स्वीकार किया है। मैंने बुज़ुर्गों के मुँह से सुना है कि दो तीन तख़्तियाँ इनके पास बरा-

बर धरी रहतीं । जब कोई मुशायरा होने को होता है तो उनपर और अलग अलग काग़ज़ों पर मुशायरे की समस्या पर शेर लिखना शुरू करते थे और बराबर लिखते जाते थे । लखनऊ शहर था । ठीक मुशायरे के दिन लोग आते । आठ से दस रुपए तक या जहाँ तक जिसकी औक़ात होती, उन्हें साहाय्य के रूप में देना चाहता दे देता । यह उसी तुलना में अपनी रचनाओं में से नौ, ग्यारह, या बारह शेरों की ग़ज़ल निकाल कर उनके हवाले करते और अंतिम पद में दाता का उपनाम भी जोड़ देते थे । इनकी रचनाओं में जो कमज़ोरी दिखाई पड़ती है उसका असल कारण यह था कि बुढ़ापे में इन्होने व्याह किया था । इसलिये सबसे पहले तो इनका एक साला था वह शेर चुन कर ले जाता था । फिर सबको दे ले कर जो कुछ बचे खुचे शेर होते, वही इनके पल्ले पड़ते और उन्हीं में कुछ लोन मिर्च लगा कर ये मुशायरे में पढ़ देते । वही ग़ज़लें दीवानों में लिखी चली आती हैं । यहाँ तक कि एक मुशायरे में जब इनके शेरों पर तनिक भी वाहवाही न हुई तो इन्होंने चिढ़ कर ग़ज़ल ज़मीन पर दे मारी और कहा कि ग़रीबी का मुँह काला हो जिसकी बदौलत हमारी ग़ज़लें इस नौबत को पहुँची हैं कि अब कोई उन्हें सुनता भी नहीं । इस घटना की जब और जगह चर्चा हुई तो यह भेद खुला कि इनकी ग़ज़लें बिकती हैं । अच्छे अच्छे शेर लोग मोल ले जाते हैं । जो तलछट की तरह रह जाते हैं, वही इनके हिस्से में आते हैं ।

पानीपत के एक शख्स जो चकलादारी का व्यवसाय करते थे, उस समय लखनऊ में रहते थे । उनके यहाँ शेख मस्हफ़ी भी आया जाया करते थे । एक दिन ये काग़ज़ का एक पुलिंदा हाथ में लिए वहाँ पहुँचे और अलग बैठ कर कुछ लिखने लगे । सामने एक पन्ना रखा था, उसे देखकर इस तरह लिखे जाते थे, जैसे कोई नक़ल कर रहा हो । एक आदमी ने पूछा कि हज़रत यह क्या है, जिसकी आप नक़्ल कर रहे हैं, लाइए, में लिख दूँ । इन्होंने कहा कि एक शख़्स ने एक ख़ास मज़मून को मस्नवी की शक्ल में लिखवाने के लिये फर्माइश किया था । बहुत दिनों से इसके लिये उसका तक़ाज़ा था ; कुछ तो मुझे याद न रहती थी, कुछ फुरसत न होती थी । आज उसने इसके लिये बहुत उलहना दिया और उस मस्नवी का ख़ुलासा भी लिख कर हमें दे दिया । उसी को नज़्म की शक्ल दे रहा हूँ । बस इसी से उनके कवित्व की उर्वता और उनकी अभ्यासशीलता का अनुमान लगाया जा सकता है ।

एक मुशायरे में मीर तक़ी भी उपस्थित थे । शेख़ मस्हफ़ी ने ग़ज़ल पढ़ी :—

तन्हा न वह हाथों की हिना ले गई दिल को,
मुखड़े के छिपाने की अदा ले गई दिल को ।।

जब यह शेर पढ़ा :—

यां लाल फ़िसंसाज़ ने बातों में लगाया,
दे पेंच उधर ज़ुल्फ़ उड़ा ले गई दिल को ।।

तो मीर साहिब ने कहा कि भई, ज़रा इस शेर को फिर पढ़ना । उनका इतना कहना हज़ार तारीफ़ों के समान था । शेख़ मस्हफ़ी ने बस उनके इन अनुरोध

भरे शब्दों को ही अपनी काव्यकुशलता का प्रमाणपत्र समझा और कई बार उठ उठ कर सलाम किया और कहा कि मैं इस शेर पर अपने दीवान में ज़रूर लिखूंगा कि हज़रात ने इसे दो बार पढ़वाया था। उन्होंने अक्सर अपनी ग़ज़लों में भारतीय विशिष्टता भरे विषयों का भी उल्लेख किया है। किंतु न अपने समकालीन सैयद इन्शा की तरह बहुतायत से न जुरअत की तरह बहुत कम मात्रा में। कहते हैं :—

देखा न मैं हिंद में जब खुश्कए पेशावरी,
लेने बिरंज ऐ मस्हफ़ी रूह अपनी पेशावर गई ॥

न क्यों कि सैर करे शब्दूँ के सीनों में,
जो ख़ाल चश्म कि बरसों रहा हो सीनों में ॥

क्यों न दिल नज़्ज़ारगी का जाए टूट,
लखनऊ में हुस्न की बँधती है पुट ॥

तख़्तये आबे चमन क्यों न नज़र आए सपाट,
याद आए मुझे जिस दम वह नगनबूंद का घाट ॥

कभी कभी इन्हें अपनी जन्म-भूमि अमरोहे के मुहावरे याद आ जाते हैं और कह देते हैं :—

तेग़ ने उसका कलेजा खा लिया,
उसने आते ही मुझे संगवा लिया ॥

चमन में चल के कर ऐ मस्हफ़ी तू नालः वा आह,
जो जी चला हो तेरा इम्तहाने बुलबुल को ॥

न मैं सहरा में न गुलशन में निकल जाऊँगा,
खूगरे शहर हूँ यां ख़ाक में रल जाऊँगा ॥

इन्हें अक्सर अपने समकालीन शायरों पर चोट करने की भी आदत थी। एक जगह कहते हैं :—

कुछ मैं जुरअत नहीं हूँ मस्हफ़ी सहरे ब्यां,
मीरो मिर्ज़ा से लड़ाने ये ग़ज़ल जाऊँगा ॥

और तो सानी कोई उसका नहीं,
मस्हफ़ी का है क़तील अलबत्ता जोट ॥

प्रायः ग़ज़लों में प्रशंसा, काव्य-जगत में अपने महत्त्व का दावा, और मुशायरों को क़ायम रखने का अपने लिये श्रेय, और अन्य सब शायरों को अपना ख़ाशः

चीन समझना और कह देना ये इनके दावे थे और यह दावे कुछ हद तक न्यायोचित भी थे। मगर जब सैयद इन्शा और जुरअत लखनऊ पहुँचे तो इनके इस गर्व का परिणाम बहुत बुरा हुआ। यहाँ उनके आपसी नोक-झोंक की कुछ घटनाओं का वर्णन करता हूँ। उनमें कुछ बातें तो अशिष्टतापूर्ण भी हैं। किंतु इस प्रकार विचारों को व्यक्त करना असाधारण या वर्जित नहीं मानते। सामान्य उद्देश्यों को व्यक्त करने के लिये उर्दू काव्य की अभिव्यंजना-शक्ति बहुत कमजोर पड़ती है। हाँ हज्व (निंदात्मक कविता) की ही एक ऐसी विधा है, जिसमें एक चोट जो शायर के दिल में लगी होती है तो वह उसकी कविता के गुन से मिल कर मुर्झाए दिलों को ज़रा गुदगुदा देती है। अगर बयान में सफ़ाई और ज़बान में गर्मी और तेज़ी पैदा करनी हो तो ऐसी कविताओं का पढ़ना भाषा को तेज़ और तीखा बनाने का या उसपर सान रखने का एक अच्छा साधन है।

मिर्ज़ा रफ़ी की हज्वें उनके उपलब्ध संग्रहों में मिलती हैं। लेकिन शेख़ मस्हफ़ी और सैयद इन्शा की हज्वें केवल कुछ बूढ़ों की ज़बान पर रह गई है। मेरे विचार से यहाँ उन परिस्थितिओं की थोड़ी बहुत चर्चा प्रसंगोचित होगी, जिनमें ये महानुभाव एक प्रकार के अशोभनीय कहा-सुनी में उलझने के लिये मजबूर होते थे। इन झगड़ों के बारे में तरह तरह की बातें कहीं जाती हैं। यह तो निंदनीय अवश्य है कि इन सभी हज्वों में अश्लीलता और अपशब्दों की भरमार है। ख़ैर, हमें चाहिए कि थोड़ी देर के लिये हम शहद की मक्खी बन जायँ, जहाँ रस भरा कोई फूल देखें जा बैठें, झाड़ झंखाड़ और सूखी साखी पत्तियों से बचें और जब रस ले चुकें तो तुरत उड़ जायँ।

अब ज़रा आइए, इनके और सैयद इन्शा के मार्कों का तमाशा देखें। यहाँ यह जान लेना ज़रूरी है कि पहले तो मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह की ग़ज़ल को शेख़ मस्हफ़ी बनाया करते थे। जब सैयद इन्शा पहुँचे, तब उनकी कविताओं के आगे इन के शेर कब मज़ा देते। इसलिये मिर्ज़ा की ग़ज़ल सैयद इन्शा के पास आने लगी। कुछ समय के बाद शेख़ साहिब की तनख्वाह में कुछ कटौती हुई। उस समय उन्होंने कहा :—

चालिस बरस का ही है चालिस के लायक़,
था मर्द मुअम्मर कहीं दस बीस के लायक़॥

ऐ वाये कि पचीस से अब पाँच हैं अपने,
हम भी थे, किन्हीं रोज़ों में पच्चीस के लायक़॥

उस्ताद का करते हैं अमीर अबके मुक़र्रर,
होता है जो दरमाहा कि साईस के लायक़॥

बारह के लगाने से हुआ दो का इज़ाफ़ा,
फिर वह न जले जी में कि हो तीस के लायक़॥

फिर भी आना जाना जारी था । अकसर ग़ज़लों में दोनों काव्य-कुशल व्यक्ति अपना अपना कौशल दिखलाते थे और कुछ कुछ छेड़छाड़ होती रहती थी । किंतु इस तरह कि कोई समझे कोई न समझे । एक दिन शेख़ मस्हफ़ी ने मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह के जलसे में यह ग़ज़ल पढ़ी :—

ज़ोहरा की जो आई कफ़े हारूत में उँगली,
की रश्क ने जावेदए मारूत में उँगली ।।

बिन दूध अँगूठे की तरह चूसे है कोदक,
रखती है तसरूफ़ अजब एक क़ूत में उँगली ।।

हर मौज से थी कल दह्ने हूत में उँगली,
मेंहदी के ये छल्ले नहीं पौरों पे बनाए-

है उसकी हर इक हल्क़ए याकूत में उँगली,
नाची है तेरी आलमें लाहूत में उँगली ।।

शहतूत है या सानए आलम ने लगा दी,
शीरीं की ये शोख़ शजरे तूत में उँगली ।।

हाइक की गिरफ़तार हो ज्यूँ सूत में उँगली,
था मस्हफ़ी पे मायले गिरया के पसे अज़ मर्ग-
थी उसकी घरी चश्म पे ताबूत में उँगली ।।

इसी तरह में सैय्यद इंशा की ग़ज़ल का मत्ल: था :—

देख उसकी पड़ी ख़ातिमे यकूत में उँगली,
हारूत ने की दीदये मारूत में उँगली ।।

और इनके साथ कुछ और लोगों की भी ग़ज़लें थीं । जब मस्हफ़ी वहाँ से चले गए तो यारों में उनके कुछ शेरों पर चर्चा छिड़ी और उनकी ग़ज़ल के शब्दों को उलट-पुलट कर बुड्ढे बेचारे की रचना की खूब धज्जी उड़ाई । उसके कुछ शेर याद हैं, लेकिन वे इतने अश्लील हैं कि उनकी याद दिलाना भी उचित नहीं । उसका पहला शेर अलबत्ता कुछ निर्दोष है, इसलिये लिखता हूँ :—

था मस्हफ़ी काना जो छिपाने को पस अज़ मर्ग,
रखे हुए था आँख पे ताबूत में उँगली ।।

यहीं से उनके पारस्परिक झगड़ों का आरंभ हुआ और दोनों ओर से निंदात्मक कविताओं के रूप में वह धूल उड़ी की भद्रता कभी तो कभी आँखें बंद कर लेती और कभी कानों में उँगलियाँ दे लेता ।

अपने ग़ज़ल के इस तरह उलट फेर की सूचना शेख़ मस्हफ़ी तक पहुँची। वह एक पुराना मँजा हुआ अभ्यस्त शायर, लखनऊ भर का उस्ताद, कोई अदना शख्स न था। बावजूद बुढ़ापे के बिगड़ खड़ा हुआ और एक ग़ज़ल बड़े भावपूर्ण ढंग से रची। अब चाहे इसे बुढ़ापे की मस्ती कहो, चाहे तबियत का अमरोहपन कहो, चाहे अपने स्वाभाविक संजीदगी का प्रभाव समझो, इस रचना में इन्होंने अपनी शालीनता को हाथ से जाने न दिया। लेकिन अपने ढंग से खूब ग़ज़ल कही :--

मुद्दत से हूँ मैं सरखुशे सहबाए शायरी,
नादाँ है जिसको मुझ से है दावाये शायरी ॥
मैं लखनऊ में जम्ज़मा सँजाने शेर को,
बरसों दिखा चुका हूँ तमाशाए शायरी ॥
फबता नहीं है बज़्मे अमीराने द्हर में,
शायर को मेरे सामने ग़ौग़ाये शायरी ॥
एक तरफ़ा ख़ार से काम पड़ा है मुझे कि हाये,
समझे है आप को वह मसीहाये शायरी ॥
है शायरों की अबके ज़माने की ये मआश,
फिरते हैं बचते हुए कालाये शायरी ॥
लेता नहीं जो मोल कोई मुफ़त भी उसे,
ख़िफ़्फ़क़ उठाके आते हैं घरवाये शायरी ॥
ऐ मस्हफ़ी ज गोशये ख़िल्वत बरूँ ख़ाराम,
ख़ालिस्त अज़ बराये तू ख़ुद जाये शायरी ॥
हर सिफ़ला रा ज़बानो ब्याने तू के रसद,
आरे तूई फ़ुग़ानी व बाबाये शायरी ॥
मजनूँ मनाम चिरा दिगरे रंज भी बुरद,
दर हिस्सये मन आमदः लैलाय शायरी ॥

इसके अतिरिक्त और ग़ज़लें भी कहीं कि जिनमें इसी प्रसंग के संकेत हैं। चूंकि सैय्यद इंशा साहिबे आलम के यहाँ हर गोष्ठी की अध्यक्षता करते थे उन्होंने सोचा कि मस्हफ़ी मेरा मित्र है। ऐसा न हो कि उसे मेरे बारे में भी कोई बदगुमानी हो। पालकी सवार हो उनके घर पहुँचे और कहा कि जलसे में इस तरह की बातें हो रही थी। भई, तुम्हें मेरी ओर से कई गलत फ़हमी न हो। शेख़ मस्हफ़ी ने बड़ी बेपरवाही से कहा कि नहीं भई, मुझे ऐसी बातों का ख्याल भी नहीं। और अगर तुम कहते भी तो क्या था। उनका अंतिम फ़िक़रा सैय्यद इंशा को ज़रा खटका। आते ही यारों

को और भी उकसा दिया। उधर से मस्हफ़ी ने कुछ और कहा। इधर सैय्यद इंशा बस तवील में ये शेर कहे :—

वख़दावंदेय ज़ाते कि रहीम अस्त व करीम अस्त,
व अलीम अस्त व हलीम अस्त व हकीम अस्त।
व अज़ीम अस्त व सलीम अस्त व क़दीम अस्त,
व शरीफ़ अस्त व लतीफ़ अस्त व कनीर अस्त।
व बशीर अस्त व नसीर अस्त व कबीर अस्त,
व रऊफ़ अस्त व ग़फ़ूर अस्त व शकूर अस्त।
व वदूद अस्त व मरा ख़ल्कु नमूद अस्त,
व बूद खालिक़े आफ़ाक़, क़सम भी ख़ुरम अवनू।
कि मरा हैच ज़-हजोए तू सरेकार नबूद अस्त,
चले अज़ तरफ़त गश्त शुरू इंहमा अक़वाले मज़ख़रफ़।
शनू ऐ मर्दके नादां, अन्दर दहेनत शाशाये आलम,
ग़ज़ल पौच तूऊ मस्नवी हरज़ह की मजमुअए दुश्नाम।
ग़लाक़ अस्त वशाद्दाद अस्त गुज़श्त अज़ सज़र आं लहज़ा,
विवाचार तौरा हज्व नमूदम कि दिलम ख़ूँ शुद व-जोशीद।

व बलरज़ीद व बपैचीद ब सपीद व जिगर आतिश शुदः,
दर सीनिये सौज़ौ मनै ख़स्तः दिल वा मुज़तर ब हैरां।
अन्दर द्हेन्त शाशये आलम अगर अज़ नुत्फ़ये इबलीस,
न बाशी दिले हमचूँ मने सैय्यदे नख़राशी—कि अज़ औलाद।
हुसैन अस्त व नजी बुततुरफ़ेन अस्त व शरीफ़ अस्त व-
नज़ीफ़ अस्त व लतीफ़ अस्त व फ़सीह अस्त व-
वलीग़ अस्त व बूद मुहसिने बरहक़ कि बजुज़ लुत्फ़ो-
करम बख़शी व तारीफ़ कमाल न सिफ़तत पेश कसे-
गाह व्यां हैच नकरदह अस्त व तोरा बूद सना ख़ाँ॥

+ + +

इनहीं दिनों एक मुशायरे में तरह की ग़ज़लें कही गई। उसमें इन सब साहिबों ने भी ग़ज़लें पढ़ी। मस्हफ़ी ने भी आठ शैरों की एक ग़ज़ल लिखी—

सर मुश्क का है तरा तो कापूर की गर्दन,
ने मूये परी ऐसे न ये हूर की गर्दन॥

मछली नहीं साअद मैं तेरे बल्कि निहां है,
वह हाथ में माहिये सक़न्कूर की गर्दन ।।

यूँ मुर्ग़े दिल उस जुल्फ़ के फंदे में फ़ँसा है,
जूँ रिश्तए सैय्याद में उस्फ़ूर की गर्दन ।।

दिन क्यों कि परीहूर का फिर उस पै न फिसले,
सानैअ न बनाई तेरी बिल्लूर की गर्दन ।।

एक हाथ में गर्दन हो सुराही मज़ा है,
और दूसरे में साक़िए अखमूर की गर्दन ।।

हर चंद मैं झुक झुक के किए सैकड़ों मुजरे,
पर ख़म न हुई उस बुते मग़रूर की गर्दन ।।

क्या जानिए क्या हाल हुआ सुवह को उसका,
ढलकी हुई थी शव तेरे रंजूर की गर्दन ।।

यूँ जुल्फ़ के हल्क: में फँसा मस्हफ़ी ऐ वाये,
जूँ ताक़ पें होवे किसी मजबूर की गर्दन ।।

सैय्यद इंशा ने इस ग़ज़ल पर आपत्तियाँ की और दोष निकाले और एक क़ित: की भी रचना की । उनकी ग़ज़ल और क़ित: दोनों प्रस्तुत हैं :—

तोड़ूँगा खुमे वादये अंगूर की गर्दन,
रख दूँगा वहाँ काट के इक हूर की गर्दन ।।

खुद्दार की बन शक्ल अलिफ़हाये अनलहक़,
नित चाहते हैं एक नई मंसूर की गर्दन ।।

क्यों साक़िये खुर्शीद ज़बीं क्या ही नशे हों,
बस यूँ ही चढ़ा जाऊँ मए नूर की गर्दन ।।

उछली हुई वर्ज़िश से तेरी दंड पे मछली,
है नामे खुदा जैसे सक़ल्कूर की गर्दन ।।

था शख़्स जी गर्दन - ज़दनी उससे ये बोल,
अब दीजिए जो देनी है मंज़ूर की गर्दन ।।

आईनः की गर सेर करे शेख़ तो देखे,
सर ख़िसे का मुँह खूक का लंगूर की गर्दन ।।

यूँ पंजये मिज़गां में पड़ा है ये मेरा दिल,
जूँ चंगुले शहबाज़ में उसफूर की गर्दन ।।

तव आलमें मस्ती का मज़ा है कि पड़ी हो,
गर्दन पे मेरी उस बुते मख़मूर की गर्दन ।।

बैठा हो जहाँ पास सुलेमान के आसिफ़,
वाँ क्यों न झुके क़ैसरो फ़ग़पूर की गर्दन ।।

मैंचे है वग़ल अपनी में इस ज़ोर से जो इश्क,
क्यों तूने सुराही की भला चूर की गर्दन ।।

महफ़िल में तेरी शमा बनी मोम की मरयम,
पिघली पड़ी है उसकी वह काफ़ूर की गर्दन ।।

मैंचे है वग़ल अपनी में उस ज़ोर से जो इश्क़,
तू तोड़ने पर है किसी मजबूर की गर्दन ।।

ऐ मस्त ये क्या क़हर है ख़िश्ते सरख़म से,
क्यों तुने सुराही की भला चूर की गर्दन ।।

-महफ़िल में तेरी शमा बनी मोम की मरयम,
पिघली पड़ी है उसकी ये काफ़ूर की गर्दन ।।

ऐ देव सफ़ेदे सेहरी काश तू तोड़े,
इक मुक्के से खूर के शबे देजूर की गर्दन ।।

जव कुश्तये उलफ़त को उठाया तो अलम से,
बस हिल गई उस क़ातिले मग़रूर की गर्दन ।।

बेसाखता बोला कि अरे हाथ तो टुक दो,
ढलके न मेरे आशिक़े मग़फूर की गर्दन ।।

हासिद तो है क्या चीज़ करे क़स्द जो इंशा,
तू तोड़ झट वलअमे वाऊर की गर्दन ।।

+ + +

सुन लीजिए गोशे दिल से मेरे मुशफ़िक़ा ये अर्ज़,
मानिन्द बंद गुस्सह से मत तरतराइये ।।

बिल्लोर जो दुरुस्त हो लेकिन ज़रूर क्या,
ख़्वाही न ख़्वाही उसको ग़ज़ल में खपाइये ।।
इसमें जो चाहिए तो क़सीदः सुनाइये,
ये तो ग़ज़ब है कहिये ग़ज़ल आठ बेत की,
और उसमें रंग ऐसे अनोखे दिखाइये ।।
क्या लुत्फ़ है कि गर्दने काफ़ूर बाँध कर,
मुर्दे की बास ज़िंदों को लाकर सुंघाइये ।।
यूँ ख़ातिरे शरीफ़ में गुज़रा कि बज़्म में,
कुचला हुआ शरीफ़ ग़ज़ल को बनाइये ।।
ऐसे नजिस कसीफ़ क़वाफ़ी से नज़्म में,
ददाने रेख़ता पे फफूँदी जमाइये ।।
बख़रो में आप ही के ये आई शायरी,
बस मुँह ही मुँह में रखिए उसे मत सिराहिये ।।
गर्दन का दख़्ल क्या है सक़न्क़ुर में भला,
सांडे को तरह आप न गर्दन हिलाइये ।।
मुशफ़िक़ कड़ी कमान को कड़री न बोलिये,
चिल्ला के मुफ़्त तीर मलामत न खाइये ।।
उर्दू की बोली है ये भला खाइए क़सम,
इस बात पर अब आप ही मसहफ़ उठाइए ।।
उस्ताद गर्चे ठैरे हैं साहिब यूँ ही सही,
लेकिन टकी ही रखिए बस उसको छिपाइये ।।
झट लिखिए रूपराम कटारा को एक खत,
भल्लू की मुहर से सनद इसकी मँगाइये ।।
अपनी कमक के वास्ते जा भरतपुर में,
रंजीत सिंह जाट को हमराह लाइये ।।
या गिर्दो पेश के क़स्बाती जो लोग हैं,
इक बलवा बाँधिए इन्हें जल्दी बुलाइये ।।
मुखलिस का इल्तमास पज़ीरा हो सोच कर,
कहने से ऐसे रेख़ता के बाज़ आइये ।।

सरकार की यहाँ नहीं गलने की दाल कुछ,
रोटी जो खानी होवे तो पंजाब जाइये ।।

सतलज, व्यास, रावी, वा झेलम की सैर कर,
चुनाव वाले लोगों को यह कुछ सुनाइये ।।

खुश्का गधों को दीजिए लौजीनह गाम्रो को,
वाँ जाके बीन भैंस के आगे बजाइये ।।

इस रम्ज़ का यहाँ शुनवा कौन है भला,
अब भैरवी का टप्पा कोई आप गाइये ।।

× × ×

मस्हफ़ी ने इसका उत्तर इंशा की ग़ज़ल की तरह में दिया :—

ऐ आंके मआरिज़ हो मेरी तेग़े ज़बाँ से,
तूने सिपरै उज़ में मस्तूर की गर्दन ।।

है आदमे ख़ाकी का बना ख़ाक का पुतला,
गर नूर का सर होवे तो हो नूर की गर्दन ।।

मैं लफ़्ज़ सक़न्कूर मुजर्रद नहीं देखा,
ईजाद है तेरा ये सक़न्कूर की गर्दन ।।

लंगूर को शायर तो न बाँधेगा ग़ज़ल में,
किस वास्ते बाँधे कोई लंगूर की गर्दन ।।

गर्दन की सुराही के लिये वज़ा है नादां,
बेजा है खुमे बादए अंगूर की गर्दन ।।

इससे भी मैं ग़ज़ारा ग़लती और ये सुनिये,
बाँधे है कोई ख़ौशये अंगूर की गर्दन ।।

काफूर से मतलब है मेरा उसकी सफेदी,
ठंडी तो मैं बाँधी नहीं काफूर की गर्दन ।।

ये लफ़्ज़ मुशद्द: भी दुरुस्त आया है तुझसे,
ख़म होती है कोई मेरी बिल्लूर की गर्दन ।।

इतनी न तमीज़ आई तुझे रव्त भी कुछ है,
हर क़ाफ़िए में तूने जो मंज़ूर की गर्दन ।।

यूँ सैकड़ों गर्दन तू गाया बाँध तो क्या है,
सूझी न तुझे हैफ़ कि मज़दूर की गर्दन ।।

जो गर्दन में बाँधी हैं ला तुझको दिखा दूँ,
तू मुझको दिखादे शबे देजूर की गर्दन ।।
गर्दन के तई चाहिए इक शक्ले कशीदा,
ख़म करके समझ टुक मग़रूर की गर्दन ।।

मज़मून तो मेरा ही है गो और तरह से,
बाँधे तो गुमाँ अपने में रंजूर की गर्दन ।।
गर क़ाफ़िया पैमाई ही मंजूर थी तुझको,
तो बाँधी न किस वास्ते मक़दूर की गर्दन ।।

लाखों ही मआफ़ी को किया क़त्ल पर अफ़सोस,
सूझी न तुझे दुशनओ सातूर की गर्दन ।।
मुन्सिफ़ हो तो फिर नाम न लो दावे का हरगिज़,
ये बोझ उठा सकती नहीं मोर की गर्दन ।।

मंजूर ही की-- -- -- तो बिल्लाह,
बाँधी न गर अब ख़ानए ज़ंबूर की गर्दन ।।

टूटे हुए नीचे की तरह मेरे क़लम से,
जाती है पिचक शायरे मग़रूर की गर्दन ।।

इन्साफ़ तो कर दिल में कि एक तेग़ में कैसे,
मैं काट दी दावा की तेरे ज़ूर की गर्दन ।।
खड़ाग ये गाया पै तेरे हाथ न आई,
अफ़सोस कि इस तान पै तंबूर की गर्दन ।।

सूझा न तुझे वरना बनाता तू उसी दम,
नासूर की पट्टी को भी नासूर की गर्दन ।।
इन्साफ़ किया इसका मैं अब शह के हवाले,
झुकती है जहाँ मार से ले मोर की गर्दन ।।

वह शाहे सुलेमाँ कि अगर तेग़े अदालत,
टुक खींचे तो दो हो वहीं फ़गफ़ूर की गर्दन ।।
जिस सर पै टुक अपना वह रखे दस्ते नवाजिश,
उस सर के लिए तकिया हो फिर हूर की गर्दन ।।

उस दर का जो सिज्दा उन्हें मंजूर न होता,
मिलती न फ़रिश्तों की कभी नूर की गर्दन ॥

ऐ मस्हफ़ी ख़ामोश वसुख़न तूल न खिंच जाय,
याँ कौतह ही बेहतर सरे पुरशोर की गर्दन ॥

+ \+ \+

इन ग़ज़लों के पढ़ने से मालूम होगा कि ये दोनों गुणी कवि भाव को अभिव्यक्त करने में कितने कुशल थे। इसमें संदेह नहीं कि रचना-लालित्य और व्यंग्योक्तियों के तीखापन के लिये हम सैय्यद इंशा को ही वरीयता देंगे। मगर इस वयोवृद्ध शायर ने इसी ग़ज़ल के आधार पर अपने आशय को जिस सुंदरता से दर्शाया, उससे किंचित् उन्हें कोई इन्शा से नीचे स्तर का कवि न कहेगा ॥

शेख़ मस्हफ़ी के शिष्यों में मुंतज़िर और गर्म दो बड़े चालू तमंचे थे। वह नवाब साहिब की सरकार में तोपख़ाने इत्यादि की देखभाल का काम करते थे। इन्होंने अपनी ज़बान से, तदबीरों से, नोक झोंक से अपने उस्ताद की उस्तादी के मोर्चे बाँधे। एक मस्नवी लिखी। उसका शीर्षक रखा गरम तमांचा। मीर इन्शाअल्लाह ख़ां ने जब मुशायरे में गर्दन वाली ग़ज़ल पढ़ी और उसमें यह शेर पढ़ा :—

आहू ना की गर सेर करे शेख़ तो देखे,
सर ख़र्स का, मुँह ख़ूक का लंगूर की गर्दन ॥

शेर में बालम बाउर की ओर संकेत भी इनके बुढ़ापे पर चोट है। क्योंकि यह हज़रत मूसा के समय के एक योगी थे, जो वृद्धावस्था और तपस्या के कारण इतने दुबले हो गए थे कि इनके शिष्य इन्हें पोटली में बाँध कर कभी बग़ल में दबाए फिरते थे, कभी कंधे पर डाल लेते थे और जहाँ चाहते थे ले जाते थे। मुंतज़िर न भी अपनी अपनी ग़ज़ल में सैय्यद इन्शा पर चोटें कीं। उनमें से एक मिस्रा याद है :—

बाँधी दुमे लंगूर से लंगूर की गर्दन।

क्योंकि सैय्यद इंशा अकसर दुपट्टा गले में इस तरह डाले रहते थे कि उसका एक सिरा आगे और एक सिरा पीछे पड़ा रहता था। इसी पर सैय्यद इंशा ने उसी समय एक शेर और कहा :—

सफ़ः पे ज़राफ़त के ज़रा शेख़ को देखा,
सर लोन का मुँह प्याज़ का अमचूर की गर्दन ॥

बुड्ढे बेचारे के सर के बाल भी सफ़ेद थे। चेहरे का गोरा रंग भी बुड़ापे में ख़ून जम जाने के कारण प्याज की तरह सुर्ख़ हो गया था।

इसके अलावा इन दोनों में ज़बानी भी काफ़ी नोक-झोंक होता रहा, किंतु उन सब का अब पता लगाना संभव नहीं। मेरे स्वर्गीय उस्ताद कहते थे कि मस्हफ़ी की ग़ज़ल में जो दोष निकाले, उनमें एक यह भी था कि मह्हिए सक़न्क़ूर में ये :घ: संयुक्ताक्षर पढ़ा जाता है। सैय्यद इंशा ने इसकी भी हँसी उड़ाई। पर शेख़ मस्हफ़ी ने अपने प्रमाण में यह शेर दिया :—

मायम व फ़कीरीं व सियह रूईय्ये कौनेन,
रूख़सार सफ़ेद उमरा रा न शनासेम॥

शेख़ मस्हफ़ी ने सैय्यद इंशा पर जो ये आपत्ति कि उन्होंने केवल सक़न्क़ूर क्यों कहा, यह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि सक़न्क़ूर एक जानवर का नाम है और यह शब्द असल में यूनानी है और उससे मछली से कोई संबंध नहीं।

सैय्यद इंशा की तबियत की शोख़ी और ज़बान की असंयमता के बारे में कुछ कहना अपेक्षित नहीं। इन्होंने बहुत सी निम्न कोटि और भद्दी हज्वें कहीं जिसका एक एक मिस्रा चाबुक की तरह चोट करता है। बुड्ढा बेचारा शेख़ मस्हफ़ी भी अपनी शोख़ी की छड़ी और घमंड के डंडे के सहारे खड़ा होकर जितना कमर में बूता था, मुकाबला करता रहा। जब नौबत हद से पार हो गई तो उसके शागिर्दों से भी लखनऊ भरा पड़ा था। मुंतज़िर आँसू गर्म सबको लेकर उठ खड़े हुए और जो कुछ हो सका शागिर्दी का हक़ निबाहा। एक दिन सब एकत्रित हुए। शोहदों का सवाँग भरा और एक हज्व कह कर उसके शेर पढ़ते हैं। सैय्यद इंशा को एक दिन पहले ही इसकी ख़बर लग गई थी। अब इनकी रंगीन तबियत की शोख़ी देखिए। इन्होंने अपने मकान में दरी और क़ालीन बिछवाई, झाड़-फ़ानूस से सजाया। शहर के रईसों और अपने यार दोस्तों को बुलाया। बहुत सारी मिठाईयाँ मँगवा कर उनको दस्तरख़ान पर लगाया। किश्तियों में पान की गिलोरियाँ और चंगेरों में फूलों के हार तैयार किए। जब सुना कि दुश्मनों का जत्था निकट आ पहुँचा, उस समय अपने घर से सब को लेकर उनके स्वागत को चले। उनके साथ स्वयं उनके हज्व की प्रशंसा करते, सुभान अल्लाह और वाह वाह से दाद देते उन्हें अपने घर लाए। सबको बिठाया। स्वयं उसे दोबारा पढ़वाया। आप भी बहुत उछले कूदे। उन्हें मिठाई खिलाई, शरबत पिलाए। पान खिलाए, हार पहनाए, हंस बोल कर उन्हें आदर संमान के साथ विदा किया।

लेकिन फिर सैय्यद इंशा ने जो इसके उत्तर में स्वांग रची, उसने तो ग़ज़ब ही कर दिया। एक बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठा की और उसे बारात की तरह ख़ूब सजाया। और अनेकों विचित्र विचित्र निंदात्मक रचनाएँ तैयार करके लोगों में बाँट दीं। कुछ डांडियों पर पढ़ते जाते थे। कुछ हाथियों पर बैठे थे। एक हाथ में गुड्डा और एक में गुड़िया। दोनों को हाथ से लड़ाते थे और मुंह से हज्व पढ़ते जाते थे जिसका एक शेर यह है :—

सवांग नया लाया है देखना चर्ख़े कुहन,
लड़ते हुए आए हैं मस्हफ़ी-व मस्हफ़न ।।

इस नोक झोंक में मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह, बल्कि बहुत से प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने इंशा का साथ दिया और एक बार इनके प्रतिद्वंदियों के स्वांग को कोतवाल से कह कर रुकवा दिया। इस बात ने शेख़ मस्हफ़ी को बहुत हतोत्साह कर दिया जिसकी झलक इनकी कुछ ग़ज़लों में भी मिलती है । इनमें से एक ग़ज़ल के दो शेर लिखता हूँ :—

जाता हूँ तेरे दर से कि ताक़ीर नहीं याँ,
कुछ इसके सिवा अब मेरी तदबीर नहीं याँ ।

ऐ मस्हफ़ी बे-लुत्फ़ है इस शहर में रहना,
सच है कि कुछ इंसान को तौकीर नहीं याँ ।

इन झगड़ों में कुछ शेरों पर मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह को संदेह हुआ कि उन पर भी शेख़ मस्हफ़ी ने चोट की है । इस निराधार संदेह पर आपत्ति करते हुए उन्होंने कहा :—

क़सम बज़ाते खुदाय कि है समी व - बसीर,
कि मुझसे हज़रते शह में हुई नहीं तक़्दीर ।।
सिबाए इसके कि हाल अपना कुछ किया था मैं अर्ज़,
सो वह बतौरे शिकायत थी अंद-के तक़रीर ।।
गर इससे ख़ातिरे अक़्दस पे कुछ मलाल आया,
और इस गुनह से हुआ बंदा वाजिबुत-ताज़ीर ।।
इवज़ रूपों के मिली मुझको गालियाँ लाखों,
इवज़ दोशाला के ख़िलअत व शक्ल नक़्शे-हरीर ।।
शलफ़ में था कोई शायर नवाज़ ऐसा कब,
जो है तू शाह सुलेमां शिकोह अर्श सरीर ।।
मिज़ाज में ये सफ़ाई कि कर लिया बावर,
किसी के हक़ में किसी ने जो कुछ कि की तक़रीर ।।
मसाहब ऐसे कि गर कुछ किसी से लग़ज़िश हो,
तो उसके रफ़ा कि हरग़िज़ न कर सकें तदकीर ।।
वगर करें तो फिर ऐसी कि नारे तैशो ग़ज़ब,
मिज़ाजे शह में हो मुश्तइल वसद तस्वीर ।।

ChannelеGangotri Urdu

सो ताव ज़र्रः कहाँ, नूर आफ़ताब कहाँ,
कहाँ वह सतवते शाही कहाँ ग़ोरूरे फ़क़ीर ॥
मुकाबला जो वरावर का हो तो कुछ कहिये,
कहाँ दबीक़ीओ दीवा कहाँ पलासो हसीर ॥
मैं एक फ़क़ीर ग़रीबुलवतन मुसाफ़िर नाम,
रहे है आठ पहर जिसको कूत की तदबीर ॥
मेरा दहन है कि मदहे हज़ूरे अक़दस को,
उलट के फेर वहर्फ़ ज़मीमः दूँ तग़यीर ॥
ये इफ़्तिरा है वनाया हुआ सब इंशा का,
कि वज़्मो रज़्म में है पाये तख़्त का वह मुशीर ॥
मिज़ाज शाह हो यूँ मुन्हरिफ़ तो तुझको भी,
ये चाहिए कि करूँ शिकवह इसका पेशे वज़ीर ॥
अगर वज़ीर भी बोले न कुछ ख़ुदा लगती,
तो जाऊँ पेश मुहम्मद कि है वशोरो नज़ीर ॥
शफ़ीये रोज़े जज़ा पादशाह - ओ अदना,
न करदः जुर्म पे जिसने नहीं लिखी ताज़ीर ॥
कहूँ ये उससे कि ऐ जुर्म वख़्श पुर गुन्हाँ,
तेरी गुलामी में आया है दाद - ख़्वाह फ़कीर ॥
ख़ता हो मेरी जो पहले तू कर असीर मुझे,
व-गर अदू की, पिहना उसको ताक़ और जंज़ीर ॥
अगरचे बाज़िये इंशा एवे हमियत को,
रहा ख़मोश समझ कर मैं बाजिये तक़दीर ॥
वले ग़ज़ब है वड़ा ये कि अव वह चाहे हैं,
ख़्याल में भी न खींचूँ मैं हजो की तसवीर ॥
सो मैं मलिक नहीं ऐसा, वसर हूँ ताकि वेचंद,
कहे से इसके करूँगा न माजरा तहरीर ॥
किया मैं फ़र्ज़ कि मैं आप उससे दर गुज़रा,
फिरेगा मुझसे कोई गमों मुंतज़िर का ज़मीर ॥

ग्रौर उन पे जो किया मैंने ताज़ियाना मना,
तो हो सके है कोई उनकी वज़ा की तदबीर ।।

हज़ार शुरदों में बैठें हज़ार जा पै मिलैं ।
फिरैं हमेशा लिए जमा साथ ग्रपने कसीर ।।

न मानैं तैग़ सियासत न क़ह्ले सुल्तानी ।
न समझैं क़त्ल का वादा न ज़र्बते शमशीर ।।

मिज़ाज उनका ठठोल इस क़दर पड़ा है कि वह ।
हँसी समझते हैं इस बात को न जुर्म कबीर ।।
फिर इस पै ये भी है यानी कि इस मोक़ाम के बीच ।
जो होवे मुंशी तो कुछ तसर में करे तस्तीर ।।
फ़कैफ़ जिनको खुदा ने किया हो मौजुं तवह ।
ग्रौर ग्रपने फ़ज़्ल से बख़्शी हो शैर में तौक़ीर ।।
ये कोई बात है सो सुन के वह ख़मोश रहैं ।
हुग्रा है मस्लिहतन गो कि तस्फ़िया ये ग्रख़ीर ।।
मगर ये बात में मानी कि सवांग का बानी ।
ग्रगर मैं हूँ तो मुझे दीजिये बदतरीं ताज़ीर ।।
मेरे हवास परेशां बईं परीशानी ।
हो जैसे लशकर बशिकस्तः की ख़राब बहीर ।।
गर इसपै सुलह की ठैरी रहे तो सुलह सही ।
अगर हो फेर शरारत बशर हूँ मैं भी शरीर ।।
जवाब एक के यां दस हैं ग्रौर दस के सौ ।
निगाह करते थे ग्रव्वल वईं क़लीली बसीर ।।
हुसूर ये है कि जब कोतवाल तक क़ज़िया-
गया हो ग्रज़ पये तहदीद शायराने शरीर ।।
तो कोतवाल ही बस उनसे ग्रब समझ लेगा ।
ये दमबदम की शिकायत की है अबस तहरीर ।।
ये वह मिस्ल है कि जिस तहर सारे शहर के बीच ।
बल्द क़ामती अपनी से मुत्तहम हो बईर ।।
सो मुत्तहम मुझे नादां ने [illegible] शह से किया ।
क़बाहत उसकी जो समझै शह इसको ताज़ीर ।।

वले मिज़ाजे मुक़द्दस जो लाऊवाली है ।
नहीं ख़याल में आता ख़याले क़र्फ़ हक़ीर ।।

जो कुछ हुआ सो हुआ मस्हफ़ी बस अब चुप रह ।
ज़यादह कर न सदाक़त का माजरा तहरीर ।।

खुदा पै छोड़ दे इस बात को वह मालिक है ।
करै जो चाहे–जो चाहा किया वहुक्मे क़दीर ।।

+ + +

सैय्यद इंशा चलते फिरते दिल्ली में आए थे, और कुछ ही दिन वहाँ रहे। और जो लोग इन आपसी नोंक–झोंक में इनका पक्ष लेते थे, उनमें से अवसर लोगों ने तो दिल्ली की शकल भी, नहीं देखी थी। इसी प्रसंग में किसी अवसर पर शेख़ मस्हफ़ी ने यह कविता लिखी, जिस के कुछ शेर इनके सातवें दीवान में हैं––

वाज़ों का गुमां है ये कि हम अह्ले ज़वाँ हैं ।।
दिल्ली नहीं देखी है ज़बांदां ये कहा है ।।

फिर तिस्पे सितम और ये देखो कि वरूंज़ी ।
कहते हैं सदा आप को और लाफ़ ज़ना हैं ।।

सैफ़ी के रिसाले पै विना उनकी है सारी ।
सो उसको भी घर बैठे वह आप ही निगराँ हैं ।।

एक डेढ़ वरक़ पढ़के वह जामी का रिसाला ।
करते हैं घमंड आना कि हम क़ाफ़िया दां हैं ।।

न हर्फ़ जो वह क़ाफ़ियः के लिखते हैं उसमें,
दानाँ जो उन्हें सुनते हैं ये कहते हैं हाँ हैं ।।

ताकीद से वाक़िफ़ न तनाफ़ुर से हैं आगाह,
न हर्फ़ यही क़ाफ़ियः के विरदे ज़वाँ हैं ।।

करते हैं कभी ज़िक्र वह ईताए ख़ाफ़ी का,
ईताए जलो से कभी फिर हर्फ़ज़नां हैं ।।

अव्वल तो है क्या शेर में इन बातों से हासिल,
बिल्फ़र्ज़ जो कुछ हो भी तो ये सब पे अयां है ।।

हासिल हो ज़माने में जिन्हें नज़्म तबीई,
नज़्म उनकी के अशआर ब-अर्ज़ आबे रवाँ हैं ।।

परवाह उन्हें कब है रदीफ़ और रवी की,
कब क़ाफ़िये की क़ैद में आतिश नफ़सां हैं ।।

मुझको तो ओरूज़ आती है न क़ाफ़िया चंदां,
इक शेर से गरवीदा मेरे पीरो जवाँ हैं ।।

+ + +

इस कविता के शुरू के शेरों पर ज़रा विचार करें कि उस समय की दिल्ली कैसी चीज़ थी कि कुछ दिन वहाँ रह जाना ही जैसे कि ज़बाँदानी (भाषाविज्ञता) का प्रमाण-पत्र हो जाता था ।

आईये अब शेख़ साहिब की कुछ कविताओं का रसास्वादन करें ।

यद्यपि शेख़ मस्हफ़ी काफ़ी बूढ़े थे, किंतु सैय्यद इंशा की मृत्यु पर इन्होंने असीम शोक प्रकट किया । अपनी एक ग़ज़ल में इन्होंने कहा :—

मस्हफ़ी किस ज़िंदगानी पर भला मैं शाद हूँ,
याद है मर्गे क़तीलो मर्दने इंशा मुझे ।।

ज़रा सोचिए, कैसे कैसे फ़साद और झगड़े हुए, कितना शोर ग़ौग़ा मचा, कैसे कैसे ख़ाक उड़े । और इन सब का अंत वह भी ख़ाक, बस एक मुट्ठी ख़ाक ।

+ + +

मस्हफ़ी के क़सीदे और नात

हिना से है ये तेरी सुर्ख़ ऐ निगार अंगुश्त,
कि हो न पंजये मिर्जाने की ज़िहार अंगुश्त ।।

ज़ईफ़ इतना हुआ हूँ कि मेरे हाथों में,
नहीं ये पंजए ताक़त से भल्लादार अंगुश्त ।।

हिलालो बद्र हो यकजा अरक़-फ़िशानी को,
रखें ज़बीं पे जो तू करके तावदार अंगुश्त ।।

फ़िराक़े मू-कमरां से मैं ये हुआ बारीक,
कि हो गई मेरी सौज़न सिफ़त हज़ार अंगुश्त ।।

ज़बस्कि जिश्त है दुनिया में हाथ फैलाना,
रखे है सिमटी हुई अपनी पुश्त ख़ार अंगुश्त ।।

वह जब लगाए हैं फ़ुंदक़ को देख देख मुझे,
रखे हैं मुँह, में तअस्सुफ़ की रोज़गार अंगुश्त ।।

शुमारे दाग़ से कब इतनी मुझको फ़ुर्सत है,
कि रख सकूँ वसरे-चश्म अश्कबार अंगुश्त ।।

+ + +

क्याँ ज़रूर है अब दस्तो तेग़ का उसकी
निकल गई सिपरे मह से जिसकी पार अंगुश्त ।।

मुहम्मद अरबी मोजिज़ों का जिसके कभी,
न कर सके फ़लके पीर का शुमार अंगुश्त ।।

चमन में उसकी रिसालत का जब कुछ आए है ज़िक्र,
अलम करे शहादत की शाख़सार अंगुश्त ।।

वज़ीफ़ा जिसका पढ़े है ये दानए शबनम,
दुआ में जिसकी है खोले है ए चनार अंगुश्त ।।

अगर हो मेहरए गहवारा संगे फ़र्श उसका,
न चूसे अपनी कभी तिफ़्ले शीरख़ार अंगुश्त ।।

उठा दे गर कफ़े अफ़सोस मलने की वह रसम,
न होवे फिर कभी अंगुश्त से दो चार अंगुश्त ।।

करे जो वस्फ़ वह उस ताज अंबिया के रक़म,
कलम कि जूँ नए नर्गिस हो ताजदार अंगुश्त ।।

+ + +

ग़ज़लें

दिन जवानी के गए मौसमे पीरी आया,
अबरू ख़्वाब है अब वक़्त हक़ीरी आया ।।

ताबो ताक़त रहे क्या ख़ाक कि आज़ा के तईं,
हाकिमे ज़ोफ़ से फ़रमाने तग़ीरी आया ।।

सबक़े नालः तो बुलबुल ने पढ़ा मुझसे वले,
न उसे क़ायदये ताज़ा सफ़ीरी आया ।।

शायरी पर कभी अपनी जो गई अपनी नज़र,
न ज़मीर अपने में उस वक़्त ज़मीरी आया ।।

विर्द पढ़ने जो उठा सुबह को सबसे पहले,
मकतबे इश्क़ में होने की वह मेरी आया ।।

उसके दर पर मैं गया स्वांग वनाए तो कहा,
चल बे चल दूर हो क्या लेके फ़क़ीरी आया ।।
पूछ मत मारकये इश्क़ का हंगामा कि वां,
कैस मारा गया वामिक़ व–असीरी आया ।।
ऐ सुलेमां हो मुवारक तुझे ये शाही-व-तख़्त,
तेरा आसिफ़ भी वसामाने वज़ीरी आया ।।
चश्म कम से न नज़र मस्हफ़ी खस्तः पै कर,
वह अगर आया तो मज्लिस में नज़ीरी आया ।।

नीचे लिखी हुई ग़ज़ल सैय्यद इंशा की ग़ज़ल पर है :—

पीरी से हो गया यूँ इस दिल का दाग़ ठंडा,
जिस तरह सुवह होते कर दें चिराग़ ठंडा ।।
सर गर्म सैर गुल्शन क्या ख़ाक हो कि अपना,
नज़ाला से हो रहा है आप ही दिमाग़ ठंडा ।।
बुलबुल के गर्म नाले ज़ब से सुने हैं उसने,
दीवारे गुलिस्तां पर बोले है ज़ाग़ ठंडा ।।
क्या क्या खुशामदी नित पंखा लगे हिलाने,
कुश्ती से जब हुआ वह करके फ़राग़ ठंडा ।।
सर सर से कम नहीं कुछ वह तेग़े तेज़ा जिसने,
लाखों का कर दिया है दम में चराग़ ठंडा ।।
कश्मीरी टोले में हम जाते थे रोज़ा लेकिन,
जो आज टुक हुआ है करके सुराग़ ठंडा ।।
गर्मी की रूत है साक़ी और अश्क बुलबुलों ने ।
छिड़काओं से किया है सब सहने बाग़ ठंडा ।।
ऐसे में एक सुराही शेरे लगी मँगाकर ।
लबरेज़ करके मुझ को भर दे अयाग़ ठंडा ।।
क्या हम टुकड़ गदा हैं जो मस्हफ़ी ये सोंचैं ।
है गर्म इसका चूल्हा उसका उजाग़ ठंडा ।।

× × ×

ग़ज़ल मुस्तज़ाद

खुशब्वई बुजिन की हो ख़जिल अंब सारा हम मुश्क की निगहत,
वाल उलझे हुए हैं न कि रेशम का है लछ्छा अल्ला री नज़ाकत ॥
पाँव में कफ़क और लगे हाथों में मंहदी अज़ख़ूने मुहिब्वां,
चेहरा वह परी कहिए जिसे नूर का बुक्का रंग आग की सूरत ॥
तलवार ले अवरू कजक़त्ल पै मायल लव ख़ून के प्यासे,
फूलों की छड़ी हाथ में और कान में वाला चितवन में शरारत ॥
मिस्सी की घड़ी इक तो जमी होंटों पै काफ़िर और तुर्शी से पोंछें,
फिर तिस्पै सितम उसका वह पाँवों का लखोटा जूँ खूँ की हो रंगत ॥
पांव में अनी दार पड़ी कफ़श ज़री की दिल जिससे हो ज़ख़मी,
और सर पै शरारत से बँधा वालों का जोड़ा सज-धज सौ इक आफ़त ॥
खूँखार निगह अरवदः जो आप सो कैफी सरशार नशः में,
इक हाथ में सागूंर तो फिर इक हाथ में मीना मस्तों को ही हालत ॥
आया मेरे घर दी मेरे दरवाजेह पै दस्तक मैं घर से निकल कर,
देखूँ तो सर कूचह इक ओशोख है पैदा आई है क़ियामत ॥
तव मैंने कहा उससे कि ऐ मायए खूबी क्या जी में ये आया,
इस वक़्त जो आया तू मेरे पास अकेला समझा न क़वाहत ॥
तो सुन के लगा कहने कि ऐ मस्हफ़ी सुन वात घर से मेरे मुझको,
लाया है तरा जाज़व ही खींचके इस जा थी किसको यह क़ुदरत ॥

× × ×

सरे शाम उसने मूंह से जो रुख़े निक़ाव उलटा ।
न ग़रूव होने पाया वहीं आफ़ताव उलटा ॥
जो किसी ने देसरा में इखलाके दी मुसव्विर ।
न हया के मारे उसने वर्क़े किताव उलटा ॥
मैं हिसाव बोसा जी में कहीं अपने कर रहा था ।
वह लगा मुझी से करने तलव और हिसाव उलटा ॥
महे चारदह आलम में दिखाऊंगा फ़लक को ।
अगर उसने पर्दा मुंह से शबे माहताव उलटा ॥

जो ख़फ़ा हुआ मैं जी में किसी बात पर शबेवस्ल ।
सहर उठके मेरे आगे वही उसने ख़्वाब उलटा ।।
बसवाले बोसा उसमे मुझै रुक के दी जो गाली ।
मैं अदब के मारे उसको न दिया जवाब उलटा ।।
कहीं चश्म मुहर उस पर तो न पड़ गई हो यारब ।
जो निकलते सुबह घर से वह फिरा शिताब उलटा ।।
मैं हुआ हूँ जिसपै आशिक़ ये शगर्फ़ माजरा है ।
कि मेरे इवज़ लगा है उसे इज़्तिराब उलटा ।।
किसी मस्त की लगी है मगर इसके सर को ठोकर,
जो पड़ा है मैकदा में ये ख़ुमे शराब उलटा ।।
ये मौक़ाम आफ़रीं है कि वज़ोर मस्हफ़ी ने,
इन्हीं क़ाफ़ियों को फिर भी बसद आबोताब उलटा ।।

× × ×

जो फ़िरा के उसने मुँह को वक़्ज़ा निक़ाब उलटा,
इधर आसमान उलटा उधर आफ़ताब उलटा ।।
न क़फ़स में ऐसे मुझको तू असीर कीजियो सइ्याद,
कि घड़ी घड़ी वह होवे दमें इज़्तराब उलटा ।।
मेरे हाल पर मुग़ां ने ये करम किया कि सुन सुन,
मेरे पीके सर पे रखा क़दहे शराब उलटा ।।
तेरा तिश्ना लब जहाँ से जो गया लहद पर उसकी,
पसे मर्ग भी किसी ने न सबूये आब उलटा ।।
मेरी आह ने जो खोली आह की वर्क़,
वहीं वर्क़ राद लेकर अल्में सहाब उलटा ।।
जो ख़्याल में कसू के शबे हिज्र सो गया हो,
न हो सुबह को इलाही कभी उसका ख़्वाब उलटा ।।
मेरे दम उलटने की जो ख़बर उसको दी किसी ने,
वहीं नीम रह से क़ासिद बसद इज़्तराब उलटा ।।
जो अली का हुक्म नाफ़िज़ न फ़लक पै था तो फिर क्यों,
बगहे शरूब आया निकाल आफ़ताब उलटा ।।

अब इसी में तू सेह ग़ज़लः जो कहे तो काम भी है,
नहीं मस्हफ़ी मज़ा क्या जो दो रू किताब उलटा ।।

+ + ×

जो फिरा के उसने मुंह को बक़ज़ा निक़ाब उलटा,
इधर आसमान उलटा उधर आफ़ताब उलटा ।।
न क़फ़स में ऐसे मुझको तू असीर कीजियो सइ्याद,
कि घड़ी घड़ी वह होवे दमें इज़तराब उलटा ।।
मेरे हाल पर मुग़ां ने ये करम किया कि सुन सुन,
मेरे पीके सर पे रखा क़दहे शराब उलटा ।।
तेरा तिशना लब जहाँ से जो गया लहद पर उसकी,
पस मर्ग भी किसी ने न सबूये आब उलटा ।।
मेरी आह ने जो खोली बअयूक़ आह की बर्क़,
वहीं बर्क़ राद लेकर उल्में सहाब उलटा ।।
जो ख़याल में कसू के शबे हिज्र सो गया हो,
न हो सुबह को इलाही कभी उसका ख़्वाब उलटा ।।
मेरे दम उलटने की जो ख़बर उसको दी किसी ने,
वहीं नीम रह से क़ासिद बसद इज़तराब उलटा ।।
जो अली का हुक्म नाफ़िज़ न फ़लक पै था तो फिर क्यों,
बगहे ग़रूब आया निकल आफ़ताब उलटा ।।
अब इसी में तू सेह ग़ज़लः जो कहे तो काम भी है,
नहीं मस्हफ़ी मज़ा क्या जो दो रू किताब उलटा ।।

× × ×

अंतिम चरण

ऐ आसमान, यह मोहफ़िल क्यों बिखर गई ? यह रंगीन रात बीत कर सुबह कैसे हो गई ? फिर ऐसे लोग कहाँ ? ऐसे जमाने कहाँ ? सैय्यद इंशा और जुर्अत जैसे विनोदप्रिय और रसिक स्वभाव वाले योग्य व्यक्ति कहाँ से आएँगे ? शेख़ मस्हफ़ी जैसे कुशल कवि फिर कैसे जिंदा हो जाएँगे ? और वे आएँ भी तो ऐसे गुणग्राही, ऐसे कौशलपारखी श्रोता कहाँ ? अच्छे लोग थे कि अच्छा जमाना पाया और अच्छी गुज़ार गए। वह उमंग और उत्साह, वह शोख़ियाँ, वह चुहलें अब कहाँ ?

गया हुस्न ख़ूबाने दिलख़ाह का,
हमेशा रहे नाम अल्लाह का ।।

मेरा दिल अल्लाह जाने किस मिट्टी का बना है। किसी की जुदाई का नाम लिया यह पिघल गया। किसी प्रेमीजन की चर्चा की इससे खून टपक पड़ा। और कैसी हैरानी है कि यह न पानी होकर बह जाता न मिट्टी होकर रह जाता है। कैसी विचित्र बात है कि कितने सदमें उठा चुका है, फिर भी प्रत्येक वियोग इसमें एक नए ही शोक का संचार करता है। किंतु ज़रा इंसाफ करो और उन प्रियजनों की ओर भी तो देखो कि वह कैसे थे? और कौन थे? वे सर्वप्रिय थे, प्रत्येक जीवंत हृदय के प्रिय थे और वे प्रिय थे अपनी काव्य चातुरी के लिये, अपनी कही बातों के लिये।

'आज़ाद', बस अब रोना धोना छोड़ो। अब आँसू पोछ डालो। इज्ज़त भरी निगाहें खोलो, और आँखें सामने करके देखो ये कौन आ रहे हैं।

× × ×

पाँचवाँ दौर

भूमिका

देखो, ये दीप जगमगा उठे। उठो, उठो, उन्हें स्वागत करके लाओ। इस मुशायरे में वे वरिष्ठ कवि आ रहे हैं, जिनके दर्शन ही हमारी आँखों के काजल की तरह हैं। इन आगंतुकों में दो प्रकार के सुयोग्य व्यक्ति दिखाई पड़ेंगे। एक वह जिन्होंने अपने पूर्वजों के अनुकरण को ही अपना धार्मिक कर्तव्य समझा। वे उन्हीं के लगाए बाग़ों में फिरेंगे। पुरानी डालों और मुरझाई हुई पत्तियों को काटे छाटेंगे और उनके अच्छे और सुगंधित फूलों से नए रंग और नए ढंग के गुलदस्ते बना बना कर घर सजाएँगें। दूसरे वह मनीषी जो चिंतन के आवेग से नए नए आविष्कारों का साहित्यिक वातावरण में समावेश करेंगें और एक झाड़ फ़ानूस से सजे मंडप की तरह प्रकाशित दिखाई पड़ेंगे। उन्होंने इस नए वातावरण के स्थानों से बड़े बड़े काम लिए, किंतु यह आश्चर्य है कि जो विस्तृत भूमि आसपास पड़ी थी, उसमें वे किसी दिशा में न गए। अपनी अपनी ऊँची ऊँची अट्टालिकाओं की ऊँचाई से ही तिरोहित हो गए। इसलिये तुम देखोगे कि उनमें कुछ ऊँची कल्पना वाले इतने ऊँचे उड़ जाएँगे, जहाँ से सूर्य भी तारे की तरह दिखाई देगा। और कुछ ऐसे उड़ेंगे कि उड़ ही जायँगे। वह अपनी तर्ज़े शायरी को ख़यालबंदी (काल्पनिकता) और नाज़ुकख्याली (विचार-सूक्ष्मता) की संज्ञा देंगे। मगर दरअसल उनकी कविता केवल एक माया-जाल और जादूगरी होगी, लेकिन वे भाग्यशाली ऐसे होंगे कि उन्हें पूजनेवाले भी वैसे ही मिलेंगे। इन महानुभावों की कल्पनाओं की सूक्ष्मता में कोई संदेह नहीं, किंतु इन्होंने उन विषयों पर ही रचना कीं, जिनसे उगे हुए फूल अपने प्राकृतिक सौंदर्य से प्रांजलता की फुलवारी में अभी भी खिले हुए थे। ये उनकी पंखड़ियाँ लेंगे और उनपर अपनी तूलिकाओं से ऐसा ऐसा चित्र बनाएँगे कि बिना ऐनक न दिखाई देंगे। अपनी कल्पनाओं के बाँधने में ये सुविज्ञ कवि भाषा की स्वाभाविक रोचकता की भी परवाह न करेंगे, जिसे हम तुम काव्य का एक दैवी गुण समझते हैं। क्योंकि इनकी कला ऐसी स्वाभाविकता कीं उपेक्षा किए बिना अपना रंग नहीं दिखा सकती।

पर इनके पूर्वज तो बाग़ों के सामने चारों ओर के पत्ते पत्ते तक काम में ला चुके थे। अब ये नए फूल कहाँ से लाते? उनसे बढ़कर गुलकारी का कोई रास्ता दिखाई न देता था और न रास्ता निकालने के लिये इनके पास कोई सामान था। विवश होकर इन्होंने अपनी उस्तादी का नगाड़ा स्वयं ही पीटना शुरू किया और इसी कारण समकालीन कवियों के बीच इन्हें संमान और गौरव प्राप्त हुआ। अंतिम दौर का यह संकट कुछ उर्दू भाषा ने ही नहीं अनुभव किया। फ़ारसी के पूर्वकालीन शायरों का उत्तरकालीन शायरों से मिलान कर लो। अरबी सभ्यता के पूर्व के शायरों से सभ्यतोत्तर शायरों

से तुलना कर लो। यद्यपि मैं अंग्रेज़ी नहीं जानता, किंतु इतना जानता हूँ कि इस भाषा के उत्तरकालीन कवियों को भी इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इससे यह पता चलता है कि भाषा जब तक अपने बालपन में रहती है तभी तक इसके लिये बिना किसी अन्य उपचार के शीरो-शरबत के प्याले ढालते हैं। जब सयानी होती है तो उसमें सुगंधियाँ मिलाई जाती हैं। इसके लिये रस और अलंकार के इत्र ढूंढ़ कर लाए जाते हैं। मगर फिर उस अवस्था में प्रांजलता और भाव माधुर्य का तो एक प्रकार से लोप ही हो जाता है। फिर वह शरबत के प्याले दवाओं के प्यालों जैसे लगने लगते हैं। जिसका जो चाहे पिया करे।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि इनसे पूर्वकाल में जो सक्षम शायर लखनऊ में थे, वह दिल्ली के उजड़े हुए घरानों के थे। वे या उनकी संतान दिल्ली को ही अपनी जन्मभूमि समझते थे, क्योंकि यहाँ अब तक उस स्तर की योग्यता का कोई व्यक्ति पैदा नहीं हुआ था। अब वह समय आता है कि जब लखनऊवालों को भी उर्दू भाषा में अधिकार होने का दावा होगा और यह दावा उनके लिये न्यायोचित भी होगा। और जब इनके और दिल्ली की बोलचाल और मुहावरों में अंतर होगा तो अपने मुहावरे के परिमार्जित और सुबोध होने और दिल्ली के मुहावरे के दुर्बोध होने की युक्तियाँ देंगे। बल्कि इन्हीं के किसी भाषात्मक सूक्ष्मताओं को दिल्ली के न्यायप्रिय साहित्यज्ञ स्वीकार भी करेंगे। इन महानुभावों ने बहुत से उन पुराने शब्दों का तिरस्कार किया, जिनका कुछ विवरण चौथी भूमिका में दिया गया है। और अब जो उर्दू दिल्ली और लखनऊ में बोली जाती है, वह मानो उन्हीं की ज़बान है। हाँ, शेख़ 'नासिख़' के दीवान में एक जगह 'ज़ोर' का शब्द 'बहुत' के अर्थ में प्रयोग किया गया है। शायद यह रचना उनके आरंभकाल की हो––

आविदो ज़ाहिद चले जाते हैं पीना है शराव ।
अव तो नासिख़ ज़ोर रिंदे लाउबाली हो गया ।।

दिल्ली के उस्तादों की रचनाओं में 'आए हैं' और 'जाए हैं' अकसर प्रयोग किए जाते थे। मगर आगे चलकर अपनी ग़ज़लों में इन्होंने भी उनके प्रयोग से बचाव किया है।

शाह नसीर उस समय के एक वयोवृद्ध शायर थे। इनकी काव्यरचना का आरंभकाल 'जुरअत' और सैय्यद 'इंशा' से मिला हुआ था और अंतिम 'नासिख़', 'आतिश' और 'ज़ौक़' के समाकालीन था। इसलिये पहले की ग़ज़लों में ये कहीं कहीं 'टुक' बोल जाते हैं। और जिस तरह बहुवचन स्त्रीलिंग की क्रियाओं में 'आं' बोलचाल में प्रयोग करते थे वैसा ही प्रयोग इनकी शुरू की ग़ज़लों में कहीं कहीं पाया जाता है। मोर की एक ग़ज़ल का मत्ला है––

जफ़ाएं देख देख लियाँ बेवफ़ाइयाँ देखीं ।
भला हुआ कि तेरी सब बुराइयाँ देखीं ।।

कभी न उस रुखे रौशन पै झाइयाँ देखीं।
घटाएँ चाँद पर सौ वार आइयाँ देखीं॥

इसी तरह यदि विशेष्य बहुवचन हो और विशेषण हिंदी का शब्द हो तो विशेष्य के विशेषण को भी बहुवचन में बोलना पहले की तरह अब अपेक्षित नहीं समझते। लेकिन ख़्वाजा साहिब लिखते हैं—

अह्‌दे तिफ़्ली में भी था मैं वस कि सौदाई मिज़ाज।
बेड़ियाँ मिन्नत की भी पहनी तो मैं ने भारियाँ॥

× × ×

शेख़ इमाम बख़्श 'नासिख़' के जीवनवृत्तांत की भूमिका

+ + +

पुरानी पीढ़ियों के यादगार मौलवी मोहम्मद अजीमुल्लाह साहिब एक प्रतिष्ठित और विद्याव्यसनी रईस थे। इनका निवास स्थान ग़ाज़ीपुर ज़मानिया था। यद्यपि इनके पूर्वजों का पूरा हाल मालूम नहीं किंतु इतना जानता हूँ कि मुफ़्ती असदुल्लाह साहिब की बहिन यानी शाह अजमल साहिब की नतिनी से इनका विवाह हुआ। इन मौलवी साहिब (मौलवी मोहम्मद अजीमुल्लाह) के पिता की शेख़ इमामबख़्श 'नासिख़' के साथ बड़ी घनिष्ट मित्रता थी। मेरे दोस्तो, अगले समय की मित्रता कुछ और तरह की मित्रता हुआ करती थी। आज तुम्हारी इस आजकल की बनावटी सभ्यता के जमाने में उनकी हर्ष और उल्लास की कैफियत को बयान करने के लिये मेरे पास शब्द नहीं कि जिनसे उस समय के आपसी सद्‌भाव की बातों से तुम्हारे हृदय पर ख़ाका उतारूँ। कितना सुंदर कहा है उस्ताद ज़ौक़ ने।—

अब ज़वाँ पर भी नहीं आता कहीं उल्फ़त का नाम।
अगले मक्तूबों में कुछ रस्में किताबत हो तो हो॥

तात्पर्य यह कि पारिवारिक संबंध का आकर्षण और रुचि की समानता हमेशा मौलवी साहिब के पिता को ग़ाज़ीपुर से लखनऊ खींचकर ले जाती थी। महीनों वहीं रहते थे। मौलवी साहिब की आयु उस समय ५ वर्ष की थी। यह भी अपने पिता के साथ जाते थे। उस समय से ही शेख़ नासिख़ की सेवा में रहे और वर्षों तक उनके संपर्क से इन्हें लाभ उठाने का सौभाग्य मिला। उन्होंने ही इनका उपनाम 'ग़मी' रखने की कृपा की। अरबी फ़ारसी की शिक्षा इन्होंने इलाहाबाद और लखनऊ में हासिल की। उर्दू फ़ारसी की साहित्यिक रचनाएँ कई जिल्दों में इन्होंने लिखकर रख छोड़ी है। लेकिन वह जानते हैं कि इस प्रकार की साहित्यिक रचनाओं का समय बीत गया और वर्तमान वातावरण भी अब उसके अनुकूल नहीं है। इसलिये न स्वयं अपने शांत एकांत वास से बाहर आते हैं न अपनी रचनाओं को निकालते हैं। युवावस्था में इन्हें सरकार से भी अधिकारपूर्ण और प्रतिष्ठित

ओहदे मिले। अब बुढ़ापे में पेंशन मिल जाने के कारण यह आराम से घर ही पर रहते हैं। मुझे प्रस्तुत पुस्तक (आबे हयात) की बदौलत उनकी सेवा में उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। और उन्होंने शेख़ 'नासिख़' के विषय में बहुत सी बातें लिखकर हमें दी, जिसके लिये हम इनके बहुत आभारी हैं। ये बातें शेख़ नासिख़ की जीवनी के प्रसंग में इस पुस्तक में लिखी जा रही हैं। आप हमें बराबर पत्र लिखने की कृपा करते रहते हैं, जिनके अक्षर अक्षर से मेरे प्रति उनकी मुहब्बत और सद्भाव टपकता है। वस्तुतः दोनों इस ज़माने के लिये बिल्कुल अजनबी हैं। नई रोशनीवाले कहते हैं कि 'रोशनी नहीं, रोशनी नहीं'। जनाब 'रग़मी' और इस अकिंचन लेखक 'आज़ाद' की आँखों से कोई देखे तो दुनिया अंधेर है।

सुरोग़ यक निगाहे आश्ना अज़ कस नमे यावम,
जहां यूँ नर्गिसिस्ताँ बे तूशहरे कोर मी-वाशद ।।

ऐसा मालूम होता है कि जैसे कोई अनजान आदमी एक नए मुल्क में जा पड़े, जहाँ वह न किसी को समझे न कोई उसको समझे। और वह हक्का बक्का एक एक का मुंह देखे। उसी तरह हम लोग भी आजकल के लोगों का मुँह देख रहे हैं। कहाँ 'नासिख़' व 'अतिश' के मुशायरे और कहाँ कमेटियों की बैठक? शेख़ साहिब और ख्वाज़ा साहिब का जीवनवृत्त जो उन्होंने लिखकर भेजे हैं, ऐसा मालूम होता है, जैसे उनकी आँखों के आँसू हों, जो अक्षरों के रंग में बह निकले हों। यह व्यथा कोई आज़ाद के हृदय से पूछे कि जब शेख़ इब्राहीम 'ज़ौक़' का नाम आता है तो मानो छाती पर साँप लोट जाता है।

बनाल बुलबुल अगर बामिन्नत सरेयारीस्त,
कि मा दो आशिक़े कारे मा ज़ारीस्त ।।

शेख 'नासिख़' के विषय में लिखते लिखते कहते हैं :—"क्या कहूँ कि मुझ पर वे कितनी कृपा रखते थे। दो दीवानों की रचना स्वयं करके मुझे दिया। एक मुहर, जिसको इन्होंने एक बहुमूल्य पत्थर पर खुदवा कर मुझे दिया, वह अबतक मेरे पास मौजूद है।" 'रग़मी' ने जौनपुर और ग़ाज़ीपुर इत्यादि के कुछ वर्णन भी भेजे हैं, जिनके लिये 'दरबार अकबरी' हमेशा उनका आभारी रहेगा। खुदा करे कि शीघ्र वह चरित्र-चित्रावली चित्रित होकर लोगों की नज़रों के सामने आए।

शेख़ इमाम वख़्श 'नासिख़' का जीवन विवरण

शेख़ साहिब की जिंदगी का कविता काल लखनऊ में बीता। किंतु इनके काव्य कौशल का गर्व लाहौर को होना चाहिए, जो कि इनके पिता की जन्मभूमि थी। इनके कुटुंब के विषय में केवल इतना ही कह सकते हैं कि ये खुदाबख़्श खेमदोज के बेटे थे। और कुछ लोग तो यह कहते हैं कि इस पुत्रहीन किंतु धर्मनिष्ठ व्यक्ति ने इन्हें गोद लिया था। इनके अपने पिता अपनी निर्धनता के कारण पश्चिम से पूरब

की ओर प्रवास के लिये चले। फ़ैज़ाबाद में उनके भाग्य खुले जहाँ उनके बेटे ने ख्याति पाई और जहाँ वे काव्य गगन के सूर्य की भाँति चमके।

खुदा की देन का मूसा से पूछिए अह्वाल,
कि आग लेने को जाएँ पयंबरी हो जाय॥

दरिद्र पिता अपने इस भाग्यवान बेटे को जन्म देने के अलावा और कुछ न दे सका। मगर उस धनी सौदागर ने जो पुत्रहीन था, इस भाग्यशाली बालक को अपना पुत्र बना कर इसको ऐसी शिक्षा दीक्षा दी कि यह बड़ा होकर शेख़ इमाम बख़्श 'नासिख़' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। और अपने गोद लेनेवाले पिता की बदौलत भौतिक आवश्यकताओं से सदा मुक्त और सुखी रहा। उसके मर जाने के पश्चात् उसके भाइयों ने इनपर दावा किया। इन्होंने कहा कि हमें इस धन दौलत से कोई प्रयोजन नहीं। जिस प्रकार उन्हें अपना पिता समझता था आपको भी हितेच्छु समझता हूँ। बस इतना है कि जिस तरह वह मेरी सभी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में उदारता बरतते थे, उसी तरह आप भी करें। वे इससे सहमत हो गए।

'नासिख़' रक्तदोष के कारण एक समय केवल बेसन की रोटी घी में मलकर खाया करते थे। एक बार इनके बेईमान चाचा ने उसमें जहर मिला दिया। लोगों की ऐसी धारणा थी, और यह किंवदंती अभी तक लोगों से सुनी जाती है, कि एक जिन जो इनका दोस्त था, उसने इन्हें सचेत कर दिया। खैर किसी तरह उन्हें इस बात की जानकारी हो गई। उसी समय कुछ मित्रों को बुलाकर उनके सामने उस रोटी का एक टुकड़ा कुत्ते को दिया। अंत में यह साबित हुआ कि उसमें ज़हर मिलाया हुआ था। कुछ दिनों के बाद दायाधिकार का झगड़ा कचहरी तक पहुँचा। अंततः इस मोक़दमें में इनकी जीत हुई। उस समय कुछ रूबाईयाँ कह कर इन्होंने अपना दिल हल्का किया। उनमें से दो ये हैं:—

मशहूर है गरचे इफ़्तेराए अमाम
पर करते नहीं ग़ौर ख़ासो-आम।
वारिस होना दलाले फरज़ंदी है,
मीरास न पा सका कोई ग़ुलाम॥

कहते रहे एमाम अदावत से ग़ुलाम,
मीरास पेदर पाई मगर मैंने तमाम।
इस दावए बातिल से सितमगारों को,
हासिल यह हुआ कर गए मुझको बदनाम॥

वास्तव में गोद लिया जाना कुछ ऐब की बात नहीं। संसार में ग़रीबी अमीरी जाड़े और गरमी की तरह बदलती रहती है। किसी धनी के कुछ ही पीढ़ियों

पहले देखो तो संभव है कि एक समय उसके घरवाले भी एकदम निर्धन रहे हों। हाँ, यह अवश्य निंदनीय है कि गरीबी की अवस्था में ईश्वर की कृपा की प्रतीक्षा न कर वह कुछ ऐसा कर बैठे, जो उसके नाम को कलंकित करे। शेख़ साहिब के इस जीवन-घटना के बाद में उनके प्रतिद्वंदियों द्वारा लिखे गए कई आपत्तिजनक और निंदात्मक विवरण भी मिलते हैं।

वह फ़ैज़ाबाद में रहते थे। लखनऊ के नवाबों की राजधानी हो जाने पर वहाँ आए और वहीं अपना जीवन बिताया। यहाँ 'टकसाल' एक मशहूर मुहल्ला है। इसी टकसाल में रहकर शेरों के चाँदी सोने पर सिक्का लगाते थे और खरी खोटी रचनाओं को परखते थे।

फ़ारसी की पुस्तकें हाफ़िज़ वारिस अली लखनवी से पढ़ी थी और फ़िरंगी महल के उलमाओं से भी शिक्षा ली थी। यद्यपि अरबी में विशेष पांडित्य नहीं प्राप्त की, किंतु उसकी पारंपरिक जानकारी और विद्वानों के कारण काव्य-रचना की आवश्यकताओं के लिये इन्हें इस भाषा का भी पर्याप्त ज्ञान हो गया था और रचनाओं में इसके नियमों का शुद्ध प्रयोग करते थे।

काव्य रचना में इन्होंने किसी की शागिर्दी नहीं की। किंतु जीवन के आरंभ काल से ही इन्हें शायरी से प्रेम था। मौलाना ग़ामी, जिनसे शेख़ साहब ने अपनी शायरी के शुरू समय की चर्चा की थी, उनके कहे को इस प्रकार लिखते हैं :—"मैं 'ज़ौक़' की शायरी से बहुत प्रभावित था। मीर तक़ी उस समय ज़िंदा थे। एक दिन औरों की नज़र बचाकर अपनी कुछ ग़ज़लों को मीर तक़ी "मीर" की ख़िदमत में ले गया। लेकिन उन्होंने उसपर कोई इस्लाह न दी। मैं मन मसोस कर चला आया और मैंने सोचा कि मीर साहिब भी आख़िर आदमी हैं कोई फ़रिश्ता तो हैं नहीं। मैं अपनी रचना को स्वयं ही सुधार लूंगा। उसके पश्चात् कविताएँ लिखता था और उन्हें रख छोड़ता था। कुछ दिन के बाद उन्हें फिर देखता था। जो समझ में आता उनमें संशोधन करता। कुछ समय बाद अवकाश मिलने पर उनको फिर दोहराता था। और उनमें घटाता बढ़ाता था। ग़रज़ यह कि इस प्रकार अभ्यास का क्रम निरंतर जारी रहता। किंतु इस बीच अपनी कविताओं को किसी को सुनाता न था। जब तक उनसे हमें पूरा संतोष न हो जाता उन्हें न मुशायरों में पढ़ता न किसी को सुनाता। मिर्ज़ा हाजी साहिब के घर पर मुशायरा होता था। सैय्यद 'इंशा', मिर्ज़ा क़तील, 'जुरअत', 'मस्हफ़ी' वगैरह सभी शायर इकट्ठा होते थे। मैं वहाँ जाता था। सबकी सुनता था, मगर खुद कुछ न कहता था। उन लोगों में जितनी चटपटी सैय्यद इंशा और जुरअत की भाषा होती थी, वैसी और किसी की नहीं। उस समय सैय्यद इंशा और मस्हफ़ी की नोक झोंक चल रही थी। लेकिन कुछ समय के बाद उसका अंत हो गया। और उसी प्रकार जुरअत और जहूल्लाह ख़ाँ 'नवा' के झगड़े भी तय हो गए।

जब इन ख्यातिप्राप्त कवियों का जीवन काल समाप्त हो गया और मैंने मैदान ख़ाली पाया तो ग़ज़ल पढ़ना शुरू किया। इस समय मिर्ज़ा हाजी साहिब,

मिर्ज़ा क़तील और हाजी मुहम्मद सादिक़ ख़ां 'अख़्तर' ने मेरी शायरी के प्रति गुणग्राहकता दिखाई और उनके प्रोत्साहन से हमारी रचनाएँ उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होने लगीं। मेरी कविताएँ लोगों को भी रुचिकर लगने लगीं। मैं अपनी रचनाओं को महज चौग़ज़ले के रूप में पढ़ता था। फिर भी लोग और सुनने के इच्छुक रहते थे। 'मुंतज़िर' और 'गर्म' जो शेख़ मस्हफ़ी के लब्धप्रतिष्ठ शागिर्द थे, वे भी चल बसे। उस समय ख़्वाजा हैदर अली 'आतिश' ने जिनकी काव्य-शिक्षा में मस्हफ़ी ने सबसे अधिक परिश्रम किया था, मुहावरों के उपयुक्त प्रयोग के लिये काफ़ी ख्याति प्राप्त की। एक बार कई महीने के बाद फ़ैज़ाबाद से आए। मुशायरे में जो मेरी ग़ज़लें सुनी तो ईर्ष्या के मारे ऐंठ गए और उसी दिन से हमलोगों में मनमुटाव शुरू हुआ। इसी ईर्ष्या के कारण वे अपनी रचनाओं के सुधारने में इतना अधिक परिश्रम करने लगे कि वे क्षयरोग के रोगी हो गए।

गरज़ यह कि इनकी ('नासिख़' की) काव्यप्रियता इन्हें मुशायरों में ले जाती थी। वहाँ इनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों को काफ़ी प्रोत्साहन मिलता था और इनके हृदय में काव्य-रचना के लिये उमंग उठता था। इनकी आर्थिक संपन्नता के कारण अकसर शायर, विद्वान् और कलाकार इनके आतिथ्य से आकर्षित होकर इनके घर इकट्ठा होते थे। इस तरह उनके संपर्क से इनकी रुचि में आप से आप ही परिष्कार होता गया। धीरे-धीरे वे स्वयं ही अपनी रचनाओं की गलतियों को सुधार लिया करते थे। कुछ वयोवृद्ध महानुभावों से सुना है कि शुरू में ये शेख़ मस्हफ़ी से अपनी रचनाएँ सुधरवा लेते थे। किंतु किसी शेर पर ऐसी तकरार हुई कि उन्होंने उनके यहाँ आना जाना बंद कर दिया। यह स्वयं ग़ज़लें लिखते और 'तनहा' उपनाम के एक व्यक्ति थे, उन्ही से उन ग़ज़लों के बारे में अकेले कुछ परामर्श कर लिया करते थे। जब अपनी रचना की सुष्ठुता उन्हें भली लगने लगी तो मुशायरों में ये ग़ज़ल पढ़ने लगे। लेकिन मस्हफ़ी से इस्लाह वाली बात विश्वसनीय नहीं, क्योंकि मस्हफ़ी अपने जीवन-वृत्तांत में अपने सभी शागिर्दों के नाम लिखे हैं, किंतु उसमें इनकी कोई चर्चा नहीं।

मौलाना रामी लिखते हैं :—'इस काव्य जगत के अखाड़ियल को शुरू से ही कसरत करने का शौक़ था। न केवल स्वयं अभ्यास करते थे, बल्कि अपने संपर्क में आनेवाले यदि किसी होनहार युवक को ऐसे अभ्यास की ओर रुचि देखते तो प्रसन्न होते। ये नियमपूर्वक १२९७ डंड लगाते थे क्योंकि इस संख्या से 'या गफ़ूर' का बोध होता है। कभी कभी मौक़े और मौसम की अनुकूलता पर उनकी संख्या अधिक भी हो जाती थी। उन्हें जैसा शारीरिक व्यायाम से शौक़ था, वैसा ही डीलडौल भी लाए थे। दीर्घ काया, चौड़ा सीना, मुड़ा हुआ सिर, खारुएँ की लुंगी बाँधे ऐसे बैठे रहते थे, जैसे शेर बैठा हो। जाड़े में तंज़ेब का कुर्ता पहनते थे। बहुत हुआ तो लखनऊ की छींट का दोहरा कुर्ता पहन लिया।

दिन रात में एक बार भोजन करते थे। दोपहर के समय दस्तरख्वान पर बैठते थे और कई वक्त की कसर निकाल लेते थे। पूरे पाँच सेर की खुराक थी। कुछ विशेष फलों के मौसम में जिस दिन कोई फल खाने को जी चाहता, उस दिन का और खाना गोल कर जाते। जैसे यदि जामुन खाने को जी चाहा तो थाल भर कर बैठ गए और चार पाँच सेर वही खा डाला। आमों का मौसम हो तो एक दिन कई टोकरे सामने मँगा कर रख लिए। नादों में पानी डलवा लिया। आमों को उनमें भरा और जब नाद ख़ाली हो गए तो उठ खड़े हुए। भुट्टे इन्हें विशेष रुचिकर थे। उनके दानों पर चाकू से पाछ कर नमक मिर्च लगाते, अपने सामने भुनते और उनपर नीबू का रस डालकर खाते जाते। इस प्रकार फलों और भुट्टों का भोज मौसम में बस दो तीन बार होता था और इसमें दोस्त भी जरूर शामिल हो जाते थे।

खाना प्राय: एकांत में खाते थे। सब कोई इनके भोजन का समय जानता था। जब दोपहर का समय निकट आने लगता तो यह अंदर चले जाते थे।

रगमी सल्लमहुल्लाह लिखते हैं :—'मुझे कई बार इनके साथ खाने का संयोग हुआ। ऐसे दो मौक़ों पर इन्होंने निहारी और नाने ताफ़्तां बाज़ार से मँगवाई। पाँच चार प्यालों में क़ोरमाँ कबाब, एक में किसी चिड़िये का क़ोरमा था, शलग़म थे, चुकंदर थे, अरहर और धुली माश की दाल थी। और उस दस्तरख़्वान के शेर ने सबका सफ़ाया कर दिया। खाने के संबंध में इनका एक यह भी नियम था कि एक प्याले में से जितना खाना है खूब खा लो। उसे ख़िद्‌मतगार उठा लेगा और फिर दूसरा प्लाला सामने कर देगा। ऐसा नहीं कि एक ही नेवाले में दो तरह के सालन खा लें। कहा करते कि मिला जुला कर खाने से खाने का जायका भी मिल जुल जाता है। अंत में पुलाव या चुलाव या ख़श्का खाते थे। फिर दाल खाते थे और और पाँच छः नेवाले के बाद एक बार चटनी या अँचार मुरब्बा चखते थे। कहा करते थे कि तुम जवानों से तो मैं बूढ़ा ही अच्छा खाता हूँ। दस्तरख्वान उठता था तो दो थाल केवल ख़ाली वर्तनों से भरे उठते थे। बलिष्ट शरीर था। उनकी आकृति देखकर ऐसा मालूम होता था कि उनके आगे चार पाँच सेर भोजन का क्या बिसात। क़िसी की ज़बान कौन पकड़ सकता है। अशिष्ट और गुस्ताख़ लोग उन्हें दुमकटा भैंसा कह कर फवती कसा करते थे। उनके रंग रौग़न पर इशारा करते हुए एक बार ख़्वाजा साहिब ने इन शब्दों में उनपर चोट की :—

रूसियह दुश्मन का यूँ पापोश से कांजे फ़िगार।
जैसे सिलहट की सिपर पर ज़ख़्म हो शमशीर का॥

इस प्रकार के व्यंग पर शेख़ साहिब स्वयं तो आपत्ति करते ही थे। इनके शागिर्द लोग भी रौग़ने क़ाज मल मल कर अपने उस्ताद के रंग को चमकाने और दुश्मनों के चढ़ाए हुए रंग को मिटाने का प्रयास करते थे। उनके एक शागिर्द फ़क़ीर मुहम्मद ख़ाँ 'गोया' ने कहा था—

है यक़ीं गुल हो जो देखे गेसुए दिलवर चिराग़,
आगे काले के भला क्योंकर रहे रौशन चिराग़। ——'गोया'

मैं गोकि हुस्न से ज़ाहिर में मिस्ल माह नहीं,
हज़ार शुक्र कि बातिन मेरा सियाह नहीं। –'नासिख़'

फ़रोगे हुस्न पर कब ज़ोरे ज़ुल्फ़ चलता है
यह वह चिराग़ है काले आगे जलता है ——'आतिश'

काव्य जगत् के पहलवानों को इस प्रकार के काव्य बल प्रदर्शन की चर्चा करने और काव्यशक्ति का प्रमाण देने में बहुत आनंद मिलता था। 'रगमी' के पिता भी इस मैदान के शूरवीरों में एक थे। रुचियों की अनुकूलता सदा पारस्परिक साहचर्य का कारण होती है। इसीलिये इस प्रकार के आपसी मुहब्बत भरे नोक झोंक के हंगामें सदा गर्म रहते थे।

आग़ा कलब हुसेन ख़ाँ नाम के एक व्यक्ति अकसर शेख़ 'नासिख़ को अपने यहाँ बुलाया करते थे और महीनों अपने यहाँ इन्हें मेहमान रखते थे। उनका इनसे केवल शायरी को लेकर रुचि की अनुकूलता ही नहीं थी, बल्कि वह भी एक बलिष्ट अच्छे घुड़सवार और कसरती व्यक्ति थे। रईसी ठाट था और मिज़ाज में साहचर्यप्रियता थी। एक बार आग़ा साहब नवाबी ज़मींदारी की सीमा पर सोराम नामक स्थान पर तहसीलदार के पद पर नियुक्त होकर आए। वहाँ पहुँचने पर शेख़ साहिब को बुला भेजा कि कुछ दिन हरे भरे जंगली प्रदेश में घूम फिर कर मन बहलाएँ। ये उनका निमंत्रण स्वीकार कर वहाँ गए। एक दिन उन्होंने शेख़ साहिब के आतिथ्य में कई प्रकार के व्यंजन बनवाए। इसलिये खाने में अन्य दिनों से कुछ अधिक विलंब हो गया। शेख़ साहिब ने देखा कि अंदर की ड्योढ़ी से नौकर अपने अपने खाने लेकर निकल रहे थे। उन्हें बुला कर पूछा कि यह किसलिये है? नौकरों ने अर्ज़ किया कि उनका खाना है। तो कहा 'एधर लाओ'। उनमें से चार पाँच का खाना अपने सामने रखवा लिया और चाट पोंछकर बर्तन उनके हवाले किया और कहा कि हमारा खाना आए तो तुम खा लेना। आग़ा साहिब को इसकी सूचना मिली। लेकिन जब तक वह आएँ आएँ यहाँ भोजन समाप्त हो चुका था। आग़ा कलब आबिद ख़ाँ साहिब ने भी इस घटना की पुष्टि की है। वे कहते हैं :—

"ये स्वभाव के कुछ सनकी ज़रूर थे। यद्यपि मैं उन दिनों कम उम्र ही था मगर उनका कई बार आना और मेरे साथ रहना और उन अवसरों पर उनकी शेरख्वानी, विशेषकर सोराम की घटनाएँ, मानो अब भी प्रत्यक्ष आंख के सामने हैं। वहाँ मैंने उन्हें कोठे पर ठहराया था। कई बार ऐसा भी हुआ कि बैठे हैं। खाना खा रहे हैं, खाते खाते सालन का प्याला उठाया खिड़की में से फेंक कर मारा कि वह जा पड़ा। कारण देखा तो कुछ न था।"

इनका नित्य का नियम था कि पहर रात रहे उठकर कसरत शुरू करते थे और यह क्रम भोर तक चलता रहता था। मकान मरदाना था। बीबी बच्चों का जंजाल रहा हीं न था। पहले नहाए। बाहर के सेहन में जो आईने की तरह स्वच्छ रखा जाता था मोढ़े बिछते थे। घर के अंदर होते तो फ़र्श बिछता और उनके कमरे भी सज्जा-सामग्री से सुसज्जित रहते थे। प्रातःकाल से ही इनके मित्रों और शागिर्दों के आने का सिलसिला आरंभ हो जाता था। दोपहर को सब विदा हो जाते थे और फिर दरवाज़ा बंद और हज़रत दस्तरख्वान पर बैठ जाते थे। यह क्रिया वृहदाकार और बोझियल होती थी। अतएव इस भारी बोझ को उठाकर आराम करना अनिवार्य। सूर्यास्त के पहिले ही सबका आना फिर शुरू हो जाता था। और रात होते सब कोई चल देते और उनका दरवाज़ा बंद हो जाता था। नौकर तक बाहर कर दिया जाता था और अंदर से कुंडी लगा दी जाती। कोठे पर एकांत कमरा था। वहाँ गए। कुछ सो रहे और थोड़ी देर बाद उठकर काव्य रचना की धुन में व्यस्त हो गए। सारा संसार उस समय निद्रा से आक्रांत सन्नाटे की दशा में होता और वह चैन की नींद के बदले काग़ज़ पर अपना खूने जिगर टपकाते रहते। इस प्रसंग में मेरे स्वर्गीय उस्ताद का एक शेर याद आ गया, जो मानो इस अँगूठी पर नगीना बन गया :—

मीर अगर यह तेरे ख़सार को चमकाता है,
तेल इस आग पे तिल आँख का टपकाता है ॥

शागिर्द जो ग़ज़ले इस्लाल के लिये देते थे, नौकर उन्हें एक खारुए के थैले में भरकर बग़ल में रख देता था। उन्हें भी शुद्ध करते थे। जब पिछला पहरा हुता तो सब काग़जों का तह हो गया। और फिर वही डंड बैठक।

इन्हें हुक़्क़े का बहुत शौक़ था। उम्दा उम्दा हुक़्क़े मँगाते थे। लोग हुक़्क़े इन्हें सौग़ात की तरह भी दे जाते थे और यह उन्हें मौजूँ नैचों से सजाते थे। कलियाँ, गुड़गुड़ियाँ, सटक, पेचवान, चौगानी, मद्रे इत्यादि इत्यादि से एक कोठरी भरी पड़ी थी। यह न था कि जल्से में दो हुक़्क़े हैं वहीं दौर करते हैं। हर एक पसंद के मुताबिक़ अलग हुक़्क़ा उनके सामने आता था। ऐसी गोष्ठियों में उन शागिर्दों को अपनी रचनाओं के संशोधन का भी अवसर मिल जाया करता था।

महफ़िल के शिष्टाचार के बारे में ये बहुत विचार रखते थे। आप तकिये से लगे बैठे रहते थे। इनके शागिर्द, जिनमें अधिकतर धनी मानी खांदानों के शरीफ़ज़ादे हुआ करते थे, आदरपूर्वक बिछावन के किनारे बैठ जाते थे। किसी को हिलने डुलने का साहस न होता। शेख़ साहिब कुछ सोचते, कुछ लिखते। जब क़ागज हाथ से रख देते तो कहते, "हूँ"। कोई एक व्यक्ति गज़ल सुनाना शुरू करता। किसी शेर में यदि कोई शब्द बदलने के योग्य होता या उसमें भाव को व्यक्त करने में शिथिलता या अन्य कोई दोष होता तो उसका परिष्कार करते। नहीं

तो कह देते यह लफ़्ज़ फिजूल है। इसे निकाल डालो। या इस शेर का पहला या दूसरा मिस्रा अच्छा नहीं, इसे बदल दो। यह अनुप्रास सुंदर है। किंतु ठीक ढंग से नहीं बँधा। रुचि में और गंभीरता लाकर कहो। जब एक व्यक्ति पढ़ चुका तो दूसरा पढ़ा। अन्य कोई व्यक्ति उस बीच बोल न सकता था।

लखनऊ के अमीरज़ादे, जिन्हें अपना खाना हज़म करने से ज्यादा कोई काम दुश्वार नहीं था, उनका समय काटने और मन बहलाने के लिये उनके मुसाहिबों ने लतीफ़े के तौर पर एक अजीब चूरन तैयार किया। लतीफ़ा यह था कि शेख़ साहिब की एक जिन्न (प्रेत) से दोस्ती थी। प्रतिदिन इनकी आदत थी कि कसरत करने के बाद प्रातःकाल एक घी में खूब चुपड़ा बेसनी पराठा खाया करते थे। पहले कुछ बार ऐसा हुआ कि जब खाने बैठते पराठा ग़ायब हो जाता। इन्हें इस घटना से आश्चर्य होता, किंतु कोई बात इनके समझ में न आती। कोठे पर दरवाजा बंद करके कसरत किया करते थे एक दिन मुग्दर हिला रहे थे, देखते हैं कि एक और आदमी सामने खड़ा मुग्दर हिला रहा है। यह हैरान हुए कि यह कौन है। उस आदमी के बदन में जवानी और पहलवानी का बल था। बस लिपट गए। थोड़ी देर हाथा पाई होती रही। फिर उससे पूछा कि "भई, तू कौन है?" उसने कहा कि 'तुम्हारे कसरत करने का अंदाज़ मुझे पसंद आया, इसलिये कभी कभी इधर आ निकलता हूँ। अक्सर तुम्हारे साथ खाने में भी शरीक होता हूँ। किंतु बिना कहे या दिखाए दोस्ती करने में मज़ा नहीं आता। इसलिये आज सामने आया।" उस दिन से उसका इनके पास आना जाना हो गया। कहा जाता है कि इन्हें इसी प्रेत ने इन्हें जहर दिए जाने के भेद से भी सूचित किया था। इनके बहुत अधिक मात्रा में खाने की वजह से कुछ लोग कहते थे कि इनके पेट में कोई जिन घुसा है।

इन्होंने किसी की नौकरी नहीं की। ईश्वर की दी हुई पूँजी और गुणग्राहियों के उपहार और चढ़ावे मात्र से इन्होंने अपना जीवन अत्यन्त सुखी, संपन्न दशा में बिताया। पहली बार जब ये इलाहाबाद आए तो राजा चंदूलाल ने १२ हजार रुपये भेजकर इन्हें बुला भेजा। इन्होंने उत्तर में लिखा कि अब मैंने सैर करने की ठानी है। इस संकल्प को छोड़ नहीं सकता। यहाँ से जाऊँगा तो लखनऊ ही जाऊँगा।" राजा साहिब ने फिर पत्र लिखा, बल्कि १५ हज़ार रुपये और भेजकर बड़े आग्रह से कहा कि "यहाँ रहिएगा तो 'मुल्कुल-शोअरा' का ख़िताब दिलवाऊँगा। आपको दरबार में हाज़िरी की क़ैद न होगी। भेंट मुलाक़ात भी आपकी इच्छा पर निर्भर करेगी।" किंतु इन्होंने इन सबको अस्वीकार किया और रुपए आग़ा कुबुल हुसैन ख़ाँ साहिब के पास रखवा दिए। जब आवश्यकता होती तो मंगा लेते और इनके ज़रूरी ख़र्च के लिये दूसरे ज़रिये भी तो थे। नवाब मोतमुद्दौला और उनके बेटे सदा इनकी सेवा को प्रस्तुत रहते थे। भेंट उपहार जगह जगह से आते रहते थे। यह भी खाते और खिलाते ही रहते थे। बुजुर्गों, हजयात्रियों, तीर्थयात्रियों को दान भी करते थे और स्वच्छंदता पूर्वक जहाँ जी चाहता वहाँ जा बैठते। जिसके यहाँ जाते वह भी अपना गौरव समझता था।

Chennai and eGangotri

इनके यात्रा भ्रमण की परिधि फ़ैज़ाबाद से लखनऊ, वहाँ से इलाहाबाद, बनारस, अज़ीमाबाद (पटना) तक ही रही। इनकी इच्छा थी कि शेख़ अली हज़ी की तरह बनारस में बैठ जायँ। इसलिए इलाहाबाद से वहाँ गए। किंतु वहाँ अपने रुचि के अनुकूल लोग न मिले। इसलिए खिन्न होकर अज़ीमाबाद गए। वहाँ के लोगों ने अत्यंत सहृदयता और संमान से इनका स्वागत किया, मगर फिर भी वहाँ इनका जी न लगा और यह कहकर कि यहाँ मेरी ज़बान ख़राब हो जायगी, वहाँ से घबराकर भागे और इलाहाबाद आए। फिर शाह अजमल के आश्रम में अपना केंद्र बनाया और कहा :—

हर फिर के दाइर: ही में रखता हूँ मैं क़दम,
आई कहाँ से गर्दिशे परकार पाँव में ॥

लखनऊ से निकलने का कारण यह हुआ था कि ग़ाजिउद्दीन हैदर के शासन काल में जब इनकी प्रशस्ति-ध्वनि बड़ी व्यापक हुई तो उन्होंने अपने वज़ीर नवाब मोतमुद्दौला आग़ा मीर से कहा कि यदि शेख़ 'नासिख़' हमारे दरबार में आएँ और क़सीदे सुनाएँ तो हम इन्हें 'मुल्कुशशुअरा' की उपाधि प्रदान करें। मोतमुद्दौला इनके एक निष्ठावान शिष्य थे। जब शेख साहिब के पास उनका यह संदेश पहुँचा तो उन्होंने बिगड़कर जवाब दिया कि या तो मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह[1] बादशाह हो जायँ तब वह ख़िताब दें, या सरकार इंग्लिशिया ख़िताब दे। नवाब साहिब का दिया हुआ ख़िताब मेरे किस काम का। नवाब साहिब भी मिज़ाज के गर्वीले थे। शेख़ साहिब को लखनऊ छोड़ने का हुकुम दे दिया। कुछ समय तक ये इलाहाबाद में जाकर रहे। नवाब मर गए तो फिर लखनऊ आए। इसके कुछ दिनों बाद हकीम मेहदी, जिनके पूर्वज कश्मीरी थे और शाह अवध की सरकार में मुख़तार थे, किसी बदगुमानी के कारण पदच्युत कर दिए गए। चूँकि वे शेख़ 'नासिख़' के शिष्य नवाब आग़ा मीर के प्रतिद्वंदी थे, शेख़ साहिब ने उनके अपमानित होने पर यह शेर कहा :—

काशो बराए पुख़्तने शलग़म गर पुख़्त:

नासिख़ के लिये आफ़त यह हुई कि कुछ दिन के बाद हकीम मेहदी की फिर से नियुक्ति हो गई और वह लखनऊ आ गए। इसलिये ये वहाँ से इलाहाबाद भागे। लेकिन प्रायः इनकी ग़ज़लों से मालूम होता है कि लखनऊ से बिदा होने के बाद तड़पते और दिन ही गिनते रहे। एक शेर में लिखते हैं :—

दश्त से कब वतन को पहुँचुंगा,
कि छठा साल अब तो आ पहुँचा ॥

---

[1] मिर्जा सुलेमान शिकोह अकबर बादशाह के भाई थे। दिल्ली छोड़कर लखनऊ आ गए थे। लखनऊ की सरकार की बदौलत शिकोह यहीं शान से जीवन बिता रहे थे।

हकीम मेहदी जब दूसरी बार अपने पद से हटाए गए तो इसके संबंध में इन्होंने फिर एक नए अंदाज़ की कविता लिखी :—

अज़ जाए हकीम हश्त बरगीर,
सेह मर्तब: निस्फ़ निस्फ़ कम कुन ।।

अब की बार 'नासिख' जो लखनऊ आए तो ऐसे घर में बैठे कि मर कर भी न उठे। घर ही में दफ़न हुए। मीर अली औसत 'रश्क' ने जो इनके बड़े श्रद्धालु शागिर्दों में थे, इनके मृत्यु के समय एक ग़ज़ल कही :—

'दिला शेर गोई उठी लखनऊ से'

लोग कहते हैं कि उस समय इनकी ६४-६५ वर्ष की अवस्था रही होगी। लेकिन रामी सल्लमाहुल्लाह लिखते हैं कि उस समय उनकी उम्र लगभग सौ बरस की थी। अपनी रचनाओं में अकसर ये पुराने लोगों के समय के मार्के और नवाब शुजाउद्दौला की बातें आँखों देखी जैसी बयान करते थे।

इनके दीवान तीन हैं। किंतु इनमें केवल दो ही को ख्याति मिली। एक तो इलाहाबाद में लिखा था। उस समय इनकी निर्वासित परिस्थिति थी। चित्त चिंतित और विक्षिप्त रहता था। इसलिये ग़ज़लों में अपेक्षित सुघराई नहीं ला पाए। इन्होंने इस दीवान का नाम भी इसीलिये 'दफ़्तरे परीशां' रखा। इसमें ग़ज़लों, रुबाइयों और तारीख़ों के अतिरिक्त और किसी प्रकार की रचना नहीं। क़सीदों (स्तुत्यात्मक कविताओं) की रचना का शौक़ न था। इसलिये लखनऊ के नवाब की प्रशंसा या वंदना में कुछ कहा है तो क़त्‌अ: के रूप में। हज्वों (निंदात्मक कविताओं) के काँटों से इनका कविता कानन अनाकीर्ण है।

एक मस्नवी हदीस मफ़ज़ल का अनुवाद है। मीर अली औसत 'रश्क' ने उसे क्रमबद्ध किया और उसका नाम 'नज़्म मिराज' रखा है। और एक 'मौलूद शरीफ़' भी शेख़ साहिब ने रची है। साधारणतः इनकी रचनाएँ कविता के सामान्य दोषों और शाब्दिक अशुद्धियों से एक दम मुक्त हैं और इस कौशल में वे इतने अभ्यस्त हैं कि रचना संगठन या काव्यावेश में कुछ ढिलाई आ जाय तो आ जाय किंतु कविता के मानक सिद्धांतों को हाथ से नहीं जाने देते और भाषा का ऐसा सदुपयोग वांछित और हितप्रद भी है, क्योंकि कभी कभी नए भाषात्मक प्रयोग साहित्यकारों को ऐसे आपत्तिजनक दिशाओं में ले जाते हैं, जहाँ से तनिक भी खिसकना दुष्कर हो जाता है। इनकी ग़ज़लों में शब्द वैभव, कल्पनाओं की ऊँची उड़ान और विचारों की सूक्ष्मता पर्याप्त मात्रा में है, लेकिन इनकी प्रभावोत्पादकता में कुछ कमी महसूस होती है। इन्होंने 'साएब' की उपमाओं और रूपकों को अपनी कला में समावेश कर ऐसी दस्तकारी और मीनाकारी की है कि किसी किसी अवसर पर 'बेदिल' और 'नासिर अली' की ऊँचाई तक जा पहुँचते हैं। और उन्हें उर्दू भाषा में 'साहेबे मलरज़' की उपाधि मिली, जो अपने लिये नई तर्ज़ या राह बनाए। इन्हें 'नासिख़'

कहना उचित ही है, क्योंकि इन्होंने उर्दू के पुरातन शैली को सचमुच 'नसख़'[1] किया। इसका उन्हें स्वयं भी गर्व था।

दीवान के अंत में बहुत सी तारीख़ें हैं और उनमें से कइयों के अत्यंत उत्कृष्ट और सुव्यक्त विषय वस्तु हैं। उनके शब्द वैभव से प्रतीत होता है कि यदि वे क़सीदे कहते तो बहुत सुंदर कहते। किंतु खेद है कि इस ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। उर्दूए मुअल्ला में स्वर्गीय ग़ालिब का एक पत्र मिर्ज़ा हातिम अली 'मेह' के नाम है। उसमें लिखा है 'नासिख़ मरहूम जो तुम्हारे उस्ताद थे, मेरे भी दोस्त सादिकुलविदाद थे। मगर यक फ़न्नी थे। एक ही कला में प्रवीण। सिर्फ़ ग़ज़ल कहते थे। क़सीदे और मस्नवी से इन्हे कुछ इलाक़ा न था।

'नज़्म सिराज' शीर्षक रचना लोगों की राय में निम्नस्तरीय है, किंतु चूंकि कविता में हदीस के अनुवाद का प्रतिबंध है, इसलिये इसमें कोई दोष निकालना उचित नहीं। इसके कुछ शेर नमूने के तौर पर ये हैं :—

की ख़ुदा ने जो ये ज़बान अता,
है बिलाशक अतीयए अज़मा ॥
इससे है ख़तलिफ़ मज़ों की तमीज़,
इससे पाते हैं लज़्ज़ते हर चीज़ ॥
कोई कड़वी है कोई है मीठी,
नम्कीं कोई, कोई है खटमीठी ॥
कोई अच्छी है कोई ज़िश्तो ज़बूँ,
मज़े सब चीज़ों के हैं गुनागूँ ॥
सब मज़ों से ज़बान वाक़िफ़ है,
नहीं इस्त्रा की ये काशिफ़ है ॥
जो न हो ये तो कुछ न हो मालूम,
न हो कोई मज़ा कभी मफ़्हूम ॥
और भी होते हैं ज़बां से काम,
है मम्दोक़त वलअ्र आवो तमाम ॥

यदि कोई अनजाना व्यक्ति इनकी कविताएँ सुनने की इच्छा से इनके पास आता तो इन्होंने कुछ अंटशंट ग़ज़लें बना रखीं थीं, उन्हीं में से कोई शेर पढ़ देते। या उसी समय कुछ उखड़े पखड़े शब्दों को जोड़कर कोई शेर सुना देते। यदि वह उनको समझने के लिये प्रयत्नशील मालूम होता और चुप रह जाता तो समझते थे कि इसे कविता के विषय में सचमुच कुछ सूझ बूझ है। तब उसे और कुछ सुनाते और यदि

---

[1] किसी चीज़ को हटाकर उससे अच्छी चीज़ अपनाना।

वह बेतहाशा प्रशंसा करना शुरू कर देता तो उसी तरह के एक दो शेर पढ़ कर चुपके हो रहते थे। इनकी उलल्जुलूल शायरी का एक नमूना देखिए :—

आदमी मखमल में देखे मोरचे वादाम में,
टूटी दरिया की कलाई ज़ुल्फ़ उलझी दाम में।
तूने 'नासिख' वह ग़ज़ल आज लिखी है कि हुवा,
सव को मुश्किल यदे बैज़ा में सुख़न्दाँ होना।।

बल्कि कभी कभी तो स्वयं सुनाते भी न थे। जब कोई आता और शेर सुनाने के लिये अनुरोध करता तो दीवान उठाकर सामने रख देते थे कि इसमें से देख लीजिये। दो तीन शुष्ठु लेखक भी नौकर रखे थे, जो इनके दीवान की प्रतियाँ बनाते रहते थे। यदि कोई दोस्त या शागिर्द, जिसमें पर्याप्त काव्य-मर्मज्ञता होती और विनयपूर्वक याचना करता तो उनमें से एक प्रति उसे दे देते थे।

उन्होंने और उनके समकालीन शायर ख्वाजा हैदर अली 'आतिश' ने सौभाग्य से ऐसा अनुकूल ज़माना पाया कि उसने उनके रचनाओं के बेल बूटों को और भी बनाया सँवारा। हज़ारों योग्य और विद्वान् व्यक्ति इन दोनों में किसी एक के पक्ष पर थे और अपने प्रतिस्पर्धियों को छेड़ कर तमाशा देखते थे। लेकिन वस्तुतः दोनों शायरों को इन लगाने बुझाने वालों का कृतज्ञ होना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार वे इनकी काव्य-ज्योति में और भी निखार पर लाते थे।

इन दोनों कवियों की रचना-शैली बिल्कुल भिन्न-भिन्न थी। शेख़ साहिब के अनुयायी विषयात्मक सूक्ष्मता खोजते थे। ख़्वाजा साहिब में श्रद्धा रखने वाले उनके मुहावरे की सफ़ाई, भाषा की प्रांजलता, शेरों की भावुकता, और रचना की प्रभावोत्पादकता पर निछावर होते थे। ये लोग शेख़ साहब की रचनाओं में अनेक दोष दिखाते थे। इस तरह के दोशान्वेषण में प्रायः हठधम और पूर्वाग्रह ही रहता था, लेकिन साहित्य के इतिहासकार को इन सभी पक्षों को जाहिर कर देना अपेक्षित है। इसलिए उसकी लेखनी इस प्रकार की पाक्षिक आलोचनाओं की उपेक्षा भी नहीं कर सकती।

पहली बात जो ये कहते हैं, यह है कि शेख़ साहिब की कल्पनाओं की बारिकी ऐसी है कि 'कोह कुंदन का काह बरावुर्दन' (पहाड़ खोदा और तिनका निकला) वाली कहावत चरितार्थ करती है। नीचे दिए गए शेर उनके विचारों की बारीकी के नमूने हैं :—

मेरी आँखों ने तुझे देख के वह कुछ देखा,
कि ज़वाने मिज़ः पर शिकवः है बीनाई का।।
खुल गया हम पर अनासिर जब हुए बेइत्‌दाल,
राबितः वाजिब से मुम्किन दोस्त दुश्मन में नहीं।।

की खुदा ने काफ़िरों पर ऐ सनम जन्नत हराम,
वरना किसकी आँख पड़ती तेरे होते हूर पर ।।

कूये जानाँ में हूँ पर मरहूम हूँ दीदार से,
पाये खुफ़्त: ख़ंदह ज़न है दीदए बेदार पर ।।

वह आफ़ताव न हो किस तरह से बे साया,
हुआ न सरसें कभी सायाए साहव जुदा ।।

ख़्वाजा साहिब के श्रद्धालु शागिर्द कहते हैं कि जिन लोगों ने ग़ज़ल के सिद्धांतों को समझा है यानी फ़ारसी में ख्वाजा हाफ़िज़ और शेख़ सादी से और उर्दू में 'सोज़', 'मीर और 'जुरअत' के प्रमाणों से परिचय प्राप्त किया हैं, वह ऐसे ग़ज़ल न कहेंगे । मगर यह बात कोई ऐसी आपत्तिजनक नहीं, क्योंकि फ़ारसी में भी 'जलाल',-'असीर क़ासिम 'शाहदी', 'बेदिल' और 'नासिर अली' इत्यादि उस्ताद हुए हैं, जिन्होंने अपनी कल्पनाओं की सूक्ष्मता के कारण 'ख्याल बंद' (एक साथ कई कल्पनाएँ करनेवाला) और 'मानीयाब' (शब्दों को अर्थपूर्ण ढंग से प्रयोग करना) की उपाधियाँ पाई हैं। शेख़ साहिब ने यदि उनकी शैली का अनुकरण किया तो क्या बुरा किया ? वास्तविक बात यह है कि कुछ लोगों में इस प्रकार की बहुकाल्पनिक रचनाओं के ढंग का विकास कई कारणों से होता है । पहली बात तो यह है कि कुछ कवियों की रुचि आरंभ से ही अत्यंत सशक्त होती है । उनके चिंतन आवेशपूर्ण और विचार ऊँचे होते हैं, लेकिन उन्हें कोई ऐसा उस्ताद नहीं मिलता, जो ऐसे होनहार बछेड़े को रोक कर निकाले और उसपर काव्य कला के सिद्धांतों के संयम की बागडोर लगाए । और फिर उनके निजी जीवन की आर्थिक परिपूर्णता और अनियंत्रिता भी उनकी काल्पनिक स्वच्छंदता को और आवेशपूर्ण और ओजस्वी बना देती है, जिसके कारण वह कविता के अन्य किसी पारखी या मर्मज्ञ की अनुशंसा या आलोचना की परवाह नहीं करते । वह अपने कल्पनाचित्र स्वयं खींचते रहते हैं और उनके सौंदर्यानुभव से विभोर होते हैं। और सच तो यह है कि इनकी मधुरकल्पनाओं के लिये ऐसे साधारण रुचिपूर्ण काव्य पारखियों की भी आवश्यकता नहीं होती, जिनमें केवल ऐसी वैसी खरीखोटी रचनाओं के मूल्यांकन की क्षमता हो और जो केवल लोकरुचि के ही पोषक हों । क्योंकि उन काव्यधनिकों का अपना एक अलग दरबार लगता है, जिसमें कुछ ऐसे ही विशिष्ट लोग भाग लेते हैं, जिनसे उनके रुचि-गांभीर्य और सूक्ष्मदर्शिता में अनुकूलता होती है । उनमें कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिनमें अपने वाक् कौशल से ही दूसरों को प्रसन्न कर देने की क्षमता होती है । कुछ ऐसे भी होते हैं, जिनमें कोई निजी विशेष समझ बूझ नहीं होती । बस जिस ओर लोगों को दौड़ते देखा स्वयं भी दौड़ने लगते हैं । तात्पर्य यह कि इस प्रकार कई कारण होते हैं, जो भले चंगे आदमी की आँखों पर पट्टी बाँधकर कवित्त के स्वनिर्दिष्ट किंतु असम पथ पर ढकेल देते हैं।

इनके प्रतिद्वंदियों की दूसरी आपत्ति इनके अत्यंत क्लिष्ट और दुर्बोध शब्दों के प्रयोग करने के संबंध में है। उनका कहना है कि ऐसे शब्दों का बोझ ग़ज़ल जैसी मधुर और कोमल रचना नहीं सह सकती और ऐसे शब्दों के प्रयोग से रचना भद्दी और बोझिल हो जाती है । इस प्रकार के भी कुछ शेर नमूने के रूप में दिए जाते हैं :—

बेख़तर यूँ हाथ दौड़ाता हूँ ज़ुल्फ़े यार पर,
दौड़ता था जिस तरह सावाने मूसा मार पर ॥

तू वह खुर्शीद है उलटे जो गुलिस्ताँ में निक़ाव,
चेहरये गुल में तलव्वुन हो वहीं हर्बः का ॥

वरंगे गुल जिगर होता हैं टुकड़े सैर गुल्शन में,
हुआ है तेग़ ग़म बेयार नज़्ज़ारा सिपर-ग़म का ॥

आगे मुझ कामिल के नाक़िस है कमाले मुद्दई,
दरमियाँ है फ़र्क़ इस्तिद्राज और ऐज़ाज़ का ॥

मिल गया है इश्क़ का आज़ार क़िस्मत से मुझे,
हों जो ईसा भी इरादा हो न इस्तेलाज का ॥

अंडा खटक के निकली हैं वाहर तो क्या हुआ,
बुलवुल को जिस्म बैज़ए फ़ौलाद हो गया ॥

नासिख़ तमाम रजस तनासुख़ से पाक है,
वह शमा हो गया तो वह परवाना हो गया ॥

क़मर ही क्या तेरे आगे महाक़ में आया,
हि आफ़ताव भी तो एहतिराक़ में आया ॥

सूये कावा तेरे आशिक़ सिजदा करते हैं कोई,
तेरे अब्रू की तरफ़ क़िवला मुहव्वत हो गया ॥

बाइसे गिरिया हुई फ़ुर्क़त में मुझको मेंकशी,
साक़ियां अशकों से मै का इस्तिहालः हो गया ॥

वड़ा अक्काल है नासिख़ ग़मे आलम फ़राहम कर,
इरादा है अगर ऐ चर्ख़ उसकी मेहमानी का ॥

न वातिल खुश्क ज़ाहिद है न आतिल रिंद तर दामन,
खुदा ने अपनी हिकमत से किया है खुश्कोतर पैदा ॥

Channel eGangotri Group

किसी हालत में मुझे होश से कुछ काम नहीं,
चढ़ गए अबख़रए नशा के जो सौदा उतरा ।।

आग़ाज़े ख़त में अज़दरे फ़िरऔन है जो ज़ुल्फ़,
अफ़सूने ख़त्ते मार ही अफ़साना हो गया ।।

ग़ैर कौसर किसी दरिया का मैं सब्बाह नहीं,
बेशये शेरे खुदा बिन कहीं सैय्याह नहीं ।।

है हवस हम से मिले यार करे ग़ैर को तर्क,
मतलब अपना वह है जो क़ाबिले इंजाह नहीं ।।

ज़ुल्म तूले शबे फ़ुर्क़त के ततावुल ने कहा,
दादरस कोई बजुज़ फ़ालिकुल असबाह नहीं ।।

रोशनाई से हुई रौशनीए ख़िल्वते फ़िक्र,
जुज़ क़लम और मेरी बज़्म में मिस्बाह नहीं ।।

बाल तोड़े तेरी ज़ुल्फों के न बेदर्दी से,
हिस मेरे हाथ की मानिंद हो गर शानः में ।।

ऐसे प्रतिभाशाली कवि, जिनमें कल्पना की बहुतायत और विचारों में सूक्ष्मता हो, वे अगरचे अपनी कल्पनाओं में मस्त रहते हैं, फिर भी उनकी काव्यकुशलता और अभ्यास की वजह से उनकी रचनाएँ काफी प्रभावोत्पादक होती हैं और उनकी क्लिष्ट रचनाओं में भी एक तरह की रोचकता होती है। और इसीलिये ऐसे कवियों और उनके पोषकों की गर्वोक्तियाँ निराधार नहीं होतीं।

तीसरे, इनके प्रतिपक्षी कहते हैं कि शेख़ साहिब खुद भी अपनी रचनाओं की अनपेक्षित काल्पनिक सूक्ष्मता और अनावश्यक दुरूहता के दोष को महसूस करने लगे थे और अंत में ख्वाजा साहिब की शैली का अनुकरण करने लगे थे। और उन्हीं दिनों का एक शेर शेख़ साहिब का है, जिसे ख्वाजा साहिब के सामने किसी ने पढ़ा और उन्होंने इसके भाषा-लालित्य की सराहना की थी :—

जुनूँ पसंद है मुझको हवा बबूलों की,
अजब बहार है इन ज़र्द ज़र्द फूलों की ।।

किंतु कुछ तो रुचि की प्रवृत्ति और कुछ जीवन भर का अभ्यास, जिसकी वजह से जब कभी ये साधारण मुहावरों के प्रयोग के साथ अपनी कल्पना स्पष्ट रूप से व्यक्त करना चाहते थे तो रचना की गठन फुसफुसा जाती थी और शब्द भेंड़े बोलने लगते थे। प्रमाण में कुछ शेर प्रस्तुत किए जाते हैं :—

नाक रगड़े हर घड़ी क्योंकर न उसके सामने,
बदले नथनी के सुलेमां की है ख़ातिम नाक में ।।

रंग लालः में अगर है तो नहीं नाम को बू,
यास्मिन में तेरे पिंडे सी है बूरंग नहीं ।।

साक़ी वग़ैर मैं ये लबू थूकता नहीं,
मुँह से शराबे वस्ल निकलती है हिज्र में ।।

क्या ही हासिद है फ़लक जिसने कि नौवत पाई,
दम में मानिंद हवाव इसने नक़ारा तोड़ा ।।

इनके प्रतिपक्षियों को इसपर भी आपत्ति है कि इन्होंने 'नक़्क़ारः' शब्द में एक ही 'क' का प्रयोग किया है । दो (संयुक्त) 'क़' का प्रयोग होना चाहिए । और जब इनसे यह कहा गया कि इन्होंने 'नज़्ज़ारा' शब्द में संयुक्त 'ज़' का प्रयोग किया है, किंतु फ़ारसी और रेख़्ता में एक ही 'ज' का प्रयोग होता है तो इन्होंने कहा कि अन्य भाषाओं के शब्द-प्रयोग में इस प्रकार अटकल पच्चू अनुमान लगाना न्यायोचित नहीं है । इसके लिये उस भाषा के किसी विद्वान् का ही प्रमाण चाहिए । लेखकों के लिये इस प्रकार का छिद्रान्वेषण आपत्तिजनक है । निज़ामी ने कहा है :—

वजौके जश्ने नौरोज़ी नक़ारः,
गुलूए ख़ेश करदः पारः पारः ।।

मुझसे रहता है रमीदा वह ग़ज़ाले शहरी,
साफ़ सीखा है चलन आहुए सहराई का ।।

इस शेर में भी ग़ज़ाले शहरी फ़ारसी भाषा प्रयोग के अनुसार प्रमाणित नहीं है, क्योंकि फ़ारसी में 'वहशी' के मुक़ाबले में 'अहली' बोलते हैं 'शहरी' नहीं । किंतु इस शब्द के लिये फ़ारसी भाषा से प्रमाण न ढूँढ़ कर इसे उर्दू के भाषाविदों का ही प्रयोग समझना चाहिए ।

ज़व्ह वह करता तो है पर चाहिए ऐ मुर्ग़ेदिल,
दम फ़ड़क जाए तड़फना देख कर सैय्याद का ।।

कविता में इस प्रकार शब्दों का उलटफेर बेढंगा समझा जाता है । इनके आलोचक इसी तरह की अन्य तथा कथित दोषपूर्ण रचनाओं की मिसाल पेश करते हैं । किंतु इस तरह छोटी छोटी और छँटी छटाई बातों पर अधिक ध्यान देने से कोई लाभ नहीं । इसीलिये कुछेक पंक्तियों का उद्धरण ऊपर दे दिया गया है ।

इनकी रचनाओं में कहीं कहीं सूफ़ियाना पुट भी है, किंतु वह दिशा ही कुछ और है और सच तो यह है कि वे इसके तत्वों से अनभिज्ञ थे ।

तू भी आगोशे तसव्वुर से जुदा होता नहीं,
ऐ सनम जिस तरह दूर एकदम खुदा होता नहीं ।।

बड़े वहदत में हूँ मैं गो सर गया मिस्ले हबाब,
चौब क्या तबवार से पानी जुदा होता नहीं ।।

नशये इरफ़ां नहीं जब तक दिला है क़ीलो क़ाल,
ता न हो लबरेज़ साग़र बे सदा होता नहीं ।।

इसरार निहां आते हैं सीनः से ज़बां पर,
अब सटदे सिकंदर करूँ तामीर गले में ।।

है ये यह राह कि ता अर्श पहुँचता है बशर,
दिल में दरवाज़ा है इस गुंबदे मीनाई का ।।

आरिफ़ों को हर दरोदीवार अदब आमोज़ है,
माने गर्दन कुशी है इन्हना मेहराब का ।।

मज़हर वह बुत है नूर खुदा के ज़हूर का,
नक्शे क़दम से संग को रुतबा है तूर का ।।

उनके आलोचक उनकी यह भी आलोचना करते हैं कि शेख़ नासिख़ फ़ारसी की रचनाओं को रूपांतरित करके उर्दू का जामा पहनाने की कोशिश करते हैं :—

मिस्सी आलूदः लब पर रंगे पां है,
तमाशा है तहे आतिश धुवां है ।।
नातवानी से गिरां सुर्मा है चश्मे यार को,
जिस तरह हो रात भारी मर्दुमे बीमार को ।।
गोयंद कि शब बर से बीमार गिरां अस्त,
गर सुर्मः बचश्म तू गिरान अस्त अज़ान अस्त ।।
सियह बख़्ती में कब कोई किसी का साथ देता है,
कि तारीक़ों साया भी जुदा होता है इंसा से ।।

किसी उस्ताद का शेर फ़ारसी में है :—

बरोज़े बेकसी कस नीस्त ग़ैर अज साया गार मन
मगर आँहम न दारद ताक़ते शबहाये तारे मन ।।
फ़र्क़ है शाहो गदा में क़ौल शायर से यही
शेरे क़ालीं और है शेरे नस्ताँ और है ।।

बोरियाए जायेमन व जाये तवंगर क़ाली,
शेरे कालीं दिगर व शेरे मेस्तां दिगर ग्रस्त ॥

स्वर्गीय मीर तक़ी ग्रौर बक़ा में 'दोग्राबे' के विषय को लेकर जो दो लतीफ़े हुए, उनका ज़िक्र मीर साहिब के जीवन प्रसंग में ग्रा चुका है। मैं समझता था कि शेख़ नासिख़ ने इलाहाबाद में बैठकर उसके ग्राधार पर ही ये पंक्तियाँ रची होंगी :—

एक तिरबेनी है दो आँखें मेरी,
ग्रब इलाहाबाद भी पंजाब है ॥

लेकिन वास्तव में दिल्ली के बादशाह ग़यासुद्दीन बलबन के बेटे मुहम्मद सुल्तान जब लाहौर के बाहर रावी के तट पर तातारी तुर्कों द्वारा ग्राहत हुग्रा तो ग्रमीर खुसरो ने इस दुर्घटना के ऊपर फ़ारसी में एक मर्सिया लिखा। उसका एक शेर है :—

बसकि ग्राबे चश्म खल्क़ शुद रवाँ दर चार सू,
पंज ग्राबे दोगर ग्रंदर मूलतां आमद पदीद ॥

कहते हैं कि ख़्वाजा साहिब ने इन्हीं बातों पर ग्राक्षेप के रूप में कहा है :—

मज़मूं का चोर होता है रुस्वा जहान में
चक्खी ख़राब करती है माले हराम की ॥

यद्यपि इस तरह के कुछ शेर ग्रौर भी सुने जाते हैं, किंतु ऐसा काव्यकुशल व्यक्ति जिसकी रचनाग्रों का सुंदर कल्पनाग्रों ग्रौर उत्कृष्ट विषयों से भरा पूरा एक स्थूलकाय संग्रह मौजूद हो, उसके संबंध में इस प्रकार की साहित्यिक चोरी का ग्रारोप लगाना न्यायप्रियता की ग्राँखों में धूल डालना है। 'सौदा' ग्रौर 'मीर' के जो शेर ग्रन्य उस्तादों के शेरों से भाव ग्रौर भाषा की समानता में लड़ गए हैं, उनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। जो प्रतिवाद उनकी ग्रोर से दिया गया है, वही इनके पक्ष में भी लागू समझना चाहिए। मेरे विचार से उनके विपक्षी ग्रौर पक्षधर दोनों में से किसी को दोष देना उचित नहीं; क्योंकि दोनों पक्षों के सभी कवि काव्य-कुशल थे। यह ग्रवश्य था कि उनकी रुचियों में भिन्नता थी; इसलिये उनकी पसंदें भी ग्रलग ग्रलग हो गईं; यों तो कहनेवाले जो चाहे कह जाएँ।

ग्रौर इनकी सूक्ष्म कल्पनाग्रों के साथ साथ इनके जिस शेर में भाषा की सफाई ग्रौर सादगी है, वह तो बस सीधे तीर की तरह निशाना करके पार हो जाता है :—

सैकड़ों ग्राहें करूँ पर दख़ल क्या आवाज़ का,
तीर जो देवे सदा है नुक़्स तीरंदाज़ का ॥

तिरछी नज़रों से न देखो ग्राशिक़े दिलगीर को,
कैसे तीरंदाज़ हो सीधा तो कर लो तीर को ॥

ऐसे रस में भीने हुए शेर इनके दीवान में ढूंढो तो अनेकों मिलेंगे ।

शेख़ साहिब की रचनाओं में हास्यरस का स्वाद कम है । यहां तक कि 'ज़ाहिद' और 'नासेह' जो उर्दू और फ़ारसी के शायरों के लिये हर महफ़िल की रौनक़ समझे जाते हैं, उनसे भी हँस कर दिल नहीं बहलाते और यदि इनकी रचनाओं में कहीं हँसी का आभास मिलता भी हो तो वह हँसी खिसियाई हुई सी लगती है ।

हिर्स से ज़ाहिद ये कहता है जो गिर जाएँगे दाँत,
क्या कुशादा बहरे रिज़्क़ अपना दहाँ हो जायगा ।।

देखियो नासिख़ सरे शेख़े मुअम्मिम की तरफ़,
क्या कलस मिसवाक का है गुंबदे दस्तार पर ।।

सौदा की ग़ज़ल है :—

'जरस होवे अगर होवे'
क़कस होवे अगर होवे ।।

उनका शेर देखो कि वह इसी बात को किस चोचले से कहते हैं :—

नहीं शामान ज़ेबे गुंबदे दस्तार कुछ ज़ाहिर,
मगर मिस्वाक ही उसपर कलस होवे अगर होवे ।।

ज़ाहिद अबके रमज़ा में मैं पढ़ूं खाक नमाज,
सूए किबलः तो खिनाज़ीर खड़े रहते हैं ।।

वाह क्या पीरे मुगां का है तसर्रुफ मैकशो,
मुह्तासिब का अब सखुनत किया हि मुलमुल हो गया ।।

आबिदो जाहिद चले जाते हैं मीसा है शराब,
अब तो 'नासिख़' जोर रिंदे लाउवाली हो गया ।।

अह्ले तज्वीर से इस दर्जः है नफ़्त मुझको,
कि मुझे क़ापियए जूर से कुछ काम नहीं ।।

शेख़ साहिब पहिले सुन्नत जमात के अनुयायी थे । फिर शीया हो गए । कभी कभी वे अपनी ग़ज़लों में अन्य मतावलंबियों के प्रति व्यंग का प्रयोग कर दिया करते थे, जो कि शायरों या अन्य लेखकों के लिये अपेक्षित और शोभनीय नहीं । हां, अपने धर्म के समर्थन में जो चाहे कहो वह आपत्तिजनक नहीं ।

वे स्वभावतः बड़े शिष्ट और विनम्र थे किंतु अपने विचारों में ऐसे तल्लीन रहते थे कि किसी अपरिचित व्यक्ति को उनके रुखे स्वभाव का या घमंडी होने का भ्रम होता था । सैय्यद मेहदी हसन 'फिराग़' मिर्या 'बेताब' के शागिर्द थे और उर्दू ज़बान में एक वयोवृद्ध लेखक थे । वे कहते हैं कि "एक दिन मैं शेख़ साहिब के

दर्शन के लिये गया। देखा कि चौकी पर बैठे नहा रहे हैं। आसपास कुछ और महानुभाव मोढ़ों पर बैठे हैं। मैंने सामने जाकर सलाम किया। उन्होंने एक भारी स्वर से, जो उनके शरीर से भी भारी था, पूछा, "क्यों साहिब किस तरह तशरीफ लाना हुआ?" मैंने कहा, "एक फ़ारसी का शेर किसी उस्ताद का है, उसके माने समझ में नहीं आते।" उन्होंने कहा कि "मैं फ़ारसी का शायर नहीं।" बस इतना कहकर किसी और से बातें करने लगे। मैं अपने जाने पर बहुत पछताया और अपने को कोसता चला आया।"

एक दिन कोई व्यक्ति इनसे भेंट करने के लिये आए। यह उस समय मित्रों के साथ आंगन में कुर्सी पर बैठे थे। ये साहिब भी एक कुर्सी पर बैठ गए। इनके हाथ में एक छड़ी थी। पाँव के आगे एक ढेला पड़ा था। वह बेकार बैठे बैठे, जैसे अकसर लोगों की आदत होती है, अपनी छड़ी की नोक से धीरे धीरे ढेले तोड़ने लगे। शेख़ साहिब ने नौकर को आवाज़ दी। वह आया तो उससे बोले, "मियाँ, एक टोकरी मिट्टी के ढेलों की भरकर इनके सामने रख दो, दिल लगाकर शौक़ पूरा करें।"

शाह गुलाम आज़म 'अफ़ज़ल' इनके शागिर्द इनके पास अकसर जाया करते थे। एक दिन शेख़ साहिब तख्त पर बैठे थे, उस पर सीतलपाटी बिछी हुई थी। अफ़ज़ल आए और वह भी उसी पर बैठ गए और सीतलपाटी का एक तिनका तोड़कर चुटकी से तोड़ने मरोड़ने लगे। शेख़ साहिब ने आदमी को बुलाकर कहा कि भाई वह जो नई झाड़ू तुम बाज़ार से लाए हो ज़रा ले आओ। उसने उसे हाज़िर किया। स्वयं लेकर शाह साहिब के सामने रख दी और कहा कि 'साहिबज़ादे इस झाड़ू से शग़ल फ़रमाइए। फ़क़ीर की चटाई आपकी थोड़ी सी ही इनायत से बरबाद हो जायगी। फिर और सीतलपाटी इस शहर में कहाँ ढूँढ़ता फिरूँगा?' वह बिचारे लज्जा कर रह गए।

आग़ा कल्ब आबिद ख़ां साहिब कहते थे कि एक बार किसी ने शेख़ साहिब के लिये दो तीन चमचे उपहार स्वरूप भेजे। वे शीशे के बने थे और उस समय के लिये एक नई चीज थे। देखने में भी बहुत सुंदर थे। बग़ल में ताक़ पर रखे थे। एक अमीरज़ादे आए। उस ओर देखा और पूछा 'हज़रत', ये चमचे कहाँ से ख़रीदे?' शेख़ साहिब ने उनके मिलने का हाल बयान कर दिया। उस व्यक्ति ने हाथ बढ़ाकर एक चमचा उठा लिया। देखकर तारीफ़ की। फिर बातें करते रहे और बेकार वैसे बैठे चमचे ज़मीन पर ठुकराते रहे। शीशे की बिसात ही क्या? कहीं ठेस ज्यादा लग गई उसके दो टुकड़े हो गए। शेख़ साहिब ने दूसरा चमचा उठाकर सामने रख दिया और कहा कि "अब इससे शग़ल फ़रमाइए"।

एक दिन अपने घर की फुलवारी के बँगले में बैठे थे और काव्य-कल्पना में तल्लीन थे। एक व्यक्ति इनके पास आकर बैठे। उनके आने से ये ज़रा घबराए

और उठकर टहलने लगे कि शायद वह उठ कर चले जायँ। जब वह न टले तो विवश होकर यह फिर आ बैठे। मगर वह न उठे। किसी काम के बहाने इधर उधर भी गए कि शायद वह इशारा समझ जायँ। लेकिन वह फिर भी न समझे। फिर तो इन्होंने अपनी चिलम में से जलते कोयले का एक टुकड़ा उठाकर बँगले की टट्टी के पास रख दिया और आप लिखने लगे। टट्टी जलने लगी। वह सज्जन घबरा कर उठे और कहा कि "शेख़ साहिब, आप देखते हैं, यह क्या हो रहा है ?" और फिर दरवाज़े की ओर बढ़े। इन्होंने उनका हाथ पकड़ लिया और कहा "जाते कहाँ हो ? अब तो मुझे और तुम्हें यहीं जलकर राख का ढेर होना है। तुमने मेरे मज़मूनों को ख़ाक में मिलाया। मेरे दिल को जलाकर ख़ाक किया। अब भला क्या तुम्हें जाने दूँगा ?"

इसी तरह एक और व्यक्ति इनके यहाँ आकर निष्प्रयोजन जमे बैठे रहे। आजिज़ आकर इन्होंने नौकर को बुलाकर अपना संदूकचा मँगाया। उसमें से मकान क़िबाला निकाल कर उनके सामने धर दिया और नौकर से कहा कि "भाई, मज़दूरों को बुलाओ और असबाब उठाकर ले चलो।" इधर वह सज्जन हैरान इनका मुँह देखें और उधर नौकर हैरान। आपने कहा "देखते क्या हो ? मकान पर तो यह कब्जा कर चुके। ऐसा न हो कि असबाब भी हाथ से जाता रहे।"

शेख़ साहिब के स्वभाव की ये विलक्षणताएँ थीं। किंतु इसका कारण केवल उनकी भावुकता और लोगों के अनपेक्षित व्यवहार के प्रति असहिष्णुता थी। किंतु उनके मन में किसी प्रकार का दंभ या लोगों के प्रति कोई विद्वेष न था और न वे क़िसी को अपमानित करना चाहते थे। कभी कभी तो विषम परिस्थितियों में वे इस प्रकार धैर्य और गंभीरता से काम लेते थे कि किसी और के लिये वह संभव नहीं था।

एक नवाब साहिब के यहाँ मुशायरा था। उनकी इन पर बड़ी श्रद्धा थी। उनकी यह इच्छा हुई कि शेख़ साहिब जब ग़ज़ल पढ़ चुके तो उन्हें मुशायरे में ही सब आगंतुकों के सामने कोई उपयुक्त उपहार देकर संमानित करें। यार लोगों ने इनके रक़ीब ख़्वाजा आतिश के पास मुशायरे का मिस्रएतरह समय पर न भेजा। उन्हें उस समय मिस्रा पहुँचा, जब मुशायरे को केवल एक दिन बाक़ी था। ख़्वाजा साहिब बहुत रुष्ट हुए और कहा कि "अब लखनऊ रहने के लायक जगह नहीं। हम यहाँ न रहेंगे।" यह ख़बर सुनते ही उनके शागिर्द इकट्ठे हो गए और कहा कि "आज इसका कुछ ख्याल न करें। हम सब हाजिर हैं। दो दो शेर कहेंगे तो सैकड़ों शेर हो जायँगे।" वे बड़े रोष में थे। उन लोगों से भी वैसी ही बातें कहते रहे। शहर के बाहर चले गए। फिरते फिरते एक मस्जिद में जा बैठे। वहाँ से ग़ज़ल कहकर लाए और मुशायरे में गए तो क़ड़ाबीन (बंदूक) भी भर कर लेते गए। ऐसा स्थान चुन कर बैठे कि शेख़ साहिब का बिल्कुल सामना हो। ऐसे तो ख़्वाजा का ढंग भी बाँके सिपाहियों का था। और फिर क़ड़ाबीन भरी सामने रखी थी। और ऐसा लग रहा था कि खुद भी भरे बैठे हैं। बार बार क़ड़ाबीन उठाते और रख देते थे।

जब शम्अ सामने आई तो ज़रा संभलकर बैठ गए और शेख़ साहिब की ओर इशारा करके कहा :—

सुन तो सही जहाँ में है तेरा फ़िसाना क्या,
कहती है तुझको ख़ल्क़ ख़ुदा ग़ायबाना क्या ।।

बस सारी ग़ज़ल में इसी तरह कहीं उनकी बुज़ुर्गी पर, कहीं उनके धन दौलत पर, कहीं उनकी अमीराना शानोशौकत पर कुछ न कुछ व्यंग और आक्षेप अवश्य था। शेख़ साहिब बिचारे चुपचाप बैठे सुनते रहे। नवाब साहिब भी डरे कि कहीं ये शेख़ साहिब पर अपनी कड़ाबीन न खाली कर दें या मेरे ही पेट में न आग भर दें। उसी वक्त अपने दारोग़ा को इशारा किया कि वह एक और ख़िलत ख्वाजा साहिब के लिए भी तैयार करें। अंत में दोनों साहिबों को एक ही जैसा उपहार देकर विदा किया।

रग्मी सल्लमहुल्लाह लिखते हैं कि मुद्दतों लखनऊ में रहना हुआ, लेकिन मैंने कभी इन दोनों चाँद और सूरज का एक साथ निकलना न देखा। सदा मुशायरों में एक दूसरे का पहलू बचाते थे। ख्वाजा साहिब नवाब सैय्यद मुहम्मद ख़ाँ 'रिंद' और साहिब मिर्ज़ा शनावर के मुशायरों में जाया करते थे। दूसरी ओर मिर्ज़ा मुहम्मद रज़ा 'बर्क़' के यहाँ मुशायरों का आयोजन हुआ करता था। शेख़ साहिब वहाँ अपनी ग़ज़ल भेज देते थे। जब जलसा जमता तो 'बर्क़' के शागिर्द मियाँ 'तूर' सबसे पहले शेख़ साहिब की ग़ज़ल को लेकर कहते, "साहिबो, अब आप ध्यान देकर सुनें। यह ग़ज़ल उस्तादुल उस्ताद शेख़ नासिख़ की है"। उपस्थित सभी शायर चुपचाप होकर ध्यान से सुनने लगते थे। इनकी ग़ज़ल के बाद ही और शायर अपनी ग़ज़ल पढ़ते थे।

शायरों की स्वाभाविक परंपरा के प्रतिकूल, इनकी तबीयत में दूसरे शायरों से अपने संबंध स्नेह और सद्भावपूर्ण बनाए रखने की सद्प्रवृत्ति थी। एक बार सैय्यद मुहम्मद ख़ाँ 'रिंद' का अपने उस्ताद ख़्वाजा हैदरअली 'आतिश' से मनमुटाव हो गया। चाहा कि ख़्वाजा साहिब से अपना संबंध बिच्छेद कर लें और शेख़ नासिख़ के शागिर्द हो जायँ। मिर्ज़ा मुहम्मद रज़ा 'बर्क़' के साथ वे शेख़ साहिब के पास आए। मिर्ज़ा साहिब ने अपने आने का उद्देश्य बतलाया। शेख़ साहिब ने कुछ सोच विचार के बाद कहा कि—"नवाब साहिब दस बरस से ख्वाजा साहिब से अपनी ग़ज़लों पर इस्लाह लेते रहे हैं। आज उनसे इनका यह सलूक है तो कल को मुझे इनसे क्या उम्मीद रखनी चाहिए। इसके अलावा यह उनकी कुछ माली मदद भी करते हैं। वह सिलसिला भी टूट जायगा। उन्हें इस बवाल में डालने का जिम्मेदार कौन होगा ? और मुझे तो इनसे कुछ लेना देना नहीं। मेरी दानिस्त में तो वाजिब यही है कि आप ही इन दोनों साहिबों में सुलह करवा दें"। और इस विषय में इसके बाद भी इतना प्रयत्नशील रहे कि अंत में दोनों का मनमुटाव दूर हो गया।

यद्यपि इनकी रचनाओं से प्रतीत होता है कि इनकी तबीयत में शोख़ी और रंगीनी न थी, फिर भी शायरी का वह नशा है कि अपने रंग पर ले ही आता है। मीर घसीटा नाम के एक व्यक्ति की मृत्यु हुई तो शेख़ साहिब ने उस अवसर पर कुछ संवेदनात्मक शेर कहे :––

जब मीर घसीटा मर गए हाय।
हर एक ने अपने मुँह को पीटा॥
'नासिख़' ने कही यह सुनके तारीख़।
अफ़सोस कि मौत ने घसीटा॥

इनके स्वभाव में न्यायप्रियता और गुणग्राहकता भी काफ़ी मात्रा में थी। इलाहाबाद में एक दिन कोई मुशायरा था। सब शायर अच्छी अच्छी समस्यापूरक ग़ज़लें कह कर लाए। शेख़ साहिब ने जो ग़ज़ल पढ़ी, उसकी पहली पँक्तियाँ थीं :––

दिल अब मह्व तरसा हुआ चाहता है,
यह काबा किलीसा हुआ चाहता है॥

एक लड़के ने वहाँ बैठे हुए शायरों की पंक्तियों के पीछे से सर निकाला। भोली भाली सूरत थी। ऐसा मालूम होता था कि इन लोगों के सामने ग़ज़ल पढ़ता हुआ सहमता है। लोगों ने उसे बढ़ावा दिया तो उसने साहस करके अपनी ग़ज़ल पढ़ी। उसकी पहली ही पंक्तियाँ थीं :––

दिल उस बुत पे शैदा हुआ चाहता है,
खुदा ज़ाने अब क्या हुआ चाहता है॥

महफ़िल में धूम मच गई। शेख़ नासिख़ ने भी बहुत प्रशंसा की और उसका दिल बढ़ाया और कहा कि 'भई, यह फ़ैज़ाने इलाही है। इसमें उस्तादी का ज़ोर नहीं चलता। तुम्हारा मत्ला इतना शानदार है कि उसके सामने मेरा मिस्रा माँदा (मंदा) पड़ गया और उसे मैं अब अपने ग़ज़ल से निकाल दूँगा।'

शाह नसीर की ये पंक्तियाँ सदा पढ़ा करते थे और कहते थे 'नासीर' तख़ल्लुस न होता तो यह मिस्रा नसीब न होता :––

ख़्याले ज़ुल्फ़े दुता में नसीर पीटा कर
गया है साँप निकल अब लकीर पीटा कर॥

एक दिन यह किसी सौदागर की कोठी में गए। उस सौदागर का बच्चा जो धन के साथ रूप का भी धनी था, सामने लेटा था। मगर कुछ सोता था कुछ जागता था। आपने उसे बेसाख़्ता फ़र्माया :––

'है चश्म नीमवाज़ ख़्वाबे नाज़ है'

यह मिस्रा तो कह गए। मगर दूसरा मिस्रा जैसा चाहते थे वैसा होता नहीं था। घर आए। इसी चिंता में लीन थे कि अकस्मात् ख़्वाजा वज़ीर 'वज़ीर' आ गए। उन्होंने इनके मौन मुद्रा का कारण पूछा। शेख़ साहिब ने उन्हें कारण से अवगत किया। सहसा 'वज़ीर' की तबीयत लड़ गई और उन्होंने कहा :—

है चश्म नीमबाज़ अजब ख़्वाबे नाज़ है,
फ़ित्नः तो सो रहा है दरे दरवाजा फ़ितनः बाज़ है ॥

शेख़ साहिब इस मौज़ूं मिस्रे पर लोट गए।

एक दिन 'वज़ीर' अपने कविता गुरु की सेवा में उपस्थित हुए। कुशल क्षेम पूछने के बाद शेख़ साहिब इनसे प्रेम और सद्भावपूर्ण बातें करने लगे। पूछा कि 'इधर कुछ काव्य-चिंतन किया है क्या? 'वज़ीर ने कहा, 'नहीं, अल्लाह अल्लाह करने से फ़ुर्सत हीं नहीं मिली। शेख़ साहिब ने फिर भी उनसे कुछ कहने के लिये अनुरोध किया।

उन्होंने मत्लः पढ़ा :—

वह ज़ुल्फ़ लेती है ताबो दिलो तवाँ अपना,
अँधेरी रात में लुटता है कारवाँ अपना ॥

सुनकर शेख़ साहिब बहुत खुश हुए और उस समय बहुमूल्य पत्थर की बनी हुई एक उम्दा तस्बीह (माला) जो उनके हाथ में थी, वह उन्हें उपहार स्वरूप दे दी। ख़्वाजा वज़ीर पर इनकी बड़ी कृपा रहती थी और उनका बड़ा आदर करते थे। इनके सब शागिर्दों में यह सबसे वरिष्ठ माने जाते थे। 'वर्क़', 'रश्क' इत्यादि इनके बाद की गिनती में थे।

तारीख़ें—इनके रचना संग्रह से मालूम होता है कि आठों पहर ये तारीखें कहने की चिंता में उलट फेर करते रहते थे। जिन दिनों शाह अजमल के ख़ानक़ाह में रहते थे, उस समय उसके निकट तीन संपन्न और श्रद्धालु घराने थे और उन तीनों परिवारों से नियत समय पर इनके लिये भोजन आया करता था। एक थाल जो पूरा दस्तरख़्वान ही होता था, शाह अबुलमाली की सरकार से आता था। इसमें हर प्रकार के अमीरी और स्वादिष्ट व्यंजन रहते थे। एक थाल सैय्यद अली जाफ़र के यहाँ से आता था। इनसे शाह अबुलमाली की बहन ब्याही थी। एक थाल शाह गुलाम हैदर साहिब के यहाँ से आता था। इस पर भी इनका अपना बावर्ची-ख़ाना तो गर्म होता ही था। जिस भोजन के लिये विशेष तौर से जी चाहता था खुद पकवाते थे। दस्तरख़्वान पर वह भी रख दिया जाता था। एक दिन बावर्ची से ख़ागीनः (अंडों का आमलेट) बनाने की फ़रमाईश की। इसमें कोई कीड़ा गिर गया होगा। लेकिन चूंकि ऐसी लापरवाही दो बार हो चुकी थी, आपने उस पर एक तारीख़ क़ह दी :—

जां वलब ग्रामद मरा अज़् ग़फ़लते तव्वाख़ ग्राह,
मैं पुज़द ख़ागिनः वा मारे करयः अज़् वहरेमन ।।

चूँ दिगर वारह ख़ता बनमूद साले ईसवी,
गुफ़्त दिल मारे सियः पुख्त ई सफ़ियः ग्रज़् वहरेमन !।

सन् १८३१ ई० में मोतमुद्दौला ग्राग़ामीर ने इन्हें क़सीदा लिखने के लिये सवा लाख रुपए उपहारस्वरूप दिए थे। इन्होंने इस राशि को मिर्ज़ाई साहिब के हवाले कर दिया था। लोग यह समझते थे कि वह इनके घर ही में है। इसी भ्रम में चोर ने रात में सेंध लगाई, पर उसे कुछ न मिला। ग्रापने इस घटना पर भी एक तारीख़् कह दी :—

दुज़्द दर ख़ानः नासिख़ चो ज़दः नक़्ब इंशव,
न ज़रो सीम न बुदमस ख़जिल आमदः बैरुं ।।

बहरे तारीख़े मसीही चो बुरीदम सरे दुज़्द,
दुज़्द ग्रज़ ख़ानः मुफ़लिस ख़जिल ग्रामद बैरुँ ।।

बात बात पर तारीख़् कहते थे। बुख़ार से ग्रच्छे हुए तारीख़् कहीं :—

'रफ़्त तन तौबः ए मन' (मेरी तौबा कि बुख़ार गया सन् १२३५ हि०)। स्वस्थ होने पर नहाए तो कहाः ('शवद सेहत हमायूँ व मुबारक' (सेहत (स्वास्थ्य) होना मुबारक हो सन् १२३५ हि०)। एक बार क़त्ल होते होते बच गए। कहाः ('कुनम शुक्रे खुदा' (मैं खुदा का शुक्र ग्रदा करता हूँ सन १२३५ हि०)। इनके शत्रुग्रों ने इन्हें नज़्रबंद करवा दिया तो कहा 'है, हैं, ग्रफ़सोस ख़ानः ज़िंदां गरदीद' (हाय, हाय, घर जेल बन गया था) जिस सज्जन की सिफ़ारिश से छूटे उसके धन्यवाद के लिये भी एक तारीख़् कही :—

'रेहा नीदी मरा अज़ दस्ते गुरगे'

(मुझको भेड़ियों से छुड़ाया)

किसी ने इनके कई ख़त चुरा लिए तो कहा :—

'सयाह हमचू क़लम वाद रुए हासिद मन'

(ईर्ष्या करनेवालों का मुँह क़लम की तरह काला है)

फिर चार ख़त चोरी हो गए तो तारीख़् कही :—

'सद हैफ़ तलफ़ चहार नामः'

(ग्रफ़सोस कि चार खत नहीं मिले)

ग्रपने प्रिय शागिर्द ख्वाजा वज़ीर का व्याह हुग्रा तो फ़र्माया :—

'शुदः नौशा वज़ीरे मन ग्रमरोज़'

(ग्राज मेरा वज़ीर दूल्हा बना)

फिर इनके यहाँ लड़का पैदा हुआ। सबेरे का समय था। इन्होंने कहा :—

'सुबह तालअ शुद वर आमद आफ़ताब'

(सुबह का भाग्य अच्छा है कि सूरज निकला)

एक मुशायरे में ख़्वाजा साहिब ने मत्ल: पढ़ा :—

'सुर्मा मंजूरे नज़र ठेरा है चश्में यार में,
नील का गंडा पिन्हाया मर्दुमे बीमार में ॥

शेख़ साहिब ने कहा 'सुभान अल्लाह, ख्वाजा साहिब, क्या खूब फ़र्माया है :—

'सुर्मा मंजूरे नज़र ठेरा जो चश्में यार में,
नीलगूं गंडा पिन्हाया मर्दुमे बीमार में' ॥

ख्वाजा साहिब ने उठकर सलाम किया और कहा, "जाय उस्ताद ख़ालीस्त" (उस्ताद की जगह ख़ाली रहती है)। मेरी समझ में नहीं आता कि बीमारी में गंडा क्यों कर पहनाते हैं। गंडा बीमार को पहनाया करते हैं और उससे अधिक आश्चर्य शेख़ साहिब के उस शेर का है, जिसमें वे कहते हैं :—

यूँ नज़ाकत से गिरा है सुर्मा चश्में यार में,
जिस तरह हो रात भारी मर्दुमे बीमार में ॥

यहाँ भी 'में' का प्रयोग निरर्थक लगता है। उसकी जगह 'पर' हो तो ठीक है।

शेख़ नासिख़ एक मुशायरे में ऐसे समय पहुँचे, जब जल्सा समाप्त हो चुका था। मगर ख्वाजा हैदरअली 'आतिश' इत्यादि अन्य कई शायर वहाँ उपस्थित थे। यह जाकर बैठ गए और साधारण शिष्टाचार बरतने और कुशलक्षेम पूछने के बाद पूछा कि 'जनाब ख्वाजा साहिब, मुशायरा हो चुका?' इन्होंने कहा कि 'सब कोई आपकी प्रतीक्षा कर रहे थे।' इस पर शेख़ साहिब ने यह मतला पढ़ा :—

जो ख़ास हैं वो शरीके गरोहे आम नहीं,
शुमार दानए तस्बीह में इमाम नहीं ॥

चूँकि इनका नाम भी 'इमाम बख़्स' था इसलिये इस शेर की सभी ने बड़ी तारीफ़ की। इसके जोड़ में ख़्वाजा साहिब ने यह मत्ला पढ़ा :—

यह वज़्म वह है कि लाख़ैर का मुक़ाम नहीं,
हमारे गंजिफ़े में बाज़िए गुलाम नहीं ॥

कुछ लोग कहते हैं कि अधोलिखित मत्ला 'आतिश' के शागिर्द का है और नासिख़ के शागिर्दों की ओर से उसका जवाब है। किंतु सच बात तो यह है कि यह लाजवाब है :—

जो ख़ास बंदे हैं वह बंदए अवाम नहीं,
हज़ार बार जो यूसुफ़ बिके गुलाम नहीं ।।

यूं तो जनसाधारण में इन जोड़-तोड़ के शेरों के बारे में उपर्युक्त किंवदंतियाँ ही मशहूर हैं, लेकिन कुछ बूढ़े लोगों से जिनका उस समय ऐसे लोगों से संपर्क था, यह पता चला कि पहला मत्ला 'आतिश' ने तालिबअली ख़ाँ 'ऐशी' के प्रति कहा था। यार लोगों ने उसमें कुछ मिला जुला कर शेख़ साहिब के ज़िम्मे लगा दिया।

मेरे दिली दोस्त सैयद अहमद साहिब उक्शनीज़ी ने किसी की ज़बानी बयान किया कि शेख़ नासिख़ एक दिन नवाब नसीरुद्दीन हैदर के यहाँ बैठे थे। हुक्का सामने था। कहा कि 'शेख़ साहिब, इसपर कुछ कहिए'। उन्होंने उसी वक्त यह कहा :—

हुक़्क़ा जो है हुज़ूर मुअल्ला के हाथ में,
गोया कि कहकशां है सुरैय्या के हाथ में,

नासिख़ यह सब बजा है बलेकिन तू अर्ज़ कर,
बेजान बौलता है मसीहा के हाथ में ।।

कुछ विद्वान् लोग कहते हैं कि स्पष्ट अर्थों में हुक्क़े की उपमा कहकशां से दी है और प्रशंसित व्यक्ति को सुरैय्या से। लेकिन ऐसे प्रशंसित व्यक्तियों को शायरों ने चाँद, सूरज बल्कि आदर और प्रतिष्ठा प्रदर्शन के लिये 'फ़लक' (आकाश) तक भी कह दिया है। सुरैय्या से किसी ने उपमा नहीं दी। शेख़ 'नासिख़' की इन पंक्तियों में ओज, चापल्य और सुंदर गठन न भी हो, किंतु ये काव्य-सिद्धांतों से विहीन नहीं हैं। इनपर यह आरोप लगाना चाँद पर दाग़ लगाना है। और चूंकि इन्होंने शेर बरजस्ता कहे थे इसलिये उनके इस छोटी सी भूल की इस बेमुरव्वती से आलोचना करना वाजिब नहीं।

एक ग़ज़ल शेख साहिब की है जिसका मत्ला है :

दिल लेती है वह ज़ुल्फ़ सियह फ़ाम हमारा,
बुझता है चिराग़ आज सरे शाम हमारा ।।

मिर्ज़ाई साहिब, जिनके पास शेख़ साहिब के रुपये धरोहर रखने की चर्चा पहले की गई है, लखनऊ के धनीमानी व्यक्तियों में थे और शेख़ साहिब के बड़े मित्र थे। उन्होंने एक बहुमूल्य फ़ीरोजे पर आप का नाम खुदवा कर उसकी अँगूठी को पहने रहते थे। कभी कभी उसे उतार कर रख भी देते थे। वह किसी ने चुरा ली या इनसे कहीं खो गई : उस प्रसंग में कहते हैं :—

हमसा कोई गुमनाम ज़माने में न होगा,
गुम हो वह नहीं जिसपे खुदे नाम हमारा ।।

उस समय का लखनऊ भी आज का लखनऊ न था। शेख़ इब्राहीम 'जौक़' का यह शेर जब वहाँ पढ़ा गया :--

ख़बर कर जंगे नौफ़िल की तू मजनूँ अह्ले हामूँ को
कबादः ता सबा खिचवाये शाखे बेदे मजनूँ को।।

सबने इसे अर्थहीन कहा। किंतु शेख़ साहिब ने 'जंगे मोफ़िल' की घटना और 'कबादः खींचने' की परिभाषा बताई तो सबने इस शेर की अर्थपूर्णता को स्वीकार किया। किंतु इन बातों से न तो दिल्ली वालों को गर्व और न लखनऊ वालों को अप्रसन्नता होनी चाहिए। आखिर दिल्ली भी एक ही दिन में शाहजहानाबाद नहीं हो गई थी। मीर तक़ी और मिर्ज़ा रफ़ी पैदा होते ही 'मीर' और सौदा' नहीं हो गए। उस समय की उर्दू की काव्य रचना की प्रगति के संबंध में यह कहना ग़लत न होगा कि उस समय तक लखनऊ के शायर उन उस्तादों के शागिर्द समझे जाते थे, जिनके कला स्रोत का उद्गम दिल्ली में ही था और लखनऊ के परिमार्जित भाषा भाषी भी हर मुहावरे का प्रामाणिक आधार वहीं की भाषा को समझते थे, क्योंकि वे उन्हीं पूर्वजों के वंशज थे, जिन्हें कालचक्र ने दिल्ली से निकाल कर फेंक दिया था। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि शेख़ नासिख़ और ख़्वाजा हैदरअली 'आतिश' की काव्यकला ने लखनऊ को दिल्ली भाषा-संबंधी बंधन के पाश से मुक्त स्वावलंबी बनाया। और यही भाषा आगे चलकर लखनऊ की प्रामाणिक भाषा हुई। अब लोग जो चाहें, सो कहें, उन्हें कौन रोक सकता है ? शेख़ साहिब फरमाते हैं :--

शहसवारी का जो उस चाँद के टुकड़े को है शौक,
चाँदनी नाम है शबदेज़ को अँधियारी का।।
ऐ ख़त उसके गोरे गालों पर ये तूने क्या किया,
चाँदनी रातें यकायक हो गईं अँधियारियाँ।।
अल्लाह रे रोशनी मेरे सीनः के दाग़ की,
अँधियारी रात में नहीं हाजत चिराग़ की।।
नाम सुनता हूँ जो मैं गोर की अँधियारी का,
दिल धड़कता है जुदाई की शबेतार न हो।।

दिल्ली में बच्चे से बूढ़े तक 'अंधेरी रात' कहते हैं 'अँधियारी रात' नहीं। मगर लखनऊवालों को इस तरह के मुहावरों के प्रयोग में कोई आपत्ति करना असंगत होगा, क्योंकि यह तो वहीं की जनभाषा की उपज है। और जिस मिट्टी से ऐसे ऐसे कलाविद् जन्मे, वहाँ की जनभाषा स्वयं ही प्रमाण है। बकावली में नसीम कहते हैं "घूमा मानिन्दे नर्द घर घर"। दिल्लीवालों की बोली में 'घूमना' शब्द का प्रयोग

संभव नहीं। लखनऊ वाले 'भलाई' को भलाई' कहते हैं। पीने का हो तो 'तमाकू' और पान में खाने का हो तो 'तंबाकू' कहते हैं। दिल्ली वाले पीने का हो तो 'तंबाकू' और खाने का हो तो 'ज़रदा' कहते हैं।

शेख़ साहिब अपने सभी समकालीन शायरों के लिये संमान और श्रद्धा के पात्र थे और सभी उनकी शागिर्दी को एक गौरव की बात मानते थे। उनमें कुछेक शागिर्द तो स्वयं बड़े बड़े दीवानों के रचयिता हुए, जैसे—

(१) ख्वाजा 'वजीर' जो पहले 'आतिश' के शागिर्द थे, फिर नासिख़ के शागिर्द हुए और इसी का गर्व जीवन के अंत तक करते रहे। जैसी ही इनकी मार्मिक कल्पना थी, वैसा ही भाषा पर इनका अधिकार था। शेख़ साहिब भी इनका बड़ा आदर करते थे और इनसे बड़ी आत्मीयता रखते थे।

(२) मिर्ज़ा मुहम्मद रज़ा खां 'बर्क़' अपनी कुछेक रचनाओं के आधार पर और वाजिदअली शाह की मुसाहिबी से प्रसिद्ध हुए। इनका छपा हुआ दीवान अब भी उपलब्ध है।

(३) वाला जाह मीर अली औसत 'रश्क' जिनकी काव्य-रुचि की अतिशय उर्वरता इनके स्थूलकाय दीवानों में नहीं समाती और जिन्हें शायरी की सरकार में तारीखें लिखने का ठीका मिला था।

(४) शेख़ इम्दाद अली 'बह्र'—यद्यपि विधाता ने इन्हें निर्धनता के कारण सदा दीन अवस्था में ही रखा मगर फिर भी इनकी शायराना तबीयत बुढ़ापे में भी जवानी की अकड़-तकड़ दिखाती रही। अंत में भाग्य ने इनका साथ दिया। नवाब साहिब रामपुर की सरकार में आकर कुछ वर्ष आराम से गुज़ारे। सच तो यह है कि यही एक शागिर्द थे, जिनपर शेख़ साहिब बराबर गर्व करते थे।

(५) सैय्यद इस्माईल हुसेन 'मुनीर' शिकोहाबादी एक वयोवृद्ध और अभ्यस्त शायर थे। पहिले बाँदा के नवाब की सरकार में नौकर थे। सन् १८५७ ई० के बलवे के बाद कुछ दिन बहुत कष्ट से जीवन बिताया फिर नवाब रामपुर ने इन्हें अपने यहाँ प्रश्रय दिया। जीवन के थोड़े वर्ष जो शेष रह गए थे, उन्होंने अच्छी तरह बिताया और फिर परलोक सिधारे।

(६) आग़ा कल्ब हुसेन ख़ां 'नादिर' सब से अंतिम शागिर्द हैं। किंतु रुचिबाहुल्य, विषय की उर्वरता, रचनाओं की विविधता और काव्य-सिद्धांतों की संपन्नता के लिहाज़ से ये सर्वप्रथम हैं। जीवन भर इन्होंने डिप्टी कलक्टरी की और प्रशासन की समस्याओं में उलझे रहे। किंतु इसके साथ साथ काव्य-रचना की लगन बराबर लगी रहती थी। जिस ज़िले में बदल कर गए, मुशायरे को अपने साथ लेते गए। शायरों का, चाहे सरकारी नौकरियों में नियुक्त करके या अपने पास से दान दक्षिणा देकर, सदा पोषण करते रहे। और उसी परिस्थि में शेर भी कह गए :—

लोग कहते हैं कि फ़न्ने शायरी मनहूस है,
शेर कहते कहते मैं डिप्टी कलक्टर हो गया।।

इनके कई मोटे दीवान हैं, जिनमें इनकी ग़ज़लों और क़सीदों, सलामों और मर्सियों का संग्रह है। इनकी कई पुस्तकें और छोटे छोटे लेख भी हैं, जिनके पढ़ने से भाषा के विद्यार्थी बहुत लाभ उठा सकते हैं। एक पुस्तक कृषि कला पर भी लिखी है। इसमें हिंदोस्तान के मेवों और तरकारियों का गवेषणापूर्ण विवरण है। वृद्धावस्था प्राप्त करने पर इन्होंने सरकार से पेंशन ले ली। फिर भी शायरी का शौक़ पूर्ववत् बना रहा। उनकी काव्यकला के प्रति जो अनन्य आस्था थी, उससे ईर्ष्या होती है; क्योंकि उन्होंने यह वसीयत किया था कि मरने के बाद उनके एक हाथ में सलामों और मर्सियों का दीवान देना और दूसरे हाथ में उन क़सीदों का दीवान रख देना जिनमें धार्मिक बुज़ुर्गों की प्रशस्ति लिखी हो।

उपर्युक्त शायरों ने और इनके कुछ समकालीन शायरों ने भाषा के संबंध में पहले के कुछ प्रतिबंधों का पालन करना अपेक्षित समझा। और दिल्ली के अधिकारी भाषाविदों ने भी उनमें से कुछ रूपांतरित प्रयोगों को मान्यता दी और उन्हें अपनी रचनाओं में भी अपनाया। किंतु कुछ के बारे में इनका दिल्ली वालों से बराबर मतभेत बना रहा। किंतु जनसाधारण इन विषमताओं को ध्यान में भी नहीं लाते थे। इन नियमों के असल विधायक मीर अली औसत 'रश्क' समझे जाते थे। 'रश्क' के प्रस्तावित कुछ शब्द प्रयोग नमूने के रूप में यहाँ दिए जाते हैं :—

अशुद्ध प्रयोग	शुद्ध प्रयोग
यहाँ	वहाँ
बरोज़ने जाँ	बरोज़ने जहाँ (किंतु आश्चर्य यह है कि शेख़ साहिब और ख़्वाजा साहिब इनकी पाबंदी स्वीकार नहीं करते थे।)
पै	पर
तलक	तक
बिठाना, पिन्हाना	बैठाना, पहिनाना
कभू	कभी
'ईजाद' और 'कलाम'	पुल्लिग (कुछलोग स्त्रीलिंग में प्रयोग करते हैं)
नमू (यानी 'बढ़ना')	पुल्लिग
तर्ज़	स्त्रीलिंग में प्रयोग करते हैं
सुलह हो गई	सुल्ह हो गई
इस बाब में	इस बारः में (ग़दर से पहले दिल्ली में नहीं बोलते थे। अब सब बोलने लगे)
आए है, जाए है	आता है, जाता है (अब दिल्ली वाले भी यही कहने लगे।)

सूरत है जैसे चौदहवीं का चाँद	जाने चौदहवीं का चाँद है (फ़साना अजायब में है।)

शोलः, वादः, इत्यादि को दरिया और सहरा का क़ाफ़िया (अनुप्रास) नहीं बाँधते।

+ \+ \+

ग़ज़लें

पोंछता अश्क अगर गोशये दामां होता,
चाक करता मैं जुनूँ में जो गिरीबाँ होता ॥
माल मिलता जो फ़लक से ज़र्रे जाँ होता,
सर न होता, जो मुयस्सर मुझे सामाँ होता ॥
मुँह को दामन से छिपा कर जो वह रक़साँ होता,
शोभये हुस्न, चिराग़े तहे दामां होता।
उस्तुरा मुँह पे जो फिरने नहीं देता है वजा,
मह्वे दीदार से क्योंकर ख़ते कुरआँ होता ॥
अपने होंठो से जो इक बार लगा लेता वह,
है यक़ीं साग़रे में चश्मये हैवाँ होता ॥
नाजुक ऐसा है वह काफ़िर वहीं होता बदमस्त,
गुज़र उसका जो कभी जेरे मुग़ीलाँ होता ॥
संग चक़माक़ भी बनता तो मेरा ज़ब्त यह है,
न मेरी क़ब्र का पत्थर शरर अफ़्शाँ होता ॥
हूँ वह वहशी कि अगर दश्त में फिरता शब को,
आगे मशअलची वही ग़ोले बयाबाँ होता ॥
निगहते काकुले पेचां से जो देते तशबीह,
इत्र मज्मुए का हर जुज्व परीशां होता ॥
की मुकाफ़ात शबे वस्ल खुदा ने वरना,
किस लिए मुझपे अज़ाबे शबे हिज्राँ होता ॥
अपनी सूरत का वह दीवाना न होता तो क्यों,
पाँव में सिल्सिलए गेसुए पेंचाँ होता ॥
बोसों से न मिलती फुर्सत,
गर दहन दीदए आलम से न पिन्हाँ होता ॥

किसकी परियाँ, शहे जिन्नात को भी आठ पहर,
है ये हसरत कि सगे कूचये जानाँ होता ।।

खूँ रुलाता वहीं नासूर बनाकर गदूं,
ज़ख़्म भी गर मेरे तन पर कभी ख़दाँ होता ।।

ऐ अजल एक दिन आख़िर तुझे आना है वले,
आज आती शबे फ़ुर्क़त में तो एहसाँ होता ।।

कौन है जो नहीं मरता है तेरे क़ामत पर,
क्यों न हर सरोएचमन क़ालिबे बेजां होता ।।

क्या क़वी है ये दलील उसकी परीज़ादी की,
रब्त इन्सान से करता जो वह इन्साँ होता ।।

ऐ बुतो, होती अगर मेह्रो मुहब्बत तुममें,
कोई काफ़िर भी न वल्लाह मुसलमाँ होता ।।

हसरते दिल नहीं देता है निकलने 'नासिख़',
हाथ शल होते मुयस्सर जो गरेबाँ होता ।।

× × ×

दमे बुलबुले असीर का तन से निकल गया,
झोंका नसीम का ज्यों हाँ सन से निकल गया ।।

लाया वह साथ ग़ैर को मेरे जनाज़ा पर,
शाला सा एक जेब कफ़न से निकल गया ।।

साक़ी बग़ैर, शब जो पिया आबेआतशीं,
शोला वह बन के मेरे दहन से निकल गया ।।

अब के बहार में ये हुआ जोश ऐ जुनूं,
सारा लहू हमारे बदन से निकल गया ।।

उस रश्के गुल के जाते ही बस आ गई ख़ेज़ाँ,
हर गुल भी साथ बू के चमन से निकल गया ।।

अह्ले ज़मीं ने क्या सितमे नौ किया कोई ?,
नालः जो आसमाने कुहन से निकल गया ।।

सुनसान मिस्ल वादिये-गुर्बत है लखनऊ,
शायद कि 'नासिख़' आज वतन से निकल गया ।।

× × ×

वाईज़ा मस्जिद से अब जाते हैं मैख़ाने को हम,
फेंककर जर्फ़े-वजू लेते हैं पैमाने को हम ।।

क्या मगस बैठे भला उस शोला के जिस्म पर,
अपने दाग़ों से जला देते हैं परवाने को हम ।।

तेरे आगे कहते हैं गुल खोल कर बाज़ूए वर्ग,
गुलशने आलम से हैं तय्यार उड़ जाने को हम ।।

कौन करता है बुतों के आगे सिज्दा ज़ाहिदा,
सर को दे दे मार कर तोड़ेंगे बुतख़ाने को हम ।।

जब ग़ज़ालों के नज़र आ जाते है चश्में सियाह,
दश्त में करते हैं याद अपने सियह ख़ाने को हम ।।

बोसाए-ख़ाने-ज़नख़्दाँ से शिफ़ा होगी हमें,
क्या करेंगे ऐ तबीव इस तेरे बिहदाने को हम ।।

बाँधते हैं अपने दिल में ज़ुल्फ़े जानां का ख़्याल,
इस तरह ज़ंजीर पिहनाते हैं दीवाने को हम ।।

पंजये वहशत से होता है गरीबाँ तार तार,
देखते है काकुले-जानाँ में जब शाने को हम ।।

अक़्ल खो दी थी जो ऐ 'नासिख़' जुनूनें इश्क़ में,
आश्ना समझा किए इक उम्र बेगाने को हम ।।

+ + +

चोट दिल को जो लगे आहे-रसा पैदा हो,
सदमा शीशः को जो पहुँचे तो सदा पैदा हो ।।

कुश्तये-तेग़े-जुदाई हूँ यक़ीं है मुझ को,
अज्व से अज्व क़यामत को जुदा पैदा हो ।।

हम हैं बीमारे मोहब्बत ये दुआ माँगते हैं,
मिस्ले अकसीर न दुनियाँ में दया पैदा हो ।।

कह रहा है जरसे कल्व बआवज़े बलंद,
गुम हों रहवर तो अभी राहे ख़ुदा पैदा हो ।।

किसको पहुँचा नहीं ऐ जान तेरा फ़ैजे क़दम,
संग पर क्यों न निशाने कफ़े पा पैदा हो ।।

मिल गया ख़ाक में पिस पिस के हसीनों पर मैं,
क़ब्र पर बोयें कोई चीज़ हिना पैदा हो ।।

अश्क थम जाएँ जो फ़र्क़त में तो आहें निकलें,
खुश्क हो जाए जो पानी तो हवा पैदा हो ।।

याँ कुछ असवाव के हम बंदे ही मुहताज नहीं,
न ज़ुबाँ हो तो कहाँ नामे ख़ुदा पैदा हो ।।

गुल तुझे देख के गुलशन में कहें उम्रे दराज,
शाख़ के बदले वहीं दस्ते दुआ पैदा हो ।।

बोसा माँगा जो दहन का तो वह क्या कहने लगे,
तू भी मानिंदे दहन अब कहीं न पैदा हो ।।

न सरे ज़ुल्फ़ मिला बल बेदराज़ी तेरी,
रिश्तए तूल-अमल का भी सिरा पैदा हो ।।

किस तरह सच है न खुर्शीद को रज्अत हो जाए,
तुमसा आफ़ाक़ में जब माहे-लक़ा पैदा हो ।।

अभी खुर्शीद जो छिप जाए तो ज़र्रात कहाँ,
तू ही पिन्हाँ हो तो फिर कौन भला पैदा हो ।।

क्या मुवारक है मेरा दश्ते जुनूँ ऐ 'नासिख़',
बैज़ए-बूम भी टूटे तो हुमा पैदा हो ।।

+ + +

जो उस परी से शबे वस्ल में रुकावट हो,
मुझे भी एक जनाज़ा हो या छपरखट हो ।।

मुहाले ख़्वाबे लहद से है गर्चे बेदारी,
मैं चौंक उठूँ अगर उसके क़दम की आहट हो ।।

न मेरे पाँव हों ज़ंजीर के कभी शाकी,
जो उसके काकुले पेचां की हाथ में लट हो ।।

कबूद रंग है मिस्सी का मेरे होंठ हैं लाल,
मिलें जो दोनों तो पैदा न क्यों उदाहट हो ।।

मजाल क्या कि तेरे घर में पाँव मैं रखूँ,
ये आरज़ू है मेरा सर हो तेरी चौखट हो ।।

हुजूम रखते हैं जाँबाज़ यूँ तेरे आगे,
जुवारियों का दिवाली को जैसे जमघट हो ।।
लिपट के यार से सोता हूँ माँगता हूँ दुआ,
तमाम उम्र बसर यारब एक करवट हो ।।
नसीम आह के झोंके से खोल दूँ दम में,
भिड़ा हुआ तेरे दर्वाज़े का अगर पट हो ।।
जलाओ ग़ैरों को मुझसे जो गर्मियाँ करके,
तुम्हारे कूचे में तैयार एक मर्घट हो ।।
न लग चलूँ मैं यही अपने दिल में ठानी है,
तेरी तरफ़ से हज़ार ऐ परी लगावट हो ।।
वह मुँह छिपाते हैं जब तक हिजाब से शबेवस्ल,
इज़ार सुबह से शब का न दूर घूँघट हो ।।
तेरी बलायें मेरी तरह वह भी लेता है,
न क्यों कर आग में इस्पंद की ये चटचट हो ।।
मैं जाँ-बलब हूँ गला काटो या गले से लगो,
जो इस में आपको मंजूर हो सो झटपट हो ।।
करे वह ज़िक्रे खुदा ऐ सनम भला किस वक़्त,
जिसे कि आठ पहर तेरे नाम की रट हो ।।
जो दिल को देते हो 'नासिख़' तो कुछ समझकर दो,
कहीं ये मुफ़्त में देखो न माल तलपट हो ।।

+ + +

ख़ाक में मिल जाइये ऐसा अखाड़ा चाहिए,
लड़के कुश्ती देवे हस्ती को पछाड़ा चाहिए ।।
वह सही क़द करके वर्ज़िश ख़ूब ज़ोरों पर चढ़ा,
कर रहा है सरो को जड़ से उखाड़ा चाहिए ।।
क्यों न रोवें फूट कर हम क़स्रे-जानाँ के तले,
दीदये तर अपने दरिया में कड़ाड़ा चाहिए ।।
और तख़्तों की हमारी कब्र में हाजत नहीं,
ख़ानये महबूब का काहे किवाड़ा चाहिए ।।

है शबे महताब फर्क़त में तक़ाज़ाए जुनूँ,
चादरें महबूब को भी आज फाड़ा चाहिए ॥
इंतहाये लाग़री से जब नज़र आया न मैं,
हँस के वह कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए ॥
कर चुकी है तेरी रफ़्तार एक आलम को ख़राब,
शहर ख़ामोशों को भी चल कर उजाड़ा चाहिए ॥
मुँह बनाए क्यों है क़ातिल पास है तेग़ निगाह,
बाग़ में हँसते हैं गुल तो मुँह बिगाड़ा चाहिए ॥
कोई सीधी बात साहिब की रज़र आती नहीं,
आप की पोशाक को कपड़ा भी आड़ा चाहिए ॥
तंग इस वहशतकदह में हूँ मैं ऐ जोशे जुनूँ,
अर्श की कफ़े मोहद्दब को लताड़ा चाहिए ॥
आँसुओं से हिज्र में बरसात रखिए साल भर,
हम को गर्मी चाहिए, हरग़िज न जाड़ा चाहिए ॥
आज इस महबूब के दिल को मुसख़्ख़र कीजिए,
अर्श आज़म पर निशां नालः का गाड़ा चाहिए ॥
मर गया हूँ हसरते–नज़्ज़ारये–अब्रू में मैं,
ऐन क़ाबा में मेरे लाशः को गाड़ा चाहिए ॥
मुह्तसिब को हो गया आसेब ज़ो तोड़ा है खुम,
जूतियों से मैकशो जिन आज झाड़ा चाहिए ॥
जल्द रंग ऐ दीदये–ख़ूंबार अब तारे निगह
है मोहर्रम इस परी पैकर को नाड़ा चाहिए ॥
लड़ते हैं परियों से कुश्ती पहलवान इश्क़ में,
हम को 'नासिख़' राजा इंद्र का अखाड़ा चाहिए ॥

मीर मुस्तह्सन 'ख़लीक़'

ये मीर हसन के बेटे थे । अपनी सौजन्यता और अन्य निजी गुणों के कारण अपने कुल के एक प्रतिष्ठित वंशज समझे जाते थे । उनकी गंभीरता, सहृदयता और विनयशीलता उनके बड़प्पन की गवाही देती थी। फ़ैजाबाद और लखनऊ में इनकी

शिक्षा दीक्षा हुई। १६ वर्ष की आयु से ही कविता का अभ्यास शुरू किया और अपने खुल्के हुस्न (स्वभाव सौष्ठव) के अनुसार ही 'ख़लीक़' (सुष्ठ) अपना उपनाम रखा। शुरू में ग़ज़लें बहुत कहते थे और अपने पिता से इस्लाह लेते थे। जब शेख़ मस्हफ़ी लखनऊ में पहुँचे तो मीर हसन उस समय बद्रे मुनीर की रचना कर रहे थे और इनके बेटे मीर ख़लीक़ की काल्पनिक उपज के बहुतायत की यह हालत कि अपनी ग़ज़लों के मारे उन्हें दम न लेने देते थे और उन्हें अपने काव्य-चिंतन का अवकाश न देते थे। इसलिये अपने बेटे को साथ ले शेख़ मस्हफ़ी के पास गए और अपनी फ़ुरसत की कमी का हाल कह कर उसकी रचनाओं की इस्लाह के लिये उसे शेख़ मस्हफ़ी के सुपुर्द कर दिया। इस होनहार युवक की उदीयमान रुचि ने रंग दिखाना शुरु ही किया था कि एक गुणग्राही अभिभावक ने इसका हाथ पकड़ा और नीशापुरी खांदान में पंद्रह रुपए महीने की नौकरी दिलवा दी। इन्हीं दिनों मिर्ज़ा तक़ी 'तरक्क़ी' का यह इरादा हुआ कि फ़ैज़ाबाद में शेरो सुख़न की चर्चा हो। अतएव मुशायरे का आयोजन किया और ख़्वाजा हैदर अली 'आतिश' को लखनऊ से बुलाया। पहले ही जलसे में जो मीर 'ख़लीक़' ने गज़ल पढ़ी उसका मत्लः था :—

रश्क आइना है उस रश्के क़मर का पहलू,
साफ़ इधर से नज़र आता है उधर का पहलू ॥

इसे सुन कर 'आतिश' ने अपनी गज़ल फाड़ डाली और कहा कि जब ऐसा शायर यहाँ मौजूद है तो मेरी क्या जरूरत है।

मीर 'ख़लीक़' का युवाकाल इस प्रकार काव्य-कल्पनाओं की तल्लीनता में बीत रहा था कि पिता की अप्रत्याशित मृत्यु की सूचना ने मानों शीशे पर पत्थर से मारा। सारे परिवार के पालन का भार पहाड़ होकर सर पर गिरा। इसकी परीशानी और चिंता ने मानों इनकी काव्य-कल्पना के स्रोत को ही सूखा कर दिया। किंतु फिर भी इन्होंने साहस न खोया। प्रायः फ़ैज़ाबाद ही में रहते थे। लखनऊ जाते थे तो पीर बुख़ारा में ठहरा करते थे। जहाँ रहते अपनी रचनाओं का क्रम जारी रखते। जैसे, एक लड़का आया। उसने कहा 'मीर साहिब, आठों का मेला है। हम वहाँ जायेंगे। एक ग़ज़ल कह दीजिए।" यह कहते, 'अच्छा भई, कह देंगे"। वह कहता, "मीर साहिब मेला तो कल ही है। अभी कह दीजिए।" बस उसी वक्त उसके लिये एक ग़ज़ल लिख दी। उसने कहा, "याद भी करवा दीजिए।" मीर साहिब उसे याद करवा रहे हैं। उन दिनों ग़ज़लें बिका करती थीं। मियाँ मस्हफ़ी तक अपनी रचनाएँ बेचते थे। यह भी लिख लिख कर बेच दिया करते थे।

एक दिन एक व्यक्ति इनकी एक बिकी हुई रचना में अपना उपनाम जोड़कर इनके पास पहुँचे और निवेदन किया कि इसको सुधार दीजिए। शेख़ साहिब ने ग़ज़ल को पढ़ कर उसकी ओर देखा और बिगड़ कर कहा, "अबे, तेरा मुँह है जो यह ग़ज़ल कहेगा? हम ज़बान पहचानते हैं। यह तो वही पीर बुख़ारा वाला है।"

Channai eGangotri

मीर 'ख़लीक़' दीवान के रचयिता थे सही। किंतु इन्होंने उसको अपनी काव्य रचना की परिपाटी नहीं बनाई। जो काव्य-कुशलता का धन और विषयों और कल्पनाओं की पूंजी उन्हें पूर्वजों से थाती के रूप में मिली थी, उसे अंत तक पाथेय के रूप में ख़र्च करते रहे। सदा मर्सिए कहते रहे। उसी में उनका नाम और ज़माने का काम चलता रहा। आप ही कहते थे और आप ही मजलिसों में पढ़ते थे। क़दरदान उन्हें आँखों से लगा लगा कर अपने साथ ले जाते थे।

सैय्यद इंशा दरियाए लताफ़त में जहाँ दिल्ली के कुलीन लोगों के रीत रिवाज का वर्णन करते हैं। वहाँ कहते हैं कि मर्सियाख्वानी के पेशे को लोग हीन दृष्टि से देखते हैं और यदि विचार कर देखा जाय तो अब भी लोगों में यही मनोवृत्ति है। मर्सियागोई के बारे में ऐसा कहा जाता है कि 'सौदा' और 'मीन' के समय में मियाँ सिकंदर, मियाँ गदा, मियाँ मिस्कीन, अफ़सुर्दा इत्यादि शायर मर्सिए ही कहते थे। उनकी रचनाओं को यदि देखें तो उनमें केवल धार्मिक व्यक्तियों से संबंधित रचनाएँ ही मिलती हैं। और ऐसा मालूम होता है कि उन बुज़ुर्गों का रचना-उद्देश्य केवल रोना और विलाप करना और उससे पुण्य-उपार्जन करना था। और इसमें संदेह नहीं कि इन धर्मनिष्ठ व्यक्तियों ने अपनी रचनाओं की प्रभावोत्पादकता में काफ़ी सफलता प्राप्त की। उनको शायरी की कला और साहित्य निर्माण से कोई विशेष प्रयोजन न था। मीर 'ख़लीक़' और उस समय के कुछेक और शायर थे। जिन्होंने मर्सियों को इन न्यूनताओं और निम्नताओं से निरसित कर उन्हें ऐसा चमका दिया कि जिस नजर से उच्चस्तरीय शायरों की रचनाएँ देखी जाती थीं, उसी नजर से लोग इन्हें भी देखने लगे। पहले मर्सिये भावमय राग से पढ़े जाते थे, लेकिन आगे चलकर सीधे स्वर में भी पढ़े जाने लगे।

मर्सियागोई (मर्सिया रचना) और मर्सियाख्वानी (मर्सिया पाठ) के संबंध में जो हवा बदली वह मीर ख़लीक़ के समय से ही बदली। पहले प्रायः मर्सिए चौपदे होते थे और हर चार मिस्रों के बाद अनुप्रास। यह रचना शैली अब परित्यक्त हो गई। एक शोकात्मक रचना ग़ज़ल के अंदाज में और फिर मर्सिये के लिये मुसद्दस की शैली, यही रचना-विधि लोगों ने स्वीकार किया। वह राग से और सीधे स्वर में दोनों तरह पढ़ा जाता था और जो ग़ज़ल मुस्तज़ाद की शैली के अनुसार कही जाती थी वह 'नौहा' कहलाती थी। उसे स्वर से ही पढ़ते थे। और यही ढंग अब तक प्रचलित है।

मीर 'ख़लीक़' और उनके कुछ समकालीन शायर जो सलाम या मर्सियों की रचना करते थे, उनमें धर्म पर क़ुर्बान होने वाले शहीदों की दारुण, व्यथापूर्ण अनुभूतियाँ और उसके साथ उनके गुण और चमत्कार की कहानियाँ इस सजीव और सुगम भाषा में रचनाबद्ध करते थे कि उन घटनाओं का चित्र सामने खिंच जाता था और शोकातुर हृदय का दर्द आँखों से आँसू होकर टपक पड़ता था।

उस समय मीर 'ज़मीर' एक मर्सियागो और मर्सियाख्वाँ थे। ये शेरों की रचना के अनुकूल रुचि के साथ साथ अरबी फ़ारसी इत्यादि में पूर्ण योग्यता संपन्न

थे। बड़े धर्मनिष्ठ और संयमी थे। आश्चर्य यह है कि इसके साथ इनके स्वभाव में शोख़ी और मस्ख़रापन भी इतना था कि मालूम होता था जैसे 'सौदा' की आत्मा इनके शरीर में प्रवेश कर गई हो। इन्होंने भी अपने इहलोक को परलोक के हाथ बेच डाला और ग़ज़ल इत्यादि की रचना से विरक्त हो गए। लोग भी इन दोनों महानुभावों ('ज़मीर' और 'ख़लीक़') को एक दूसरे का प्रतिद्वंदी बनाकर एक दूसरे पर चढ़ाने बड़ाने लगे। फिर तो इनकी रुचियाँ एक दूसरे पर घात प्रतिघात करके भाव और भाषा की नवीनताएँ पैदा करने लगीं।

उस समय तक मर्सिए ३० से ४५, हद से हद ५० बंदों तक लिखे जाते थे। मीर 'ज़मीर' ने एक मर्सिया लिखा :"

"किस नूर की मजलिस में मेरी जल्वा गिरी है"

इसमें शाहज़ादा अली अकबर की शहादत का वर्णन है। पहिले एक भूमिका से मर्सिए की रूपरेखा बाँधी। फिर सरापा लिखा। फिर युद्धक्षेत्र का मानचित्र दर्शाया और फिर शहादत के विवरण पर उसकी इति श्री की। चूँकि इस प्रकार की रचना शैली का यह पहली बार आविष्कार हुआ, इसलिये इसकी प्रशंसा दूर दूर तक फैली। सारे शहर में इसकी ख्याति फैल गई। और सभी दिशाओं से इसके लिये माँग हुई। मर्सियागोई में इस आविष्कार ने एक क्रांति सी ला दी। और अब पहले की शैली परित्यक्त हो गई। यद्यपि इन्होने शेर की पहली ही पंक्तियों में कह दिया था :—

दस में कहूँ सौ में कहूँ यह दर्द है मेरा,
इस तर्ज़ में जो कह्वे सो शागिर्द है मेरा ॥

फिर भी सब इसका अनुकरण करने लगे। यहाँ तक कि पहिले 'अमानत' ने और फिर अन्य शायरों ने वासोख़्त में भी सरापा का समावेश किया।

इस कालावधि में चार मर्सियागो लब्ध प्रतिष्ठ माने जाते थे——मीर 'ज़मीर', मीर 'ख़लीक़', मियाँ 'दिलगीर', मियाँ 'फ़सीह'। मियाँ 'दिलगीर' हकलाते थे, इसलिये मर्सियाख्वानी न करते थे। अपनी रचनाओं में भी उन्होंने मर्सिए की परिधि से आगे पाँव न बढ़ाया। मिर्ज़ा 'फ़सीह' हज (तीर्थ यात्रा) के लिये गए और वहीं बस गए। इस तरह मीर 'ज़मीर' और मीर 'ख़लीक़' के लिये मैदान ख़ाली रहा और इन्होंने अपनी रचनाओं में भाँति भाँति की उमंगें दिखाईं। दुनियाँ के तमाशबीन, जिन्हें इस प्रकार के ओजपूर्ण रूचियों की नोक-झोंक में मज़ा आता है, दोनों उस्तादों को तारीफें कर करके लड़ाते थे और मज़ा लेते थे। उनकी पारस्परिक नोक-झोंक से इन लोगों को साहित्यिक प्रेरणा मिलती थी और काव्य-रसिकता के रस का स्वाद भी मिलता था।

अपनी अपनी कलाओं के प्रदर्शन में दोनों उस्तादों की प्रवृत्तियाँ अलग-अलग थीं, क्योंकि मीर 'ज़मीर' अपनी व्यावहारिक विद्वत्ता और ओजपूर्ण रुचि के डैनों पर बड़ी

ऊँची उड़ान पर चले जाते थे और पूरे उतरते थे। मीर 'ख़लीक़' मर्सिएके राह को छोड़ कर शायद ही कभी अपने क़दम आगे बढ़ाते थे। उन्हें विषय-विविधता की चिंता कम रहती थी, किंतु ये मुहावरों के प्रयोग और मार्मिक विचारों को भाषा-लालित्य से परिवेष्टित, करके अपना उद्देश्य सफल करते थे और यह विशिष्ट गुण इनके कुल-परंपरा की देन थी। इनकी रचनाएँ श्रोताओं से 'सुभान अल्लाह' और 'वाह वाह' के नारों की बजाय आह भरे स्वरों की ही अपेक्षा करती थीं। लड़ने लड़ानेवाले तो कभी अपने हथकंडों से न चूकते थे, किंतु ये दोनों महानुभाव शिष्टता और सौजन्यता के नियमों से परिचित थे, इसलिये किसी तरह की अशोभनीय परिस्थिति से बचने के लिये कभी एक जल्से में दोनों भरसक एक साथ इकट्ठे न होते थे।

लेकिन अंत में एक शौकीन, लेकिन नेकनीयत शख्स ने रुपये के ज़ोर और अपने कुशल युक्ति से इन दोनों से इस नियम को तुड़वाया और वह भी केवल एक बार। बात ऐसी हुई कि नवाब शरफ़ुद्दौला ने अपने निवास स्थान पर एक मजलिस का आयोजन किया और सर्वसाधारण को इसकी सूचना दिलवा दी ? मजलिस से एक दिन पहले मीर 'ज़मीर' के मकान पर गए। साधारण बातचीत के बाद पाँच सौ रुपए का तोड़ा सामने रख दिया और कहा कि "कल मजलिस है। मर्सिया आप पढ़िएगा"। इसके बाद मीर 'ख़लीक़' के यहाँ गए। उनसे भी वही बात कही। लेकिन एक को दूसरे के निमंत्रण की सूचना न दी। लखनऊ जैसा शहर। निश्चित दिन हज़ारों हज़ार आदमियों की भीड़ इकट्ठा हो गई। एक बजे के बाद 'मीर ज़मीर' मिंबर (धर्म मंच) पर तशरीफ़ ले गए और मर्सिया पढ़ना शुरू किया। उनका पढ़ना क्या था, सुभान अल्लाह। मर्सिया नज़्म में थी और उस पर नस्र के बेलबूटें। कभी रूलाते थे और कभी तहसीन और आफ़रीन (साधुवाद और धन्यवाद) की ध्वनि से महफिल गूँज जाती थी। उसी समय मीर 'ख़लीक़' भी पहुँचे और परिस्थिति को देख कर हैरान रह गए। और मन में कहा "आज तो मेरी लाज भगवान् के हाथ है।" मीर 'ज़मीर' ने जब इन्हें देखा तो और अधिक फैले और मर्सिए को इतना तूल दिया कि बस लोगों की आँखों में आँसू और होठों पर सुभान अल्लाह। यहाँ तक कि लगभग सारी रात बिता दिया। मीर ख़लीक़ के लिये वक्त तक न छोड़ा। निकलते सूरज की किरनें झिलमिलाने लगीं।

वह अभी मिंबर से उतरे भी न थे कि चोबदार मीर 'ख़लीक़' के पास आया और निवेदन किया कि नवाब साहिब फ़र्माते हैं कि ये लोग मौजूद हैं। आप भी कुछ सुनाएँ। इस समय इनके पक्ष वाले इसके लिए बिल्कुल सहमत न थे। किंतु भगवान् के भरोसे यह उठ खड़े हुए और मंच पर जाकर बैठ गए। कुछ क्षण ठहरे। आँखें बंद किए मौन बैठे रहे। इनकी गोरी रंगत। शरीर क्षीण और अशक्त। नहीं मालूम होता था कि शरीर में रक्त की बूँद है कि नहीं। जब इन्होंने रुबाई पढ़ी तो लोगों को इनका स्वर भी ठीक से सुनाई न दिया। कुछ मर्सिए के बंद भी इसी दशा में गुज़र गए, किंतु जल्द ही इस कुशल कलाकार ने रंग बदला।

और इसके साथ ही महफ़िल का भी रंग बदल गया। आहों का धुआँ बादल की तरह छा गया। और लोगों के विलाप और क्रंदन ने आँसू बरसाना शुरू किया। पंद्रह बीस बंद पढ़कर उतर आए। मजलिस के लोग कुछ ऐसे सकते में थे, ऐसे बेसुध हो गए थे कि जब आँख उठा कर देखते हैं तो मंच ख़ाली। उन्हें यह पता ही न चला कि मीर 'ख़लीक़' साहिब किस समय मंच से उतर आए। दोनों की काव्य-कुशलता को उपयुक्त मान्यता मिली। और दोनों पक्ष वाले संतुष्ट अपने अपने घरों को वापस गए।

इस क़िस्से को मैंने मीर हसन 'फ़िराग़' की ज़बानी सुना था। लेकिन मीर अलीहसन 'अश्क', जो स्वयं 'नासिख़' के शागिर्द हैं, उनकी कही हुई मौलवी शरीफ़-हसन ख़ाँ साहिब ने बयान किया कि लखनऊ में एक ग़रीब किंतु धर्मनिष्ठ व्यक्ति बड़े शौक़ से मजलिस किया करता था। और उसके लिहाज़ से लखनऊ का हरेक नामी मर्सियाख्वाँ और प्रतिष्ठित व्यक्ति उसके जलसों में शामिल होते थे। उपर्युक्त घटना उसी के घर पर हुई थी और मीर 'ज़मीर' के इशारे से हुई थी। मीर 'अश्क' कहते थे कि मीर 'ख़लीक़' ने अपने पिता की मृत्यु के बाद कुछ दिनों बड़े कष्ट से जीवन बिताया। परिवार फ़ैज़ाबाद में रहता था। आसफ़ुद्दौला लखनऊ में रहने लगे। उनके कारण सभी धनीमानी लोग यहीं रहने लगे। मीर ख़लीक़ लखनऊ आते थे। वर्ष भर में तीन चार सौ रुपए कमा करके ले जाते थे और उसे बाल बच्चों के लालन-पालन में ख़र्च करते थे। उस समय इनकी दशा ऐसी थी कि मर्सियों का बस्ता बग़ल में लिया और लखनऊ चले आए। यहाँ एक टूटी फूटी इमारत खाली पड़ी रहती थी, उसमें आकर उतरते थे। उपर्युक्त घटना इस प्रकार बयान करते हैं कि एक बार मीर ख़लीक़ लखनऊ आए। उसी टूटे हुए घर में उतरे। बिस्तर रख कर आग सुलगाई थी। आटा गूँध रहे थे कि वही महानुभाव, जिनकी चर्चा ऊपर की गई है, हाथ जोड़ कर सामने आ खड़े हुए और कहा कि "हुज़ूर, मजलिस तैयार है। मेरे अहोभाग्य कि आप आ गए हैं। कृपाकर चलिए और मर्सिया पढ़ दीजिए"। यह उसी तरह उठ खड़े हुए। और हाथ धो, बस्ता ले उनके साथ हो लिए। वहाँ आकर देखे तो मीर 'ज़मीर' मंच पर बैठे हुए हैं। वहीं यह मुठभेड़ हुई और उसी दिन से मीर 'ख़लीक' ने मर्सियाख़्वानी में ख्याति पाई।

मीर 'ख़लीक़' की रचना-शैली, मुहावरों का सुंदर प्रयोग और भाषा-लालित्य वहीं समझ लो जो, आज मीर 'अनीस' के मर्सियों में देखते हो। केवल अंतर इतना ही है कि 'ख़लीक़' की विशिष्टता शोक अभिव्यंजना और घटनाओं के मार्मिक वर्णन में थी। 'अनीस' के मर्सियों में भूमिकाएँ, विषय-सामग्री और रचना-कौशल 'ख़लीक़' से बढ़चढ़ कर हैं। उनके मर्सियाख़्वानी का हाव-भाव और स्वर की माधुरी देखने और सुनने योग्य थी। अंगों की हरकत से बिल्कुल काम न लेते थे। केवल बैठने के ढंग और नेत्रों की भाव भंगिमा का प्रयोग करते थे। उसी में इनकी मार्मिकता की चरम अभिव्यक्ति हो जाती थी। मीर 'अनीस' को भी मैंने मर्सिया पढ़ते हुए देखा। बस कभी ज़रा उनका हाथ

उठ जाता या गर्दन हिल जाती या आँखों में पुतलियों की हरकत ही अपना काम कर जाती। वर्ना उनकी रचना ही अपने सारे मर्म का इज़हार कर देती थी।

मीर 'ख़लीक़' ने बुढ़ापे के कारण आख़ीर उम्र में मर्सिया पढ़ना छोड़ दिया था। शायरों की कल्पना दैवी प्रेरणा से उभरती है, ऐसा कहा जाता है। इसीलिए वे 'शागिर्दे इलाही' कहे जाते हैं और इसी वजह से उनकी तबीयत में स्वाभिमान और आवेश औरों से अधिक होता है। उस समय मीर अनीस की मर्सियाख्वानी का सूर्य उदयाचल पर दिखाई पड़ने लगा था। जब कोई आकर उनसे अनीस की तारीफ़ करता कि आज अमुक मजलिस में कितनी अच्छी मर्सियाख्वानी की या अमुक नवाब के यहाँ सारे मजलिस को लौटा दिया तो उन्हें यह सुनकर खुशी नहीं होती थी। अनेक बार ऐसा हुआ कि बुढ़ापे की ऐसी ही शक्तिहीन और ओजविहीन दशा में मंच पर जा बैठे और मर्सिया पढ़ा। उनका मतलब यह था कि लोगों को यह दिखाएँ कि उस गई गुज़री दशा में भी कोई उन्हें हीन और अक्षम न समझे।

'ख़लीक़' साहिब बुढ़ापे का दुःख झेलते हुए संसार से चल बसे। मैं उससमय कम उम्र था, किंतु उनका एक शेर, जो उन्होंने अपने जीवन के अंतिम वर्ष में लिखा था और दिल्ली भेजा था, मुझे अच्छी तरह याद है :--

मुजराई-तब्अ कुंद है, लुत्फ़े बयां गया,
बंदा गया कि जौहरे-तेग़े-ज़बां गया ॥

इनके एक दो शेर बुढ़ापे की शिकायत में और हैं :--

गुज़री बहारे उम्र 'ख़लीक़' अब कहेंगे सब,
बाग़े जहाँ से बुलबुले हिंदोस्ताँ गया ॥

जीवन के अंतिम काल में वे कमज़ोरी के कारण मर्सिये न पढ़ते थे। लेकिन जो स्वाभाविक शायर होते हैं, उनकी ज़बान कब रुकती है। अपनी स्त्री की मृत्यु के बाद तो मानो उन्होंने अपने घर का दरवाजा ही बंद कर दिया। तीन लड़के थे--अनीस, मूनिस और उन्स। मीर 'ख़लीक़' बराबर दौरे पर रहते थे। दस दस पंद्रह दिन हर एक के यहाँ डेरा डाल देते थे। कहीं जाते आते भी न थे। पलंग पर बैठे रहते थे और लिखे जाते थे। किसी मनोरंजक विषय का आभास मिला, उसके आधार पर सलाम कहने लगे। दिल लग गया तो पूरा किया। नहीं तो कुछ शेर कहे और छोड़ दिया। कोई सुंदर भूमिका सूझी, मर्सिये का प्रारूप बाँधा। जितना हुआ उतना हुआ। जो रह गया रह गया। किसी सुनी हुई घटना को पद्यबद्ध करना शुरू कर दिया। घोड़े पर कोई मज़मून ध्यान में आया, वही कहते चले गए। कभी तबीयत आ गई तो तलवार की तारीफ़ करने लगे, वग़ैरह, वग़ैरह। यह भी इनका एक नियम था कि जो कुछ जिसके घर में कहते थे, वह उसी के घर में छोड़ कर चले आते थे। यह पूंजी 'मीर उन्स' के पास सबसे अधिक मात्रा में छोड़ी। यह उन्हीं के पास ज्यादा रहते थे, क्योंकि उनकी बीवी अपने बूढ़े ससुर के भोजन, और

Chennai eGangotri

सूखपूर्वक रहने की सामग्री इत्यादि की सुविधा की व्यवस्था ध्यानपूर्वक करती और उन्हें अपने पास अच्छी तरह रखती थीं।

मुहावरे के विचार से इनकी, बल्कि इनके घराने की ज़बान सब कोई प्रामाणिक मानते थे। शेख़ 'नासिख़' की न्यायप्रियता और गुणग्राहकता जैसे गुणों पर साधुवाद के फूल चढ़ाना चाहिए। मीर 'ख़लीक़' उनके प्रतिद्वंदी होने पर भी अपने शागिर्दों से कहा करते थे कि 'भई, ज़बान सीखनी हो तो मीर 'ख़लीक़' के यहाँ जाया करो'। और इसके अतिरिक्त उनके अन्य गुणों की भी प्रशंसा करते रहते थे और कहा करते थे। इनके तीनों बेटे होनहार हैं। देखना खूब होंगे।"

मीर 'ख़लीक़' मुहावरों के उपयुक्त प्रयोग के इतने पाबंद थे कि इनकी प्रयोग-कुशलता का समर्थन करने की जगह कुछ लोगों ने उसमें कमइल्मी का दोष लगाया। इन्होंने शाहज़ादा अली असग़र के वृत्त में एक जगह लिखा कि नितांत जलाभाव की दशा में उन्हें तेज़ प्यास लगने के कारण मूर्छा आ गई। आँख खुली तो उनकी पूजनीया माता ने लीलाफ़ पढ़ी और उसे दूध पिलाया।" उनकी निंदा करनेवाले आठ पहर ताक में रहते थे। किसी ने यह मिस्रा नासिख़ के सामने जाकर पढ़ा। उन्होंने कहा, 'नहीं, यों पढ़ा होगा——"पढ़ पढ़ के लायलाफ़ उसे दूध पिलाया।"

मीर अनीस कहते थे कि एक बार वालिद मेरे घर में तशरीफ़ रखते थे। मैं एक मर्सिये में उस घटना को पद्यबद्ध कर रहा था, जब जनाब इमाम आँ हुसैन बचपन में सवारी के लिये ज़िद कर रहे थे। जनाब आँहज़रत (हज़रत मुहम्मद) तशरीफ़ लाए और इसलिये कि उनके प्यारे नवासे (पुत्रीपुत्र) का दिल छोटा न हो। खुद झुक गए कि आओ सवार हो जाओ। इस प्रसंग में दूसरा मिस्रा तो कह लिया था "अच्छा सवार हूजिए हम ऊँट बनते हैं।" मैं पहले मिस्रे के लिये उधेड़बुन में लगा था। जैसा कि दिल चाहता था ठीक न बैठता था। वालिद ने मुझे चिंतित देखकर पूछा 'क्या सोच रहे हो?' मैंने उन्हें फ़र्माया, 'यह मिस्रा लगा दो' और ज़रा भाषा की मिठास को तो देखो :——

'जव आप रूठते हैं तो मुश्किल से मन्ते हैं,
अच्छा सवार हूजिए हम ऊँट बन्ते हैं।।'

अफ़सोस है कि इनकी कोई पूरी ग़ज़ल उपलब्ध न हुई। दो शेर याद हैं। वही लिख देता हूँ :——

अश्क जो चश्मे खूँ फ़िशां से गिरा,
था सितारा कि आस्माँ से गिरा।
हँस दिया यार ने जो रात 'ख़लीक़',
खा के ठोकर उस आस्तां से गिरा।।

+ + +

ख़्वाजा हैदर अली 'आतिश'

इनका 'आतिश' उपनाम और ख्वाज़ा हैदर अली नाम था। पिता दिल्ली के रहने वाले थे। लेकिन लखनऊ में जाकर बस गए थे। ये ख्वाज़ाज़ादों के ख़ान्दान के थे, जिसमें एक परंपरागत फ़क़ीरी गद्दी भी क़ायम थी और पीरी और मुरीदी का सिल्सिला भी अभी तक क़ायम था। किंतु इन्होंने शायरी को ही अपने जीवन के ध्येय के रूप में अपनाया और अन्य कुलरीतियों को छोड़ कर उसमें से केवल स्वच्छंदता और बेफ़िक्री को ही अपना सहचरी बनाया। ये मस्हफ़ी के शागिर्द थे और सच तो यह है कि 'आतिश' की 'आतिश बयानी' (ज्वलंत रचनाओं) ने उस्ताद के कीर्ति को और अधिक प्रज्वलित किया। बल्कि इनकी रचनाओं की ऊष्मा और प्रकाश से उस्ताद-शागिर्द की रचनाओं में अंधेरे उजाले का अंतर मालूम पड़ने लगा

जीवन के आरंभकाल से ही, जिस समय इन्हें भाषा और काव्य-कला-संबंधी व्यावहारिक ज्ञान भी पर्याप्त मात्रा में न था, ख्वाज़ा आतिश की रुचि-प्रियता मुशायरों में कमाल दिखाने लगी। मित्रों के आग्रह से कुछ कोर्स की किताबें देखीं। अरबी में क़ाफ़िया को काफ़ी समझ कर आगे बढ़ना फ़िज़ूल समझा। लेकिन अभ्यास से अपनी रचनाओं को पुष्ट करते रहे। यहाँ तक कि अंत में अपने समय के न केवल स्वयं एक प्रमुख साधनक्षम और अभ्यस्त उस्ताद हो गए, बल्कि इनके सैकड़ों शागिर्द उनसे शिक्षा दीक्षा पाकर उस्ताद कहलाए। छरहरा बदन, खुलता हुआ डील-डौल, सीधे-सादे, भोले-भाले आदमी थे। फक्कड़ों जैसी वेशभूषा रखते थे और इसलिये कि ख़ानदानी मुहर भी क़ायम रहे उसपर कुछ रंग फ़क़ीरी का भी चढ़ाए रखते थे। साथ ही साथ बुढ़ापे तक तलवार बाँध कर सिपाहियाना बांकपन को निबाहते रहे। सर पर ज़ुल्फ़ और कभी कभी हैदरी पगड़ी रहती थी। क्योंकि यह भी मुहम्मदशाही बाँकों का एक निशान था। उसी में एक हरी कलंगी भी लगाए रहते थे। इस तरह अपनी अनौपचारिक धज बनाए हुए बेफ़िक्र जीवन व्यतीत करते थे। एक टेढ़ी टोपी भौं पर धरे जिधर चाहा निकल गए। बाली ख़ाँ की सराय में एक पुराना सा मकान था, वहीं रहते थे। इस मुहल्ले से परे एक और उनके मन बहलाने के लिये एक जंगल था। वहीं निर्जन स्थानों में अकसर फिरते रहते थे। अस्सी रुपया महीना लखनऊ के बादशाह के यहाँ से मिलता था। पंद्रह रुपये घर में देते थे और बाक़ी ग़रीबों और मोहताजों को खिला पिला कर महीने से पहले ही साफ़ कर देते थे। फिर भगवान भरोसे। मगर शागिर्दों या शहर के धनी मानी व्यक्तियों से अगर कुछ उपहार स्वरूप मिलता था तो उसे अस्वीकार नहीं करते थे। इस दशा में भी दरवाज़े पर एक घोड़ा जरूर बँधा रहता था। इसी तरह कभी चैन से कटती थी कभी कभार एक आध फ़ाक़ा भी हो जाता था। जब शागिर्दों को इसकी सूचना मिलती तो उनमें हर एक कुछ न कुछ लेकर हाज़िर हो जाता और कहता कि "आप हमको अपना नहीं समझते कि कभी अपने हालचाल की ख़बर भी नहीं देते।" जवाब में ये कहते कि 'तुमलोगों ने तो

खिला खिला कर हमें लालची बना दिया है।' मीर दोस्त अली 'ख़लील' को ऐसी सेवा का सौभाग्य प्रायः मिल जाया करता था। फ़क़ीर मुहम्मद ख़ाँ 'गोया' जो शेख़ साहिब के शागिर्द, ख्वाजा वज़ीर के शागिर्द थे पचीस रुपए महीना देते थे। सैय्यद मुहम्मद ख़ाँ 'रिंद' की ओर से भी एक साधारण सी भेंट पहुँच जाती थी।

समय ने उनके काव्यचित्रों का केवल आदर ही नहीं किया उनकी पूजा भी की। किंतु उन्होंने लोगों के इस संमान और प्रतिष्ठा को बाहरी दिखावे का साधन न बनाया। न अमीरों के दरबार में जाकर ग़ज़लें सुनाई, न उनकी प्रशंसा में क़सीदे कहे। एक टूटे फूटे मकान में जिस पर कुछ छत कुछ छप्पर की छाया रहती थी, बोरिया बिछा रहता था। उसी पर एक लुंगी बाँधे संतोष के साथ बैठे रहते थे। और इस थोड़े दिनों की ज़िंदगी को इस तरह गुज़ार दिया, जैसे कोई अनपेक्ष, स्वच्छंद और बेपर्वाह फ़क़ीर अपनी कुटिया में बैठा होता है। कोई साधारण हैसियत का या ग़रीब आदमी आता तो उसकी ओर मुँह करके बातें भी कर लेते थे। कोई धनी व्यक्ति आता तो उसे दुत्कार भी देते। वह सलाम करके खड़ा रहा कि यह आज्ञा दें तो वह बैठे। यह कहते, 'हूँ, क्यों साहिब, बोरिए को देखते हो। इस पर कपड़े मैले हो जाएँगे। यह तो फ़क़ीर का तकिया है। यहाँ मस्नद तकिया कहाँ? और मस्नद तकिया रखना मेरे उसूल के खिलाफ़ है। मेरी शान तो इसी बोरिए से जुड़ी हुई है। परिणामस्वरूप जनसाधारण ने इनकी प्रतिष्ठा की और इन्हें मान्यता दी। विद्वान् शायरों से कंधा मिलाकर चले। अमीर से ग़रीब तक उसी फ़क़ीरी तकिए में आकर इन्हें सलाम कर गए :—

ऐ हमाँ पेशे फ़क़ीरी सल्तनत क्या माल है,
बादशाह आते हैं पावोसे-गदा के वास्ते ॥

सन् १२६३ हि० में एक दिन भले चंगे बैठे थे, अकस्मात मृत्यु का एक ऐसा झोंका आया कि दीप शिखा की तरह बुझकर रह गए। 'आतिश' (आग) के घर में राख के ढेर के सिवा क्या होना था? मीर दोस्त अली 'ख़लील' ने अंतः-क्रिया की व्यवस्था की और शोकसूचक सभी रस्मों का बड़ी अच्छी ढंग से प्रबंध किया। बीबी और एककमउम्र लड़की परिवार में थे, उनकी भी देख-भाल और पालन-पोषण करते रहे।

मीर अली औसत 'रश्क' ने इनके मृत्यु पर तारीख़ लिखी :—

'ख्वाजा हैदर अली ऐ वा मुरंद'

उनके सारे जीवन की कमाई, जिसे उनके शाश्वत जीवन का मोल कहना चाहिए, एक ग़ज़लों का दीवान है, जो कि उनके जीवन काल में ही प्रकाशित हो गया था। उससे बचे हुए अंश का इनके पीछे संग्रहीत और संपादित किया गया। इनकी ग़ज़लें सचमुच उर्दू के मुहावरों के प्रयोग के लिये प्रामाणिक रचनाएँ हैं और हिंदोस्तान में साहित्य रचना के उत्कृष्ट नमूने हैं और शिष्टवर्ग की बोलचाल के अंदाज

Gangotri eGangotri

का उनसे पता चलता है। जिस तरह लोग बातें करते हैं, उसी तरह उन्होंने शेर कह दिए हैं। इनकी रचनाएँ सुशिक्षित वर्ग को भी रुचीं और साधारण वर्ग में भी लोकप्रिय हुईं। और न केवल अपने शागिर्दों में, बल्कि निष्पक्ष काव्यप्रिय व्यक्तियों ने भी उन्हें स्वीकार किया और उनकी प्रशंसा की। इसका प्रमाण इससे अधिक क्या हो सकता है कि बारंबार उनके नए संस्करण छपते हैं और बिक जाते हैं। उनकी रचनाएँ अक्सर शायरों के जलसों में पढ़ी जाती हैं और आशिक़ाना ग़ज़लें संगीत-बद्ध होकर महफ़िलों को गर्माती हैं।

'आतिश' शेख़ इमाम बखश 'नासिख़' के समकालीन थे। मुशायरों में और घर बैठे भी बराबर इनमें नोक-झोंक चलती रहती थी। दोनों के ढेरों पृष्ठपोषक थे। जलसों को मुठभेड़ का अखाड़ा और मुठभेड़ों को हंगामा बनाते थे। लेकिन इतनी ही खैरियत थी कि ये दोनों महानुभाव मिर्जा 'रफ़ी' और सैय्यद 'इंशा' की तरह हाथापाई न करते थे। कभी भी इनकी गहरी नोंक झोंक की जो बातें कही जाती हैं उन पर विश्वास नहीं होता। ख़्वाजा 'आतिश' ने जब शेख़ नासिख़ की ग़ज़लों की जोड़ तोड़ में लगातार ग़ज़लें लिखीं तो उन्होंने कहा :—

एक जाहिल कर रहा है मेरे दीवाँ का जवाव,
बू मसीलम ने लिखा था जैसे क़ुरआँ का जवाव ॥

उसके उत्तर में ख़्वाजा साहिब ने कहा :—

क्यों न दे हर मोमिन उस मुल्हिद के दीवाँ का जवाव,
जिसने दीवाँ अपना ठैराया है कुरआँ का जवाव ॥

ख्वाजा साहिव की रचनाओं में नित्यप्रति की बोलचाल और मुहावरों का प्रयोग बड़े रोचक ढंग से किया गया है और यह बात शेख़ साहिव की रचनाओं में उस स्तर तक नहीं पहुँचती। शेख साहिब के पक्षधर इस बात को एक और ढंग से कहते हैं। और वैसे ही है, जैसे चने की दाल पर एक पूरे शिकारगाह का तस्वीर बना देना। या एक चावल के दाने पर कुरआन की एक कोई आयत लिख देना। और फ़ायदा देखो तो कुछ भी नहीं। इसीलिये जो समझदार लेखक हैं, वह अपने भाव को व्यक्त करने के लिये रचना की भाषा और शैली को सुगम बनाने का प्रयत्न करते हैं। उसी में कोई नई बात निकल आई तो निकाल ली। ऐसे ऊंचे न जाएंगेसि ऊँचाई में अंतर्ध्यान हो जायँ और देखने सुनने वाले मुँह देखते रह जायँ। हाँ, कभी ऐसा भी होता है कि इनके शैली की जटिलता और शब्दों की बारीकी और तारीकी (सूक्ष्मता और अस्पष्टता) की गहराई में किसी बेशकीमत रत्न का भ्रम हो जाता है। लेकिन जरा पैठ के देखिए तो मामूली घोंघे की तरह सीधी सी बात होती है, जिसके लिए उनके

निंदक 'कोह कुंदन ओर काह बरावुर्दन' (पहाड़ खोदा और तिनका निकला) वाली कहावत का मिसाल देते हैं। मगर सच तो यह है कि मज़ा दोनों ही में मिलता है।

गुल्हाए रंग रंग से है ज़ीनते चमन,
ऐ 'ज़ौक़' इस जहाँ को है ज़ेब इख्तलाफ़ से ।।

शेख़ साहिब के अनुयायी ख्वाजा साहिब के प्रयोग किए गए कुछ शब्दों के बारे में आपत्ति करते हैं। कहते हैं कि जब उन्होंने यह शेर पढ़ा :—

दुख़तरे–रज़ मेरी मूनिस है मेरी हमदम है,
मैं जहाँगीर हूँ वह नूरजहाँ बेगम है।।

लोगों ने कहा कि 'हुजूर, बेगम तुर्की शव्द है। तुर्की भाषा भाषी 'गाफ़' पर पेश बोलते हैं। और फ़ारसी भाषा के नियभ के अनुसार भी यही शुद्ध है।' वह उस समय भंगियाए हुए बैठे थे। कहा कि "हुँह, हम तुर्की नहीं बोलते। जब तुर्की बोलेंगे तो 'बेगुम' कहेंगे।"

इसी तरह जब उन्होंने यह मिस्रा कहा :—

'इस ख़्वान की नमिश कफ़े मारे सियह है'

लोगों ने कहा, "क़िबला, नमिश लफ्ज फ़ारसी का है और सही लफ्ज 'नमश्क' है।" उन्होंने कहा कि 'जब फ़ारस में जाएँगे तो हम भी 'नमश्क' कहेंगे। यहाँ सब 'नमिश' कहते हैं, इसलिये नमिश ही शेर में बाँधना चाहिए।"

"पेशगी दिल को जो देले वह इसे तहसीले,
सारे सरकारों से है इश्क की सरकार जुदा"।

इसके विपक्षियों ने कहा कि 'पेशगी' तरकीव फ़ारसी से है। किंतु जब फ़ारसी वे कहते हैं कि ख़्वाजा साहिब के यहाँ केवल बातें ही बातें हैं। उनकी रचनाओं में रेख्ते की प्रौढ़ता, शैली की गंभीरता और शेरों के विषयवस्तु की सुष्ठुता का अभाव है। इन आरोपों के आधार पर ये इनमें योग्यता और विद्वत्ता की कमी प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। किंतु इस प्रकार की आलोचना नितांत तथ्यहीन है। ख़्वाजा साहिव के पक्ष वाले भी शेख़ साहिब के शेरों के अर्थ का अनर्थ करते हैं। मैंने स्वयं दीवाने आतिश को देखा है। इनकी रचना में गहन विषयों का अभाव हो ऐसा नहीं है। हाँ, उनकी वर्णन-शैली सुगम है। सीधी सी बात को पेंच नहीं देते। रचना में कहीं कहीं फ़ारसी के उपमा और अलंकार भी हैं। किंतु वे सुबोध हैं और साथ साथ उन्होंने मुहावरे अपने ही प्रयोग किए हैं। सच तो यह है कि उनका यह गुण एक ईश्वरीय देन है, जिसे कि उनके विपक्षी अपनी हठधर्मी के कारण एक ऐब बताते हैं। किसी रचना को उपमा और अलंकार से विभूषित करना सरल है, किंतु भाषा और मुहावरों के प्रयोग से भाव को इस सुबोध और सरल ढंग से प्रस्तुत करना, जिससे सुननेवालों के हृदय पर उसका प्रभाव हो, यह अत्यंत कठिन है।

शेख़सादी की गुलिस्ताँ में भाषा या अर्थ की कोई विशेष गहनता अथवा गंभीरता नहीं है। न उसमें विचारों की सूक्ष्मता है। न कुछ गूढ़ अंर्तविषय ही हैं। न हीं जटिल उपमाएँ हैं। न अलंकृत शब्दोक्तियाँ हैं। छोटी छोटी कहानियाँ है। साफ़ साफ़ बातें हैं। फिर भी आज तक इस काव्यकृति का जवाब नहीं। मीना बाज़ार और पंजशक़्क़ा की शैली में सैकड़ों पुस्तकें मौजूद हैं। यदि इस संबंध में ध्यान से सोचें तो ऐसा मालूम होता है कि जो शायर कल्पना के डैनो पर उड़ने और सूक्ष्म विचारों का हवाई महल बनाने का मज़ा लेना चाहते हैं, वह पहिले तो यह चाहते हैं कि कुछ ऐसे नए विषय को रचनाबद्ध करें, जो अब तक अछूते हैं। लेकिन जब पुराने लोगों की रचनाओं से कोई बात बची हुई नहीं देखते तो विवश होकर उन्हीं के विषयों में बारीकी निकाल कर उन्हें चूहों की तरह कुतरने लगते हैं। और ऐसी महीन और रोचक बातें पैदा करते हैं कि उन्हें ध्यान देकर पढ़ा जाय तो बस मज़ा आ जाता है। फूलों के बजाय फूलों के रंगों से रंगीनी पैदा करने की कोशिश करते और रंगेबेगुल से रंगते हैं। आईना से उसकी सफ़ाई उतार लेते हैं, उसमें प्रतिबिंबित आकृति से उसकी विस्मयसूचक मुद्रा निकाल लेते हैं और आईना फेंक देते हैं। अंजनसार नेत्रों की भंगिमा से निःस्वर शब्दों में बातचीत करते हैं। इन बातों से उनकी रचनाओं में काल्पनिक मृदुलता और रोचकता का समावेश तो जरूर होता है और लोग भी वाह वाह करने के लिए तैयार हो जाते हैं, परंतु कठिनाई इस बात की होती है कि उनके अनाकार भावों को व्यक्त करने के लिए ऐसे शब्द नहीं मिल पाते कि कहनेवाला कहे और समझनेवाला साफ़ साफ़ समझ जाय। इसलिये ऐसी रचनाएँ प्रभावक और मर्मस्पर्शी नहीं होतीं। और खेद का विषय तो यह है कि इस ढंग की रचनाएँ जनसाधारण के समझ से परे होती हैं। निस्संदेह यह अत्यंत कठिन साहित्यिक प्रविधि है।

वाले इसका प्रयोग नहीं करते। इन्होंने कहा कि "हमारा मुहावरा यही है।"

यहाँ तक तो इनके विपक्षियों की आपत्तियाँ असंगत अथवा सारहीन कही जा सकती हैं। किंतु कहीं कहीं इनके विपक्षी इनके शब्द प्रयोग पर जो आक्षेप करते हैं, उसे केवल छिद्रान्वेषण नहीं कह सकते। इनके दीवान में एक ग़ज़ल है जिसके अनुप्रास हैं, 'साफ़ हुआ', 'माफ़ हुआ', 'ग़लाफ़ हुआ'। इसमें कहते हैं :—

ज़ह परहेज हो गया मुझको,
दर्द दरमाँ से अल्मुज़ाफ़ हुआ ॥

इस ठोकर खाने का कारण यह मालूम होता है कि जनसाधारण 'अल्मुज़ाअफ़' को 'अल्मुज़ाफ' उच्चारण करते हैं। इसलिए वह इसके सही प्रयोग के बारे में धोखा खा गए।

ख़्वाजा साहिब शायद 'हल्वा' को 'हल्वः' समझे इसलिए कहते हैं :—

लाले-शकर-बार का बोसः मैं क्योंकर न लूँ।
कोई नहीं छोड़ता हल्वः बेदूद को ॥

कुफ्फ़ारः में भी जन साधारण 'फ़' एक ही बोलते हैं इसलिये ख़्वाजा साहिब ने भी कह दिया :—

रंग ज़र्द व लबे खुश्क व मुजः खूँ आलूद,
कुश्तए इश्क हैं हम है ये कुफ़ारः अपना ।।
लिखे हैं सरगुज़श्ते दिल के मज़ामूँ यक क़लम इसमें,
तमाशा क़त्लगह का है मुताला॰ मेरे दीवां का ।।
कशाकश दम की मारे आस्तीं का काम करती है,
दिले बेताब को पहलू में इक गुर्गे-बग़ल पाया ।।

उनके विपक्षी कहते हैं कि 'बग़ली घूंसा' उर्दू का मुहावरा है । 'मारे आस्तीन' फ़ारसी का मुहावरा है । गुर्गे बग़ल के लिये फ़ारसी भाषा का प्रमाण चाहिए ।

चार अब्रू में तेरी हैरां है सारे खुश्नवीस,
कि क़लम का क़त्अ है यह कातिबे-तक़दीर का ।।

यहाँ 'चार अब्रू' चेहरे के अर्थ में प्रयोग किया गया है । उर्दू के मुहावरे में 'चार अब्रू' शब्द बग़ैर 'सफ़ाई' के प्रयोग नहीं आता, जिससे तात्पर्य यह है कि अब्रू (भौं), रीश (दाढ़ी), व बुरुत (मूंछ) को सफाचट कर दें और इस मुहावरे का प्रयोग कंगालों और फ़क़ीरों के लिये ही होता है न कि माशूकों के लिये । सैय्यद इंशा ने क्या खूब कहा है :—

एक बेनवा के लड़के पे मरते हैं शेख़ जी,
आशिक़ हुए हैं वाह अजब लुंडमुंड पर ।।

'आतिश' कहते हैं :—

बहारे गुलिस्ताँ की है आमद आमद,
खुशी फिरते हैं बाग़वाँ कैसे कैसे ।।

'खुशी फिरते' के स्थान में 'खुश फिरते' चाहिए था ।

लअबबाज़ी की भी हसरत न रहे ऐ आतिश,
मेरे अल्लाह ने बाज़ीचए-तन मुझको दिया ।।
भला देखें तो गोबाज़ी में सबक़त कौन करता है,
इधर हम भी हैं तौसन पर उधर तुम भी हो तौसन पर ।।
अब्रूए यार का है सर में जिन्हों के सौदा,
रक़्स वह लोग किया करते हैं तलवारों पर ।।
नहीं ग़म तेग़े अब्रूये सनम से क़त्ल होने का,
शहादत भी बमंज़िल फ़तह है मर्दे ग़ाज़ी को ।।

सौदाई जान कर तेरी चश्में सियाह का,
ढेले लगातें हैं मुझे दीदे-ग़ज़ाल के ।।

इनके प्रतिपक्षी इनकी कुछ और मुहावरों पर भी एतराज करते हैं। उदाहरण के लिये ख्वाजा साहिब फ़रमाते हैं :—

कुदरते हक़ है सबाहत से तमाशा है वह रुख़,
ख़ाले मिस्कीं, दिले फ़िरऔन यदे बैज़ा है वह रुख़ ।।

काँपता है आह से मेरी रक़ीबे सियाह,
अज़दहा फ़िरऔं को मूसा का असा मालूम हो ।।

चख़ के याक़ूतिए लब को तेरी बेखुद हुए हम,
नशाए माजूँन में मये-होशे-रुबा का निकला ।।

हाले मुस्तक़बिल नजूमी उससे करते हैं वयां,
ज़ाईच भी नक़ल है पेशानी की तहरीर का ।।

+ + +

जो कि क़िस्मत में लिखा है जान होवेगा वही,
फिर अबस काहे को तल्अ-आज़माई कीजिए ।। नामालूम

रात भर आँखों को इस उम्मीद पर रखता हूँ बंद,
ख्वाब में शायद कि देखूँ तालिए-बेदार को ।। आतिश

बंद आँखें किये रहता हूँ पड़ा,
ख़्वाब में आये नज़र तो कोई ।। जुर्अत

दौलते इश्क का गंजीनः वही सीनः है,
दाग़े दिल, जख्मे जिगर, मुहरो निशां है कि जो था ।। आतिश

गौहरे मख़्ज़ने-इसरार हमानस्त कि बूद,
हक्क़ये मेहर वदां मेहरोनिशांन्नस्त कि बूद ।। ख़्वाजाहाफ़िज़

आँखें नहीं हैं चेहरे पे तेरे फ़कीर के,
दो ठीकरे हैं भीक के दीदार के लिये ।। आतिश

कासये-चश्म लेके जूँ नर्गिस,
हम ने दीदार की गदाई की ।। मीर साहिब

× × ×

इनकी रचनाओं में कुछ शब्द ऐसे हैं जो लखनऊ और दिल्ली की ज़बानों में पूरब पच्छिम का फ़रक दिखाते हैं। जैसे, दिल्ली वाले 'अँधेरी' कहते हैं और इन्होंने 'अँधियारी' का प्रयोग किया है। ख़्वाजा साहिब लिखते हैं :—

बलंदो पस्त आलम का वयाँतहीर करता है,
क़लम है शायरों का या कोई रह्र है बीहड़ का ।।

'बीहड़' शब्द का दिल्ली में प्रयोग नहीं किया जाता। 'बलबे' शब्द को दिल्ली के शायर प्रयोग करते थे, किंतु आजकल यह अप्रयुक्त है। मगर ख्वाजा साहिब लिखते हैं :—

खानः ख़राव नालों की वलवे शरारतें,
वहती हैं पानी हो हो के संगीं इमारतें ।।

लखनऊ और दिल्ली के उत्तरकालीन शायर फ़ारसी के बहुवचन को बिना संबंधसूचक चिह्न या विशेषण के नहीं प्रयोग करते थे। मगर ख्वाजा साहिब उनका प्रयोग वैसे ही करते हैं, जैसा कि अधोलिखित पंक्तियों से पता चलता है :—

रफ़्तगाँ का भी ख्याल ऐ अहले आलम चाहिए,
आलमे अर्वाह से सुहवत कोई दम चाहिए ।।

रह्र गुज़र में दफ़न करना ऐ अज़ीज़ाँ तुम मुझे,
शायद आजाए किसी के मेरा मदफ़न ज़ेरे-पा ।।

भागो न मुझको देख के बे-इख़्तयार दूर,
ऐ कोदकाँ अभी तो है फ़सले बहार दूर ।।

क्या निफ़ाक-अंगेज़ हम-जिसाँ हवाए दह्र है,
नींद उड़ जाती है सुनने से नफ़ीरे ख्वाव को ।।

रोज़ो शब रोया मैं 'आतिश' रफ़्तगाँ की याद में,
उम्र भर आँखें न भूलीं सूरते-अहवाव को ।।

अहदे तिफ़्ली में भी था मैं बसकि सौदाई मिज़ाज,
बेड़ियाँ मिन्नत की भी पहनीं तो मैंने भारियाँ ।।

ऐ ख़त उसके गोरे गालों पर ये तूने क्या किया,
चाँदनी रातें यकायक हो गई अँधियारियाँ ।।

+ \+ \+

विशेषण को विशेष्य के अनुरूप बनाने के लिये उसे बहुवचन कर देना भाषा-सुगमता के प्रतिकूल समझा जाता है।

एक बार मीर तक़ी 'तरक्क़ी' के यहाँ मुशायरे में ख्वाजा 'आतिश' ने ग़ज़ल पढ़ी उसमें शिकम के मज़मून में 'मौजे बह्र काफ़ूर को रचनाबद्ध किया था। तालिब पली ख़ाँ 'ऐशी' ने नेवहीं टोका। इन्होंने जवाब दिया, "मियाँ, अभी बहुत मुद्दत चाहिए। देखो तो सही 'जामी' क्या कहते हैं :—

दो पिस्तानश बहम चूँ कुब्बए नूर,
होबाबे ख़ास्त: अज़ वह्ले काफ़ूर ।।

साथ ही मुशायरे के अध्यक्ष से कहा कि क़िब्ल: अब की बार मुशायरे के लिये यही तह्र (समस्या) हो :—

ये बज़्म वह है कि लाख़ैर का मुक़ाम नहीं,
हमारे गंजफ़े में बाज़िए गुलाम नहीं ।।

यह बिचारे भी किसी के दत्तक पुत्र थे। इसी मिस्रेको यार लोगों ने शेख़ 'नासिख़' के गले मढ़ा है।

यह सच है कि कवि की अंतरात्मा को दैवी प्रेरणा मिलती है। लेकिन उर्दू कविता के इतिहास से पता चलता है कि उर्दू शायरों को अपने पार्थिव प्रेरकों यानी उस्तादों से अकसर अनबन ही होती रही है। ख्वाजा 'आतिश' का भी अपने उस्ताद से बिगाड़ हो गया था। भगवान् जाने अनबन का मूल कारण क्या था और इसके लिये दोनों में कौन दोषी था। इतने ज़माने के बाद इसके झूठ सच का पता लगाना अत्यंत कठिन है। किंतु जिस घटना से इन लोगों में खुल्लमखुल्ला बिगाड़ हुआ, उसके विषय में कहा जाता है कि शेख़ 'मस्हफ़ी' उस समय जीवित थे। और ख़्वाजा साहिब की कविता का ओज भी निखार पर आ रहा था। एक मुशायरे का अनुप्रास था 'दहन बिगड़ा', यासमन बिगड़ा'। इस पर सबने ग़ज़लें लिखीं। ख़्वाजा साहिब ने ग़ज़ल लिख कर अपने उस्ताद शेख़ 'मस्हफ़ी' को सुनाई और जब यह शेर सुनाए :—

अमानत की तरह रखा ज़मीं ने रोजे महशर तक,
न एक मू कम हुआ अपना न एक तारे कफ़न बिगड़ा ।।
लगे मुँह भी चिढ़ाने देते देते गालियाँ साहिब,
ज़बाँ बिगड़ी तो बिगड़ी थी ख़बर लीजे दहन बिगड़ा ।।

तो नशे की झोंक में बोल उठे कि "उस्ताद, इस रदीफ़ क़ाफ़िए में कोई शेर निकाले तो कलेजा निकल पड़े"। उन्होंने हँस कर कहा, "हाँ मियाँ, सच कहते हो। अब तो किसी से ऐसे शेर नहीं हो सकते"। इसके बाद अपने शागिर्दों में से एक नौसिखिए लड़के की ग़ज़ल को सँवार सुधार कर उसमें उन्हीं दो अनुप्रासों को इस तरह बाँधा :—

लिखा है ख़ाक कूए यार से ऐ दीदए गिरयां,
क़यामत में करूँगा गर कोई हरफ़े कफ़न बिगड़ा ।।
न हो महसूस जो शै किस तरह नक़्शे में ठीक उतरे
शबीहे-यार खिंचवाई कमर बिगड़ी दहन बिगड़ा ।।

यद्यपि उन शेरों और इन शेरों का तुलनात्मक मूल्यांकन तो कोई काव्य-मर्मज्ञ ही कर सकता है, किंतु मुशायरे में इन शेरों को बड़ी वाहवाही मिली। फिर भी चूँकि इतनी ठोस रचना एक लड़के के मुँह पर खिलते न थे, इसलिये ताड़नेवाले ताड़ गए कि इसमें उस्ताद की उस्तादी का पुट जरूर दिया गया है। ख़्वाजा साहिब उसी समय उठकर शेख़ मस्हफ़ी के पास जा बैठे और ग़ज़ल हाथ से फेंक कर तैश में कहा कि 'आप हमारे कलेजे में छुरी मारते हैं, नहीं तो इस लौंडे का क्या मुँह था, जो इन क़ाफ़ियों में शेर निकाल लेता।' यों तो इस प्रकार शागिर्द और उस्ताद की बातें बच्चों की शोख़ी और लकड़पन का नाज ही समझना चाहिए, जिसके क़िस्से सुनने से मज़ा मिलता है और शायराना तबीयत को बढ़ावा मिलता है। किंतु किसी भी शालीन और संयमशील शागिर्द के लिये यह उचित है कि उस्ताद की प्रतिष्ठा और उसकी मर्यादा को ध्यान में रखे ताकि 'ख़ाक़ानी' और अबल अलाई 'गंजूई' की तरह दोनों ओर से फूहड़ और गंदी हज्वों तक नौबत न पहुँचे, नहीं तो आखिरी वक़्त तक दोनों सर्वसाधारण के निंदा के पात्र बने रहेंगे। लेकिन इस मामले में ख़्वाजा साहिब की शिष्टता और सौजन्यता, जिसका उन्होंने अपने जीवन में सदा पालन किया प्रशंसनीय थी।

मीर मेहदी हसन 'फ़राग़' से इनकी कुछ तबीयत को गुदगुदाने और मन को लुभाने वाली ऐसी भी रचनाएँ सुनी, जो कि इनके संग्रहों में नहीं मिलतीं। न मिलने के कारण के बारे में यह पता चला कि उस समय एक बड़े रसिक और विद्वान् सज्जन थे, जो स्वयं शायर थे और उनके यहाँ बड़ी धूमधाम से मुशायरा हुआ करता था। ख़्वाजा साहिब भी जाते थे और मुशायरे में गज़ल पढ़कर वहीं दे आते थे। उनके मरने के बाद जब उनके शागिर्द दीवान का संकलन करने लगे तो बहुत सी ग़ज़लें उनको मीर मुशायरे से उपलब्ध हुईं। भगवान् जाने जान बूझकर या भूल कर कुछ ग़ज़लें उनमें न मिलीं, इसलिये दीवान में न आ सकीं। लेकिन चूँकि वह सज्जन शेख़ 'नासिख' के शागिर्द थे, इसलिये लोगों को यह बदगुमानी होती है कि उन्होंने इन रचनाओं को जान बूझ कर रख लिया।[1]

जब शेख़ 'नासिख़' की मृत्यु हुई तो ख़्वाजा साहिब ने उनकी तारीख़ कही। और उस दिन से शेर कहना छोड़ दिया। कहते थे कि, 'कहने का मज़ा सुनने और सुनाने के साथ है। जिस शख़्स को सुनाने में मजा आता था, जब वही न रहा तो अब शेर कहना महज बकवास है।'

+ + +

इनके जीवन वृत्त से मालूम होता है कि अपने स्वाभाविक स्वतंत्रता और काव्य रचना में तल्लीनता के कारण उनमें बाहरी दिखावे और ठाटबाट की प्रवृत्ति न थी और ऐसी बातों की ओर उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। किंतु तबीयत

---

[1] कहा जाता है कि ये शेर ठा० दयाशंकर 'नसीम' ने पढ़े थे, जो उस समय के होनहार शायर समझे जाते थे और 'मस्हफ़ी' के उदीयमान शिष्यों में थे।

इतनी रसिक थी कि हर तरह के विचारों को प्रायः मनोरंजक और और विनोदपूर्ण ढंग से ही अदा करते थे।

इनके एक शागिर्द अपनी बेरोज़गारी की वजह से अकसर कहीं बाहर जाने का जिक्र किया करते थे। और ख्वाजा साहिब अपनी स्वच्छंद प्रकृति के अनुसार उनसे कहा करते थे कि 'मियाँ, कहाँ जाओगे। दो घड़ी मिल बैठने को ग़नीमत समझो और जो कुछ खुदा यहीं दे देता है, उसी पर सब्र करो'। एक दिन वह आए और कहा 'हज़रत, मैं रुख़सत होने को आया हूँ.....। कहा, 'ख़ैर तो है? कहाँ जा रहे हो?' उन्होंने कहा, 'कल बनारस जा रहा हूँ। कुछ फ़रमाइश हो तो कह दीजिए'। आप हँस कर बोले, 'इतना काम करना कि वहाँ के खुदा को जरा हमारा भी सलाम कह देना'। वह हैरान होकर बोले कि 'हज़रत, यहाँ और वहाँ के खुदा कोई अलग अलग हैं? फ़र्माया कि 'शायद यहाँ का खुदा कंजूस है और वहाँ का दाता हो'। उन्होंने कहा 'भला सुनो तो सही। जब खुदा वहाँ और यहाँ एक है तो फिर हमें क्यों छोड़ते हो? जिस तरह उससे वहाँ जाकर माँगोगे उसी तरह यहाँ मांगो। जो वहाँ देगा तो यहाँ भी देगा'। इस बात ने उन व्यक्ति के दिल पर ऐसा असर किया कि सफ़र का ख़याल एकदम छोड़कर संतोष करके वहीं बैठ रहे।

ख़्वाजा साहिब के सरल स्वभाव और भोलीभाली बातों की चर्चा करते हुए मीर अनीस ने एक बार यह लतीफ़ा सुनाया कि एक दिन उनको नमाज़ पढ़ने की बात मन में आई। किसी शागिर्द से कहा कि 'भई, हमें नमाज़ तो सिखाओ'। वह संयोगवश सुन्नत जमात का था। उसने वैसी ही नमाज़ सिखा दी और यह कह दिया कि 'उस्ताद, ईश्वर की प्रार्थना जितना ही एकांत में हो उतनी ही अच्छी होती है'। जब नमाज़ का समय होता, यह कहीं अलग हो जाते या घर का दरवाज़ा बंद करके उसी तरह नमाज़ पढ़ा करते। मीर दोस्त अली 'ख़लील' इनके विशिष्ट शागिर्दों में थे और अंदर बाहर सभी जगह उनका आना जाना था। एक दिन उन्होंने इन्हें नमाज़ पढ़ते देख लिया। बहुत हैरान हुए। यह नमाज़ पढ़ चुके तो उन्होंने कहा, 'उस्ताद, आप का मज़हब क्या है?' फ़र्माया 'हम शिया हैं, यह क्यों पूछते हो?' उन्होंने कहा कि 'और नमाज़ सुन्नियों की?' कहा कि 'भई, मैं क्या जानूँ। फलाँ आदमी से मैंने कहा था। उसने जो सिखा दी, सो पढ़ता हूँ। मुझे क्या ख़बर की दो दो नमाज़ें हैं। उस दिन से शियों की नमाज़ पढ़ने लगे। जितने शागिर्द उन्होंने पाए, किसी उस्ताद को नसीब नहीं हुए। इनमें से सैय्यद मुहम्मद ख़ाँ 'रिंद', मीर वज़ीर अली 'सबा,' मीर दोस्त अली 'ख़लील', हिदायत अली 'जलील,' साहिब मिर्ज़ा 'शनावर,' मिर्ज़ा इनायत अली 'बिस्मिल' और नादिर मिर्ज़ा 'फ़ैज़ाबादी' लब्धप्रतिष्ठ शागिर्दों में थे, जिन्हें अपने समय में स्वयं उस्तादी का रुतबा मिला।

ग़ज़ल

सुन लो सही जहाँ में है तेरा फ़सानः क्या।
कहती है तुझको ख़ल्क़-खुदा ग़ाइबानः क्या॥

क्या क्या उलझता है तेरी ज़ुल्फ़ों के तार से ।
वख़्य: तलब है सीनये सद चाक शाना क्या ।।

ज़ेरे-ज़मीं से आता है जो गुल सो ज़र-वकफ़ ।
क़ारूँ ने रास्ता में लुटाया ख़ज़ाना क्या ।।

उड़ता है शौक़े राहते मंज़िल से अस्पे उम्र ।
महमीज़ किसको कहते हैं और ताज़ियाना क्या ।।

ज़ीना सबा का ढूँढ़ती है अपनी मुश्ते-ख़ाक ।
बामें-बुलन्द यार का है आस्ताना क्या ।।

चारों तरफ़ से सूरते जानां हो जलव गर ।
दिल साफ़ हो तेरा तो है आईना-ख़ाना क्या ।।

सय्याद असीरे दामे रगे गुल है अन्दलीब ।
दिखला रहा है छिपके इसे आबो दाना क्या ।।

तब्लों-अलम ही पास है अपने न मुल्को माल ।
हम से ख़िलाफ़ होके करेगा ज़माना क्या ।।

आती है किस तरह से मेरी क़ब्ज़े-रुह को ।
देखूँ तो मौत ढूँढ़ रही है वहाना क्या ।।

होता है ज़र्द सुन के जो नामर्द मुद्दई ।
रुस्तम की दास्तां है हमारा फ़साना क्या ।।

बे यार साजवार न होगा वह गोश को ।
मुतरिब हमें सुनाता है अपना तराना क्या ।

सय्यादे गुलइज़ार दिखाता है सैर बाग़ ।
बुलबुल क़फ़स में याद करे आशियाना क्या ।।

तिरछी नजर से तायरे दिल हो चुका शिकार ।
जब तीर कज पड़ेगा उड़ेगा निशाना क्या ।।

बेताव है कमाल हमारा दिले-हज़ीं ।
मेहमां सराय जिस्म का होगा रवाना क्या ।।

याँ मुद्दई हसद से न दे दाद तो न दे ।
'आतिश' ग़ज़ल ये तूने लिखी आशिक़ाना क्या ।।

× × ×

ख़ानः ख़राब नालों की बलवे शरारतें ।
बहती हैं पानी हो हो के संगीं इमारतें ॥

सर कौन सा है जिसमें कि सौदा नहीं तेरा ।
होती हैं तेरे नक़्शे-क़दम की ज़ियारतें ॥

ख़ानः है गजिफ़ः का हर इक क़स्रे शह्रे इश्क ।
घर घर हैं बादशाहियाँ घर घर वज़ारतें ॥

दीदारे यार बर्क़े–तजल्ली से कम नहीं ।
बंद आँखें होंगी देंगी दुआएँ बसारतें ॥

आँखों में अपनी दौलते बेदार हैं वह ख़वाब ।
होती हैं तेरे वस्ल की जिन में बुशारतें ॥

कहते हैं मादरो पेदरे मेहरवाँ को बद ।
करते हैं वह जो अर्ज़ो-समा की हिक़ारतें ॥

गोया ज़बान हो तो करे शुक्र आदमी ।
समझे जो तू तो करते हैं ये गुंग इशारतें ॥

ज़ेरे-ज़माँ भी याद हैं हफ्त आसमाँ के जुल्म ।
भूला नहीं मैं संगदिलों की शरारतें ॥

ख़िज्रो मसीह काटते हैं रश्क से गला ।
तू भी तो कर शहीदों को अपने ज़ियारतें ॥

आलम को लूट खाया है इक पेट के लिए ।
इस ग़ार में गई हैं हज़ारों की ग़ारतें ॥

बाक़ी रहेगा नाम हमारा निशाँ के साथ ।
अपनी भी बंद बेतें है अपनी इमारतें ॥

अह्ले जहाँ का हाल है क्या हमसे क्या कहें ?
बद-गोईयाँ हैं पीछे तो मुँह पर इशारतें ॥

नक्शो निगार हुस्ने बुतां का न खा फ़रेब ।
मतलब से ख़ाली जान ले तू ये इबारतें ॥

आशिक़ हैं हम को मद्दे नज़र कूये यार है ।
काबा के हाजियों को मुबारक ज़ियारतें ॥

ऐसी ख़िलाफ़ हम से हुई है हवाये दह्र ।
काफूर खाइये तो हों पैदा हरारतें ॥

'आतिश' ये शशजिहत है मगर कूचा यार का।
चारों तरफ़ से होती हैं हम पर इशारतें ॥

× × +

बाग़वाँ इन्साफ़ पर बुलबुल से आया चाहिये।
पैंजनी इसको ज़रे गुल का पिन्हाया चाहिए ॥
फ़र्शे गुल बुलबुल की नीयत से बिछाया चाहिए।
शम्मा परवानों की ख़ातिर से जलाया चाहिए ॥
पान भी खाओ जमाई है जो मिस्सी की घड़ी।
शाम तो देखी शफ़क़ को भी दिखाया चाहिए ॥
आईने में ख़त्ते नौरस का नज़ारा कीजिए।
आहू आने - चश्म को रैहां चराया चाहिए ॥
बोसा इस लब का है कूवत-बख़्श रुहे नातवाँ।
ऐसी याकूती मुयस्सर हो तो खाया चाहिए ॥
इश्क में हद्दे अदब से आगे रहता है क़दम।
शाख़े-गुलबुन पर से बुलबुल को उड़ाया चाहिए ॥
देखिए करता है क्यों कर यार से गुस्ताख़ियां।
शौक के भी हौसले को आजमाया चाहिए ॥
हो गया है एक मुद्दत से दिले नालां ख़मोश।
बाग़ में चलकर इसे बुलबुल सुनाया चाहिए ॥
फ़सले गुल है चार दिन साक़ी तकल्लुफ़ है जरूर।
पर जवाहर के वर्ते-मै को लगाया चाहिए ॥
खुम में जोशे-मै से मुझको ये सदा है आ रही।
जर्फ-मस्ती हो तो कैफ़ियत उठाया चाहिए ॥
हाले-दिल कुछ कुछ कहा मैंने तो बोला सुनके यार।
बस इबारत हो चुकी मतलब पे आया चाहिए ॥
शेर से खाली नहीं रहता नाँस्ता ज़ौन्हार।
बौरियाये फुक्र बिच्छा छोड़ जाया चाहिए ॥
रंग जुर्दो चश्म तर से कीजिए दावये इश्क़।
दो गवाहे हाल इस क़ज़िये के लाया चाहिए ॥
राम होते ही नहीं वहशी मिज़ाजी है सो है।
इन सियह चश्मों को चौपहरा लगाया चाहिए ॥

देख कर ख़िलवत सहए यार कहते हैं फ़क़ीर ।
ऊढ़ को मानिन्द यां धूनी लगाना चाहिए ॥

ख़ातिरे 'आतिश' से कहिये चन्द जुज़ शेर और भी ।
बेनिशाँ का नाम बाक़ी छोड़ जाया चाहिए ॥

फ़रे बे-हुस्न से गब्रु मुसलमाँ का चलन बिगड़ा ।
खुदा की याद भूला शेख़ बुत से बरहमन बिगड़ा ॥
कबाये-गुल को फाड़ा जब मेरा गुल पैरहन बिगड़ा ।
बन आई कुछन गुंचे से जो वह गूंचा दहन बिगड़ा ॥

नहीं बेवजह हँसना इस क़दर ज़ख्मे शहीदां का ।
तेरी तलवार का मुंह कुछ न कुछ ऐ तेग़े जन बिगड़ा ॥
तकल्लुफ़ क्या जो खोई जान शीरीं फोड़ कर सर को ।
जो ग़ैरत थी तो फिर खुसरू से होता कोहकन बिगड़ा ॥

किसी चश्म सियह का जब हुआ साबित में दीवाना ।
तो मुझ से मस्त हाथी की तरह जंगली हरन बिगड़ा ॥
तेरी तक़लीफ से कबके दरी ने ठोकरें खाईं ।
चला जब जानवर इंसाँ की चाल उसका चलन बिगड़ा ॥

ज़बावे हुस्न खिलवाता है मेवे की कसम मुझ से ।
लगाया दाग़ ख़त तेआन कर सेबे ज़क़न बिगड़ा ॥

रुख़े सादा नहीं उस शोख़ का नक़्शे अदावत है ।
नज़र आते ही आपस में हर अह्ले अंजुमन बिगड़ा ॥
वह बदखू तिफ़्ल अश्क ऐ चश्म तर हैं देखना इक दिन ।
घरौंदे की तरह से गुबदे चर्ख़े कुहन बिगड़ा ॥

सफ़े-मिज़ग़ा की जुंबिश का किया इक़बाल ने कुश्तः ।
शहीदों के हुए सालार जब हमसे तु मन बिगड़ा ॥
किसी की जब कोई तक़लीद करता है मैं रोता हूँ ।
हँसा गुल की तरह गुंचा जहाँ इसका दहन बिगडा ॥

कमाले-दोस्ती अंदेशए दुश्मन नहीं रखता ।
किसी भौंरे से किस दिन कोई मारे-यास्मिन बिगड़ा ॥

रही नफ़रत हमेंशा दाग़ उर्यानी को फाये से ।
हुआ जब क़ता जामा पर हमारे पैरहन बिगड़ा ॥

रगड़वाई ये मुझसे ऐड़ियाँ गुर्बत में वहशत ने ।
हुआ मरदूद रस्त जादये राहे वतन बिगड़ा ॥

कहा बुलबुल ने जब तोड़ा गुले सौसन को गुलचीं ने ।
इलाही ख़ैर कीजियो नील रुख़सारे चमन बिगड़ा ॥

इरादा मेरे खाने का न ऐ ज़ाग़ो-ज़ग़न कीजियो ।
वह कुश्ता हूँ जिसे सूँघे से कित्तों का वदन बिगड़ा ॥

अमानत की तरह रखा ज़मीं ने रोज़े-महशर तक ।
न इक मू कम हुआ अपना न इक तारे-कफ़न बिगड़ा ॥

जहाँ ख़ाली नहीं रहता कभी ईज़ा-दहेन्दी से ।
हुआ नासूरे-नौ पैदा अगर ज़ख़्मे-कुहन बिगड़ा ॥

तवंगर था बनी थी जब तक उस महबूब-आलम से ।
मैं मुफ़्फ़्लस हो गया जिस रोज़ से वह सीमतन बिगड़ा ॥

लगे मुँह भी चिढ़ाने देते देते गालियाँ साहिब ।
ज़ुबाँ बिगड़ी तो बिगड़ी थी ख़बर लीजे दहन बिगड़ा ॥

बनावट कैफ़ में से खुल गई उस शेख़ की 'आतिश' ।
लगा कर मुँह से पैमाना को वह पैमाँ-शिकन बिगड़ा ॥

× × ×

शाह नसीर

इनका 'नसीर' तख़ल्लुस और नसीरुद्दीन नाम था। चूंकि रंग के एकदम काले थे, इसलिये घराने के लोग इन्हें मियाँ कल्लू कहते थे। इनकी जन्मभूमि ख़ास दिल्ली थी। इनके पिता शाह गरीब नाम के एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे, जो जो अपनी मन की ग़रीवी और स्वाभाविक विनयशीलता के कारण यथानाम तथा गुण की कहावत को चरितार्थ करते थे। अपनी नेकनीयती के पुण्य से ये फले फूले। नाम के ग़रीब थे लेकिन ज़िंदगी बसर की अमीरों में। शहर के रईस और अमीर सब इनकी प्रतिष्ठा करते थे। किंतु वह अपने घर एकांत में आराम से बैठकर अपने श्रद्धालु मुरीदों को उपदेश दिया करते थे। इनके पूर्वजों के नाम कुछ गांव शाही दरबार से माफ़ी में मिले हुए थे। मुल्ला माजरा और हरसाना इलाक़े सोनीपत में, सलीमपुर इलाक़ा ग़ाज़ियाबाद में, बज़ीराबाद दिल्ली शहर के निकट जहाँ मख्दुमशाह आलम की दरगाह है और अब तक सात जमादि-उलअव्वल को वहाँ उर्स होता है। अब केवल बलब गढ़ के इलाक़े में एक गाँव मूलर-बन इसके सज्जादह नशी (महंत) सैय्यद अब्दुल्ला शाह के नाम पर छूटा हुआ है। शाह ग़रीब ने अपने

इकलौते बेठे नसीरुद्दीन को बड़े लाड़प्यार से पाला और अच्छे अच्छे उस्तादों और आलिमों को अपनी सेवा में रखकर इसे शिक्षा दिलवाई ।

परिस्थिति वश इन्हें यथेष्ट औपचारिक शिक्षा न मिल सकी। किंतु इन्होंने अपने अनौपचारिक शिक्षा के द्वारा ही विद्वानों से अधिक बौद्धिक क्षमता प्राप्त की, क्योंकि जो वह कहते थे, उसे विद्वान् लोग बड़ी श्रद्धापूर्वक सुनते थे। इनकी तबीयत काव्य रचना के लिये इतनी अनुकूल थी कि बड़े बड़े अनुभवी और अभ्यस्त शायर भी मुशायरों में इनका मुँह देखते रह जाते थे। शागिर्दों के सिल्सिले से दो संबंधों के के ज़रिए इनका संपर्क 'सौदा' और 'दर्द' तक पहुँचता है क्योंकि यह शाह मुहम्मदी 'माइल' के शागिर्द थे और वह क़यामुद्दीन 'क़ायम' के। 'क़ायम' ने सौदा से भी इस्लाह ली और ख्वाजा मीर 'दर्द' से भी। इन्होंने अंग्रेज़ी अमल्दारी में जीवन बिताया। लेकिन शाह आलम के राज्यकाल में ही इनका काव्य कौशल निखार पर आने लगा था। ख़ानदानी बड़प्पन और उनके निजी गुणों की ख्याति ने इन्हें शाही दरबार तक पहुँचा दिया। दरबार के कलाविदों को ईद व अन्य त्योहारों के अतिरिक्त हर फसल और ऋतु के अवसर पर बहुमूल्य वस्तुएँ उपहार के तौर पर दी जाती थीं। यदि शायरों के मिलने में कुछ देर होती तो वे तक़ाज़े से भी वसूल लेते थे। एक बार जाड़े के मौसम में कुछ शेर इन्होंने शिष्ट ढंग से इसी तरह के तक़ाज़े के रूप में लिखा था। उसके दो शेर मुझे याद हैं :—

वचाएगा तू ही ऐ मेरे अल्लाह,
कि जाड़े से पड़ा बेढब है पाला,
पनाहे-आफ़ताब अब मुझको बस है,
कि वह मुझको उढ़ावेगा दोशाला ।।

फलस्वरूप इन्हें दरबार से उपहार में तुरंत कपड़े मिल गए। शेर इसलिये और भी मौज़ूँ ठहरा कि 'आफ़ताब' शाहआलम बादशाह का तख़ल्लुस था।

इधर उधर यात्रा भ्रमण में कमाई गई जो पूंजी इन्होंने संचित की वह भी अपनी शायरी के ही प्रसाद से की । इस सिल्सिले में इन्होंने दूर दूर दक्षिण में हैदराबाद और पूरब में लखनऊ तक यात्रा की । दिल्ली दरबार के अतिरिक्त अन्य शहरों में भी इनका काफ़ी आदर सत्कार होता था । किंतु जिन लोगों को शाही दरबारों का बुरा चस्का लग जाता है, उनका मन आधुनिक चलनवाले शासकों के संपर्क में उतना नहीं लगता । इसलिए जब दिल्ली में अंग्रेजी शासन चालू हुआ तो इन्होंने दकन का रास्ता पकड़ा ।

दक्षिण में उस समय दीवान चन्दूलाल की धाक थी । यों तो उनकी गुणग्राहकता और दानशीलता से सभी लाभ उठाते थे, मगर दिल्लीवालों के पालन पोषण की ओर उनकी विशेष कृपादृष्टि रहती थी और यह उनसे बहुत सहृदयता

और आत्मीयता से व्यवहार करते थे । सौभाग्य से शेर-सुख़न में भी ये काफी अभिरुचि रखते थे। तात्पर्य यह कि वहाँ शाह साहिब ने अपने काव्यकौशल रूपी बहुमूल्य रत्न का मनचाहा मूल्य पाया । लेकिन दिल्ली का चस्का ऐसा नहीं कि कोई जल्द भूल जाय । इसलिए भेंट उपहार से मालामाल होकर फिर दिल्ली लौट आये और उसके बाद फिर तीन बार दकन गए ।

दकन में इनकी मेहमानदारी सिर्फ धन के देवताओं ने ही नहीं की, बल्कि इन्होंने भी अपने संपर्क से लोगों के दिलों में शम्सवली के ज़माने की शायरी के लिए अभिरूचि फिर से जगा दिया । काव्यरचना की रुचि जो बरसों से बुझे हुए दीये की तरह ताक़ में पड़ी थी, फिर से लोगों के दिलों में रोशन हो उठी । और लोगों के नये उत्साह ने इन दीओं में तेल का काम किया। अब भी अगर कोई दिल्ली से दकन जाय तो शाह साहिब के शागिर्दों के इतने नाम सुनेगा कि वह दिल्ली में रहने वाले उनके शागिर्दों की गिनती भूल जायगा ।

शाह साहिब दो बार लखनऊ भी गये । किंतु खेद इस बात का है कि आज दिल्ली या लखनऊ में कोई इतनी बात का बतानेवाला तक नहीं रहा कि ये किस किस वर्ष कहाँ कहाँ गये या यह कि वहाँ किस किस मुशायरे में और किसके जोड़तोड़ में कौन कौन सी ग़ज़लें हुई थीं । इसमें संदेह नहीं कि जब यह पहली बार लखनऊ गये तो सैय्यद 'इन्शा' और 'मस्हफ़ी' और 'जुरअत' इत्यादि सब जीवित थे और कुछ ग़ज़लें जो इन लोगों के आपसी मार्कों के संबंध में मशहूर हैं वे 'मस्हफ़ी' के दीवान में भी पाई जाती है ।

यह वह समय था जब लखनऊ में शिष्टाचारप्रिय और गुणग्राही गुरुजन और धनीमानी लोग मौजूद थे । वे दूसरों के गुणों को पहचानते थे और गुणी लोगों को समाहत करते थे । जो गुणवान् व्यक्ति वहाँ जाता था, उसे प्रतिष्ठा मिलती थी और उनका कृतज्ञ होकर लौटता था। लेकिन जब शाह साहिब वहाँ दूसरी बार गये तो रंग बदला हुआ पाया । शेख़ 'नासिख़' के ज़माने ने पुरानी बातों को ख़तम कर दिया था और ख़्वाजा 'आतिश' के काव्य कौशल ने लोगों के दिमागों को गर्मा दिया था । नवयुवकों की रुचियों में ओज और आवेग आ गया था । नई नई शोख़ियाँ अपना हावभाव दिखा रहीं थीं। अनोखी और नई नवेली भाव-भंगिमाएं पुरानी सादगी पर मुस्कराती थीं । इसलिए इस प्रतिक्रिया का एक विरोधी, जिसकी अभीतक वे ही दूर से चर्चा सुन रहे थे, जब पास आया तो सभी गर्दन उभार उभार कर उसे देखने लगे ।

यह ज़बरदस्त शायर, बरसों का अभ्यस्त, जिसका बुढ़ापा जवानी की उमंगों को चुटकियों में उड़ाता था, जिस दिन वहाँ पहुँचा तो मुशायरे में शायद दो तीन बाकी रह गये थे । हर एक उस्ताद ने एक एक दो दो मिस्रे तरह के लिए भेजे । इसी बीच इन्हें दर्द-गुर्दे का आक्रमण हो गया । मगर वह दर्द कम होते ही यह उठ बैठे और ग़ज़लें तैयार करने लग गए । अपनी ग़ज़लों को लेकर निर्भीक मुशा-

यरे में पहुँचे । मगर उस जलसे में वहाँ के बड़े बड़े शायर स्वयं न आये । जब दो तीन जलसे इसी तरह उन लोगों की अनुपस्थिति में बीत चुके तो एक व्यक्ति ने मुशायरे के बीच इनके पास एक मिस्रा तरह भेजा । वह मिस्रा शेख़ 'नासिख़' का था । इस बार शाह साहिब इसे बरदाश्त न कर सके । मिस्रा तो ले लिया लेकिन इतना कहा कि 'उनसे कहना कि चक्कस पर गुल्दम लड़ाने की सही नहीं है । पाली में आएँ तो देखनेवालों को भी मज़ा आए ।'

आफ़सोस है कि इस अवसर पर कुछ लफ़ंगों ने जिनसे कोई ज़माना और कोई जगह ख़ाली नहीं होती, अपनी बेहूदा और वाहियात बकवास से लखनऊवालों की शिष्टता और आतिथ्य-प्रियता पर कलंक लगाया । इसी तरह एक नोंक-झोंक के मुशायरे में शाह साहिब ने लोगों के अनुरोध पर आठ ग़ज़लें पढ़ीं । एक ग़ज़ल अपनी ही समस्या पर पढ़ी, जिसका अन्त्यानुप्रास था 'असल की मक्खी', और 'महल की मक्खी' । इस पर वहाँ कुछ लोगों ने व्यंग किया । किसी शेर पर कहा, 'सुभान-अल्लाह, क्या ख़ूब मक्खी बैठी है' । किसी ने कहा कि 'हुज़ूर यह मक्खी तो न बैठी' । एक ने यह भी कहा, 'गज़ल तो ख़ूब है मगर आपके तुक से जी मतलाने लगा' । शाह साहिब ने प्रत्युत्पन्न उत्तर दिया 'जिन्हें शायरी कि चाश्नी अच्छी लगती है, उन्हें तो जायका मिलेगा । हाँ जिन्हे डाह का पित्त चढ़ा हुआ है, उनका जी ज़रूर मतलाएगा ।'

इन जलसों में इस प्रमाणसिद्ध उस्ताद ने अपने काव्य कौशल की खूब धाक जमाई । लेकिन कहीं कहीं ये फिसल गए । यों तो कोई भी व्यक्ति ऐसी भूलों से नहीं बच सकता । एक जगह 'ज़ुल्म' की जगह 'तज़ल्लुम' का प्रयोग कर दिया, जब इस ग़ल्ती पर मुशायरे के बीच ही में किसी ने टोका तो ग़ज़ब यह हुआ कि इन्होंने उसके प्रमाण में मुहतशिम काशी का यह शेर पढ़ा :--

आले नबी चो दस्ते तज़ल्लुम बरावरंद ।
अरकाने अर्श रा बतज़ल्जुल दरावरंद ।।

लेकिन ऐसी छोटी मोटी भूलचूक से कोई भी उस्ताद ख़ाली नहीं । और इतना दौड़ तो इनकी योग्यता की तुलना में कोई महत्त्व भी नहीं रखता । इसलिये इनकी ओजपूर्ण रचनाओं ने उसी मजलिस में इनके बीसियों शागिर्द कर लिए । मुंशी करामत अली 'अजहर', जिनकी तारीख़ें लखनऊ में पहले पहल छपी हुई सभी पुस्तकों पर अंकित मिलती हैं, शाह साहिब की शागिर्दी का हमेशा दम भरते थे ।

शाह साहिब चौथी बार फिर दकन गए । मगर इस बार ऐसे गए कि फिर न लौटे । मेरे स्वर्गीय उस्ताद शाह साहिब की उस्तादी की चर्चा सदा श्रद्धा भीनी भाषा में करते थे । वे अक्सर शोक भरे शब्दों में कहा करते थे कि चौथी बार जब दकन जाने का उनका विचार हुआ तो एक दिन संयोगवश उनसे रास्ते में भेंट हो गई । मैंने कहा कि 'अब आप की उम्र इतने दूर सफ़र के क़ाबिल नहीं' । उन्होंने उत्तर दिया, 'मिया इब्राहीम, वह बिहिश्त है बिहिश्त । मैं बिहिश्त में जा रहा हूँ ।

चलो तुम भी चलो'। मेरे उस्ताद बड़े मार्मिक भाव से प्रायः यह भी कहा करते थे कि उन्हीं की ये पंक्तियाँ उनपर लागू हो गईं :--

बयाबाँ मर्ग है मजनूने ख़ाक--आलूदा तन किसका,
सिए है सोज़ने ख़ारे--मुगीला तू कफ़न किसका ।।

अंत में वह हैदराबाद में इस असार संसार से चल बसे और वहीं क़ाजी मख़्दूम मूसा की ख़ांक़ाह में दफन हुए । शागिर्द ने 'चिराग़ गुल' (सन् १२५४ हि०) के शब्दों में तारीख़ निकाली।

अपने दीवान का कोई संकलन जीवनकाल में नहीं किया। जो ग़ज़ले कहते थे, एक स्थान में रखते जाते थे। जब बहुत सी ग़ज़लें जमा हो जातीं तो तकिए की तरह एक लंबे से थैले में भर देते थे। फिर उसे घर में दे देते थे और कहते थे कि इसे ठिकाने से रख छोड़ो। प्रकीर्णक रचनाएँ एक दो छोटी छोटी जिल्दों में भी थीं। ये और उनकी अन्य बहुत सारी साहित्यिक पूँजी दकन में ही रह गई। यहाँ कालचक्र में फँसे हुए उनके वंशजों में कोई इतना प्रबुद्ध न हुआ कि इनके सारे ग़ज़लों को एकत्रित करके उन्हें ठीक तौर से व्यवस्थित करता। इनके शागिर्दों के पास इनकी विभिन्न ग़ज़लें हैं। मगर किसी ने उन सबका संग्रह नहीं किया। उनके दीवान को सब कोई खोजता है। दिल्ली में मीर हसन 'तस्कीन' नाम के एक रुचिपूर्ण चिंतनशील शायर थे। उनके बेटे सैय्यद अब्दुल रहमान को भी कविता में रुचि थी और उनमें काव्य-मर्मज्ञता भी थी। उन्होंने बड़े परिश्रम से उनकी रचनाओं का एक ऐसा संग्रह किया कि किंचित इससे अधिक एक जगह शाह साहिब की रचनाएँ कहीं और इकट्ठी न मिलें। नवाब साहिब रामपुर ने, जो स्वयं कविता के बड़े प्रेमी हैं, एक अच्छी रक़म देकर उस संग्रह को अपने यहाँ मँगा लिया।

ग़ज़लें तो इनकी किसी किसी जगह काफ़ी संख्या में मिल जाती हैं। लेकिन इनके क़सीदे कहीं नहीं मिलते और वह भी बहुत थे। वास्तव में इनकी ग़ज़लों की उत्कृष्टता से ही इनके क़सीदों की ओज का अनुमान लगाया जा सकता है।

इनकी कविताओं के अनुशीलन से यह पता चलता है कि इनकी भाषा शब्दों की सजधज और शैली की गठन में 'सौदा' की भाषा से मिलती जुलती थी। इसमें एक प्रकार की भावुकतापूर्ण आवेश और माधुर्य भी था। इन्हें अपनी उपमाओं और अलंकारों की नवीनता का दावा था और यह दावा न्यायसंगत भी था। ग़ज़लों के नए नए रदीफ़, क़ाफ़िए और छंद अप्रत्याशित किंतु रुचिपूर्ण ढंग से निकलते थे। मगर उनकी ज़मीन कभी कभी ऐसी कड़ी होती थी कि बड़े बड़े घुड़सवार भी उसपर क़दम मारने से घबराते थे। उपमा और अलंकार को तो बहुत ही सहज ढंग से व्यवहार में लाते थे। इसे किंचित् विद्वान् साहित्यकार उनमें विद्वत्ता की कमी का परिणाम बतलाएँ और कहें कि इस तरह उपमा और अलंकार का सीधा प्रयोग कविता में नहीं फबता। लेकिन उनका ऐसा कहना न्यायसंगत नहीं

होगा। अगर वह इस तरह की भाषा का प्रयोग न करते तो उनकी रचनाएँ इतनी सुबोध और लोकप्रिय कैसे होतीं और हम ऐसी सख़्त ज़मीन पर भी ऐसे नरम नरम शेर कैसे सुनते ? और फिर वह हज़ारों शायरों के बीच जनसाधारण के मुँह से वाह वाह कैसे लेते। बहुत से शब्द जैसे 'टुक', 'वाछड़े', 'तिसपर', इत्यादि जिनका सैय्यद 'इंशा' और 'जुर्अत' तक ने अपनी रचनाओं में प्रयोग किया है, उनका उन्होंने परित्याग किया। किंतु 'आए हैं' और 'जाए हैं' क्रियाओं का इन्होंने भी प्रयोग किया। अपनी विद्वत्ता का गर्व करने वाले शायर इनकी शायरी की धूमधाम को कनखियों से देखते थे और आपस में कानाफूसी भी करते थे। फिर भी उनकी रचनाओं के आवेग को रोक न सकते थे। इसका कारण यह था कि इनकी रुचि की प्रबलता किसी के बस की न थी। जिस ढंग के दुरूह रदीफ़ और क़ाफ़ियों में अपनी रचनाओं को बाँधकर उनकी भावात्मक ऊष्मा से मुशायरे को तड़पा देते थे, उनमें औरों को एक पूरी ग़ज़ल कहना भी दुश्वार होता था। उस समय बहुतेरे पुराने पुराने अभ्यस्त सुशिक्षित और विद्वान शायर, जैसे, हकीम सनाउल्लाह ख़ाँ 'फ़िराक़', ख्वाजा मीर 'दर्द' के शागिर्द हकीम कुदरतुल्लाह ख़ाँ, 'फ़िराक़', ख्वाजा मीर 'दर्द' के शागिर्द हकीम कुदरतुल्लाह ख़ाँ 'क़ासिम', 'मीर' के शागिर्द मियाँ 'शकेबा', सौदा के शागिर्द मिर्ज़ा अज़ीम बेग और शेख़ वलीउल्लाह 'मुहिब', हाफ़िज अब्दुल रहमान ख़ाँ 'एहसान' इत्यादि सभी जीवित थे। सब इनकी गर्वोक्तियों को सुनते थे और अपनी स्वभावजन्य बड़प्पन के कारण इनके कटाक्षों और व्यंग-वाक्यों को प्रायः सहन भी करते थे। मगर इन्हें चुप न कर सकते थे।

हकीम कुदरतुल्लाह ख़ां 'क़ासिम' की इनसे एक बार नोकझोंक हो गई। बात ऐसी थी कि एक मुशायरे में समस्या थी 'यार शिताब' और 'तलवार शिताब'। शाह 'नसीर' ने जो ग़ज़ल पढ़ी तो उस में ये पंक्तियाँ थीं :—

रुख़े-अनवर का तेरे वस्फ़ लिखा जब हमने,
अन्वरी ने दिया दीवाँ उलट ऐ यार शिताब ।।
फिर पढ़ा हमने जो मजमूने बयाज़े गरदन,
सुन उसे हो गया चुप क़ासिमे-अन्वार शिताब ।।

हकीम साहिब जनसाधारण में काफ़ी समाहृत थे। इसके अलावा वे एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् और शायर भी थे। स्वयं 'कासिम' तख़ल्लुस करते थे, इसी लिये शाह साहिब द्वारा 'क़ासिम अनवार' शब्द का प्रयोग किया जाना इन्हें अच्छा न लगा। चिढ़ कर दूसरी मुशायरे की ग़ज़ल में ये पंक्तियाँ लिखीं :-–

वास्ते इन्साँ के इन्सानियत अव्वल शर्त है।
मीर हो या मीरज़ा हो, ख़ाँ हो या नव्वाब हो ।।

आदमी तो क्या खुदा को भी न हम सज्दः करें।
गर न ख़म ताज़ीम को पहिले सरे मेहराब हो।।

शाह नसीर के आशु कवित्व और उनकी सहज रुचि को सभी सराहते और स्वीकार करते थे। और यह उनकी एक ऐसी स्वाभाविक उमंग थी, जिसे बाँध रखना संभव न था। शेर कहने से कभी थकते न थे और न कभी इनके कला में, चुस्ती में सुस्ती (शिथिलता) आती थी। अकसर मुशायरों में जब और शायर अपनी ग़ज़लें पढ़ते होते थे तो यह तुरत उनके शेर में अपेक्षित संशोधन करके अपनी ग़ज़ल में डाल लेते थे। उनकी संपन्नता मानों एक ऐसा वृक्ष थी कि जब उसकी टहनी हिलाओ फ़ौरन फल झड़ पड़ेंगे। वह बड़े सहज तरीके से और तुरत ग़ज़लों पर इस्लाह दे देते थे। तबीयत में तेज़ी ग़ज़ब की थी। मुशायरे के बीच ही किसी का शेर सुनते और वहीं बोल उठते कि 'यूं कहो'। कहने वाला सुनकर मुँह देखता रह जाता। यही कारण था कि पुराने पुराने अभ्यस्त शायर भी इनसे मुँह छिपाते रहते थे।

इनका पढ़ने का अंदाज़ भी सबसे निराला था। और बड़ा पुरज़ोर और प्रभावोत्पादक था। उनके पढ़ने से उनकी रचना का ओज दुगुना बल्कि दसगुना हो जाता था, क्योंकि इनको स्वर का आरोह अवरोह इनकी रुचि के आवेग और हृदय के आवेश से प्रभावित होता था। इनके स्वर में बुढ़ापे तक भी जवानी की कड़क दमक बनी रही। जब मुशायरे में ग़ज़ल पढ़ते तो मानो सारे महफ़िल पर छा जाते थे। कभी कभी अपनी कविता पढ़ने में वे सुध बुध खो बैठते थे। एक मुशायरे में उन्होंने एक ग़ज़ल पढ़ी। उसमें जब अधोलिखित पंक्तियों पर पहुँचते तो शेर पढ़ते पढ़ते मारे खुशी के खड़े हो जाते थे :—

ये मजनूँ है नहीं आहू है लैला।
पहन कर पोस्तीं निकला है घर से।।
जिसे तू सींग समझे है यह हैं ख़ार।
लगे हैं पाँव में निकले हैं सर से।।

यह सुन्नत जमायत के अनुयायी थे। किंतु उनमें कोई कट्टरता न थी। कई धार्मिक रचनाएँ जनाबे अमीर हज़रत अली की स्तुति में लिखी हैं। इन रचनाओं से यह भी मालूम होता है कि जो कुछ इन्होंने कहा है, वह अपने मनोवेग को व्यक्त करने या अपनी शायरी की पगड़ी में प्रशंसा की कलंगी लगाने के लिये नहीं कहा, बल्कि हार्दिक प्रेम और श्रद्धा के वशीभूत होकर कहा। वह इतने आस्थावान थे कि गली कूचे में राह चलते हुए यदि किसी ताक़ पर तीन लड़ी का माला या किसी लिपे हुए मोखे में पाँच फूल पड़े देखते तो हाँथ बाँध कर फ़ातिहा पढ़ने लगते थे। जब कोई शागिर्द—चार पाँच तो सदा साथ ही रहते थे—उनसे पूछते कि 'उस्ताद, किसकी दरगाह है ?' तो कहते कि 'खुदा जाने किस बुजुर्ग का गुजर है'। वह कहता कि 'हज़रत आपने बिना पूछे पाछे फ़ातिहा क्यों पढ़ दी ?' 'कहते कि 'भाई, आखिर किसी ने फूल

चढ़ाए। माला पहिनाई, तो यों ही पहिना दिया? कुछ समझ कर ही पहिनाया होगा।' नौबत यहाँ तक पहुँची कि एक बार एक शागिर्द को पता था। उसी ने कहा, उस्ताद, मैं जानता हूँ। यह सामने हलालख़ोर का घर है और उसी ने लालबेग ताक़ बना रखा है। इस पर शाह साहिब हँस पड़े और कहा ख़ैर मैंने ख़ुदा की प्रार्थना की है। वह हवा में तो न उड़ जायगी। जहाँ ठिकाना है वहाँ पहुँचेगी जरूर। मुझे तो इसका पुण्य हो ही जायगा।'

शाह साहिब बहुत ही सुसंस्कृत और विनोदप्रिय रुचि के थे। इनकी वेशभूषा हमेंशा साफ़ और अच्छी रहती थी और सदा एक ही ढंग की होती थी, जैसा कि दिल्ली के कुलीन घरानों का नियम था। उनका पहिनावा ऐसा शरीफ़ना होता था कि प्रत्येक व्यक्ति उन्हें आदर और सम्मान की नज़र से देखता था। यद्यपि वह रंग के गोरे न थे, किंतु ऐसा लगता था कि एक प्रकार का नूर और फबन सर से पांव तक छाया हुआ है। बदन छरहरा और डीलडौल लंबा था। दाढ़ी खसखसी रखते थे। बाहरी दिखावे की भावना कम थी। इन सबसे हज़ार गुना अधिक उनके काव्य कौशल ने उनकी शानोशौकत बढ़ाई थी। कभी कभी किसी विशेष परिस्थिति में या अपनी कुछ रचनाओं में वे इस ओर जब संकेत करते हैं तो उस पर अन्य हज़ारों प्रकार के दिखावटी न्योछावर हो जाते हैं। उनके बारे में कुछ लतीफे मशहूर हैं जो काफ़ी मज़ेदार है।

लतीफे :—(१) शाह साहिब इतने गुणी और मजलिसों के एक संमानित और सुप्रतिष्ठित सदर होने के बावजूद अत्यंत विनोदप्रिय और मैत्री प्रिय व्यक्ति थे। बूढ़ों में बूढ़े और बच्चों में बच्चे बन जाते थे। हर एक मेले ठेले में जाकर अपनी रचनाओं के लिये कोई मौज़ूँ मज़मून खोजा करते थे।

मेरे उस्ताद कहते थे कि एक बार भोलूशाह के बसंत के मेले में शाह साहिब आये। कुछ शागिर्द साथ थे। उन्हें लेकर तीस हज़ारी बाग़ की दीवार पर जा बैठे और तमाशा देखने लगे। किसी रंडी ने बहुत सा रुपया लगाकर बड़ी सजधज के साथ एक कारचोबी का रथ बनवाया था। शहर में जगह जगह उसकी चर्चा हो रही थी। रंडी रथ में बैठी छम छम करती सामने से निकली। एक शागिर्द ने कहा, 'उस्ताद, इस पर कोई शेर हो'। तुरत कहीं तो दिया :—

उसकी रथ का कलस तिलाई देख,
शब कहा माह से यह पर्वी ने।
वह्‌रे - परवाज़ यह निकाली है,
चोंच बैज़े सैं मुर्ग़ज़री ने॥

एक किसी ऐसे ही अवसर पर कोई रंडी सामने से निकली। उस के सर पर उर्दा (बैंगनी) रज़ाई थी और उसपर वस्मः (चमकियों) की चमक बड़ी मनोहारी लग रही थी। एक शागिर्द ने फिर इस पर कुछ कहने के लिए फ़र्माइश की। उन्होंने कहा :—

ऊदी वस्मः की नहीं तेरी रज़ाई सर पर ।
महजबीं रात है तारों भरी छाई सर पर ।।

यद्यपि भाग्य ने शाह साहिब को काफी समृद्ध और धनी बनाया था, लेकिन उनकी आदत थी कि प्रत्येक शागिर्द से कुछ न कुछ फ़र्माइश अवश्य कर देते थे । उदाहरण के लिए जब ग़ज़ल को इस्लाह देने के लिए क़लमदान से क़लम उठाते तो कहते, 'मियां, कश्मीर के क़लमदान कितने सुंदर होते थे । खुदा जाने क्या हो गया । अब तो आते ही नहीं । भला कोई नजर चढ़ जाय तो लाना' । इसी तरह किसी से चाकू की फ़र्माइश कर देते । कभी कोई धनी शागिर्द होता और आप कपड़े पहनने लगते तो कहते कि 'ढाके की मलमल जो पहले आती थी, वह अब दिखाई ही नहीं देती । साहब, हमें तो यह अंग्रेजी मलमल जरा भी नहीं भाती मियाँ, कोई थान नजर चढ़े तो देखना ।'

कुछ दोस्तों ने ताज्जुब से उनसे पूछा कि यह क्या बात है ? जवाब दिया कि 'ये सब हर रोज वाहियात बकवास काग़ज़ पर लिखते हैं और आकर मेरी छाती पर सवार हो जाते हैं । इस फ़र्माइश से इतना फ़ायदा होता है कि रोज के आनेवाले चौथे दिन ग़ज़ल आने लगते हैं । इसके अलावा जिस काम को आदमी कुछ ख़र्च करके सीखता है, उसी की कीमत भी समझता है । उसका शौक़ भी पक्का होता है और जो कुछ लिखता है, मन लगाकर लिखता है । उसका तो उधर वह फायदा हुआ । मेरा यह फ़ायदा हुआ कि आया तो चीज़ आ गई । न लाया तो मेरा पीछा छूटा' ।

किसी सामयिक महत्त्व की घटना जिसकी लोगों में विशेष चर्चा होती, उस पर भी शाह साहिब कुछ न कुछ अवश्य कहा करते थे । जब मौलवी इस्माईल साहिब जिहाद में परास्त हुए और दिल्ली में इसकी ख़बर आई तो उन्होंने इस मौक़े पर एक लंबा क़सीदा लिखा, जिसके तीन शेर इस समय याद आते हैं :—

कलामुल्लाह की सूरत हुआ दिल उनका सीपारः,
न याद आई हदीस उनको न कोई नस्से-कुरआनी ।
हरिन की तरह मैदाने दग़ा में चौकड़ी भूले,
अगरचः थे दुमे-शमलः से वह शेरे-नीस्तानी ।

मौलवी साहिब के पक्ष वाले मुजाहिदों का दिल्ली में एक पूरा लश्कर था । उसके बहुत से बहादुरों ने आकर शाह साहिब का घर घेर लिया । मिर्जाख़ानी शहर के कोतवाल थे । वह सुनते ही दौड़े और आकर बचाया । शाह साहिब ने इन शेरों को मिलाकर एक क़सीदे की रचना कर दी और उसमें कोतवाल साहिब को बहुत धन्यवाद दिया । एक शेर इस क़सीदे का भी प्रसंगानुकूल है :—

नसीरूद्दीन बेचारा तो रस्ता तूस का लेता ।
न होते शहनए देहली अगर याँ मीरजा ख़ानी ।।

एक बार कई बादशाही गावों ने विद्रोह किया । शाह निज़ामुद्दीन, जो शाह जी के नाम से मशहूर थे और दरबार में मुख़्तार भी थे, फौज़ लेकर विद्रोह शांत करने गए, किंतु असफल लौटे, क्योंकि इनकी मुख़्तारी में बादशाह नौंकरों को तनख़्वाह मिलने में बड़ी कठिनाई होती थी। इस पर भी शाह नसीर ने एक कविता लिखी। इसका एक शेर है :—

क्या पूछते हो यारों बैठे थे ज़हर खाए ।
शुक्रे खुदा की बारे फिर शाह साहिब आए ।।

दिल्ली में एक हिंदू मुंशी 'नजिया' नाम की एक रंडी की आश्नाई में मुसल्मान हो गए शाह साहिब ने फ़रमाया :—

जिस तरफ़ तेने किया एक इशारा न जिया ।
नजिया, आह, तेरी चश्म का मारा न जिया ।।

ईसा ख़ां और मूसा खां दो भाई दिल्ली में रहते थे। धन दौलत को लेकर दोनों में झगड़ा हुआ । ईसा ख़ां असफल रहे । मूसा ख़ां ने कुछ अदालत के ज़ोर से, कुछ से, कुछ व्यावहारिक कौशल से सारा माल हड़प लिया । शाह साहिब ने मज़ाक़ के तौर पर कुछ शेर कहे । एक शेर याद है और वही इस रचना की जान है :—

'हुई आफ़ाक़ *में मुहत कि ईसा ख़ां का घर मूसा' ।

मज़ा यह कि दोनों भाई शायर थे। एक का तख़ल्लुस 'आफ़ाक़' और दूसरे का 'शुहत' था। इन दोनों भाइयों में से भी किसी एक ने जो ज्यादा बेवकूफ़ था, शाह साहिब के जवाब में कुछ वाहियात शेर कहे। और शाह साहिब के पूर्वजों का गुणगान करके खुद उनके बारे में बुरा भला कहा। चूँकि यह रौशनपूरे में रहते थे, इसलिये इस ओर संकेत कह के कहा :—

बाद उन सब के शाह साहिबा ने,
खूब रौशनपुरा किया रौशन ।।

(७) मिर्ज़ा मुग़ल बेग, जो ज़ात के जुलाहे थे, शाही वज़ीर के पद पर नियुक्त हुए। उस समय उनके किसी व्यवहार से शाही नौकरान नाराज हो गए। इस पर इनमें हर एक ने उनके बारे में हज्व लिख लिख कर अपने दिल का बुख़ार निकाला। एक ने शेर कहा :—

हँस के हातिफ़ ने कहा इसको कि वाह।
क्या ही अंटी में वज़ारत आ गई ।।

---

* बात यह थी कि शाह साहिब अंग्रेजी के दबदबे से बहुत प्रभावित थे। इसलिए जो अंग्रेजों के ख़िलाफ़ होता था उसकी बुराई करते थे।

शेख़ साहिब ने भी एक ग़ज़ल कही। उसके दो शेर याद हैं :—

ताने वाने पर न कर दुनिया के हर्गिज़ एतबार,
ग़ौर कर चश्मे–हक़ीक़त से कि सर पर कूच है।
तोड़ कर तू इस तरफ़ से उस तरफ़ को जोड़ ले,
तू तो मोमिन है वगरना मोमिनों की पूच है॥

शाह नसीर और शेख़ इब्राहीम ज़ौक़ में भी कुछ नोक झोंक हुए, जो कि उनके शायरी के बयान में लिखा जा चुका है।

(८) दकन की सरकार का नियम था कि दिनरात लगातार बराबर प्रशासनिक कारबार चलता रहता था। भिन्न भिन्न समयों पर भिन्न भिन्न प्रकार के काम निर्धारित थे। जिस विभाग का काम खत्म हो जाता, उसमें काम करने वाले चले जाते और दूसरे विभाग के लोग आ जाते थे। इसी बीच कार्यकारी उठकर कुछ आराम ले लेते थे और अन्य आवश्यकताओं से फ़ारिग होकर फिर आ बैठते थे। इसलिए शायरों के संमेलन और निबंध पढ़ने वालों की गोष्ठियाँ रात के पिछले पहर हुआ करती थीं। ऐसे ही एक मौके पर एक बड़े धूमधाम का जलसा था। दकन के सभी गुणी शायर और ईरान के भी कुछ शायर मौजूद थे। सब की रूचियों ने अपने अपने जौहर दिखलाए। विशेषत: कुछ ईरानी शायरों ने ऐसी ऐसी कविताएँ सुनाईं कि सारे महफ़िल में वाह बाह का स्वर गूँज उठा। शाह नसीर भी जो वहाँ सर्वसाधारण से परिचित थे और जिनका अपने शिष्ट व्यवहार के कारण दरबार के सभी छोटे बड़े लोगों सम्मान करते थे, उस महफ़िल में उपस्थित थे। जब शम्अ-महफ़िल इनके करीब पहुंची तो एक ख़वास ने जो सोने का असा हाथ में लिए और हजार बारह सौ रुपये का दुशाला कंधे पर डाले वहाँ खड़ा था, झुक कर इनके कान में कहा कि 'आज आप ग़जल न पढ़ें तो अच्छा हो'। आपने बिगड़ कर पूछा 'क्यों'? उसने कहा कि 'हवा कुछ तेज हो गई है' (यानी आपकी शायरी शायद हल्की पड़े।) यह रोष से अपनी टुड्ढी पर हाथ फेरकर बोले, 'ऐसा तो मैं खूबसूरत नहीं कि किसी ने मेरी सूरत देखने को बुलाया हो। यह नहीं तो फिर मैं हूँ किस काम का' इस तर्क-वितर्क में शम्अ भी सामने आ गई। फिर जो ग़जल सुनाई तो सब को लोटा दिया।

(९) शेर कहने में इनकी बड़ी प्रांजल रुचि होने के अलावा ये बड़े हाज़िर जवाब भी थे। एक दिन सुल्तान जी की सत्तहवीं में गए। और बावली में जाकर एक ताक़ में बैठ गए। हुक्का पी रहे थे कि संयोगवश एक नवाब साहिब आ निकले। शाह साहिब से साहिब सलामत हुई। वहाँ कुछ रंडियां भी थीं। रंगरलियां मची हुई थीं और नाच हो रहा था। रंडियों के उस तड़क-भड़क की ओर इशारा करते हुए नवाब साहिब ने फरमाया कि 'उस्ताद, आज आप भी 'बालाए ताक़' हैं'। बोलें, 'जी हाँ, जुफ्त होने को बैठा हूँ, आइये तशरीफ़ लाइये'।

(१०) शाह नसीर एक बार दकन को चले। नबाव भज्जझर के बहुत दिनों से बुलावा भेज रहे थे। चूँकि उनकी रियासत रास्ते में पड़ती थी, गर्मी भी अधिक पड़ रही थी और लगातार सफ़र करना भी कष्टकर था, इसलिए वहाँ गए और कई दिन ठहरे। जब चलने लगे तो उनसे विदा होने के लिए गए। नवाब ने कहा, 'गर्मी के दिन हैं। दकन की यात्रा दूर की यात्रा है। खुदा आपको फिर ख़ैरियत से वापिस लाए। मगर यह बतला दीजिए कि अब भज्जर में कब आइएगा। हँसकर बोले कि 'भज्जर की चाह तो वहीं गर्मी में।'

(११) शाह साहिब का एक मशहूर शेर है :—

चुराई चादरे महताव शव मकश ने जीहूँ पर।
कटोरा सुवह दौड़ाने लगा खुर्शीद गर्दू पर॥

नवाब सादतयार ख़ाँ 'रंगीन' अपने मजलिस रंगीन में लिखते हैं कि एक जलसे में इस शेर की बड़ी तारीफ़ हो रही थी। मैंने उसमें इस्लाह दी कि इसके बजाय अगर

'चुराई चादरे महताव शव वादल ने जीहूँ पर'

हो तो अच्छा हो। इसकी वजह यह कि जब वादल चाँद पर आता है तो 'चादरे महताब' नहीं रहती। मानों चोरी चली जाती है। शाह के शेर में चोर तो ज़मीन पर है और मज़मून आस्मान में। ज़मीन की कहानी ज़मीन ही पर होनी चाहिए। आस्मान के लिए चोर भी आस्मानी ही चाहिए।' किसी शख्स ने इस इस्लाह की चर्चा शाह साहिब से भी जाकर कर दी। वह बहुत बिगड़े और कहा कि 'नवाब ज़ादा होना और बात है और शायरी और है'। 'रंगीन' यह ख़बर सुनकर शाह साहिब के पास गए और उनसे अपनी गुस्ताखी के लिए बहुत क्षमा माँगी।

मेरे विचार में शाह साहिब की रचना में कोई दोष नहीं है। चाँद आस्मान पर होता है। चांदनी ज़मीन पर होती है। और चाँदनी का मज़ा मैकश (शराब पीने वाला) उड़ाता है, बादल क्या उड़ायेगा। और 'मैकश' न होगा तो शेर की सुंदरता चली जायगी।

(१२) अपनी जागीर के प्रबंध के सिलसिले में ये एक बार सोनीपत के तहसीलदार से मिलने गए। और कुछ रंगतरे दिल्ली से सौगात के तौर पर साथ ले गए। तहसीलदार ने कहा कि 'नवाब शाह साहिब, रंगतरे लाने की क्या ज़रूरत थी? आपकी ओर से तो सबसे बड़ा सौग़ात आपका कलाम है। इन खुबसूरत रंगतरों की हुस्न-तश्बीह के लिए कुछ शेर फ़रमाइये' शाह साहिब ने उसी समय ये शेर कहे और सुनाए :—

ऐ नय्यिरे-बुर्ज- ग्रास्माने-इक़बाल,
इन रंगतरों पर ग़ौर से कीजिएगा ख़याल ।

यह नज़- हक़ीर हो क़बूले ख़ातिर,
परदः में शफ़क़ के हैं गिरह बंदे-हिलाल ॥

+ + +

ग़ज़लें

ज़ेब-तन गर्चे है गुल पै रहने सुर्ख तेरा ।
लेकिन ग्रंजाम ये होगा कफ़ने सुर्ख तेरा ॥
मुझको कहता है वह निकला है शफ़क़ में ये हिलाल ।
या नुमूदार है ज़ख्मे कुहने सुर्ख़ तेरा ॥
दस्तरस पाँव तक उस शोख़ के तुझको है यहाँ ।
क्योंकि रुत्बः न हो ऐ गुलबदने सुर्ख तेरा ॥
है मेरी आह यहाँ नख़्ले गुलिस्ताने-खलील ।
रूख़े-गुलनार वहाँ है चमने सुर्ख़ तेरा ॥
शीशये बादये-गुलरंग पटक दे साक़ी ।
जमाये-सब्ज़ में देखे जो तने सुर्ख़ तेरा ॥
ग्रास्तां से ये लगा कहने वह तलवार को पोंछ ।
बन गया मौजे - यमे,खूँ शिकने सुर्ख़ तेरा ॥
रश्के नीलम ही नहीं रंगे मिसी की ये नमूद ।
लब भी है ग़रते लाले-यमन सुर्ख़ तेरा ॥
सच बता तु मुझे फ़ारे ख़दनगे क़ातिल ।
लहू किस किस का पियेगा दहने सुर्ख़ तेरा ॥
ख़ाक बाहम हो शरारत से हम आग़ोश नसीर' ।
साफ़ है शोलये ग्रातिश बदने सुर्ख़ तेरा ॥

+ + +

ख़ाल पुश्ते लबे शीरीं है ग्रसल की मक्खी ।
रूह फ़र्हाद सिपट बन के जबल की मक्खी ॥
संगो-ख़िस्ते दरो दीवार फ़ितादः को देख ।
हाथ मलती है पथोर के महल की मक्खी ॥

बन गया हूँ मैं ख़्याले कमरे यार में मोर ।
न तेरे ज़ोर की ताकत है न बल की मक्खी ॥

तीरः बख्ताने अजल का कभी देखा न फ़रोग़ ।
शब को जुगनू की तरह उड़के न झलकी मक्खी ॥

बैठने से तेरे हम समझे लबे यार को क़न्द ।
बात मुश्किल थी मगर तूने ये हल की मक्खी ॥

उनको क्या काम तवक्कुल से जो बन जाते हैं ।
क़ाबे-बिरयानो पे हर अहले-दवल की मक्खी ॥

हो गया है ये तेरी चश्म का बीमार नहीफ़ ।
न उड़ा सकता है मुँह की न बग़ल की मक्खी ॥

रीस पर्वानये-जांसोज़ की करती तो है पर ।
निगहे शमा में हो जायगी हलकी मक्खी ॥

सनअते-लावते-वाँ देख दिला जाकर तू ।
देखनी गर तुझे मंजूर है कल की मक्खी ॥

दिलरुबा क़हरे फ़सूँसाज़ है बंगाला के ।
आदमी को वह बनाते हैं अमल की मक्खी ॥

सुख़न अपना जो शकर-रेज़-मआनी है नसीर ।
है रदीफ़ इस लिए इस शेरो ग़ज़ल की मक्खी ॥

× × ×

मोमिन ख़ान साहिब 'मोमिन'

उर्दू शायरों के जीवन वृत्तों को लिखते समय मैंने पहिले मोमिन ख़ाँ की कोई चर्चा नहीं की थी । इसका एक कारण विशेष था । हम पाँचवें दौर को, जिससे मोमिन ख़ाँ का संबंध है, बल्कि यों कहें कि तीसरे और चौथे दौर को भी ज़रा विवेक-पूर्ण दृष्टि से देखें कि इन मजलिसों में उपस्थित महानुभाव किस वेषभूषा में और कैसे सामान से लैस हैं । किसी मजलिस में बैठा हुआ व्यक्ति तभी सोभता है जब कि वह उसी वेशभूषा और सजधज में हो, जिसमें उस महफ़िल के और लोग हों । यदि न हो तो वह उस मजलिस की सदस्यता के लिये एक अपवाद सा जँचेगा । मोमिन खाँ को योग्यता को हम निःसंदेह स्वीकार करते हैं । अपने देश में सुयोग्य व्यक्तियों की संख्या अधिक हो और उनकी योग्यता सराही जाय इस बात से किसे गर्व नहीं होता ? लेकिन जब मैं इस पुस्तक को लिख रहा था अकसर लोगों को पत्र लिखे और लिखवाए । वहाँ से जो उत्तर आए वे भी मेरे पास मौजूद हैं ।

Chennai eGangotri Urdu

ग्राग्रह वश इस वृत्त का भी मैंने इसमें समावेश किया। कुछ व्यक्तियों ने उत्तर में मनचाही बातें कहीं। मैंने उन सब की एतराजों को ग्राभार के साथ ग्रपने दामन में ले लिया।

दो गालियाँ कि बोसः खुशी पर है ग्रापकी,
रखते फ़क़ीर काम नहीं रद्दोक़द से हैं॥ ––'ज़ौक़'

हाँ, खेद इस बात का है कि कुछ व्यक्तियों ने, जिन्होंने मेरे ग्रनुरोध पर शायरों की जीवनी ग्रौर कृतियों के बारे में जाँच पड़ताल करने का कष्ट किया, किंतु कोई विशेष जानकारी उपलब्ध करने में ग्रसफल रहे, उन्होंने भी मेरी पुस्तक के बारे में टिप्पणियाँ कीं। किंतु प्रसंगोचित बातें कुछ न लिखीं। केवल ग्रनर्गल बकवास की। उसी बीच मैंने दिल्ली ग्रौर उसके ग्रास पास की जगहों में उन व्यक्तियों के पास पत्र लिखे जिन्हें मोमिन ख़ाँ के व्यक्तित्व ग्रौर उनकी शायरी में रुचि थी। पुस्तक समाप्त करने के पहिले सूचनाग्रों के लिये फिर ग्राग्रहपूर्ण पत्र भी लिखे। उन्हीं में से एक सज्जन की कृपा का मैं ग्रत्यंत ग्राभारी हूँ कि उन्होने स्वयं ग्रौर ग्रन्य व्यक्तियों से भी सलाह करके छोटे मोटे विवरणों को एकत्रित करने का कष्ट किया ग्रौर उनका संकलन कर कुछ पृष्ठ लिखे ग्रौर उसे इस पुस्तक के समाप्त होते होते मेरे पास एक पत्र के साथ भेज दिया। उन्होंने मुझे उसमें यथोचित काट छांट करने की भी ग्रनुमति दे दी थी। मैंने उस निबंध में कुछ ऐसी ही पंक्तियाँ हटाईं जिनसे केवल वर्णनविस्तार के ग्रौर कोई लाभ न था। ग्रौर कुछ ऐसी बातों ग्रौर कहानियों को या तो संक्षिप्त कर दिया या छोड़ दिया जिनसे मोमिन ख़ाँ की शायरी से कोई विशेष संबंध न था। शेष मैंने बिना काटछाँट या परिवर्तन किए हुए जैसा का तैसा प्रस्तुत पुस्तक में समावेश कर दिया। हाँ, यदि मुझे स्वयं कुछ कहना हुग्रा तो उसे पार्श्व पर या टिप्पणी के रूप में लिख दिया। ग्राशा है कि जिन व्यक्तियों को इस बारे में पहले कोई शिकायत थी वे इस स्पष्टीकरण के बाद हमें क्षमा करेंगे।

मोमिन खाँ साहिब का जीवन वृत्त

इनके पिता हकीम गुलाम ख़ाँ ग्रौर पितामह हकीम नामदार ख़ाँ दिल्ली के संभ्रांत व्यक्तियों में थे। इनके पूर्वज कुलीन कश्मीरी थे। पहले पहल नामदार ख़ाँ ग्रौर उनके भाई हकीम कामदार ख़ाँ मुग़ल राज्य के ग्रंतिम काल में दिल्ली ग्राकर बादशाही हकीमों के पद पर प्रतिष्ठित हुए। शाह ग्रालम के राज्य काल में इन्हें परगना नानौल में मौज़ा बिलाहा इत्यादि की जागीर प्रदान की गई। जब ग्रंग्रेज़ी सरकार ने झझर की रियासत नवाब फ़ैज़ तलब खाँ को उपहार के रूप में दिया तो परगना नारनौल हज़ार रुपये वार्षिक पेंशन हकीम नामदार ख़ाँ के नाम मुंदर्रर कर दी। इस वृत्ति में से हकीम गुलाम नबी ख़ाँ साहिब ग्रौर हकीम मोमिन ख़ाँ साहिब ने भी ग्रपना

अंश पाया। इसके अतिरिक्त इनके परिवार के चार सदस्यों को अंग्रेज़ सरकार से भी सौ सौ रुपए की वृत्ति मिलती थी। इसमें से चौथाई हिस्सा इनके पिता को और उनके मरणोपरांत इन्हें मिलता रहा।

इनका जन्म सन् १२२५ हि० में हुआ। इनके पूर्वज जब दिल्ली में आए तो चीलों के कूचे में रहते थे और वहीं उनके वंश का निवास स्थान बना रहा। शाह अब्दुल अज़ीज साहिब का मदरसा वहाँ से बहुत क़रीब था। इनके पिता शाह साहिब को अत्यंत श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। जब इनका जन्म हुआ तो शाह साहिब ने ही आकर उनके कान में अज़ान दी और इनका मोमिन ख़ाँ नामकरण किया। घर वालों ने इस नाम को नापसंद किया और हबीबुल्लाह नाम रखना चाहा। किंतु इन्होंने शाह साहिब ही के नाम से नाम पाया।

बचपन की साधारण शिक्षा के बाद इन्होंने जब जरा होश संभाला तो पिता ने इन्हें शाह अब्दुल क़ादिर ख़ाँ की अभिभावकता में विद्योपार्जन के लिए भेजा। उनसे इन्होंने अरबी की प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की। स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि जो बात शाह साहिब से सुनते थे, तुरत याद कर लेते थे। प्रायः ऐसा होता था कि शाह अब्दुल अज़ीज़ साहिब का वाज़ (प्रवचन) एक बार सुनकर अक्षरशः उसी तरह फिर दुहरा दिया करते थे। जब अरबी में कुछ योग्यता प्राप्त हो गई तो अपने पिता और चचा, गुलाम हैदर ख़ाँ और गुलाम हसन ख़ाँ से चिकित्सा शास्त्र की पुस्तकें लेकर पढ़ीं और उन्हीं के दवाख़ाने में नुस्खे लिखने लगे।

ओजस्वी-प्रतिभा अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी एक ही कौशल से संतुष्ट नहीं रहती। इसने इन्हें अपने पूर्वजों के व्यवसाय अर्थात् हकीमी तक ही सीमित न रहने दिया। मन में भिन्न भिन्न अभिलाषाएँ उत्पन्न हुईं। शायरी के अतिरिक्त यह ज्योतिष की ओर भी आकर्षित हुए। इन्होंने इस विद्या को विशेषज्ञों से सीखा और सीख जाने पर इनके कौशल की उत्कृष्टता से वे लोग भी लाभान्वित हुए। इन्हें ज्योतिष के प्रति विशेष अभिरुचि थी। इनकी भविष्य वाणियों को सुनकर बड़े बड़े ज्योतिषी हैरान रह जाते थे। वर्ष भर में केवल एक बार पंचांग देखते थे। फिर साल भर सभी ग्रहों के स्थान और उनकी गतिविधि को याद रखते थे। जब कोई प्रश्न करता तो न जन्मपत्री बनाते न पंचांग देखते, प्रश्नकर्त्ता से कहते कि तुम बस चुप रहो। जो मैं पूछता जाऊँ उसका उत्तर देते जाओ। फिर कुछ प्रश्न करते और प्रश्न कर्त्ता की समस्याओं का समाधान कर देते।

एक दिन एक निर्धन हिंदू इनके पास अत्यन्त विक्षिप्त और चिन्ताग्रस्त दशा में आया। इस समय उनके बीस वर्ष के एक पुराने मित्र शेख़ अब्दुल करीम वहीं बैठे थे। ख़ान साहिब ने उसे देखते ही कहा, 'क्या तुम्हारा कोई माल गुम हो गया है?' उसने कहा 'साहिब, मैं तो लुट गया'। इन्होंने कहा, 'बस तुम चुप हो जाओ जो मैं कहूँ उसे सुनते जाओ। अगर मैं कोई ग़लत बात कहूँ तो तुम

उसका इन्कार कर देना' । फिर पूछा 'क्या कोई ज़ेवर खो गया है ?' 'उसने कहा, 'साहब हाँ, वही जीवन भर की कमाई थी' । इन्होंने कहा, 'उसे या तो तुमने लिया है या तुम्हारी बीबी ने । कोई बाहर का आदमी उसे चुराने नहीं आया' । उसने कहा, वह तो मेरी ही संपत्ति थी और मेरी स्त्री के पहिनने के गहने थे । भला हम लोग क्यों उसे चुराएँगे ?' हँसकर कहा, 'कहीं रख कर भूल गए होगे । तुम्हारा माल कहीं बाहर नहीं गया' । उसने कहा, 'साहिब, सारा घर ढूँढ़ मारा । कोई जगह छूटी नहीं' । कहा, 'फिर जाकर देखो' । वह गया और सारे घर में अच्छी तरह देखा । फिर आन कर कहा, 'साहिब, मेरा छोटा सा घर है । एक एक कोना देख लिया । कहीं पता नहीं लगता' । ख़ान साहिब ने कहा, उसी घर में है । तुम ग़लत कहते हो' । उसने कहा, 'आप स्वयं चलकर तलाशी ले लीजिए । मैं तो ढूँढ़ चुका' । इन्होंने कहा 'मैं यहीं से बताता हूँ ।' यह कह कर उसके सारे मकान का नक़शा बताने लगे और वह इनकी सब बातों को स्वीकार करता गया । इन्होंने कहा 'इस घर में दक्खिन की ओर एक कोठरी है । उस कोठरी में उत्तर की ओर एक लकड़ी का मचान है । उसी के ऊपर तुम्हारे सारे गहने रखे हैं । जाकर ले लो' । उसने कहा, 'मचान को तो तीन बार छान मारा । वहाँ नहीं मिला' । इन्होने कहा 'उसी के एक कोने में पड़ा है' । अन्त में वह गया और जब रोशनी करके देखा तो उसका डब्बा और उसके भीतर उसका सब गहना ज्यों का त्यों वहीं से मिल गया ।

एक साहिब ने एक पत्र में इस घटना विशेष के साथ साथ उनके ज्योतिष संबंधी कौशल के बारे में अन्य कई घटनाओं को लिखा है । हमें खेद है कि उन सब को यहाँ उद्धृत करना हम अपेक्षित नहीं करते क्योंकि लोग कहेंगे कि शायरों की चर्चा करने बैठा और लगा चर्चा करने नजूमियों (ज्योतिषियों) की ।

ख़ान साहिब ने अपने ज्योतिष की कुशलता के बारे में एक ग़ज़ल में बड़े सुंदर ढंग से ये पंक्तियाँ कही हैं :—

इन नसीबों पर किया अख़्तर-शनास ।
आस्माँ भी है सितम-ईजाद क्या ।।

शतरंज के भी बहुत अच्छे खिलाड़ी थे । जब खेलने बैठते थे तो इन्हें दीन दुनिया की खबर न रहती थी । और घरबार के अत्यन्त आवश्यक कामों को भी भूल जाते थे । दिल्ली के प्रसिद्ध शतरंज के खिलाड़ी करामत अली ख़ाँ तो उनके निकट संबंधी ही थे । और शहर के दो एक और मशहूर खिलाड़ियों को छोड़कर ये किसी से कम न थे ।

शेर व सुख़न में इन्हें स्वाभाविक रुचि थी और इनके भावुक स्वभाव ने उसे और प्रखर बना दिया था । शुरू में ये शाह नसीर को अपनी रचनाएँ दिखाया

करते थे । किंतु कुछ समय बाद उनसे इस्लाह् लेना छोड़ दिया और फिर किसी को उस्ताद नहीं बनाया ।

इनके लब्धप्रतिष्ठ शागिर्दों में नवाब आजमुद्दौला के बेटे (१) नवाब मुस्तफा ख़ाँ 'शेफ़्तः' और उनके छोटे भाई (२) नवाब अकबर ख़ाँ जिनकी मृत्यु चार वर्ष बीते रावलपिंडी में हुई, (३) मीर हुसेन 'तस्कीन' जो एक बड़े परिष्कृत रुचि के कवि थे, (४) सैय्यद गुलाम अली ख़ाँ 'वहशत', (५) गुलाम ज़ामिन 'करम,' (६) नवाब असग़र अली ख़ाँ जो कि पहले 'असग़र' तख़ल्लुस करते थे फिर 'नसीम' तख़ल्लुस किया, और (७) मिर्ज़ा खुदा बख़्श 'क़ैसर' इत्यादि थे ।

ये बड़े रसिक स्वभाव के थे । इनकी वेश भूषा सदा रूचिपूर्ण होती थी । अच्छी डील डौल के थे । खुला हुआ रंग था । सर पर लंबे लंबे घुँघराले बाल थे और उनमें बराबर उंगलियों से कंघी करते रहते थे । मलमल का अँगरखा, जिसके ढीले ढाले पाँवचे होते थे । और उनमें लाल गोंट भी लगी होती थी । मैंने उन्हें नवाब असग़र अली ख़ाँ और मिर्जा खुदा बख्स क़ैसर के मुशायरों में ग़जल पढ़ते हुए सुना था । ऐसे दर्द भरे स्वर और मनोहारी राग से अपनी रचनाएँ पढ़ते थे कि मुशायरा विमुग्ध हो जाता था । वे सारे दृश्य अभी तक आँखों के सामने हैं लेकिन वे बातें अब कहाँनियाँ हो गईं । इन सब बातों के होते हुए भी उनमें धार्मिक प्रवृत्ति की कमी न थी । युवावस्था में ही ये मौलाना सैय्यद अहमद साहिब बरेलवी के मुरीद हो गए जो कि मौलवी इस्माईल साहिब के पीर थे । ख़ान साहिब बराबर उन्हीं के मत के अनुयायी रहे ।

उन्होंने किसी की व्यक्तिगत तारीफ़ में कोई क़सीदा नहीं लिखा । हाँ, केवल एक व्यक्ति के बारे में कुछ कहा और वह थे पटियाले के रईस राजा करम सिंह के भाई, राजा अचेत सिंह जो दिल्ली में रहते थे । इनकी दानशीलता दिल्ली भर में प्रसिद्ध थी । एक दिन वह मुसाहिबों के साथ राजमार्ग के निकट अपने कोठे पर बैठे थे । ख़ान साहिब उधर से गुजरे । लोगों ने उन्हें बतलाया कि मोमिन ख़ाँ शायर यही हैं । राजा साहिब ने आदमी भेजकर उन्हें बुलवा कर आदर और प्रतिष्ठा से अपने पास बिठाया । कुछ ज्योतिष, कुछ कविता के विषय में बातें कीं । और हुक्म दिया कि हथनी कस कर लाओ । हथनी हाज़िर की गई । उसे उन्होंने ख़ान साहिब को भेंट की । उन्होंने कहा कि महाराज, मैं ग़रीब आदमी हूँ इसे कहाँ से खिलाऊंगा और क्योंकर रखूँगा ? राजा साहिब ने हुक्म दिया कि सौ रुपये और दो । ख़ान साहिब उसी पर सवार होकर घर आए और इसके पहिले कि हथनी रुपए खाय, उसे वेंच कर छुट्टी पाई । फिर आभार - प्रदर्शन के लिये ख़ान साहिब ने एक क़सीदा लिखकर राजा साहिब के पास भेजा जिसकी पहली पंक्तियाँ हैं :

सुवह् हुई तो क्या हुआ है वही तीरः अख़्तारी ।
कसरते-दूद से सियाह खोलए-शमअ-ख़ावरी ।।

इस क़सीदे के अलावा इन्होंने और किसी व्यक्ति के बारे में स्वार्थ साधने या किसी लाभ की आशा से उसकी प्रशंसा में कोई क़सीदा नहीं लिखा । वे इतने स्वाभिमानी थे कि किसी दोस्त या संबंधी का कोई छोटा सा भी आभार सहन करना नहीं चाहते थे ।

राजा कपूरथला ने उन्हें साढ़े तीन सौ रुपए मासिक वेतन पर अपने दरबार में बुलाया और हज़ार रुपए उनके मार्गव्यय के लिए भेजा । ख़ान साहिब भी वहाँ जाने के लिए तैयार हो गए । किंतु इन्हें पता चला कि वहाँ एक गवैये का भी यही वेतन है । इन्होंने कहा कि जिस जगह मेरी और एक गवैये की बराबर तनख्वाह है मैं ऐसी जगह नहीं जाना चाहता ।

जिस प्रकार शायरी के द्वारा उन्होंने धन कमाने का प्रयास नहीं किया उसी तरह ज्योतिष, रमल और हिकमत को भी अपने जीविकोपार्जन का साधन नहीं बनाया। जैसे शतरंज उनके मनोरंजन की एक सामग्री थी, वैसे ही अपने और इल्मों को भी यह केवल अपने मनबहलाव का साधन समझते थे ।

ख़ान साहिब चार पाँच बार दिल्ली से बाहर गए । पहले तो वह रामपुर गये वहाँ जाकर इन्होंने कहा :—

दिल्ली से रामपुर में है लाया जुनूँ का शौक ।
वीरान : छोड़ आए हैं वीरान : तर में हम ।।

दूसरी बार सहसवाँ गए । वहाँ फ़रमाते हैं :—

छोड़ दिल्ली को सहसवाँ आया ।
हर्ज़गर्दी में मुब्तिला हूँ मैं ।।

कई बार नवाब मुस्तफ़ा ख़ाँ साहिब के साथ जहाँगीराबाद गए। एक बार नवाब शाइस्ता ख़ाँ के साथ सहारनपुर गए। इससे यह पता चलता है कि दिल्ली में इन्हें जो कुछ कमाई हो जाती उसी पर इन्हें संतोष था । यही ग़ालिब के जीवनचर्या से भी मालूम होता है ।

इनकी कुशाग्र बुद्धि और परिमार्जित रुचि की पर्याप्त प्रशंसा नहीं की जा सकती । वे स्वयं भी अपने समकालीन केवल दो व्यक्तियों को छोड़ कर किसी अन्य को अपने से बड़ा न समझते थे एक थे मौलवी इस्माईल साहिब और दूसरे इनके पीर और मीर दर्द के नवासे ख्वाजा मुहम्मद नसीर साहिब ।

अपनी अत्यन्त परिष्कृत बुद्धि और ऊँची कल्पनाओं के आगे वे प्राचीन अथवा आधुनिक किसी भी शायर के कौशल को मान्यता न देते थे । उनकी यह उक्ति बड़ी प्रसिद्ध है कि सादी की गुलिस्ताँ की लोग बहुत बढ़ा चढ़ा कर प्रशंसा करते हैं किंतु उसमें है क्या ? गुफ्त, गुफ्त, गुफ्तम, गुफ्तम्अन्द (कहा, कहा कहना, कहाना). कहते चले जाते हैं अगर [illegible] को हटा दो तो कुछ भी नहीं

रहता। एक दिन मुफ्ती सदरुद्दीन ख़ाँ के घर पर यही बात कही। वहीं मौलवी फ़ज़लहक़ साहिब के शागिर्द मौलवी अहमद उद्दीन करसानवाला बैठे थे। उन्होंने कहा कि वैसे तो कुरान शरीफ की भाषा में ही कौन सी फ़साहत है। जगह जगह पर 'क़ाल, क़ाल, क़ालू, कालू (कहा, कहा, कहना, कहना) है।

इनके किसी शागिर्द ने अपनी एक ग़जल में यह शेर लिखा था :—

हिज्र में क्योंकर फिरूँ हर सून घबराया हुआ।
वस्ल की शब का समाँ आँखों मे है छाया हुआ॥

ख़ान साहिब ने पहले मिस्रे को यूं बदल दिया :—

'इस तरफ़ को देखता भी है तो शर्माया हुआ'

जो शायरी के मर्मज्ञ हैं वह तो साफ समझ जाएँगे कि लफ्ज़ों के इस हल्के फेरबदल से शेर कहाँ से कहाँ पहुँच गया।

एक और शायर ने 'इलाही बख्श' का सज्आ लिखा :—

'मुझ गुनहगार को इलाही बख्श'

ख़ान साहिब ने फर्माया :—

'मैं गुनहगार हूँ इलाही बख्श'

तारीख़ी रचनाओं में निर्धारित संख्या से उसका घटाना या बढ़ाना वर्जित माना जाता है। किंतु इन्होंने अपने काव्य शक्ति के आवेग में इस नियम की अनेक स्थानों पर अवहेलना की। इन्होंने अपने पिता की मृत्यु के बाद यह तारीख़ कही

व मन इल्हाम गश्त साले वफ़ात
कि गुलामें नबी बहक पैवस्त॥

इसमें 'गुलाम नबी' के अंकों के साथ यदि 'हक़' मिलाएं तो मृत्यु का पूरा सन् निकल आता है।

इसी प्रकार इन्होंने अपनी कम उम्र बेटी की मृत्यु पर एक कुएं के बनने पर एक, हज जाते हुए रास्ते से लौट आए व्यक्ति पर, अपनी लड़की को बच्चा पैदा होने पर, वगैरह विषयों पर भी तारीखें कहीं हैं।

इनकी मुकरियाँ भी बहुत सी हैं। किंतु एक लाजवाब है। ऐसा नहीं सुना गया :—

बने क्यों कर कि है सब कार उल्टा।
हम उल्टे, बात उल्टी, यार उल्टा—यानी महताब राय

इन्होंने कुछ पहेलियाँ भी कहीं। एक यहाँ लिखी जाती है जो 'घड़ियाल' पर है :—

न बोले वह जव कि कोई बुलाए,
न लफ्ज़ और मानी समझ में कुछ आए ।।

नहीं चोर पर वह लटकता रहे,
ज़माने का अह्वाल बिकता रहे ।।

शबो रोज़ ग़ौज़ मचाया करे,
इसी तरह से मार खाया करे ।।

सदा है इस आहो चश्म तर से फ़लक-पे-विजली-ज़मीं-पे-बाराँ,
निकल के देखो टुक अपने घर से फ़लक पे विजली ज़मीं पे बाराँ ।।

वह शोलारू है सवार तौसन और उसका तौसन अरक़-फ़िशाँ है,
अजब है एक सैर दोपहर से फ़लक पे विजली ज़मीं पे बाराँ ।।

हँसे है कोठे पे यूसूफ़ अपना मैं ज़रे दीवार रो रहा हूँ,
अज़ीज़ो देखो मेरी नज़र से फ़लक पे बिजली ज़मीं पे बाराँ ।।

पतंग क्योंकर न होवे हैराँ कि शमा सबको दिखा रही है,
बचश्म गिरयानो ताज ज़रसे फ़लक पे बिजली ज़मीं पे बाराँ ।।

नहा के अफ़शाँ चुनो जबीं पर निचोड़ो जुल्फ़ों को वाद उसके,
दिखाओ आशिक़ को इस हुनर से फ़लक पे बिजली ज़मीं पे वाराँ ।।

कहाँ है जो शोला शाख़ पर गुल किधर है फ़सले बहारे शबनम,
नया है एआज़ तरफ़ा तर से फ़लक पे बिजली ज़मीं पे बारां ।।

करो न दरिया पे मैकशी तुम इधर को आओ तो मैं दिखाऊँ,
सरश्को हर नालये जिगर से फ़लक पे जिजली ज़मीं पे बाराँ ।।

किधर को जाऊँ निकल के यारव कि गर्म सर्द ज़माना मुझको,
दिखाये है शाम तक सहर से फ़लक पे बिजली ज़मीं पे बाराँ ।।

वह तेग़ खींचे हुए है सर पर मैं सर झुकाये हूँ अश्क रेज़ाँ,
दिखाऊँ ऐ दिल तुझे किधर से फ़लक पे बिजली ज़मीं पे बाराँ ।।

ग़ज़ब है चोंब जबीं वह क्या है बदन से टपके भी है पसीना,
अयाँ है यारो नये हुनर से फ़लक पे विजली ज़मीं पे बाराँ ।।

'नसीर' लिक्खी है क्या ग़ज़ल ये कि दिल तड़पता है सुनके जिसको,
बँधे हैं कब यूँ किसी बशर से फ़लक पे बिजली ज़मीं पे बाराँ ।।

निहाँ है कब चश्म हर बशर से फलक पे बिजली ज़मीं पे बाराँ,
है उस निगह से इस अश्के तर से फ़लक पे बिजली ज़मीं पे बारां ।।

दिखा के तुम शह नशीं पे जलवा जो देखो फव्वारह का तमाशा,
तो ये सदा आए बामो दर से फ़लक पे बिजली ज़मीं पे बाराँ ।।

वह मेहवश पुश्ते फ़ील पर है और उसकी खरतूम आब अफ़शाँ,
अजब है तश्बीह जलव गर से फ़लक पे बिजली ज़मीं पे बाराँ ।।

वह तिफ़ले तरसा जबाँ ते क़शक़ा को खींच सूरज को देवे पानी,
तो क्यों न दिल देखने को तरसे फ़लक पे बिजली ज़मीं पे बाराँ ।।

दोपट्टा सर पर है बादले का गुलाबपाश उसे हाथ में है,
न क्योंकि चमके न क्योंकि बरसे फ़लक पे बिजली ज़मीं पे बाराँ ।।

तू अपनी पगड़ी पे रखके तुर्रा हो खेले पिचकारियों से होली,
अयाँ हो नैरंगिये दिगर से फ़लक पे बिजली जमीं पे बाराँ ।।

वहाँ वह गुर्फ़ा में ताबे रुख़ है यहाँ ये अबेर मिज़ह पे नम है,
यह हुस्न उलफ़त के है समर से फ़लक पे बिजली ज़मीं पे बाराँ ।।

अजब है कुछ माजरा ये साक़ी कि गुल मचाया है मैकशों ने,
मुदाम याँ देख अब्रे तर से फ़लक पे बिजली ज़मीं पे बारां ।।

वह शोख़ भरने की सैर करके फिसलने पत्थर पे जाके बैठा,
पुकारी ख़िलक़त इधर उधर से फ़लक पे बिजली ज़मीं पे बाराँ ।।

नसीर सद-आफ़रीं है तुजको कि अहले मानी पुकारते हैं,
अजब है मज़मून ताज़ा तर से फ़लक पे बिजली ज़मीं पर बाराँ ।।

लू लग रही है जिससे वह शमा रू न आया ।
बल-बे तेरी शरारत याँ तक कभू न आया ।।

हो उस दहन से रुकश सैली सबा की खाई ।
गुंचा के आह मुँह से किस दिल लहू न आया ।।

दंदा दिखा के मत हंस ऐ बख़ियए गरेबाँ ।
चाके जिगर का हमको तारे रफ़ू न आया ।।

क्या जाने ये गया था किस मुँह से रूकशी को ।
आईना वाँ से लेकर ख़ाक आबूर न आया ।।

बरगश्ता बख़्त हम वह इस दौर में हैं साक़ी ।
लब तब कभू हमारे जामो सबू न आया ।।

मौजे सरश्क से है रौनक क़ेबाये तन की ।
क्यों कर कहूँ कि इस को कारे अतू न आया ।।

आख़िर को कहकशाँ है यकसर वहाँ माँग निकली ।
इस बात में महारी फ़र्क़ एक मू न आया ।

किश्तिये दिल तो दायम मौजे ख़तर में डूबी ।
चीं वर जबीं हो किस दिन वह रू-ब-रू न आया ।।

क्यों कर ये हाथ अपना पहुँचेवा तार गरेवाँ ।
दस्ते ख़याल जिसके दामन को छू न आया ।।

अपनी भी वाद वजनू यारो हवा बँधी है ।
ले गर्दे बाद खीमा कव कुक्कू न आया ।।

नामहरमों से तुमने खुलवाये वन्द महरम ।
मैं तो भी आह लेकर कुछ आरज़ू न आया ।।

हरदम नसीर रह तू उमीदवारे रहमत ।
तेरी ज़वाँ पे किस दिन लातक़नतू न आया ।।

× + +

ऐ अश्क रवाँ साथ ले आहे जिगरी को ।
आशिक़ कहीं बे फ़ौज अलम उठ नहीं सकता ।।

सक़्फ़े फ़लके कुहना में क्या ख़ाक लगाऊँ ।
ऐ ज़ाफ़े दिल इस आह का थम उठ नहीं सकता ।।

सर माकये इश्क में आसाँ नहीं देना ।
गाड़े है जहाँ शमा क़दम उठ नहीं सकता ।।

है जुंविशे मिज़गाँ का किसी की जो तसव्वुर ।
दिल से ख़ालिशे ख़ारे अलम उठ नहीं सकता ।।

दिल पर है मेरे ख़ीमये हर आवलः इसताद ।
क्या लीजिए कि ये लशकरे ग़म उठ नहीं सकता ।।

हर जा मतजल्ली है वही पर्दये ग़फ़लत ।
ऐ मोतकिफ़े दैरो हरम उठ नहीं सकता ।।

यूं अश्क ज़मीं पर है कि मंजिल को पहुँचकर ।
जूँ क़ाफ़िलये मुल्के अदम उठ नहीं सकता ॥

+ \+ \+

शब को क्योंकर तुजकों है फबता सर पर तुर्रा हार गले में ।
जूँ परवीनो हालये मह था सर पर तुर्रा हार गले में ॥
रौनक़े सरयाँ दाग़े जुनू है अश्के मुसल्सल जेब गुलू है ।
चाहिए तुजको ग़ैरते लैला सर पर तुर्रा हार गले में ॥
शोला कहाँ आँसू हैं किधर शब शमा रखी थी महफिल में ।
ताज ज़र और मोतियों का सा सर पर तुर्रा हार गले में ॥
वाल परीशाँ हैं काकुल के पेच गले में हैं पगड़ी के ।
यूँ रखता है वह मतवाला सर पर तुर्रा हार गले में ॥
हक़ में है मेरे तायरे दिल के वाज़ का चंगुल दाम का हल्क़ा ।
ऐ बुत काफ़िर मुजको न दिखला सर पर तुर्रा हार गले में ॥
शमले और तसबीह के वदले शेख़ जी साहब रखने लगे हैं ।
क्यों कि न देखें रिन्द तमाशा सर पर तुर्रा हार गले में ॥
रश्के चमन तू सैर करेगा जब्कि किनार हौज़ों लबे जू ।
फ़ौव्वारह और फूल रखेगा सर पर तुर्रा हार गले में ॥
अक्से शुआये मेहर नहीं ये बेल चम्बेली लिपटी है ।
सर्व चमन ने किया है पैदा सर पर तुर्रा हार गलें में ॥
कैफियत क्या हो बिना साक़ी सूये चमन ताउस और मुमरी ।
अबरू हवा में रखे हैं तन्हा सर पर तुर्रा हार गले में ॥
है ये तमन्ना मेरे जी में यूँ तुझे देखूँ बादह कशी में ।
हाथ में साग़र बर में मीना सर पर तुर्रा हार गले में ॥
और वदल के रदीफ़ो क़वाफ़ी लिखिये ग़ज़ल इस वह में जल्दी ।
तुमने नसीर अब खूब पिहाया सर पर तुर्रा हार गले में ॥

× × ×

वक़्ते निमाज़ है इनका क़ामतगाह ख़दंगो गाह कमाँ ।
वन जाते हैं अहले इबादतगाह ख़दंगो गाह कमाँ ॥

मर्द जवानी में तो है सीधा पीरी में झुक जाता है ।
कुव्वते ज़ोफ़ की है आलमतगाह ख़दंगो गाह कमाँ ॥

+ + +

बादह कशी के सिखलाते हैं क्या ही क़रीने सावन भादों ।
कैफ़ियत के हमने जो देखा दो हैं महीने सावन भादों ॥

छूटते हैं फ़व्वाराये मिज़गाँ रोजों शब इन आँखों से ।
यूँ न बरसते देखे होंगे मल के किसी ने सावन भादों ॥

टंकनें को फिरती है बिजली इसमें गोट त मामी की ।
दामने अब्र के टुकरों को जब लगते हैं सीने सावन भादों ॥

भूले दम की आमदो शुद हम याद कर इस भूले को पेंगें ।
सुझे हैं वे प्यार न देंगे आह ये जीने सावन भादों ॥

क्योंकि न ये दुरहाय तर्गंग ऐ बादह परस्तो बरसायें ।
कान गुहर छट ज़र के रखते हैं गंजीने सावन भादों ॥

क्रान जवाहर क्योंकि न समझें खेत को देहक़ां ओलों से ।
बरसाते हैं मोतियों में हीरे के नगीने सावन भादों ॥

अब्र सियह में देखी थी बुगलों की क़तार इस शक्ल से हमने ।
याद दिलाये फिर के तेरे दंदान मिस्सी ने सावन भादों ॥

× × ×

कोठे से गिरने बाद उन्होंने यह भविष्यवाणी की थी कि ५ दिन, ५ महोने या ५ वर्ष में उनकी मृत्यु हो जायगी । ५ महीने के बाद ही उनकी मृत्यु हुई । उन्होंने अपने मरने की तारिख स्वयं ही कही :—'दस्तो बाजू ब शिकस्त' । मरने की तारीख इनके एक शार्गिर्द ने भी कही :—'मातमे 'मोमिन' । ये दिल्ली दरवाजे के बाहर पश्चिम की ओर हाते के दिवाल के नीचे दफ़न किए गए । शाह अब्दुल अज़ीज़ साहिब के परिवार के सदस्य भी यहीं दफ़न हैं ।

मरने के बाद लोगों ने अजीब अजीब स्वप्न देखे । एक स्वप्न बिल्कुल सच्चा और आश्चर्यजनक था । नवाब मुस्तफ़ा खां ने मृत्यु के दो वर्ष बाद स्वप्न में देखा कि एक पत्रवाहक ने एक पत्र लाकर दिया और कहा कि यह स्वर्गीय मोमिन ख़ाँ का ख़त है । उन्होंने ने लिफाफ़ा खोला तो पत्र के अन्त में एक मुहर लगी हुई थी, जिसमें 'मोमिन जन्नर्ता' लिखा था । और उस पत्र में लिखा हुआ था कि "आज कल मेरे परिवार को मकान की वजह से बहुत तकलीफ है । तुम उनकी ख़बर लो" । दूसरे दिन सुबह को नवाब साहिब ने दो सौ रूपये उनके घर भेजे

और स्वप्न के विषय में भी कहला भेजा। मोमिन ख़ाँ के सुपुत्र अहमद नसीर ख़ाँ का कहना है कि सचमुच उन दिनों उनको अपने घर की टूटी फूटी दशा के कारण बड़ा कष्ट था। बरसात का मौसम था और सारा मकान टपकता था।

अपने उन आदरणीय मित्र की कृपा का मैं अभारी हूँ, जिन्होंने मोमिन ख़ाँ साहिब की यह जीवनचर्चा संकलित कर हमारे पास भेजने का कष्ट किया। किंतु उन्होंने उनकी कविताओं पर कोई आलोचना या निजी संमति नहीं भेजी और बार बार अनुरोध करने पर भी इस विषय पर कुछ लिखने से इन्कार किया। इसलिए लेखक को स्वयं अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार कुछ लिखना पड़ रहा है।

ग़ज़लों में उनकी कल्पनाएँ अत्यन्त कोमल हैं और उनके विषय उच्चस्तरीय हैं और उनके साथ उपमाओं और अलंकारों के प्रयोग ने उन्हें और ऊँचे स्तर पर पहुँचा दिया है। इनमें आशिक़ाना बातें बड़े रोचक ढंग से अदा की गई हैं। इसलिए जो शेर साफ़ होता है, उसका अंदाज़ जूरअत से मिलता है और इसका उन्हें खुद भी नाज़ था। इनके शेरों में फ़ारसी की लालित्यपूर्ण शैली और मनोहारी शब्द-विन्यास का पुट पाया जाता है, जिसके कारण उनकी भाषा कहीं कहीं दुर्बोध हो गई है। उनकी भाषा के कुछ विशिष्ट गुण हैं, जिनकी चर्चा करना अपेक्षित है, क्योंकि इनसे उनमें एक प्रकार की विलक्षण रोचकता आ गई है। वह प्रायः अपने शेरों में किसी विषय वस्तु का उसके किसी खास गुण से सापेक्षता स्थापित करते हैं और फिर उसी गुण के हवाले से उसका वर्णन करते हैं और इस हेर फेर से शेर में एक अजीब लुत्फ़ पैदा हो जाता है और उस के भाव में एक प्रकार की पूर्णता का संचार हो जाता है। उदाहरण के लिए :—

मुए न इश्क़ में जब तक वो मेहरबाँ न हुआ।
बतलए जाँ है वह दिल जो बलाए जाँ न हुआ॥

मह्व मुजसा दमे नज़्ज़ारये जानाँ होगा।
आईना आईना देखेगा तो हैराँ होगा॥
क्या रम न करोगे अगर इब्राम न होगा।
इल्ज़ाम से हासिल बजुज़ इल्ज़ाम न होगा॥

रोज़े-जज़ा जो क़ातिल दिल जो ख़िताब था।
मेरा सवाल है मेरे ख़ूँ का जवाब था॥
पसे शिकस्तने खुम ज़ज्रे मोहतसिब माकूल।
गुनाहगार ने समझा गुनाहगार मुझे॥
नक़द जाँ था न सज़ाये देत आशिक़ हैफ़।
ख़ून फ़र्हाद सर गर्दने फ़र्हाद रहा॥

× × ×

ये प्रायः अपनी रचनाओं में फ़ारसी की उम्दा तरकीबें, काट छाँट और अलंकार का समावेश करके उनमें एक विशेष लालित्य का संचार कर देते हैं। जैसे,

गर वहाँ है ये ख़मोशी असर अफ़गाँ होगा।
हश्र में कौन मेरे हाल को पुरसाँ होगा॥

यानी 'फुगाने कि असरश ख़मोशी अस्त'
बीमार अचलचारः को गर हज़रते ईसा
अच्छा न करेंगे तो कुछ अच्छा न करेंगे॥
यानी "बीमारे कि चार: अश अजल अस्त।

अक्सर उर्दू वाले ऐसी शैली पसन्द नहीं करते। लेकिन अपनी अपनी रुचि और अपना ढंग है। इस विषय में नासिख़ और आतिश के विवरण में काफी तूल दे चुका हूँ। दोबारा लिखना फ़िज़ूल होगा।

इनके क़सीदे भी उत्कृष्ट हैं और भाषा का अंदाज भी वही है।

इनकी मस्नवियाँ बड़ी मार्मिक हैं और उनकी भाषा भी वही है, जो इनके ग़ज़लों की।

ग़ज़लें

ग़ैरों पे खुल न जाय कहीं राज़ देखना।
मेरी तरफ़ भी ग़मजये-ग़म्माज़ देखना॥

उड़ते ही रंग रुख मेरा नज़रों से था निहाँ।
इस मुर्ग़ पुर-शिकस्तः की पर्वाज़ देखना॥

दुश्नामें यार तबये हज़ीं पर गिराँ नहीं।
ऐ हमनफ़स-नज़ाकते आवाज़ देखना॥

देख अपना हाले-ज़ारे मुनज्ज़िम हुआ रक़ीब।
था साज़गार तालये नासाज़ देखना॥

बदकाम का मआल बुरा है जज़ा के दिन।
हाले सिपहर तफ़रिका अन्दाज़ देखना॥

मत रखियो गर्दे तारिक़े उशशाक़ पर कदम।
पामाल न हो जाय सर अफ़राज़ देखना॥

कुश्ता हूँ उसकी चश्म फ़सूँगर का ऐ मसीह।
करना समझ के दावए-एजाज़ देखना॥

मेरी निगाह ख़ीरा दिखाते हैं ग़ैर को।
बेताक़ती पे सरज़नशे नाज़ देखना॥

तर्के सनम भी कम नहीं सोजे हजीम से ।
'मोमिन' ग़मे मआल का आग़ाज़ देखना ॥

× × ×

अश्को-अज़् न असर वाइसे सद जोश हुआ ।
हिचकियों से मैं ये समझा कि फ़रामोश हुआ ॥

जल्वा अफ़जाइये-रुख़ के लिए मैनोश हुआ ।
मैं कभी आप में आया तो वह बेहोश हुआ ॥

क़्या पे पैग़म्वरे ग़ैर है ऐ मुर्गे चमन ।
ख़न्दा-ज़न वादे-वहारी से वह गुलगोश हुआ ॥

है ये ग़म गोर में रैजे शबे-अव्वल से फ़ज़ूँ ।
कि वह महरू मेरे मातम में सियहपोश हुआ ॥

मुझ पे शमशीरे-निगह खुद-ब-खुद आ पड़ती है ।
आजिज़ अहवाल जुबूँ से वह सितमकोश हुआ ॥

आफ़राँ दिल में रहाँ ख़ंजरे दुश्मन के सवव ।
अपने क़ातिल से ख़फ़ा था कि मैं ख़ामोश हुआ ॥

दर्द-शानः से तेरा मह्वे-नज़ाकत खुश है ।
कि मैं हमदोश हूँ गोर ग़ैर भी हमदोश हुआ ।

वह है ख़ाली तो ये ख़ाली यें भरी तो वह भरी ।
कासयें उम्र अदू हलक़ये-आग़ोश हुआ ॥

तूने जो क़ह्‌रे खुदा याद दिलाया 'मोमिन' ।
शिकवये-ज़ोरे-बुताँ दिल से फ़रामोश हुआ ॥

× × ×

गए वह ख़्वाव से उठ के ग़ैर के घर आख़िर शव ।
अपने नालः ने जगाया ये उसर आख़िर शव ॥

शुवहदम वस्ल का वादा था ; ये हसरत देखो ।
मर गये हम दमे आग़ाज़ सेहर आख़िर शव ॥

शोलये आह फ़लक रुतवा का एजाज़ तो देख ।
अव्वले माह में चाँद आये नज़र आख़िर शव ॥

सोज़ दिल से गई जाँ वक़्त चमकने के क़रीव ।
करते हैं मौसमे गर्मा में सफ़र आखिर शव ॥

मिले ही ग़ैर से बेपर्दा तुम इन्कार के बाद ।
जल्वा खुर्शीद का सा था कुछ उधर आख़िर शब ।।

सुबहदम आने को वह था कि गवाही दे है ।
रुजअते क़हक़री चर्खा क़मर आख़िर शब ।।

ग़ैर निकला तेरे घर से गई इस वह्म में जाँ ।
गुल हुए चोर के उस कूचे में गर अख़िर शब ।।

दी तसल्ली तो वह ऐसी कि तसल्ली न हुई ।
ख़्वाब में तो मेरे आए वह मगर आख़िर शब ।।

मू सफेदी के क़रीब और है ग़फ़लत मोमिन ।
नींद आती है व अराम दिगर आख़िर शब ।।

+ + +

आँखों से हया टपके है अन्दाज तो देखो ।
है बुल्हवसों पर भी सितम नाज़ तो देखो ।।

उस बुत के लिए मैं हवसे हूर से गुज़रा ।
इस इश्क खुश अंजाम का आग़ाज़ तो देखो ।।

चश्मक मेरी वह्शत पे है क्या हजरते नासेह ।
तरज़े निगहे चश्म फ़सूँसाज़ तो देखो ।।

अरबाब हवस हार के भी जान पे खेले ।
कम तालः ए आशिक़े जाँबाज़ तो देखो ।।

मज्लिस में मेरे जिक्र के आते ही उठे वह ।
बदनामीए उश्शक़ का एज़ाज तो देखो ।।

महफ़िल में तुम अग़यार को दुज्दिदह नज़र से ।
मंज़ूर है पिन्हाँ न रहे राज़ तो देखो ।।
उस ग़ैरते नाहीद की हर तान है दीपक ।
शोला सा चमक जाए है आवाज तो देखो ।।
दें पाकीए दामन की गवाही मेरे आँसू ।
उस यूसुफ़े बेदर्द का एजाज़ तो देखो ।।
जन्नत में भी मोमिन न मिला हाये बुतों से ।
जोरे अजले तफ़र्क़ा परदाज़ तो देखो ।।

× × ×

दफ़न जब ख़ाक में हम सोख़्तः सामाँ होंगें ।
फ़लस माही के गुल शमा शबिस्ताँ होंगे ।।

नावक अंदाज़ जिद दीदःए जानाँ होंगे ।
नीम बिस्मिल कशीं होंगे कई बेजाँ होंगे ।।

ताब नज़ारा नहीं आईना क्या देखने दूँ ।
और बन जायँगे तसवीर जो हैरां होंगे ।।

तू कहाँ जायगी कुछ अपना ठिकाना कर ले ।
हम तो कल ख्वाबे अदम में शबे खिज़ाँ होंगे ।।

नासिहा दिल में तू इतना तो समझ अपने कि हम ।
लाख नादाँ हुए क्या तुझ से भी नादाँ होंगे ।।

करके ज़ख़्मी मुझे नादिम हों ये मुम्किन ही नहीं ।
गर वह होंगे भी तो बे वक्त पशेमाँ होंगे ।।
एक हम हैं कि हुये ऐसे पशेमान कि बस ।
एक वह हैं कि जिन्हें चाह के अरमाँ होंगे ।।

हम निकालेंगे सुन ऐ माजे हवा बल तेरा ।
उसकी जुल्फों के अगर बाल परीशां होंगे ।।
सब्र यारब मेरी वहशत का पड़ेगा कि नहीं ।
चारहफ़र्मा भी कभी कैदीये ज़िन्दां होंगे ।।

मिन्नते हज़रते ईसा न उठायेंगे कभी ।
ज़िन्दगी के लिए शर्मिन्दए एहसाँ होंगे ।।
तेरे दिले तुफ़्ता की तुर्बत पे अदू झूटा है ।
गुल न होंगे शरर आतिशे सोज़ां होंगे ।।

ग़ौर से देखते हैं तौफ़ को आहूय हरम ।
क्या कहे उसके सगे कूचः के कुर्बां होंगे ।।
दाग़ दिल निकलेंगे तुर्बत से मेरी जूं लालः ।
यह वह अख़गर नहीं जो ख़ाक में पिन्हां होंगे ।।

चाक पर्दे से ये ग़मज़े हैं तो ऐ पर्दा नशीं ।
एक में क्या कि सभी चाक गरेबाँ होंगे ।।
फिर बहार आई वही दश्त नवर्दी होगी ।
फिर वही पाँव वही ख़ार मुग़ीलां होंगे ।।

संग और हाथ वही वह ही सर्व दाग़े जुनूं ।
वही हम होंगे वही दश्तों बयावाँ होंगें ।।

उम्र सारी तो कटी इश्के बुतां में मोमिन ।
आख़री वक्त में क्या ख़ाक मुसलमाँ होंगे ।।

खुशी न हो मुझे क्यों कर क़ज़ा के आने की ।
ख़बर है लाश पे उस बेवफ़ा के आने की ।।

है एक खल्क़ का खूं सर पे अश्क खूं के मेरे ।
सिखाई तर्ज़ उसे दामन उठा के आने की ।।

समझ के और ही कुछ मर चला मैं ऐ नासेह ।
कहा जो तूने नहीं जान जाके आने की ।।

उम्मीदे सुर्मा में तकते हैं राह दीदये ज़ख़्म ।
शमीम सिल्सिलये मुशकुशा के आने की ।।

चली है जान नहीं तो कोई निकालो राह ।
तुम अपने पास तक उस मुब्तला के आने की ।।

न जाये क्यों दिले मुर्गे चमन की सीख गई ।
बहारे बज़ा तेरे मुस्कुंरा के आने की ।।

मशामे ग़ैर में पहुँची है निगहते गुले दाग़ ।
ये बेसवव नहीं बन्दी हवा के ग्राने की ।।

जो बे हिजाब न होगी तो जान जायगी ।
कि राह देखी है उसने हया के ग्राने की ।।

फिर अबके ला तेरे कुर्बान जाऊँ जज़्बये दिल ।
गये हैं याँ से वह सौगन्ध खाके ग्राने की ।।

ख़याले जुल्फ़ में खुद रफ़तगी ने क़हर किया ।
उमीद्द थी मुझे क्या क्या बला के ग्राने कीं ।।

करूँ मैं वादा ख़िलाफ़ी का शिकवा किस किस से ।
अजल भी रह गई ज़ालिम सुना के ग्राने की ।।

कहाँ है नाक़ा तेरे कान वजते हैं मजनूं ।
क़सम है मुझको सदसये व्ररा के आने की ।।
मेरे जनाज़े पे ग्राने का है इरादा तो आ ।
कि देर उठाने में क्या है सवा के आत्ते की ।।

मुझे ये डर है कि मोमिन कहीं न कहता हो ।
मेरी तसल्ली को रोज़ जज़ा के आने की ।।

अज़ बस जुनुं जुदाईए गुल पै रहन से है ।
दिल चाक चाक नगमए मुर्गे चमन से है ।।

सर गर्म मड्हे गैर दमे शोला ज़न से है ।
दोज़ख़ को क्या जलन मेरे दिल की जलन से है ।।

रोज़े जज़ा न दे जो मेरे क़त्ल का जवाब ।
वह्मो सुख़न रक़ीव को इस कम सुखन से है ।।

याद आ गया ज़वस कोई महरूए महरविश ।
ऊमीद दाग़ ताज़ा सेपहर कोहन से है ।।

कुछ भी किया न यार की संगीं दिली का पास ।
सव कविशे रक़ीव दिल कोहकन से है ।।

उन को गुमान है गिलए चीने ज़ुल्फ़ का ।
खुश्बू दहाने ज़ख्म को मुश्के ख़तन से है ।।
मैं क्या कि मर्गे ग़ैर व दामाने तर न हो ।
वह अश्क रेज़ ख़न्दए चाके कफ़न से है ।।
क्योंकर निजात आतिशे हिजरां से हो कि मर्ग ।
आई तो दूर ही तबो ताबे बदन से है ।।
खुद-रफ़्तगी में चैन वह पाया कि क्या कहूँ ।
गुरवत जो मुझसे पूछो तो वेह्तर वतन से है ।।
रश्के परी कहे से अदू के ये वह्शतें ।
नफ़रत वला तुम्हें मेरे दीवानापन से है ।।
दाग़े जुनूं को देते हैं गुल से ज़वस मिसाल ।
मैं क्या कि अन्दलीव को वह्शत चमन से है ।।

क्यों यार नौहाज़न हैं कहाँ मर्ग मुजको तो ।
लव वस्तगी तसव्वरे बोसेदहन से है ।।

क्या क्या जवाव शिकवा में बातें बना गया ।
लो अव भी दिल दुरुस्त उसी दिलशिकन से है ।।

अपना शरीक भी न गवारा करे बुतो ।
मोमिन को ज़िद ये केश यदे बरहमन से है ॥

÷ + +

दुआ बला थी शबे ग़म सोकूने जाँ के लिए ॥
सुख़न वहा-ना हुआ मर्गे नागहाँ के लिए ।

ना पाये यार के बोसे न आस्ताँ के लिए ॥
अवस में ख़ाक हुआ मैल आसमाँ के लिए ।

ख़िलाफ़े वादए फ़र्दा की हम को ताब कहाँ ॥
उमीद यकशवा है पास जाविदाँ के लिए ।

सुनें न आप तो हम बुल्हबस से हाल कहें ॥
कि सख़्त चाहिए दिल अपने राज़दाँ के लिए ।

हिजाबे चर्ख़ बला है हुआ करे बेताब ॥
फ़ुगाँ असर के लिए और असर फ़ुगाँ के लिए ।

है एतेमाद मेरे बख्ते ख़ुफ़त: पर क्या क्या ।
वगरना ख्वाब कहाँ चश्म पास्बाँ के लिए ॥

मज़ा ये विशकवः में आया कि बेमज़ा हुए वह ।
मैं तल्ख़ काम रहा लज्ज़ ते ज़बाँ के लिए ॥

वह लाल रुह फ़िज़ा दे कहाँ तलक बोसे ।
कि जो है कम है यहाँ शौक़ ज़ाँफ़िशां के लिए ॥

कू मिले रक़ीब से वह जब सुना विसाल हुआ ।
दरेग़ जान गई ऐसे बदगुमाँ के लिए ॥

कहाँ वह ऐश एसीरी कहाँ वह अम्ने क़फ़स ।
है बीमे बर्क़ बला रोज़ आशियाँ के लिए ॥

जोनून इश्क़ अज़ली क्यों न ख़ाक उड़ाएँ कि हम ।
जहाँ में आए हैं वीरानीए ज़हाँ के लिए ॥

भला हुआ कि वफ़ा आज़मा सितम से हुए ।
हमें भी देनी थी जाँ उसके इम्तहाँ के लिए ॥

रवाँ फ़िज़ाई सेहरे हलाल मोमिन से ।
रहा न मोंजज़: बाकी लबे बुतां के लिए ॥

× × ×

मलिकुश-शुअरा ख़ाक़ानिए हिन्द शेख़ इब्राहीम 'ज़ौक़'

जब यह महान् कवि स्वर्ग से इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ तो वाग्देवता ने अपने हाथों भाषा-सौष्ठव रूपी पुष्पों का मुकुट सजाया, जिन पुष्पों की सुगंध इनकी सार्वजनिक ख्याति के रूप में सारे विश्व में फैली और जिनकी रंगीनी इनकी रचनाओं की अमरता के रूप में आँखों को निरंतर शीतलता प्रदान करती रहीं । जब वह पुष्प-मुकुट इनके सर पर रखा गया तो उस पर अमृत कण की वर्षा हुई कि कहीं इसके खिले हुए पुष्प कुम्हला न जायँ । इनके काव्य-वैभव को समादृत करने के लिए इनके पद के अनुकूल 'मलिकुश-शुअराई' का जो सिक्का चलाया गया, उसमें यह अंकित किया गया कि इस कवि के काव्य-कौशल में उर्दू कविता अपनी अंतिम पराकाष्ठा पर पहुँची । अब तो इसकी आशा भी नहीं की जा सकती कि ऐसा अनोखा भाषा का धनी शायर इस देश में फिर जन्म लेगा । कारण इसका यह है कि वह जिस बाग़ का बुलबुल था, वह बाग़ ही उजड़ गया । न वह साथ के चहकनेवाले संगी साथी रहे, न बात करनेवाले हमजोली रहे । न उस बोली के समझने वाले रहे । जो बस्ती कि उस भाषा के लिए टकसाल मानी जाती थी वहाँ भांत भांत के जानवर बोलने लगे । शहर छावनी से भी बदतर हो गया । अमीर उमरा के घराने तबाह हो गए । इन घरानों के वंशज कला और कौशल के ही नहीं बल्कि रोटी के भी मुहताज हो गए । वह जादू भरी तबीअतें और उनकी रंगीनी कहाँ से आएँ, जो बात बात में भाषा संबंधी मनोहारी युक्तियों और सुंदर भाव-भंगिमाओं का संचार करती थीं । जो लोग अपनी आर्थिक परिस्थिति के लिहाज़ से समृद्ध कहे जाते हैं और जिन्हें अपने वर्ग की पुरानी परंपरा में भाषा को भी समृद्ध बनाने का अवकाश प्राप्त है, वह और और पेड़ों की डालियाँ हैं । वे और ही मानी से सिंचे और फले फूले हैं । वह और ही हवाओं में उड़ रहे हैं । फिर उस भाषा की उन्नति का क्या भरोसा ? कैसा मुबारक रहा होगा पंज़ोक़ और उनके समकालीन मेरे स्वर्गीय पिता का जीवनकाल ? संभवतः उनका विद्यारंभ बचपन में एक ही साथ हुआ होगा । भाषा-व्याकरण की किताबें उनके हाथों में होंगी और एक ही उस्ताद की अभिभावकता में शिक्षा पाए होंगे । उन संनिष्ठ व्यक्तियों के भी साहित्यिक प्रयास लगन और अध्यवसाय पर आधारित होते थे । इनकी रुचि-साम्यता उनके उम्र के साथ और दृढ़ होती गई और अन्तकाल तक ऐसा निभा कि उनका आपसी प्रेम सगे संबंधियों से भी ज्यादा बना रहा । इनके जीवनी के वृत्त को लिखने में कुछ बातों की चर्चा लोग शायद निरर्थक समझेंगे । मगर क्या करूँ ? जी यही चाहता है कि इस महत्वपूर्ण कहानी का एक अक्षर भी न छोड़ूं । किंचित इसका कारण यह हो कि अपने स्नेही और श्रद्धेय पूर्वजों की हर बात प्यारी होती है । किंतु नहीं । उस शायरी के पुतले के जिस्म का एक रोंगटा भी बेकार न था । किसी कला रुपी यंत्र में कौन से पुर्जे को कह सकते हैं कि निकाल डालो यह काम का नहीं और कौन सी

गति उसकी ऐसी है, जिससे कुछ युक्तिपूर्ण लाभ नहीं पहुँचता ? इसलिये मैं लिखूँगा और सब कुछ लिखूँगा । जो बात इनके जीवन के संबंध में कहना होगा उसमें एक अक्षर भी न छोड़ूँगा ।

शेख़ साहिब (ज़ौक़) के पिता शेख़ मुहम्मद रमज़ान एक निर्धन सिपाही थे । किंतु अपने जीवन के अनुभव और बुजुर्गों के संपर्क ने उन्हें अपने समकालीन बातों की इतनी जानकारी दे दी थी कि उनकी कही हुई बातें इतिहास की पुस्तकों के लिये भी बहुमूल्य सामग्री बन सकती थीं । वह दिल्ली में काबुली दरवाज़े के पास रहते थे और नवाब लुत्फ़ अली खाँ ने उन्हें एक बुद्धिमान और विश्वस्त व्यक्ति समझकर अपने अन्तःपुर के कारोबार का भार सुपुर्द कर रखा था । शेख़ साहिब उनके इकलौते बेटे थे । उनका जन्म सन् १२०४ हि० में हुआ था । उस समय कौन जानता था कि इस रमज़ान से वह चाँद निकलेगा जो काव्य-गगन पर ईद का चाँद होकर चमकेगा । हाफ़िज़ गुलाम रसूल नाम के एक व्यक्ति जो बादशाही हाफ़िज़ थे, उनके घर के पास रहते थे । मुहल्ले के प्रायः सभी लड़के उन्हीं के पास पढ़ने जाते थे । जब इनकी अवस्था पढ़ने के योग्य हुई तो इन्हे भी वहीं बिठा दिया ।

हाफ़िज़ गुलाम रसूल शायर भी थे । 'शौक़' तख़ल्लुस करते थे । उस समय के लोग साधारणतया जैसे शेर कहा करते थे, वैसे ही ये भी कह लेते थे । मुहल्ले के रसिक युवकों के हृदय में जब उमंग उठता था तो उनसे कुछ कुछ कहवा ले जाया करते थे । प्रायः इनसे इस्लाह भी लिया करते थे । तात्पर्य यह कि इनके यहाँ शेरो-शायरी की चर्चा बराबर बनी रहती थी । शेख़ साहिब स्वयं कहते थे कि वहाँ सुनते सुनते मुझे बहुत से शेर याद हो गए थे । कविता के पढ़ने और सुनने में मेरे हृदय को एक आंतरिक आनंद का अनुभव होता था । और सदा शेर पढ़ता फिरा करता था । मन में उसके प्रति इतनी अभिरुचि थी कि खुदा से दुआ करता था कि या इलाही मुझे शेर कहना आ जाय । एक दिन तबीयत बड़ी खुश थी । उमंग में मेरी ज़बान से अनायास दो शेर निकल पड़े । संयोग वश एक 'हम्द' (ईश्वर की स्तुति) और दूसरा 'नात' (पैग़ंबर की प्रशंसा) विषयक था । इस उम्र में मुझे इतना ज्ञान तो कहाँ था कि इस शुभ कार्य का आरंभ जान बूझ कर 'हम्द' व 'नात' में कह सकूँ या यह कि इस दैवी संयोग को एक शुभ शकुन समझूँ । किंतु उन दो शेरों की भाषा और भाव की उपयुक्तता से जो हार्दिक प्रसन्नता उस समय हमें हुई, वह अभी तक नहीं भूलती । उन्हें कहीं अपनी किताब में, कहीं यहाँ वहाँ काग़ज़ों पर रंगबिरंगी रोशनाइयों से लिखता रहता था । एक एक को सुनाता था और खुशी के मारे फूला न समाता था । गरज़ यह कि इस भावुक परिस्थिति में कुछ कुछ कहते रहे और हाफ़िज़ जी से इस्लाह लेते रहे ।

उसी मुहल्ले में मीर काज़िम हुसेन नाम के इनके एक समवयस्क सहपाठी भी रहते थे । ये नवाब सैय्यद रज़ी खाँ के भांजे थे । ये 'बेकरार' तखल्लुस करते

थे और हाफ़िज़ गुलाम रसूल ही से इस्लाह लेते थे। मगर रुचि में रसिकता और भावनाओं में आवेग इतना था कि कभी बिजली की तरह कौंध जाते थे, कभी झंझावात और कभी मेह बन जाते थे। इन्हें अपने परिवार के बुजुर्गों के संपर्क में अपने ज्ञान और कौशल की वृद्धि का बराबर सुयोग मिलता रहता था। वह और शेख़ साहिब रुचि के कारण प्रायः साथ रहते थे और अभ्यास के मैदान में साथ ही घोड़े दौड़ाते थे। इन्हीं दिनों का शेख़ साहिब का एक मत्‌ला है, जो इनकी रुचि की तीव्रता का नमूना दिखाता है--

माथे पे तेरे झमके है झूमर का पड़ा चाँद।
ला बोसः चढ़े चाँद का वादा था चढ़ा चाँद॥

एक दिन मीर काज़िम हुसेन ने एक ग़ज़ल लाकर सुनाई। शेख़ साहिब ने पूछा 'यह ग़ज़ल कब कही? ख़ूब गर्म शेर निकाले हैं।' उन्होंने कहा, 'हम तो शाह नसीर के शागिर्द हो गए। उन्हीं से यह इस्लाह ली है।' शेख़ साहिब को भी शौक़ पैदा हुआ और उनके साथ जाकर ये भी शाह नसीर के शागिर्द हो गए।

नये उस्ताद से इस्लाह लेने का क्रम जारी रहा। मुशायरों में इनकी ग़ज़लें पढ़ी जाती थीं। लोगों की वाहवाही इनके हौसले को बढ़ाती और इनकी काव्य प्रवृत्ति की ओर ऊँची उड़ानों के लिये मानों डैने लगाती। उसी बीज पारस्परिक ईर्ष्या उस्ताद और शागिर्द के बीच खिचाव पैदा करने लगा। कभी कभी ऐसा भी हुआ कि शाह साहिब ने इनकी ग़जल को देखकर बिना इस्लाह लिए वापस कर देते और कहते कि 'तबीयत पर और जोर देकर कहो।' कभी कह दिया कि 'यह रचना किसी काम की नहीं। उसे फिर सोच कर कहो।' कुछ ग़ज़लों को जो इस्लाह दी तो उसका अर्थ का अनर्थ कर दिया। इधर शेख़ साहिब को इनके कुछ तो यारों ने भड़का दिया। कुछ अपनी निर्धन अवस्था के कारण इनके मन में यह दुर्भावना उपजी कि शाह साहिब इसीलिये इनके गजलों की इस्लाह की ओर ध्यान नहीं देते या इनकी उपेक्षा करते हैं। चुनांचे इस तरह कई बार गजलें लौटाईं और बहुत से शेर काट दिए। सबसे आपत्तिजनक बात यह हुई कि शाह साहिब के साहिबज़ादे शाह बजीउद्दीन 'मुनीर' थे, जो अपनी काव्य कल्पनाओं के ओज और आवेश में अपने पिता के सही मानी में बेटे थे। उनकी ग़ज़लों में भी, चाहे कल्पनाओं में समानता के कारण हो, चाहे केवल संयोगवश ही हो, शेख साहिब के मज़मूनों और भावों की ही पुनरुक्ति पाई जाने लगी। इससे इन्हें ज्यादा रंज हुआ।

'मुनीर' को अपने काव्य कौशल का दावा तो था ही। उससे अधिक उनमें यौवनकाल के स्वाभाविक आवेग के कारण दंभ भी अतिशय मात्रा में था। वह किसी शायर की कला को संमान की दृष्टि से न देखते थे और कहते थे कि जिस ग़ज़ल पर हम कलम उठाएँ, उसकी ज़मीन पर कौन क़दम उठा सकता है। जटिल समस्याओं की पूर्ति करते थे और कहते कि कौन पहलवान है जो इस नाल को उठा

सके। उनसे और शेख साहिब से समवयस्कता के कारण अवसर तकरार हो जाती थी और वादविवाद भी होते रहते थे। एक बार यहाँ तब नौबत पहुँची कि शेख साहिब ने कहा कि घर के कहे हुए शेर सही नहीं। शायद आप उस्ताद से कहवा लाते होंगे। हाँ, एक जलसे में बैठकर आप और मैं दोनों ग़ज़ल कहें। जिस जलसे में यह मुठभेड़ हुई उसमें पढ़ी हुई 'मुनीर' की ग़ज़ल तो नहीं मिली। किंतु शेख साहिब की गजल की पहली पंक्तियाँ मुझे याद हैं :--

याँ के आने का मुकर्रर क़ासिदा वह दिन करे ।
जो तू माँगेगा वही दूँगा खुदा वह दिन करे ।।

यद्यपि शेख़ साहिब प्रत्युत्पन्नमति और चिंतनशील थे और इनकी रचना सुगठित और ओजपूर्ण होती थी, फिर भी चूँकि यह एक गरीब सिपाही के बेटे थे, इसलिये न इन्हें सांसरिक बातों का कोई अनुभव था और न कोई इनका मित्र या अभिभावक। इसलिये इनके मन में खिन्नता और उपेक्षितता की भावना बराबर बनी रहती थी। इसी मानसिक संकल्प विकल्प की दशा में एक दिन इन्होंने सौदा की ग़ज़ल की जोड़ में एक ग़ज़ल कही--'दोश नक्श पा' 'आगोश नक्श पा'। इसे शाह साहिब के पास ले गए। उन्होंने खफा होकर ग़ज़ल फेंक दी कि 'उस्ताद की ग़ज़ल पर गजल कहता है। अब तो मिर्जा 'रफ़ी' से भी ऊँचा उड़ने लगा'। उन दिनों एक जगह मुशायरा होता था। उसमें संमिलित होने की तीव्र उत्कंठा से घर से बाहर निकले। मगर इनकी ग़ज़ल बिना इस्लाह के थी। आशंका से पाँव रुक गए। इन्होंने सोचा हमारे कविजीवन का तो अभी आरंभ है। सावधानी बरतना आवश्यक है। यही ऊँचनीच सोचते हुए, निराश और मुर्झाया मन लिये हुए शाम होते होते जामा मस्जिद तक आ निकले। आसार शरीफ़ में फातिहा की निमाज पढ़ी। हौज पर आए। वहाँ मीर कल्लू 'हक़ीर' बैठे थे चूँकि मुशायरों में शेख साहिब की गरम गजलों के कारण लोग इन्हें पहचानने लगे थे और वयोवृद्ध व्यक्ति इन पर कृपादृष्टि भी रखते थे, मीर साहिब ने इन्हें अपने पास बिठाया और कहा कि 'क्यों मियाँ इब्राहिम, आज कुछ उदास मालूम होते हो। खैरियत तो है? बस इसी बात पर जो कुछ इनके दिल की भड़ास थी, इन्होंने निकाल दी। मीर साहिब ने कहा कि 'भला वह ग़ज़ल हमें तो सुनाओ।' 'इन्होंने ग़ज़ल सुनाई। मीर साहिब को इनकी परिस्थिति से सहानुभूति हुई। कहा कि 'जाओ, बिना संकोच के तुम यह ग़ज़ल पढ़ दो। अगर कोई एतराज करे तो उसके जवाब का जिम्मा मेरा है।' और हाथ उठाकर देर तक इनके लिये दुआ करते रहे। यद्यपि मीर साहिब की रचना शैली पुराने ढंग की थी किंतु वह एक वरिष्ट और अनुभवी व्यक्ति थे। बड़े बड़े अभ्यस्त और लब्धप्रतिष्ठ शायरों को देख चुके थे। और मकतब पढ़ाया करते थे। इसलिये शेख़ साहिब को इनकी बातों से हिम्मत बंधी और मुशायरे में जाकर ग़ज़ल पढ़ी। वहाँ इस ग़ज़ल की बड़ी प्रशंसा हुई। वह गजल यह है :--

रखता बहर कदम है वह यह होश नक्श पा ।
हो ख़ाक आशिक़ां न हम आग़ोश नक्श पा ।।

उफ्तादगाँ को बेसरो सामाँ न जानिओ ।
दामाने ख़ाक होता हैं रूपोश नक्शपा ।।

एजाज़ पा से तेरे अजब क्या कि राह में ।
बोल उठे मुँह से हर लबे खामोश नक्शपा ।।

इस रह गुजर में किसको हुई फरसते मुकाम ।
बैठे हैं नक्शपा बसरे दोशे नक्शपा ।।

जिसमें नज़ार ख़ाक नशीनाने कूए इश्क ।
यूं हैं ज़मीन पं जैसे तनोतोश नक्शपा ।।

फ़ैज़े बरहना पाई मजनूं से दश्त में ।
हर आबला बने है दुरगोश नक्शपा ।।

पाबोस दरकिनार कि अपनी तो ख़ाक भी ।
पहुँची न 'जौक़' उसके बआगोश नक्श पा ।।

उस दिन से इनकी हिम्मत ने और जोर बाँधा और ये बिना इस्लाह कराए हुए गजलों को मुशायरों में पढ़ने लगे । और इनकी रचनाओं की चर्चा भी चारों ओर होने लगी । इनकी कल्पनात्मक चपलता और रचना का आवेश सुननेवालों के दिलों के अंदर बिजली की तरह दौड़ जाती । उस समय के लोग गुणग्राही और न्यायप्रिय होते थे । ऐसे सद्भावपूर्ण महानुभाव जो पूर्वजों की परंपरा की स्मृति स्वरूप अभी जीवित थे, मुशायरे में इन्हें देखते तो इनके प्रति आत्मीयता बरतते और प्रशंसा करके इनको प्रोत्साहित करते । बल्कि ग़ज़ल पढ़ने के बाद ये आते तो दोबारा पढ़वा कर सुनते । यहाँ तक कि इनकी ग़ज़लें प्रमोदप्रिय और काव्य-रसिक व्यक्तियों की ज़बानों से निकलकर हर गली कूचे और बाज़ार में जनसाधारण के जबानों पर चढ़ गईं ।

उस समय अकबर शाह दिल्ली के शासक थे । उन्हें स्वयं तो शायरी में कोई रुचि न थी । मगर उनके उत्तराधिकारी मिर्जा अबूज़फ़र जो बादशाह होकर बहादुर शाह हुए, कविता के अत्यंत प्रेमी थे । इन्होंने कालोपरांत 'जफ़र' तख़ल्लुश से अपनी उत्कृष्ट शायरी के लिये देशभर में ख्याति प्राप्त की । इसलिये उस समय दिल्ली के सभी अनुभवी और अभ्यस्त शायर शाही दरबार में एकत्रित होते थे । इनमें हकीम सनाउल्लाह ख़ाँ 'फिराक़', मीर ग़ालिब अली खाँ 'सईद,' अब्दुल रहमान खाँ 'एहसान', बुरहानुद्दीन खाँ 'ज़ार', हकीम कुदरतुल्लाह खाँ 'क़ासिम', इनके बेटे हकीम इज्ज़तुल्लाह खाँ 'इश्क', स्वर्गीय मीर तक़ी के शागिर्द मियाँ 'शिकेबा'

सौदा के शार्गिद मिर्जा अज़ीम इत्यादि प्रमुख शायर थे । ये लोग दरबार द्वारा आयोजित मुशायरे में अपनी अपनी रचनाएँ सुनाया करते थे। समस्या और अंत्यानुप्रस जलसे में ही डालते थे । हर व्यक्ति समस्या की पूर्ति करता था और अनुप्रासों पर अनुसार बिठाकर अपनी शायरी के कौशल का प्रमाण देता था । वली अहद अबूज़फ़र के एक विश्वस्त सेवक मीर क़ाज़िम हुसेन 'बेकरार' थे । ये भी अक़सर इन गोष्ठियों में भाग लेते थे । शेख़ साहिब का ऐसा विचार हुआ कि यदि इन जलसों में उनकी काव्यरुचि के प्रदर्शन का भी अवसर मिले तो उनकी कल्पना-शक्ति और सशक्त हो जाय। परंतु उस समय किसी अमीर की अभिस्तुति के बाद ही किसी को क़िले में प्रवेश क़रने की शाही आज्ञा मिलती थी। चुनांचें मीर क़ाजिम हुसेन के माध्यम से ये क़िले में पहुँचे और कभी कभी शाहज़ादे के दरबार में जाने लगे ।

शाह नसीर वलीअहद की ग़ज़ल को इस्लाह दिया करते थे । वे दकन चले गए । इसलिये मीर काज़िम हुसेन उनकी रचनाओं को शोधने लगे । उन्हीं दिनों में जान इलिफ़न्सटन साहिब शिकारपुर सिंध इत्यादि की सीमाओं से लेकर काबुल तक संधिपत्र प्रस्तुत करने चले । उन्हें एक ऐसे मीर मुंशी की सेवा की आवश्यकता हुई, जो न केवल योग्य और विद्वान् हो बल्कि सभ्रांत और प्रतिष्ठित कुल का भी हो । मीर काज़िम हुसेन ने इस पद के लिये वली अहद से एक सिफारिशी पत्र की याचना की । मिर्ज़ा मुग़ल बेग उन दिनों वली अहद के मुख़्तारकुल थे और वह सदा इस ताक में रहते थे कि जिसपर वली अहद की विशेष कृपादृष्टि हो उसे किसी प्रकार सामने से खिसकाते रहे । इस कूटनीति के कारण मीर काज़िम हुसेन को सिफारिशी चिट्ठी आसानी से मिल गई और वे दरबार से चले गए ।

कुछ समय के बाद एक दिन जब शेख साहिब वली अहद के यहाँ गए तो देखा कि वे तीर अंदाज़ी का अभ्यास कर रहे हैं । इन्हें देखते ही उलहने की तौर पर कहने लगे कि "मियाँ इब्राहिम, उस्ताद तो दकन गए । मीन काजिम हुसेन उधर चले गए । तुमने भी हमें छोड़ दिया" बस उसी समय एक ग़ज़ल जेब से निकाल कर दी कि जरा इसे तो बना दो । यह वहीं बैठ गए और उस ग़ज़ल को सुधार कर सुनाया । वली अहद बड़े प्रसन्न हुए और कहा कि "भई, कभी कभी तुम आकर हमारी ग़ज़ल बना जाया करो । यह जमाना वह था, जब कि मुमताज महल का दिल रखने के लिये अकबर शाह कभी मिर्जा सलीम, कभी मिर्जा जहाँगीर इत्यादि शाहजादों को अपना उत्तराधिकारी बनाने का प्रयास करते थे और कहते कि मिर्जा अबूजफ़र मेरे बेटे ही नहीं । इस घटना के पश्चात् कुछ दिनों शेख साहिब वली अहद की ग़ज़लों का इस्लाह करते रहे और अंत में सरकार वली अहद से इनके लिये चार रुपये का मासिक वेतन भी निश्चित हो गया । उस समय लोगों के दिलों में बादशाह का रोब दाब कुछ और था । बादशाह ने वली अहद की तंग आर्थिक परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए उन्हें शेख साहिब को कोई बंधी रकम देने से मना किया । किंतु इधर तो शायरों के जमघट कि दिल्लगी का शौक, उधर शेख

साहिब के भाग्य की पुकार कि 'ये चार रुपये कुछ नहीं। असर चीज़ तो यह है कि तुम सब शायरों के बादशाह कहलाओगे। इसको हाथ से न जाने देना।" चनांचे शेख़ साहिब वली अहद के उस्ताद नियुक्त हो गए।

दिल्ली में नवाब इलाही बख्श खाँ 'मारूफ' एक उच्चकुल के अमीर थे। साधारण विद्या से संपन्न और शायरी में चिरअभ्यस्त थे। काव्यकला से उन्हें अतिशय प्रेम था और इसके अभ्यास में सदा तल्लीन रहते थे। चूंकि सुंदर रचनाओं के पारखी थे, इसलिये जिसके पास इसकी अच्छी पूँजी देखते थे उससे कुछ प्राप्त करने का प्रयास करते थे। बहुत दिन जिए इसलिये इनकी रचनाएँ लगभग सात उस्तादों ने शोधीं। शुरू में यह शाह नसीर से इस्लाह लेते रहे और सैय्यद अली खाँ 'ग़मगीन' इत्यादि के भी घनिष्ठ संपर्क में रहे। जब शेख साहिब की ख्याति फैली तो उन्हें भी इनसे मिलने की उत्कण्ठा हुई। यह उस समय की बात है जब कि नवाब इलाही-बख्श फकीरों और दरवेशों के सत्संग में संसार को त्याग चुके थे और घर से निकलना भी छोड़ दिया था। मेरे उस्ताद, शेख साहिब कहते थे कि उस समय मेरी उम्र १९-२० वर्ष की होगी। घर के पास पुरानी मस्जिद थी। दोपहर की नमाज़ के बाद वहाँ बैठकर वज़ीफ़ा (कुरान की आयतों का जप) पढ़ रहा था। एक चोबदार आया। उसने सलाम किया और कुछ चीज रूमाल में लिपटी हुई मेरे सामने रखकर अलग बैठ गया। वज़ीफ़ा से निवृत्त होकर उसे देखा तो उसमें एक गुच्छा अंगूर का था। साथ ही चोबदार ने कहा कि नवाब साहिब ने दुआ भेजी है। यह अपना प्रसाद भी भेजा है और कहा है कि आप के शेर तो पहुँचे, मगर उन्हें आप ही की ज़बान से सुनने को उनका जी चाहता है। शेख़ साहिब ने वादा किया कि वे ज़रूर आएंगे। और तीसरे दिन तशरीफ ले गए। नवाब साहिब यथोचित शिष्टाचार से मिले और औपचारिक बातचीत के बाद इनसे शेर कहने की फरमाइश की। उन्होंने एक ग़ज़ल कहनी शुरू की। उसकी पहली पंक्तियाँ थीं :—

निगह का वार था दिल पर फड़कने जान लगी।
चली थी बर्छी किसी पर किसी के आन लगी॥

ग़ज़ल सुनकर अत्यंत प्रसन्न हुए और कहा कि "ख़ैर तुम्हारी तारीफ तो पहले ही सुन चुका था। लेकिन तुम्हारी ज़बान से सुनकर और लुत्फ़ आया" इधर उधर की बातें होने लगीं। संयोगवश शेख़ साहिब के पुराने उस्ताद हाफ़िज गुलाम रसूल 'शौक' उसी समय वहाँ आ पहुँचे। नवाब उन्हें देखकर मुस्कराए। और शेख़ साहिब ने उन्हें उसी तरह सलाम किया, जैसा कि किसी आज्ञाकारी शागिर्द के लिये उचित था। वह इनसे नाराज रहते थे कि शागिर्द मेरा और मुझे गजल नहीं दिखाता और मुशायरों में मेरे साथ नहीं चलता। उसके बाद उन्होंने अपने शेर पढ़ने शुरू कर दिए। शेख़ साहिब ने वहाँ ठहरना उचित न समझा और विदा होने के लिये आज्ञा माँगी। चूँकि ये नवाब साहब के बगल में बैठे हुए थे, नवाब ने चुपके से कहा,

“कान भर गए । कोई शेर अपना सुनाते जाओ ।” शेख साहिब ने उन्हीं दिनों एक ग़ज़ल कही थी । दो पंक्तियाँ उनकी पढ़ीं :—

जीना नजर अपना हमें अस्ला नहीं आता ।
गर आज भी वो रश्के मसीहा नहीं आता ।।

मज़कूर तेरे वज़्म में किसका नहीं आता ।
पर ज़िक्र हमारा नहीं आता नहीं आता ।।

उस दिन से नियमपूर्वक यह सप्ताह में दो दिन नवाब साहिब के यहाँ जाया करते थे और उनकी ग़ज़लें बनाया करते थे । उनका दीवान 'मारुफ जो अभी तक उपलब्ध है, वह लगभग सभी इन्हीं का इस्लाह किया हुआ है । नवाब साहिब बुढ़ापे की दुर्बलता के कारण स्वयं दिमाग़ को जोर देकर किसी विषय को शब्दों में बाँधने में असमर्थ थे । किंतु उसके मौलिक तथ्यों और सूक्ष्मताओं का यथोचित विश्लेषण कर सकते थे । उस समय शेख़ साहिब की उदीयमान और सशक्त काव्य-प्रवृत्ति और अध्यवसायी सूझबूझ नवाब साहिब के फरमाइश के हर नुक्ते का हक़ अदा करती थीं । शेख़ साहिब कहा करते थे कि यद्यपि इस काम में बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं और बहुत परिश्रम करना पड़ा, मगर उनके ग़ज़ल बनाते बनाते हम स्वयं बन गए ।

जब तक जवानी का आवेग और प्रतिभा का उत्कर्ष रहा, तब तक अपना बहुमुखी अभ्यास जारी रखा और कभी 'जुरअत' कभी 'सौदा', कभी 'मीर' की शैलियों का अनुकरण करते रहे । किंतु अंत में कुछ तो बुढ़ापे की गंभीरता के कारण और कुछ इस कारण कि स्वयं करते रहे, आध्यात्मिक प्रकृति के थे और एक बड़े खान्दान के मुरीद थे, ख्वाजा मीर 'दर्द' की शैली का ही अनुकरण करने लगे । और कहा करते थे कि “शुरू जमाने में जीवन की स्वाभाविक परिस्थिति कुछ और ही थी । जवानी दिवानी । हम कभी 'जुरअत' के रंग में, कभी 'सौदा' के अंदाज में रचनाएँ करते रहते । और नवाब साहिब हमें इससे रोकते थे । किंतु यदि आज नवाब इलाही बख्श खाँ जीवित होते तो हम उन्हें अपनी रचनाएँ सुनाते । अब उनका दीवान भी वैसा ही बना देते, जैसा उनका जी चाहता था । “शेख साहिब उनकी बातें करते और शोकातुर हो जाते थे । उनका नाम सदा आदर के साथ लेते थे और इस प्रकार उनकी चर्चा करते थे, जैसे कोई श्रद्धालु शिष्य अपने धर्म गुरु की चर्चा करता है । उनकी सैकड़ों ऐसी बातें सुनाया करते थे जो कि किसी भी व्यक्ति के दैनिक और धार्मिक जीवन के लिये प्रेरणास्पद हो सकती है ।

यह भी कहते थे कि ऐसा उदार हृदय व्यक्ति आज तक नहीं देखा । अमीर, फ़क़ीर बच्चा, बूढ़ा जो भी उनके पास आता, उसे कुछ दिए बिना न रहते थे । और देते भी वही थे, जो उसके परिस्थिति के अनुकूल हो । कोई सौदागर ऐसा न था कि आए और खाली हाथ फिर जाय । उन्हें इस बात से बड़ी खुशी होती थी कि उनकी ग़ज़ल उन्हीं के पास बैठकर बनाते जाओ और सुनाते जाओ । शेख़ साहिब कहते थे

कि मैंने तो इस मामले में कई बार कन्नी काटनी चाही। किंतु उनकी खुशी इसी में देखी तो मजबूर हो गया और यही अच्छा हुआ। एक दिन मैं उनकी ग़ज़ल बना रहा था। उसके दो शेर ये थे :—

यक गजल पुरदर्द सी मारुफ लिख इस तरह में।
ज़ौक है दिल को निहायत दर्द के अश आरे से॥
कौन रोता है यह लगकर बाग़ की दीवार से।
जानवर गिरने लगे जाए समर अंश्जार से॥

उसी समय एक सौदागर आया और इन्हें अपनी चीजें दिखाने लगा। उनमें एक इस्फहानी तलवार भी थी। वह इन्हें पसंद आई। उसकी आन बान, चमक दमक देखकर उसकी तारीफ की और मेरी ओर देखकर बेसाख्ता कहा :—

इस ज़ईफ़ी में यहाँ तक शौक है तलवार से,

मैंने भी तुरंत दूसरा मिस्रा लगाकर ग़ज़ल में लगा दिया। बहुत खुश हुए:—

सर लगा दें अब्रुए खमदार की कीमत में आज।
इस ज़ईफ़ी में यहाँ तक शौक़ है तलवार से॥

अस्तु और चीजों के साथ उन्होंने वह तलवार भी खरीद ली। मैं हैरान हुआ कि यह तो इनके प्रयोजन की वस्तु नहीं। इसे क्या करेंगे? लेकिन देखिए तो, ऐसा संयोग हुआ कि दो ही तीन दिन के बाद बड़े साहिब (फ्रेजर साहिब, रेजिडेंट, दिल्ली) एक अन्य अंग्रेज को अपने साथ लिए हुए इनके बेटे नवाब अहमद दख़्शाँ से भेंट करने आए। वहाँ से इनके पास आए। बैठे। बात चीत हुई। जो साहिब उनके साथ थे, उनसे परिचय करवाया। जब चलने लगे तो वही तलवार मँगाकर साहिब के साथी की कमर में बँधवा दी और कहा :—"फ़क़ीर की तरफ़ से यह हरी पत्ती (एक अदनी सी चीज) का तुहफ़ा क़बूल हो। हम क्या करें। हमारे पास तो यही है।"

बर्गे सब्ज अस्त तोह्फए दरवेश। कि कुनद देनवा हमीं दाख,

उनके साथ मेम साहिब भी थीं। एक बहुत उम्दा आर्गन बाजा, जो किसी रुमी सौदागर से खरीदा था, वह उन्हें भी भेंट कर दी।

उनके एक संग्रह में शेरों का एक विशेष क्रम है। शेर रदीफ़ के अनुसार क्रमबद्ध किए गए हैं। और कोई शेर 'सब्जी (हरियाली) के मज़मून से खाली नहीं है। इसलिये इसका नाम 'तस्बीह ज़मुर्रद (जमुर्रद की माला) रखा था। यह माला भी मेरे उस्ताद 'ज़ौक' ने ही पिराई थी और इसके अंत में फारसी भाषा में एक तारीख अपने नाम से कहकर लगाई थी। जिन दिनों यह माला पिरोई जा रही थी नवाब साहिब सबसे अनुरोध किया करते थे कि कोई मसल, कोई मुहावरा

'सब्जी' का बताओ। उनकी उदार प्रवृत्ति, सौजन्यता और उनकी बुजुर्गी के कारण अक्सर विद्वान् शायर और अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति आकर एकत्रित होते थे और कविताएँ सुनते सुनाते थे। उन दिनों उनके सब्जी के शौक से औरों पर भी सब्ज रंग छाया हुआ था। भूरे खाँ 'आशुफ्त' एक पुराने शायर शाह मुहम्मद 'मायल' के शागिर्द और मुरीद थे। पाँच रुपए वृत्ति भी पाते थे। उनके एक शेर में 'हरी चुग'[1] का शब्द आया जिसका प्रयोग इन्होंने अभी तक नहीं किया था। उनसे वह शेर ले लिया और अपने ढंग से उसे सजाया :—

'आज यहाँ कल वहाँ, गुजरे यूँही जुग हमें।
कहते हैं सब सब्ज रंग इससे हरी चुग हमें॥

और उन्हें पुरस्कार के रूप में एक रूमाल में बाँधकर उनकी भेंट की। खेद है कि अंत में उस कृतघ्न भूरे खाँ ने अपना मुँह काला किया और नवाब साहिब से अपने सारे पुराने संबंध और उनके उपकार को बिसार कर उनके विषय में एक निंदात्मक कविता लिखी। आश्चर्य यह है कि उदार हृदय नवाब साहिब के मन में उसके लिये तनिक भी मैल न आई, पर वह जाहिल तो उनके मन को दुखाने पर ही तुला हुआ था। जब देखा कि इन्होंने उसका कुछ बुरा न माना तो उसने नवाब हसामुद्दीन हैदर खाँ 'नामी' पर एक निंदात्मक कविता रचा। 'नामी' से नवाब साहिब को ऐसा प्रेम था कि वह स्वयं भी कहते थे और लोग भी कहते थे कि इन दोनों बुज़ुर्गों में प्रेम नहीं 'इश्क' है। अगले ज़माने के लोगों की दोस्ती ऐसी ही गाढ़ी होती थी। उनकी प्रशंसा में गजलें कहकर उन्हें अपने दीवान में शामिल किया। एक शेर याद है :—

जो आओ तुम मेरे मेहमाँ हसामुद्दीन हैदर ख़ाँ।
करूँ दिल नज़्र जाँ कुरबाँ हसामुद्दीन हैदर खाँ॥

जब भूरे खाँ ने उसके विषय में हज्व कही तो इन्हें बहुत दुःख हुआ। इस पर उनसे केवल इतना कहा कि "तुम हमारे सामने न आया करो।" वह भी इसका कारण समझ गए। अपनी सफ़ाई में कहा 'लोग हमें फ़जूल बदनाम करते हैं। मैंने तो वह कविता नहीं लिखी।' कहा कि "बस, अब आगे न आगे न बोलो। इतनी मुद्दत हमने शायरी की जमीन की मिट्टी छानी, क्या हम तुम्हारी ज़बान नहीं पहचान सकते? मैं तो अपने को उससे भी हीन समझता हूँ जो कुछ तुमने हमारे बारे में कहा है। मगर मेरी वजह तुम मेरे दोस्तों को खराब कहने लगे। भई, तुझ से यह नहीं देखा जाता।" फिर जीते जी उन्होंने भूरे खाँ की सूरत न देखी। मेरे उस्ताद 'ज़ौक' कहते थे कि "दालान में एक ओर नमाज़ पढ़ने की दरी बिछी रहती

---

[1] 'हरीचुग' बेवफ़ा हरजाई को कहते हैं, जैसे वह एक जानवर है कि जहाँ हरी घास पाता है चरता है। जब वह चर चुकता है तो जहाँ और हरी घास देखता है, वहाँ जा पहुँचता है।

थी। जब मैं चलने लगता तो आठवें दसवें दिन कहते 'भई, मियाँ इब्राहीम, ज़रा हमारी जानमाज़ के नीचे देखना। पहली बार तो देखकर हैरान हुआ कि पुड़िया में कुछ रुपए धरे थे। आपने सामने से मुस्करा कर कहा : 'खुदा देवे तो बंदा क्यों न लेवे। जिसका तात्पर्य यह था कि हमारी क्या सामर्थ्य जो कुछ दें। जिससे हम माँगते हैं यह वही तुम्हें देता है।' यह था उनकी दानशीलता का अंदाज़।

एक बार उस्ताद बीमार हुए और कुछ दिनों के बाद नवाब साहिब के यहाँ गए। उस समय भी कुछ कमज़ोरी थी और पूरी तरह स्वस्थ नहीं हुए थे। नवाब साहिब ने कहा कि 'हुक्क़ा पिया करो'। इन्होंने कहा 'बहुत खूब'। अब वह हुक्क़ा पिलवाएँ तो खाली हुक्क़ा क्या पिलवाएँ। एक चाँदी की गुड़गुड़ी, चिलम और चंबल, मग़रक़ नैचः जड़ाऊ मुहनाल तैयार करवा कर सामने रखवा दिया।

खलीफ़ा साहिब (मियाँ मोहम्मद इस्माईल) छोटे से थे। एक दिन उस्ताद के साथ चले गए। जब विदा होने लगे तो एक छोटा सा टांगन ज़ीन कसा हुआ अस्तबल से मँगाया। उसपर सवार करके विदा किया कि बच्चा है। क्या जानेगा कि किसके पास गया था। यदि कोई चीज खाने को जी चाहता तो स्वयं न खाते। बहुत सा पकवाते। लोगों को बुलाते। आप खड़े रहते और उन्हें खिलवाते। और खुश होकर कहते कि बस अब मेरा मन भर गया। यह सारी दानशीलता उस परमस्नेही और सौजन्यता स्वस्थ छोटे भाई की बदौलत थी, जो दिन भर रियासती कारबार और देखभाल में जान खपाता था और रातों में अपने को चिन्ता में घुलाता था कि ख़ान्दान की कीर्ति बनी रहे। और इनसे केवल आशीर्वाद की अपेक्षा रखता था।

मेरे स्वर्गीय उस्ताद ('ज़ौक़') कहते थे कि एक दिन वे बैठे ग़ज़ल बना रहे थे कि नवाब साहिब के छोटे भाई नवाब अहमद बख्श ख़ाँ आए। औपचारिक अभिवादन और कुशलवार्त्ता के बाद बातों बातों में कहने लगे कि अमुक अंग्रेज को प्रीतिभोज दी, उसमें इतना रुपया ख़र्च हो गया। फलाँ साहिब आए थे, उन्हें अस्तबल की सैर कराने ले गए। काठियावाड़ के घोड़ों की जोड़ी खड़ी थी। उन्होंने उन्हें पसन्द से सराहा। मैंने बग्गी में जुड़वा दी और उसी पर सवार करके उन्हें विदा किया। वग़ैरह वग़ैरह। क्या करूँ ख़ाली मिलना ख़ाली विदा करना मुझसे नहीं हो सकता। यहाँ के अमीरों को अपने अमीरी चिढ़े हुए मुद्रा में यह सब कह जाते थे। हथसार में गया था वहाँ यह बन्दोबस्त कर आया हूँ। घोड़ियाँ आज सब गाँव पर भिजवा दी। हजरत, क्या करूँ? शहर में इन का पोसना कठिन है। लोगों को इन खर्चों के बोझ उठाने पड़े तो छाती फट जाय। "नवाब साहिब औरों की मुद्रा को भाँपने में बड़े चतुर थे। ताड़ गए। चुपके सुनते रहे और मुस्कराते रहे। जब उनकी ज़बान से निकला कि 'छाती फट जाय' तो मुस्करा कर बोले, "बाल तो आपकी छाती में भी आया होगा।" भाई ने शर्मा कर आँखें नीची कर ली। फिर उन्होंने कहा, "आखिर अमीरज़ादे हो। ख़ान्दान का नाम है। यहीं कहते हैं, मगर इस तरह नहीं कहा करते" नवाब अहमद बख्श ख़ाँ ने कहा, "हजरत, फिर आपसे

भी न कहूँ ?" उत्तर दिया, 'खुदा से कहो।' वह बोले, 'मुझे आप दिखाई देते हैं। आप से कहता हूँ। आप खुदा से कहिए। कहा कि "अच्छा, हम तुम मिलकर खुदा से कहें। तुम्हें भी कहना चाहिए"। नवाब अहमद बख़्श ख़ाँ भी जानते थे कि जो दान पुण्य बड़े भाई द्वारा किया जाता है वह सुप्रयोजन और सुपात्र के ही लिए किया जाता है। और उन्हें यह विश्वास भी था कि उनकी सारी समृद्धि और संपन्नता उन्हीं के पुण्य का प्रसाद है।

एक दिन नवाब अहमदबख्श ख़ाँ आए, लेकिन उदास और झुँझलाहट से भरे। इलाही बख्श ख़ाँ समझ जाते थे कि आज कोई घटना ज़रूर घटी है, जो इस मुद्रा में आए हैं। पूछा, "आज कुछ नाराज हो क्या ?" कहा कि नहीं हज़रत। फीरोजपुर झरके जाता हूँ।" पूछा 'क्यों?' कहा कि "बड़े साहिब (रेज़िडेंट साहिब) ने हुक्म दिया है कि अगर किसी को मिलना हो तो सिर्फ़ बुध को मुलाक़ात करे। आप जानते हैं कि मुझे हफ़्ते में दस बार काम पड़ते हैं। जब जी चाहा, गया। जो जरूरत हुई कह सुन आया। मुझसे ये रोक टोक नहीं सहा जायगा। इसलिए मैं अब यहाँ रहूँगा ही नहीं"। उन्होंने कहा "क्या तुम से कहा है ?" जवाब दिया कि "मुझसे तो नहीं कहा। सुना है। कुछ शहर के रईस उनसे मिलने गए थे। उनसे भेंट न की। यही कहला भेजा कि बुध को मिलिए।" बोले कि "यह पाबंदी तुम्हारे लिए नहीं औरों के लिए होगा।" अहमद बख्श ख़ाँ ने कहा कि "नहीं हजरत यह अंग्रेज हैं। इनके कायदे सब पर एक सा लागू होते हैं। जो सबके लिए है वही मेरे लिए भी होगा।" कहा, "भला तुम जाओ तो। तुम अभी जाओं। देखो तो क्या होता है।" उन्होंने कहा, "बहुत अच्छा, जाऊँगा।" फरमाया कि "जाऊंगा नहीं। उठिये। बस अभी जाइए।" नावब ने कहा कि "नहीं, मैंने अर्ज किया जरूर जाऊँगा।" बिगड़ कर बोले कि "अर्ज़ वर्ज़ नहीं। बस शर्त यह है कि इसी वक्त जाइये। और सीधे वहीं जाइयेगा।" अहमद बख्श ख़ाँ भी अंदाज देखकर चुपके हो रहे और उठकर चले। उन्होंने फिर कहा कि "वहाँ जाना। मुझे परीशान तो किया है। ज़रा फिरते हुए इधर ही को आना।" उस्ताद कहते थे कि वह तो गए मगर इनको देखता हूँ कि चुप और चेहरे पर व्यग्रता। कोई दो ही घड़ी हुई थी। और अभी मैं बैठा ग़ज़ल बना ही रहा था कि देखता हूँ कि नवाब सामने से प्रसन्नमुख चले आ रहे हैं। उनके होठों पर मुस्कराहट थी। आकर सलाम किया और बैठ गए। इन्होंने देखते ही कहा, क्यों साहिब ? 'नवाब बोले, "गया था। वह इत्तला होते ही खुद निकल आए और पूछा, "है, नवाब, ऐसे असमय ?" मैंने कहा, 'भई, मैंने सुना तुमने हुक्म दिया है कि जो तुमसे मिले बुध को मिले।" अभी मैंने अपनी बात समाप्त भी न की थी कि वह बोले, "नहीं नहीं नवाब साहिब, आपके लिए यह हुक्म नहीं। आप उनलोगों में नहीं हैं। आप जिस समय चाहें चले आएँ।" मैंने कहा, भाई तुम जानते हो, रियासत के झगड़े। मैं पागलों की तरह हमेशा घबराया हुआ रहता हूँ। कोई बात कहनी हो, सुननी

हो, तो बस इस बुध को मिलने की पाबंदी से मेरे काम तो बंद हो गए। इसलिए मैं विदा होने आया था कि फीरोजपुर चला जाऊँगा। अब यहाँ रहकर क्या करूँ"। उन्होंने फिर वही बात दुहराई और कहा "दिन या रात, रात या दिन, जब जी चाहे आ जाया करो।' मैंने कहा, "खैर, तो अब मैं निश्चिन्त हो गया। अब मैं जाता हूँ। "इलाही बख्श ख़ाँ भी प्रसन्न हो गए और कहा, 'अब जाइये और आराम कीजिए। "जो भगवान् के लिए संसार को छोड़ बैठते हैं, भगवान् भी उन्हें नहीं छोड़ता।

इसके साथ ही मेरे स्वर्गीय उस्ताद यह भी कहते थे, और यह उल्लेखनीय बात है कि यद्यपि अपनी ज़बान से इलाहीबख़्श खाँ ने कभी नहीं कहा मगर मैं जानता हूँ कि उनकी यह बड़ी लालसा थी कि इनके इकलौते बेटे अली बख्श ख़ाँ प्रयास से अच्छे पद को प्राप्त कर और धनोपार्जन कर स्वावलंबी बनें, जिससे उन्हें आश्रय और जीविका के लिए अपने चचा और उनकी संतान का मुंह न जोहना पड़े। यथोचित प्रबंध करके उन्हें कई रियासतों में भी भेजा। साहिब लोगों से भी मिलाया। प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी प्रयास किए। किंतु इस अभिलाषा की पूर्ति उनके प्रारब्ध में न थी। खुदा की मर्ज़ी। इसी आस्था ने उनकी खिन्न मन को अंत में समाहित किया। एक दिन इन्हीं बातों की चर्चा करते हुए मेरे उस्ताद ने कहा कि "अली बख्श ख़ाँ भी एक सुंदर, सुडौल और शानदार अमीरज़ादा था। मैंने कहा, "हजरत, कई बार कुछ मजलिसों और दरबारों में मैंने भी उन्हें देखा था। कुछ ऐसे तो नहीं थे।" उदास होकर उन्होंने कहा, "क्या कहते हो? "जवानी की चर्चा बुढ़ारी में और अमीरों की चर्चा फकीरी में, इस पर कौन विश्वास करता है?"

उस्ताद की ही ज़बानी यह लतीफ़ा भी सुना कि उन दिनों मिर्ज़ा क़तील के शागिर्द मिर्ज़ा ख़ाँ कोतवाल थे। फ़ारसी चित्रकला और साहित्य रचना के साथ साथ उर्दू कविता में अभिरुचि रखने का दावा रखते थे। उस समय मुंशी मोहम्मद हसन ख़ाँ मीर मुंशी थे और वास्तव में ये दोनों बड़े मिलनसार, शिष्ट और सहृदय व्यक्ति थे। एक दिन ये दोनों नवाब इलाही बख़्स ख़ाँ से भेंट करने आए और औपचारिक शिष्टाचार के बाद उनसे शेर कहने के लिये अनुरोध किया। उन्हें और लोगों की तरह यह आदत न थी कि चाहे अनचाहे जो आए उसे अपने शेर सुनाने लगें। अगर कोई फरमाइश करता था तो बात टालकर पहले उसके दो चार शेर सुन लेते थे। अगर वह स्वयं शायर न होता तो कहते कि और किसी उस्ताद के दो चार शेर पढ़िए, जो आपको पसंद हो। जब उसकी रुचि का पता लग जाता तो उसी रंग का शेर अपनी रचनाओं में से सुनाते। स्वभावतः इनलोगों से भी कहा कि आप दोनों साहिबान पहले कुछ शेर सुनाइए। उन्होंने कुछ शेर पढ़े। उसके बाद उनके आग्रह करने पर इलाही बख़्श ख़ाँ ने भी दो तीन शेर पढ़े और फिर इधर उधर की बातों में टाल गए। जब वह चले गए तो मुझसे कहने लगे, "मियाँ इब्राहीम, तुमने देखा?

और इनके शेर भी सुने ? इनकी दिमागी कैफ़ियत का कुछ पता ही नहीं चलता। कुछ हाल ही नहीं खुलता कि हैं क्या ? क्या यही मिर्ज़ा ख़ाँ और मीर मुंशी साहिब हैं, जिनकी काव्य-रचना और काव्य-मर्मज्ञता की इतनी धूम है ? और उस पर ऐयाशी और रंडीबाजी के भी दावे हैं। रंडी तो इनके मुँह पर दो जूतियाँ भी न मारती होगी। भला यह यह क्या कहेंगे और क्या समझेंगे ?''

शायरी की दुनियाँ एक रंग बिरंगी दुनिया है। इसके लिये सर्वग्राही बुद्धि और सर्वप्रिय रुचि आवश्यक है। इलाही बख़्श ख़ाँ एक तत्वदर्शी, पवित्र आत्मा और दूसरों के मन की बात जाननेवाले व्यक्ति थे। और हर बात को जानते थे। जानने वाले जानते हैं कि बात का जानना और चीज़ है, करना और चीज़ है। ऐसी तबीयतें हैं कि कुछ करती नहीं और सब कुछ जानती हैं। और ऐसी भी हैं कि सब कुछ करती हैं और कुछ भी नहीं जानतीं। वे लोग सचमुच बड़े भाग्यवान् हैं, जिन्हें ईश्वर सद्ग्राही हृदय और उसी के अनुकूल रुचि देता है, क्योंकि मनुष्य के जीवन में दोनों बहुत बड़े गुण हैं।

इसी तरह इधर वलीअहद 'जफ़र' की फ़रमाइशें, उधर नवाब साहिब की ग़ज़लों का शोध का क्रम चलता रहा। कई वर्ष के बाद शाह नसीर दकन से फिर लौटे और अपने मुशायरों का सिलसिला पूर्ववत् फिर जारी किया। शेख साहिब का रचना अभ्यास इस समय अपने पूरे ओज पर था। इन्होंने भी मुशायरों में जाकर ग़ज़ल पढ़ी। शाह साहिब ने दकन में किसी के अनुरोध पर नौ शेर की एक गजल कही थी, जिसकी रदीफ़ थी 'आतिशो आबो ख़ाको बाद'। वह गजल मुशायरे में सुनाई और कहा कि इस तर्ह में जो ग़ज़ल लिखे उसे मैं उस्ताद मानता हूँ। उनकी इस चुनौती से शेख़ साहिब की ओर इशारा था, जो कि उस समय वली अहद और नवाब इलाही बख़्श ख़ाँ की ग़ज़लें बनाते थे और उनके उस्ताद कहलाते थे। दूसरे मुशायरे में शेख़ साहिब ने उसी तर्ह पर गजल पढ़ी। शाह साहिब ने स्वयं इनके शेरों पर कुछ आपत्तियाँ की।...इनके बाद शेख़ साहिब ने बादशाह की प्रशंसा में एक क़सीदा भी इसी तर्ह में लिखा। इसे ये पहले मौलवी शाह अब्दुल अज़ीज़ साहिब के पास ले गए कि उसमें यदि कोई दोष या अशुद्धि रह गई हो तो उसे जँचवा लें। शाह साहब ने उसे सुनकर पढ़ने की अनुमति दे दी। मगर वलीअहद ने अपने ख़त के साथ उसे फिर शाह साहिब के पास भेजा। उन्होंने जो कुछ ज़बानी कहा था, वही उत्तर में लिख दिया और यह शेर भी लिखा :—

बुअद ब गुफ़्तए मन हर्फ़ एतराज़ चुनाँ। से बदीदए बीना फ़रो बरो अंगुश्त'

इससे शेख साहिब को और प्रोत्साहन मिला और शाही दरबार में जाकर यह क़सीदा सुनाया। इस क़सीदे की बड़ी चर्चा रही। और कई दिन के बाद सुना कि इसके बारे में कुछ आलोचनात्मक रचनाएँ भी की गईं।

शेख़ साहिब उस क़सीदे को मुशायरे में ले गए कि वहाँ पढ़ें और आमने सामने महफ़िल के बीच ही कुछ फ़ैसला हो जाय। चुनांचे क़सीदा पढ़ा गया। शाह

नसीर ने एक चुस्त और तेज़ शागिर्द को, जो भाषा संबंधी इल्म में बड़ा होशियार था, पेश किया और कहा कि 'इन्होंने इस क़सीदे पर कुछ आपत्तियाँ की हैं। वह उन्हें पढ़ना चाहते हैं।' शेख़ साहिब ने निवेदन किया कि 'मैं आपका शागिर्द हूँ और मैं अपने को इस योग्य नहीं समझा कि आप मेरी रचना पर आपत्ति करने का कष्ट करें।' उन्होंने कहा कि 'मुझे इससे कुछ संबंध नहीं। इन्होंने ही कुछ लिखा है।' शेख साहिब ने कहा कि 'खैर लिखना तो तभी तक जायज़ है, जब कहने और सुनने वाला दूरी पर हो। जब आमने सामने मौजूद हैं तो ज़बानी ही कहिए।' कसीदे का मत्ला था :—

कोह और आँधी में हो अगर आतिशो आबो ख़ाको वाद।
आज न चल सकेंगे पर आतिशो आबो खाको वाद॥

आपत्तिकारी ने यह आपत्ति की कि 'संग (पत्थर) में आतिश (आग) के चलने का कोई प्रमाण चाहिए।' इन्होंने कहा कि 'जब पहाड़ आगे बढ़ता है और उसमें हरकत होती है तो उसके अंदर की आग को भी हरकत होगी।' आपत्तिकारी ने फिर कहा कि 'पत्थर में आग होने का सबूत दीजिए।' इन्होंने क़हा कि 'इतिहास से साबित है कि होशंग के समय में पत्थर से आग निकली।' उसने कहा कि 'शायरी में शेर का सबूत चाहिए। यहाँ इतिहास नहीं चलता।' मुशायरे में उपस्थित आगंतुक इस प्रश्न और उत्तर के उलट पुलट का मज़ा ले रहे थे और इन थोथी आपत्तियों पर हैरान भी थे कि उसी समय इस अंतिम आपत्ति के उत्तर में शेख़ साहिब ने मुहसिन 'तासीर' का यह शेर तुरत पढ़ा :—

"पेश अज़ ज़हूर जल्वए जानानः सोख़्तीम।
आतिश व संग बुवद कि माखनः सोख्तीम"

सुनते ही मुशायरे में वाह वाह के शोर से एक हंगामा पैदा हो गया। और साथ ही 'सौदा' का यह मिस्रा भी पढ़ा गया :—

'हर संग में शरार है तेरे जहूर का'

इसी तरह क़सीदे के अन्य शेरों पर भी सवाल-जवाब हुए। शाह साहिब भी बीच-बीच में इस उत्तर-प्रत्युत्तर में भाग लेते जाते थे। अंत में एक शेर पर उन्होंने यह आपत्ति की, इसमें सबूतखानी नहीं है। शेख साहिब ने कहा कि यहाँ तग़लीब है। उसपर स्वयं शाह साहिब ने कहा कि 'इस तग़लीब का कहीं प्रयोग नहीं किया।' इन्होंने कहा कि तग़लीब का नियम सामान्य है।' उन्होंने कहा कि 'जब तक किसी उस्ताद की रचना में न प्रयोग किया गया हो इसका प्रयोग प्रमाण सिद्ध नहीं माना जा सकता।' शेख साहिब ने कहा कि "आपने नौ शेर की ग़ज़ल पढ़कर कहा था कि इस तरह में कोई ग़ज़ल कहे तो हम उसे उस्ताद जानें। मैंने तो एक ग़ज़ल और तीन क़सीदे लिखे। अब भी उस्ताद न हुआ?" आपत्तिकारी ने कहा कि 'अब इस समय में अपने अन्य आपत्तियों को पूरी तरह प्रस्तुत नहीं कर

सकता। इसलिये इस वाद विवाद को कल के लिये मुल्तवी किया जाय।" और इसके बाद सभा विसर्जित हो गई।

उसी दिन से उन्हें पूरी साहित्यिक जानकारी के लिये पुस्तकों के अध्ययन का धुन सवार हुआ। इसका एक सहज साधन उन्हें यह मिल गया कि राजा साहिबराम जो शाह अवध के इलाकों के मुख्तार थे, उनकी यह इच्छा हुई कि अपने बेटे के विद्योपार्जन की कोई अच्छी व्यवस्था करें। उन्होंने उसके शिक्षक के पद पर मौलवी अब्दुल रज़ाक़ को, जो शेख साहिब के उस्ताद थे, नियुक्त किया। संयोगवश एक दिन यह भी मौलवी साहिब के साथ उनके यहाँ गए। चूंकि इनकी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता की ख्याति उस समय चारों ओर फैल चुकी थी, राजा साहिबराम ने इनसे कहा कि 'मियाँ इब्राहीम, तुम भी मेरे बेटे की तालीम में हाथ बटाओ।' फिर तो नौबत यह हो गई कि यदि किसी अन्य व्यस्तता के कारण वहाँ न जाते तो राजा साहिब का आदमी उन्हें ढूंढ़ कर ले जाता। नहीं तो उस दिन का उनका पाठ स्थगित रहता।

शेख़ साहिब कहा करते थे कि जब बहादुरशाह वलीअहद थे उस समय मिर्जा सलीम के ब्याह के अवसर पर उन्होंने एक मस्नवी लिखी। उसकी बह्र मस्नवी के साधारण बह्रों से भिन्न थी। लोगों ने चर्चा की कि यह प्रमाण सिद्ध नहीं है। शेख़ साहिब कहते हैं कि मीर नजात की गुले किश्ती हमने देखी थी। मगर हकीम मिर्जा मुहम्मद साहिब उस समय जीवित थे और मेरे स्वर्गीय पिता उन्हीं का इलाज करते थे। अपनी जानकारी को बढ़ाने और विषय को भली भाँति जांच लेने के उद्देश्य से हमने उनसे जाकर पूछा। उन्होंने कहा कि 'ऐसा नियम अनायास ही बन गया है कि मस्नवी की रचना इन्हीं आठ बह्रों में की जाय। किंतु सक्षम रुचि पर कौन प्रतिबंध लगा सकता है? जिस बह्र में चाहो लिखो।' उस्ताद के पर्चों में कुछ शेर इस संबंध में मिले, उनमें साचक (ब्याह के एक दिन पहले की रस्म) के विषय पर कुछ कहा गया था। दो शेर अब तक याद हैं :—

ठिठेलां तो न थीं वह मए इशरत के सुबू थे।
या कुल्जुमें मस्ती के हबाबे लबे जू थे॥

लाजिम था कि लिख बाँधते यह उनके गुलू में।
है बंद किया ऐशके दरिया को सुबू में।

कुछ वर्षो के बाद इन्होंने एक कसीदा अकबर शाह के दरबार में कह कर सुनाया। जिसके विभिन्न शेरों में भाँति भाँति के साहित्यिक अलंकारों और युक्तियों का प्रयोग किया था। इसके अतिरिक्त १८ शेर विभिन्न भाषाओं में लिखी थीं। उसकी पहली पंक्तियाँ ये हैं :—

जब कि सरताने व असद मेह्र का ठैरा मस्कन।
आबो ऐलूलः हुए नश्व नमाए गुल्शन॥

इसपर बादशाह ने इन्हें 'ख़ाकानिए हिंद' की उपाधि प्रदान की। उस समय शेख़ साहिब की उम्र केवल १९ वर्ष की थी।

हाफ़िज़ अहमद यार ने कुछ ही दिनों पहले यह स्वप्न में देखा कि एक जनाज़ा रखा है। उसके चारों ओर बहुत से लोग जमा हैं। वहाँ हाफ़िज़ अहमद यार के पिता हाफ़िज़ अब्दुल रहीम एक खीर का प्याला लिए खड़े हैं और शेख़ साहिब को उसमें से चम्चे भर भर कर देते जाते हैं। हाफ़िज़ अहमद यार ने उनसे पूछा यह क्या हो रहा है यह जनाज़ा किसका है?' उन्होंने कहा कि यह मिर्जा रफ़ी का जनाजा है और मियाँ इब्राहिम उनके स्थान पर नियुक्त हुए हैं।

इनको 'ख़ाकानिए हिंद' की उपाधि दिए जाने पर लोगों ने बड़ी टिप्पणियाँ कीं कि बादशाह ने यह क्या किया? अनुभवी, वयोवृद्ध और ख्याति प्राप्त शायरों के होते हुए एक युवक को 'मुलकुले शुअरा' बनाया और इतनी उच्चतर उपाधि प्रदान की। एक जलसे में इसी विषय पर बात चीत हो रही थी कि जिस क़सीदे पर यह उपाधि दी गई है, उसे भी तो देखना चाहिए। इसपर यह क़सीदा पढ़ा गया। मीर कल्लू 'हक़ीर' एक वयोवृद्ध शायर थे और उन्हें पुराने शायरों की संगत और संपर्क का अनुभव था। सुनकर बोले कि 'भई, जरा न्याय करो। इस रचना को तो देखो। ऐसे व्यक्ति को यदि बादशाह ने 'ख़ाकानिए हिंद' की उपाधि देकर 'मुलकुले शुअरा बनाया तो क्या बुरा किया?" मुझे याद है कि जब मेरे स्वर्गीय उस्ताद ने इस घटना का वर्णन किया था तो उस समय भी उन्होंने कहा था, और जब कभी भी मैं जमाने के लोगों के अन्यायपूर्ण व्यवहार या उनकी मूर्खता या संकीर्णता से क्षुब्ध होकर कुछ कहता तो कहते थे कि 'अन्यायियों में से प्राय: कोई न्यायप्रिय व्यक्ति भी बोल उठता है। अनजानों में जानकर भी निकल आते हैं। संकीर्ण विचार-वालों में कुछ उदारवृत्तिवाले भी होते हैं। तुम अपना काम किए जाओ।" ३६ वर्ष की आयु थी, जब कि धर्मानुसार सभी वर्जित खानपान और अन्य कर्मों को औपचारिकता रूप से तोबः किया और उसकी तारीख कही :—

'ऐ जौक' बगो सेहवार तोबः'

मिर्जा अबूज़फ़र बादशाह होकर बहादुर शाह हुए तो उन्होंने इस क़सीदे की रचना की :—

रु कश तेरे रुख से हो क्या नूरे सहर रंगे-शफक।
है जर्रा तेरा पर तो ऐ नूरे सहर रंगे शफक॥

यद्यपि मिर्जा अबूज़फ़र इन्हें सदा दिल से प्यार करते थे और अकसर अपने मन की बातें अपना विश्वस्त समझ कर इन्हीं से कहते थे मगर जब वे वलीअहद थे, तो उस समय मिर्जा मुगल बेग इनके मुख्तार थे। जब कभी भी किसी की पदोन्नति या पुरस्कृत करने का अवसर आया तो उस्ताद के लिए केवल यह हुआ कि···

महीने वेतन से · · ·महीने हो गया और · · ·से · · ·रुपये हो गए। जब अबू जफर बादशाह हुए और मिर्ज़ा मुग़ल बेग़ उनके वजीर हो गए तो शाही वज़ीर के सारे कुनबे से क़िला भर गया मगर शाही उस्ताद को बस ३०) रुपया महीने की वृत्ति मिली। फिर भी इन्होंने बादशाह के सामने अपने आर्थिक लाभ या पदोन्नति के लिए कभी मुँह नहीं खोला। इनकी आदत थी कि घर पर प्रायः शेरों के चिंतन में टहला करते और उन्हें दिमागी साचों में ढाला करते। इस तरह उन दिनों जब किसी रोचक विषय की उपयुक्तता और प्रांजलता इनकी कल्पना को उत्तेजित करती तो उसके नशे में आकाश की ओर देखते और कहते रहते :—

यूँ फिरे अहले-कमाल आशुफ्त :—हाल अफसोस हैं।
ऐ कमाल अफसोस है तुम पर कमाल अफसोस है॥

मियाँ अब्दुल अज़ीज़ खाँ साहिब एक किसी बड़े बुजुर्ग दरवेश के मुरीद फ़क़ीर थे। शेख़ साहिब भी उनमें बड़ी श्रद्धा रखते थे। इसी एक दिन वह ऐसी ही निराश और उद्वेगपूर्ण दशा में उनके पास गए और कहा कि "तख़्तनशीनी के पहले बादशाह के बड़े ऊँचे ऊँचे संकल्प थे। लेकिन अब यह दशा है कि अलिफ़ के नाम बे नहीं जानते। यहाँ तक भाषा तक शुद्ध नहीं। और बस जो कुछ हैं मिर्ज़ा मुग़ल बेग हैं।" मियाँ साहिब ने कहा कि ईश्वरीय विधान में केवल बाहरी आडम्बर और ठाटबाट ही सब कुछ नहीं है। ज़रा यह तो देखो कि ईश्वर ने जो वैभव तुम्हें दिया हैं, वह उसे कहाँ नसीब हुई जिस गर्व से तुम दरबार में खड़े होकर अपनी गज़ल पढ़ते हो, उस गर्व से वह अपनी वज़ीरी के पद पर कब खड़ा हो सकता होगा। अदने अदने मुंशी मुहर्रिर उस के हिसाब किताब लिखते पढ़ते होंगे, जिनके लिखे को न वह समझ सकता होगा न उनके झूठ सच का पता लगा सकता होगा। शेख़ साहिब ने उनके उपदेश से आश्वस्त हुए और फिर कभी अपने भाग्य को न कोसा।

कुछ ही दिनों के बाद मिर्ज़ा मुग़लबेग की सारी शेख़ी ख़तम हो गई। कुल परिवार किले से निकाला गया। नवाब हामिद अली ख़ाँ मुख़्तार हो गए। अब उस्ताद शाही का मासिक वेतन सौ रुपया हो गया। अब ईद और नौरोज़ में जो शुभ कामनाओं के कसीदे पढ़ते थे तो उनके उपलक्ष में भी दरबार से इन्हें उपहार मिलता था।

एकबार बादशाह बीमार हुए। जब स्वस्थ हुए और शेख़ साहिब ने एक क़सीदा प्रस्तुत किया तो अन्य पुरस्कार के अतिरिक्त इन्हें ख़ान बहादुर की उपाधि प्रदान की गई और चाँदी के हौदे के साथ एक हाथी उन्हें उपहार में मिला। स्वीकृति में इन्होंने एक बड़े सजधज का क़सीदा लिखा जिसकी पहली पंक्ति है :—

'शब को मैं अपने सरे बिस्तरे ख़्वाबे राहत'

इस क़सीदे पर इन्हें फिर एक गाँव जागीर में भेंट की गई।

जिस रात के पिछले पहर इनकी मृत्यु हुई, मैं उसके पूर्व संध्या के समय मैं उनके पास मौजूद था। एक बार शौच के लिए उन्होंने उठने की कोशिश की। ख़लीफ़ा साहिब ने उन्हें उठाया पायताने चौकी लगी हुई थी। हाथ का सहारा दिया और उन्होंने खिसक कर आगे बढ़ना चाहा। किंतु शरीर में काफ़ी शक्ति न थी। दर्द भरे स्वर में बोले, 'हाय रे कमज़ोरी'। ख़लीफ़ा साहिब ने कहा कि 'आप को तो शायरों की ही कमज़ोरी हो गई।' हाफ़िज़ वीरान भी बैठे थे। वे बोले कि 'आपने भी कमज़ोरी पर बड़े बड़े मज़मून बाँधे हैं।' मुस्कुरा कर कहा कि 'अब तो कुछ उससे भी ज्यादा है।' मैंने कहा, 'सुभान अल्लाह, ऐसी हालत में भी आपकी अतिशयोक्ति वैसी ही बनी है। खुदा इसी अतिशयोक्ति के इतनी आपको शक्ति भी दे।' रात इसी दशा में कटी। भोर होते ही सत्रह दिन बीमारी के बाद उनकी मृत्यु हुई। उस दिन बृहस्पत का दिन और हि० सन् १२७१ सफ़र की चौबीसवीं तारीख़ थी। मृत्यु के तीन घंटे पहले यह शेर कहा था :--

कहते हैं आज 'ज़ौक़' जहाँ से गुज़र गया।
क्या खूब आदमी था खुदा मफ़रत करे॥

इनकी मृत्यु पर हिंदोस्तान के शायरों ने जितनी तारीख़ें कहीं, आज तक किसी बादशाह या शायर के लिये नहीं कही। उन दिनों दिल्ली में उर्दू अख़बार चल निकले थे। कई दिन तक यहाँ का कोई भी अख़बार ऐसा न था, जिसमें हर सप्ताह कई कई तारीख़ें न छपी हों।

उनके जीवन और स्वभाव के संबंध में कुछ विशेष बातें

शेख़ साहिब मझोले क़द के थे। ये स्वयं भी कहते हैं :--

आदमीयत से है बाला आदमी का मर्तबः,
पस्तहिम्मत यह न होवे पस्तक़ामत हो न हो॥

उनका रंग साँवला था और चेहरे पर चेचक के दाग़ बहुत से थे। कहते थे कि इन्हें नौ बार चेचक निकली। किंतु उनका रंग और वे दाग़ कुछ ऐसे अनुकूल प्रतीत होते थे कि बड़े भले लगते थे। आँखों में ज्योति और दृष्टि में तीक्ष्णता थी। मुख की आकृति खड़ी खड़ी थी और शरीर में काफ़ी चपलता थी। बहुत तेज़ चलते थे। प्रायः सफ़ेद कपड़े पहनते थे और वे उन्हें बहुत शोभते थे। स्वर ऊँचा और कर्णप्रिय था। जब मुशायरे में अपनी रचनाएँ पढ़ते थे तो महफ़िल गूँज उठती थी। उनके कविता-पाठ का ढंग उनकी रचना को और प्रभावोत्पादक बना देता था। अपनी ग़ज़ल आप ही पढ़ते थे। किसी और से कभी न पढ़वाते थे।

प्रकृति--निर्माता जिन्हें विद्या और कौशल से संपन्न करता है, उन्हें कुछ ऐसे गुण भी देता है, जिसके कारण उनका व्यक्तित्व अपने समकालीनों से स्पष्ट अलग दिखाई पड़ता है। इनके बुद्धि की तीव्रता और कल्पनाओं की ऊँचाई तो अब भी

उनकी रचनाओं से प्रमाणित होती है। लेकिन अपनी स्मरणशक्ति के प्रमाण में उन्होंने एक घटना उस समय का वर्णन किया, जब कि वे दुधमुंहे बच्चे थे और इसे सुनकर शायद हम आश्चर्य करें। कहते थे कि 'मुझे अब तक याद है कि जब मैं एक छोटा सा बच्चा था तो एक दिन मुझे बुख़ार आया। मेरी माँ ने मुझे पलंग पर लिटा कर लिहाफ़ उढ़ा दिया और आप किसी काम को चली गई। एक बिल्ली लिहाफ़ में घुस आई। मुझे उसके घुस आने से और उसकी खुर्र खुर्र की आवाज़ से बड़ी घबराहट मालूम होने लगी। लेकिन कुछ देर उसी तरह चुपचाप पड़ा रहा। थोड़ी देर में माँ आ गई। उन्होंने उसे हटाया तो मेरे जान में जान आई। और यह सारी घटना अब तक याद है। मैं जब बड़ा हुआ तो मैंने माँ से इसके बारे में पूछा। उन्होंने याद करके इस घटना को सच बताया और कहा कि वास्तव में उस समय मैं वर्ष भर से कुछ कम था।'

इनकी तबीयत सहिष्णुता और संयम की मात्रा भी काफ़ी थी, जिसके लिये वे ईश्वर को धन्यवाद देते थे। कहते थे कि एक दिन इमली के पेड़ में कनकौआ (पतंग) अटक गया। उसे उतारने को मैं ऊपर चढ़ गया। एक टहनी को भार देने योग्य समझ कर मैंने उस पर पांव रखा। वह टूट गई। मैं नीचे आ पड़ा। बहुत चोट लगी। किंतु भगवान् ने फिर ऐसी बुद्धि दी कि फिर न कनकौआ उड़ाया न पेड़ पेड़ पर चढ़ा।'

उम्र भर अपने हाथ से किसी पशु पक्षी की हत्या न की। युवावस्था की चर्चा करते हुए कहा एक बार यारों ने एक पौष्टिक औषधि का अनुभूत नुख़ा बड़े प्रयत्न से ढूँढ़ निकाला। मिलकर उसे बनाने का विचार हुआ। उसमें एक एक अंश के इकट्ठे करने का भार अलग अलग व्यक्ति को दिया गया। चालीस गौरैयों का भेजा लाना मेरे ज़िम्मे हुआ। हमने घर आकर उनके पकड़ने के लिये जाल फैला दिया और दो तीन गौरेए पकड़ कर पिंजरे में डाले। उनका फड़फड़ाना देख कर विचार किया कि 'इब्राहीम', एक क्षण के मज़े के लिये चालीस निर्दोष पक्षियों की हत्या करना क्या मानुषिक कृत्य है? यह भी तो जानदार हैं और जीने के लिये लालायित हैं'। मैं उसी समय उठा और उन्हें पिंजरे से निकाल दिया। और उनके पकड़ने का सब सामान तोड़ फोड़कर मित्रों से जाकर कह दिया कि 'भाई, हम इस नुस्खे के बनाने में हाथ न बटाएँगे।'

इनकी आदत थी कि टहलते बहुत थे। घर के दरवाज़े के आगे एक लंबी गली थी। अकसर उसमें टहला करते थे। रात के समय टहलते टहलते आए और कहने लगे कि 'मियाँ, अभी एक साँप गली में चला जाता था'। हाफ़िज़ गुलाम रसूल 'वीरान' उनके एक प्रतिष्ठित शागिर्द वहीं बैठे थे। उन्होंने कहा 'हज़रत, फिर आपने उसे मारा नहीं? किसी को बुला लिया होता।' कहा कि 'ख्याल तो मुझे भी आया था। मगर फिर मैंने कहा कि 'इब्राहीम, आख़िर यह भी तो जान

रखता है। उसे मारने से तुझे कै रक्अत[६] का सवाब होगा?'। फिर ये शेर पढ़े :—

चे खुश गुफ़्त फ़िरदौसिये पाक ज़ाद
कि रहमत बरआँ तुरबते पाक बाद
मयाज़ार मूरे कि दान कश अस्त
कि जाँदारदव जाने शीरीं खुश अस्त।

एक बार वर्षा ऋतु में बादशाह कुतुब में थे। यह प्रायः उनके साथ वहां जाया करते थे। उस समय वह एक क़सीदे की रचना कर रहे थे :—

शब को मैं अपने सरे बिस्तरे ख्वाबे राहत

कुछ चिड़ियाँ बाहर सायबान में तिनके रखकर घोंसला बना रही थीं। और उनके तिनके जो गिरते थे। उन्हें लेने को बार बार उनके आसपास आकर बैठ जाती थीं। यह ध्यानावस्थ बैठे थे, एक चिड़िया इनके सर पर आन बैठी। इन्होंने हाथ से उड़ा दिया। थोड़ी देर में फिर आन बैठी। इन्होंने फिर उड़ा दिया। जब कई बार ऐसा हुआ तो हँसकर कहा कि 'इसने मेरे सर को कबूतरों की छतरी बनाया है।' एक ओर मैं बैठा था। एक ओर हाफ़िज़ 'वीरान' बैठे थे। वह दृष्टिहीन थे। उन्होंने पूछा कि हज़रत क्या हुआ?' मैंने उन्हें बात बताई। वीरान बोले कि 'हमारे सर पर तो नहीं बैठती'। उस्ताद ने कहा कि 'बैठे क्योंकर? जानती है कि यह मुल्ला है, आलिम है, हाफ़िज है। अभी ओहिल्ला लक़ुमुस्तैद की आयत पढ़कर कोलू खशरबू, बिस्मिलाहे अल्लाहो अकबर कर देगा—दीवानी है, जो तुम्हारे सर पर आए?'

मेरे उस्ताद कहते थे कि मैंने पुराने बुज़ुर्गों के साढ़े तीन सौ दीवान देखे हैं और उनको सारांशित किया है। ख़ान आरज़ू कि कृतियाँ, टेकचंद 'बहार' की गवेषणाएँ और इस प्रकार के और ग्रंथ तो मानो उनकी ज़बान पर थे। मगर मुझे इससे आश्चर्य नहीं होता। यदि पुराने शायरों के हज़ारों शेर उन्हे याद थे तो यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। बातचीत में जिस तरह वह तुरत शेरों का हवाला देते थे, मैं इसको भी कोई महत्व नहीं देता। क्योंकि जिस कला के अभ्यास को वह लिए बैठे थे, ये सब उसके विभिन्न साधन हैं। हाँ, आश्चर्य की बात यह है कि जब इतिहास की चर्चा होती थी तो वह एक कुशल इतिहासकार लगते थे। किसी धार्मिक ग्रंथ की व्याख्या की चर्चा करते थे तो ऐसा लगता था कि जैसे उस ग्रंथ का कोई भाष्य देख कर उठे हों। विशेषतः सूफ़ीवाद जैसे आध्यात्मिक विषयों का तो उन्होंने ऐसा गहरा अध्ययन किया था कि जब प्रवचन देते थे तो ऐसा मालूम होता था कि शेख़ शिब्लो हैं या बायज़ीद बुस्तामी बोल रहे हैं। भौतिक संसार और उसकी

---

[६] नमाज़ में एक क़याम (खड़ा होना), एक रुकूअ (झुकना) और दो सिज्दों (ज़मीन पर माया टेकना) की क्रिया को 'रक्अत' कहते हैं।

आधारभूत सत्ता के एकत्व की व्याख्या को जब वह अपनी विद्वत्ता और ज्ञान की रश्मियों से प्रकाशित करते थे तो कभी अबू सईद अबुल ख़ैर कभी मुहीउद्दीन अरबी जैसे प्रतीत होते थे। फिर जो कुछ भी कहते थे काँटे की तौल कहते थे कि हृदय पर अंकित हो जाता था। और जो कुछ उनसे सुन लिया है उसकी छाप आज तक हमारे हृदय पर अमिट बनी है। यदि रमल और ज्योतिष की चर्चा होती तो वह एक चतुर ज्योतिषी बन जाते। स्वप्न फल बताने में तो उन्हें एक दैवी दक्षता प्राप्त थी। और उनके बताए स्वप्नों के उपचार भी अत्यंत फलदायक होते थे। यद्यपि हमें इस बात से आश्चर्य है कि इन्होने एक साथ इतने कौशलों में कैसे दक्षता प्राप्त की मगर उससे अधिक आश्चर्य इस बात की है कि इतने विषयों की जानकारी उनके स्मृति में सुरक्षित कैसे रही।

वह कहते थे कि यद्यपि कविता में हमें बचपन से ही रुचि थी, किंतु शुरू में संसार में ख्याति और यश कमाने की लालसा और स्वाभाविक मनोविनोद की प्रवृत्ति ने मुझे विभिन्न कौशलों के अभ्यास की दिशा में आकृष्ट किया। कुछ दिन संगीत से शौक़ हुआ और कुछ सीखा भी। मगर ख़ानदेश से एक अत्यंत निपुण गवैया आया। उससे भेंट की। बातों बातों में उसने कहा जो संगीत से प्रेम करे, उसके लिये ३०० वर्ष की आयु होनी चाहिए। १०० वर्ष सीखे। सौ वर्ष सुनता फिरे और जो सीखे उसे साधे। और फिर सौ वर्ष बैठकर औरों को सुनाए और उसका आनंद उठाए। यह सुनकर मेरा मन फिर गया। सोचा कि इब्राहीम ने बड़ा कमाल पैदा किया तो एक डोम हो गए। इस पर भी यदि किसी अच्छे कलाकार ने सुना तो वह नाक चढ़ा कर यही कहेगा कि अनाड़ी है। इसलिये सिपाहीज़ादे से डोम बनने की क्या ज़रूरत ?

इन्हें ज्योतिष और रमल में भी रुचि थी। उसमें भी योग्यता प्राप्त की। ज्योतिष का एक अच्छा विद्वान् मुग़लपुरे रहता था। उससे ज्योतिष संबंधी समस्याओं का समाधान करवाते थे। एक दिन किसी प्रश्न का उसने बिल्कुल ठीक उत्तर दिया और विचारविमर्श के सिलसिले में यह भी कहा कि एक एक ग्रह की दशा, उसके गुण धर्म और उसकी गति के पूरे तौर से अध्ययन के लिये ७७ वर्ष का समय चाहिए। सुनकर उससे भी मन हट गया।

हकीमी का भी कुछ दिनों अभ्यास किया। इसमें व्यर्थ की हत्या का पाप दिखाई देने लगा। अंत में जो नैसर्गिक रुचि दैव ने प्रदान की थी, वही इनके भाग्योदय का साधन बनी।

मक्खन लाल के गंज में एक अंधे ज्योतिषी पंडित तुलसीराम रहते थे। एक बूढ़े व्यक्ति मुंशी दुर्गापरशाद शेख़ साहिब के बड़े पुराने मित्र थे और ज्योतिषी जी के पास भी आया करते थे। इन्होंने इन ज्योतिषी की बड़ी प्रशंसा की और एक दिन समय निश्चत कर इन्हें उनके पास ले गए। दोनों में कुछ रोचक बातों की चर्चा हुई। उसके बाद इन्होंने बिना नाम बताए एक काल्पनिक व्यक्ति के बहाने अपने ज़ायचः

(जन्मपत्री) के सब विवरण बताए। ज्योतिषी जी ने कहा कि वह व्यक्ति अत्यंत कुशल कलाकार होगा और उसकी कुशलता संभवतः ऐसी कला में होगी, जिससे दूसरों का मनोरंजन होगा। उसके कला की बड़ी ख्याति होगी। उसके शत्रु और प्रतिद्वंदी भी बहुत से होंगे किंतु कोई उसके सामने न खड़ा हो सकेगा। वह इसी प्रकार की बातें कहे जाते थे। शेख़ साहिब ने पूछा कि उसकी उम्र कितनी होगी ? उन्होंने कहा सड़सठ, हद उन्हत्तर। यह सुनकर शेख़ साहिब के चेहरे पर कुछ चिंता की झलक आई। और विधि का विधान देखिए कि शेख साहिब की मृत्यु अड़सठ वर्ष की आयु में हुई। यों तो समझे बेसमझे ज्योतिष की कही हुई बातों पर विश्वास न करना चाहिए, किंतु यह घटना अपनी आँखों के सामने घटी थी, इसलिये उसका सही सही वर्णन कर दिया। ऐसा मुझे लगता था कि जीवन के अंतिम काल में वे प्रायः अपनी मृत्यु के बारे में सोचा करते थे। एक बार बादशाह बीमार होकर स्वस्थ हुए। स्वस्थता सूचक स्नान का हर्षोत्सव निकट था। इन्होंने इस अवसर के लिये एक मांगलिक रचना लिखी। जिस समय यह क़सीदा लिख रहे थे, मैं नित्य नियम के अनुसार उनकी सेवा में उपस्थित रहता था। वे उस क़सीदे के कुछ शेर मुझे सुनाने लगे :—

ज़हे निशात कि गर कीजिए उसे तहरीर।
अयाँ हो ख़ामः से तहरीर नग्मः जाए सदीर॥

इसके आगे शेर सुनाते जाते थे और मैं उनकी प्रशंसा किए जाता था। वह मुस्कराते जाते थे और पढ़ते जाते थे। जब यह शेर पढ़ा :—

हवा पे दौड़ता है इस तरह से अब्रे-सियाह।
कि जैसे जाए कोई फ़ीले मस्त बे ज़ंजीर॥

अनायास मेरे मुंह से निकल गया "सुभान अल्लाह। ज़िंदगी और यह ज़ोर। यह ज़हूरी" का साक़ीनामा हो गया। "चुप हो गए और फिर कहा, 'हां मेरी शायरी में तो ज़ोर बढ़ता जाता है, लेकिन मैं घुला जाता हूँ। इसकी जवानी है और मेरी बुढ़ापा"। हाफ़िज़ 'वीरान' कहते थे कि बसंत ऋतु-विषयी कुछ रचनाएँ कर रहे थे। उस बीच इन्होंने कई कई बार कहा कि ख्वाजा हाफ़िज़ के इस शेर के मज़मून को भी किसी उपयुक्त स्थान पर लगा देंगे :—

मए दोसाला व महबूब चार दह साला।
हमीं बस अस्त मरा सुहबते सग़ीरो-कबीर॥

एक दिन जब मैं गया तो जो शेर पर्चों पर तितर बितर पड़े थे, उन्हें ये सिलसिले से लगा रहे थे। उन्हें सुनाते सुनते उन्होंने उन शेरों को पढ़ा जिनके बारे में उन्होंने हाफ़िज़ के शेर की पहले चर्चा की थी।

हुआ है मदरसः भी दरसगाहे ऐशे-निशात,
कि शम्स बाज़ग़ः जो पढ़े हैं बद्रेमुनीर।

अगर प्यालः है सुग्ना तो है सुबू कुब्रा,
नतीजा यह है कि सरमस्त है सग़ीरो-कबीर ।

और मेरी ओर देखकर पूछा, 'क्या अब भी ?' मैने निवेदन किया 'सुभान अल्लाह, अब इसकी क्या ज़रूरत रही ?' उन्होंने आँखों को बंद करके कहा :—

'सब उस ऊपर वाले की देन है'

दिल्ली में नवाब ज़ीनतमहल की कोठी लालकुएँ के पास अब भी मौजुद है। बादशाह ने एक बार वहीं दरबार किया। उसी अवसर पर यह क़सीदा सुना था। इस वर्ष एक विवाहोत्सव में सम्मिलित होने के लिये हमें दिल्ली जाना पड़ा। उसी मकान में बारात ठहरी थी। दिल्ली के विजय के बाद बृटिश सरकार ने इस मकान को पटियाला के महाराजा को दे दिया। जब यह बंद पड़ा रहता है। बस इतने ही काम का है कि उधर की को कोई बड़ी बारात आई या विवाह का जल्सा हुआ तो दारोग़ा की आज्ञा से उसी मकान में उसका आयोजन होता था, वाह

कुश्तो का तेरी चश्मे-सियह-मस्त के मज़ार ।
होगा ख़राब भी तो ख़राबात होएगा ।।

वह ज़माना और आज कल की दशा देख कर ईश्वर के माया की लीला याद आती है।

इनके स्वभाव में ईश्वर ने कविता के लिये इतनी अनुकूलता दी थी कि रात दिन इसके अतिरिक्त किसी और चीज़ की इन्हें चिंता ही न रहती थी और इसी में इन्हें आनंद मिलता था। एक छोटा सा और अँधेरा घर था, जिसका आँगन बस इतना बड़ा था कि एक छोटी सी चारपाई एक ओर बिछा लेते थे। उसके दोनों ओर बस इतना रास्ता बच जाता था कि एक आदमी चल सके। हुक्क़ा मुँह से लगा रहता था। ख़ाली चारपाई पर बैठे रहते थे। लिखे जाते थे या किताब देखे जाते थे। गर्मी जाड़ा, बरसात सभी ऋतुओं की बहारें वहीं बैठे बीत जाती थीं और उनके आने-जाने की उन्हें सुध भी न होती थी। किसी मेला ठेला, ईद बक़रीद बल्कि यों कहिए कि दुनियाँ के शादी व ग़म से उन्हें कोई सरोकार न था। जहाँ पहले दिन बैठे वहीं बैठे और जभी उठे जब कि दुनियाँ से उठे।

संध्या के समय की नमाज़ के वक्त मैं सदा उनकी सेवा में उपस्थित रहता था। नहा कर वुज़् † करते थे और एक लोटे से बराबर कुल्लियाँ किए जाते थे। एक दिन मैंने इस तरह कुल्लियों करने का कारण पूछा। पछतावा भरे स्वर में कहा कि 'खुदा जानें कैसी कैसी गंदी बातें मुँह से निकलती हैं।' उनकी यह बात कुछ युक्तिपूर्ण लगी फिर कुछ ठहरकर एक ठंढी साँस भर कर उन्होंने एक शेर पढ़ा :—

पाक रख अपना दहाँ ज़िक्रे खुदाए पाक से ।
कम नहीं हरगिज़ ज़बाँ मुँह में तेरे मिस्वाक से ।।

उनका नित्यक्रम था कि रात को खाना खाकर बादशाह की ग़ज़ल का शोध करते थे। बारह बजे तक उससे निवृत्त होते थे। फिर वज़ू करते और वहीं एक

लोटे पानी से कुल्लियाँ करके नमाज़ पढ़ते। फिर कुरान शरीफ़ की आयतों का पाठ करते। पाठ करते समय कभी खुले उद्यान में टहलते जाते, कभी पश्चिम ओर मुंह करके ठहर जाते। यद्यपि धीरे धीरे पाठ करते थे, किन्तु कभी कभी उनके स्वर में इतना प्रबल मनोवेग रहता था कि मालूम होता था कि वे उसमें अपना सारा हृदय उड़ेल रहे हों।

आयतें पढ़ कर वे ईश्वर से दुआ माँगते अथवा कुशल याचना करते थे। यह दुआ मानों उनकी सद्वृत्ति और संसार के प्रति उनके सद्भाव की एक मिसाल थी। इसमें सबसे पहले वे प्रार्थना करते थे अपनी धार्मिक निष्ठा की कुशलता के लिये। फिर अपने शरीर के स्वास्थ्य के जिये, फिर साँसारिक सुप्रतिष्ठा के लिये। फिर बादशाह के धन और मान की सुरक्षा के लिये और उनके शत्रुओं के विनाश के लिये। फिर अपने बेटे मियाँ इस्माईल के कुशल क्षेम के लिये। फिर अपने परिवार और विशिष्ट मित्रों के लिये और अपने मित्रों के कष्टनिवारण के लिये--इत्यादि इत्यादि। एक रात इस दुआ के अवसर पर मेरे पिता उन्हीं के यहाँ थे। उनकी सारी दुआएँ सुना किए। उनके दरवाज़े के सामने मुहल्ले का हलालख़ोर रहता था। उन दिनों उसका बैल बीमार था। दुआ माँगते-माँगते वह भी याद आ गया। कहा कि 'इलाही, जुम्मा हलालख़ोर का बैल बीमार है। उसे भी अच्छा कर दे। बिचारा बड़ा गरीब है। बैल मर जाएगा तो वह भी मर जाएगा'। पिता ने जब यह सुना तो सहसा हँस पड़े। अपने धार्मिक नेताओं और फ़क़ीरों पर असीम श्रद्धा रखते थे। विद्वानों और पुराने उस्तादों की सदा सम्मानपूर्वक चर्चा करते थे और उनके विषय में कभी निंदा या व्यंगसूचक शब्दों का प्रयोग न करते थे। इसलिए वह किस विशेष मत या पक्ष के अनुयायी थे इसका भेद किसी पर न खुला।

यह बात निर्विवाद है कि उन्होंने अपने जीवन में काव्य-चिंतन और निरंतर रचना अभ्यास में तल्लीनता की पराकाष्ठा प्राप्त की और उसके द्वारा यह कहें कि उन्होंने हिंदोस्तान में शायरी की आत्मा को जाग्रत किया तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। किंतु जीवन भर के काव्य-साधना के बाद भी उनकी रचनाओं का कोई बहुत बड़ा संग्रह उपलब्ध नहीं। जो कुछ भी उपलब्ध है, उसका इतना क्षीण आकार है कि उसे देखकर सचमुच कविता की आत्मा दुःखी होती है। इस प्रसंग में यह हमारा फ़र्ज़ है कि हम भी दो आँसू बहाएँ।

उनके मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद मैंने और उनके पुत्र ख़लीफ़ा इस्माईल ने, जो कि अपने पिता की ही तरह बाप के इकलौते बेटे थे, यह चाहा कि उनकी रचनाओं का व्यवस्थित ढंग से एक संग्रह प्रस्तुत करें। उनके विभिन्न ग़ज़लों के

---

† नमाज़ के लिये नियमपूर्वक हाथ पाँव और मुँह आदि धोना।

कई बस्ते और बड़ी बड़ी पोटलियाँ थीं। बहुत सी थैलियाँ और मटके भी थे। ऐसा मालूम होता था कि जो रचना करते थे, उन्हें बहुत सम्हाल कर रखते जाते थे। उनको किसी ठीक क्रम से व्यवस्थित करने के लिए बड़े परिश्रम की आवश्यकता थी, क्योंकि बचपन से मृत्यु के अंतिम घड़ियों तक की रचनाएँ उन्हीं में थीं। बादशाह की बहुत सी ग़ज़लें और कुछ शागिर्दों की भी अच्छी रचनाएँ उनमें मिली हुई थीं।

हम दोनों ने पहले उनकी अपनी ग़ज़लें और क़सीदे उनमें से छाँट लिए। यह कार्य कई महीनों में समाप्त हुआ। पहले ग़ज़लों को छाँटना आरंभ किया। अपनी इस भूल को मैं स्वीकार करता हूँ कि इस कार्य को संपन्न करने का उत्तरदायित्व तो मैंने अपने ऊपर लिया, किंतु मैंने इसको धीरे-धीरे और सुविधानुसार ही करने का निश्चय किया। क्या मालूम था कि इतिहास का पृष्ठ इस तरह यकायक उलट जायगा। संसार में इतना उथल पुथल हो जायेगा। सारी कामनाओं और संकल्पों की हत्या हो जायगी। हृदय की उमंगें और आकांक्षाएँ हृदय में ही रह जायँगी। उसी समय सन् १८५७ का विद्रोह आरंभ हुआ। किसी का किसी को होश न रहा। सबसे दुःखद यह बात हुई कि इस काल चक्र की गति के कारण उनके भौतिक आत्मज ख़लीफ़ा मुहम्मद इस्माईल के साथ साथ उनके सभी अभौतिक और आत्मिक परिवार के सदस्य भी चल बसे। मेरे साथ यह बीती कि विजयी सेना के सिपाही मेरे घर में घुस आए और बंदूकें दिखा कर यह हुक्म दिया कि जल्द यहाँ से निकलो। आँखों के सामने की दुनियाँ अँधेरी हो गई। भरा पूरा घर सामने था और मैं विमूढ़ खड़ा था कि क्या क्या कुछ उठा कर चलूँ। इनकी ग़ज़लों की ढेरी पर नज़र पड़ी। विचार में यही आया कि मुहम्मद हुसैन, यदि ईश्वर की कृपा हुई और जीवित बचे तो और सब कुछ हो जायगा। किंतु उस्ताद फिर कहाँ से जन्मेंगे जो यह ग़ज़लें फिर आकर कहेंगे? अब तो उनकी कीर्ति इन्हीं से उजागर होगी, इन्हीं के सहारे जीएगी। ये हैं तो वह मर कर भी जिन्दा रहेंगे। ये गईं तो उनका नाम भी न रहेगा। वही ढेर उठा बग़ल में दबाया। सजे सजाए घर को छोड़ कर २२ अधमरे व्यक्तियों के साथ घर से, बल्कि शहर से निकला। साथ ही उस भाग के स्वर्ग से ऐसे निकला, जिस तरह आदम स्वर्ग से निकले थे। दिल्ली भी एक स्वर्ग थी। आख़िर हम भी तो आदम की संतान हैं, देहली से क्यों न निकलें? तात्पर्य यह कि मैं तो बिना घर बार का, अवारा होकर भगवान जाने कहाँ का कहाँ निकल आया। मगर हाफ़िज गुलामरसूल 'वीरान', जो पारस्परिक सौहार्द के नाते मेरे हार्दिक मित्र हैं और स्वर्गीय शेख साहिब के शागिर्द होने के नाते मेरे गुरुभाई हैं, उन्हें यह धुन बनी रही और उन्होंने कुछ अन्य मित्रों से, जो शेख़ साहिब से सहानुभूति रखते थे, यह चर्चा की कि उनकी रचनाओं की सारी पूँजी तो दिल्ली के तबाही के साथ ही नष्ट हो गई। किंतु अभी यह घाव हरा है। इसलिए अगर अभी उनके दीवान का संग्रह न किया गया तो फिर कभी न होगा। हाफ़िज़ साहिब को स्वयं भी शेख साहिब की बहुत सी रचनाएँ कंठस्थ थीं। और ईश्वर ने यद्यपि उनकी बसीरत की

आँखें (ज्ञान दृष्टि) ऐसी ज्योतिर्मयी बनाई थीं कि उन्हें बसारत की आँखों (भौतिक दृष्टि) की आवश्यकता नहीं, फिर भी वे स्वयं कुछ लिखने में असमर्थ थे। उनकी इस कठिनाई के कारण अनेकों अन्य कठिनाईयाँ पैदा हुईं। फिर भी उन्होंने इस महत्वपूर्ण कार्य को संपन्न करने का ज़िम्मा लिया और अपनी स्मृति के अतिरिक्त आसपास के लोगों से और दूर दूर से भी सामग्री एकत्रित किया। सब को समेटकर सन् १२७९ (हि०) में एक संकलन मुद्रित करवा कर प्रकाशित किया, जिसमें अधिकतर उनकी पूरी ग़ज़लें, कुछ अपूर्ण ग़ज़लें, बहुत से प्रकीर्ण शेर, और कुछ क़सीदे थे। किंतु इतना करने पर भी इस संकलन की अपर्याप्तता से हाफ़िज़ 'वीरान' का भावुक हृदय बैठ सा गया। उनके दिल की आँखों से मानो लहू टपक पड़ा। क्योंकि, जिस व्यक्ति ने संसार के सब सुख, जीवन की प्रत्येक सुःखद अनुभूतियाँ, ऋतुओं की रंगीनियाँ, दिन के ईद और रात के शबे-बरात, शरीर के भोग, हृदय के उल्लास, मन की उमंगे, इन सभी का परित्याग किया और केवल कविता का वरण किया और उसे अपनाया। जिसकी सारी लालसाएँ केवल इसी आकांक्षा से परिसीमित नहीं कि अपनो रचनाओं के द्वारा ही हमें अमर कीर्ति प्राप्त हो। विनाशकारी काल ने उनके जीवन भर की कमाई की केवल उतनी सी ही पूँजी छोड़ी। जिसने अन्य अदने अदने व्यक्तियों को साहिबे-दीवान कर दिया, उसे केवल इतना छोटा सा दीवान ही नसीब हुआ। ख़ैर,

'यूँही ख़ुदा जो चाहे तो बंदे का क्या चले'

मेरे पास भी कुछ क़सीदे हैं। कुछ पूरी ग़ज़लें हैं, जिनका इस संग्रह में समावेश हो जाएगा। या अपूर्ण ग़ज़लें पूरी हो जाएँगी। फिर भी उनकी रचनाओं के धारा-प्रवाह से प्यास बुझाने भर को पानी न मिलेगा। इसलिये इस पुस्तक के छप जाने के बाद मैं उस ओर अवश्य ध्यान दूँगा। ईश्वर उनकी रचनाओं को संगृहीत करने के लिये हमें पर्याप्त सामग्री दे।

जो ग़ज़लें उन्होंने अपने खास तख़ल्लुस से कही थी, यदि उन्हीं का संग्रह किया जाता तो बादशाह (बहादुर शाह) के चारों दीवानों के बराबर होतीं। ग़ज़लों के दीवान को देखकर मालूम होता है कि विषयों की नवीनता, भाषा की प्रांजलता, विन्यास का सुगठन, मुहावरों की उययुक्तता, और उनकी सुबोधता यह तो उनकी रचनाओं के विशिष्ट गुण थे। किंतु वास्तव में उनके ग़ज़लों का रंग विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग रहा। शुरू में उनमें मिर्ज़ा रफ़ी की शैली का पुट था। शाह नसीर से उन दिनों इनकी नोक झोंक चल रही थी। उनकी शैली भी वही थी। इसलिये उन्होंने भी वही ढंग अपनाया। इसके अतिरिक्त मिर्ज़ा रफ़ी का तर्ज़ किसी जल्से को गरमाने और लोगों के मुँह से वाह वाह कहलाने के लिये एक विस्मयकारी जादुई प्रभाव रखता था। इसलिये वही विषम और असाधारण अन्त्यानुप्रासा, सुगठित विन्यसन, उपयुक्त बनावट, कल्पनाओं की ऊंची उड़ान, अर्थ की गूढ़ता, शब्दों की सजधज इनकी रचनाओं में भी पाई जाती है। कुछ दिनों के बाद

इलाही बख्श ख़ाँ 'मारुफ़' की सेवा में और वली अहद के दरबार में पहुँचे। 'मारुफ़' एक वयोवृद्ध, अभ्यस्त और फ़कीराना प्रकृति के व्यक्ति थे। उनकी रुचि और प्रवृत्तियों के अनुकरण के लिये इन्हें भी सूफ़ियाना, आध्यात्मिक और भावुकतापूर्ण काव्य-रचना की ओर झुकना पड़ा। तरुण वलीअहद की तबीयत में रंगीनी थी। इधर यह भी युवावस्था में थे और इनकी कल्पनाओं में भी तरुणाई थी। वह 'जुर्अत' की शैली को पसंद करते थे और उस समय 'जुर्अत', सैय्यद 'इंशा' और 'मस्हफ़ी' की रचनाएँ और शेर भी अक़सर लखनऊ से देहली पहुँचती रहती थीं। इसलिये वे वलीअहद की ग़ज़ल उन्हीं की शैली में ढालते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि इनकी ग़ज़लें गुलदस्ते के रंग बिरंगे फूलों की तरह बनने लगीं। दो तीन शेरों में कल्पनाओं की ऊँची उड़ान, एक दो सूफ़ियाना, दो तीन शेर विशिष्ट विषयों से संबंधित, और फिर पेंच इसमें यह होता कि प्रत्येक अन्त्यानुप्रास भी इस विशेष अंदाज़ से बँधा रहता कि उसका सौंदर्य और उसकी उपयुक्तता बस उसी प्रसंग और उसी स्थान में फबती, जिसमें वे उसका प्रयोग करते थे। नहीं तो ऐसा लगता, जैसे वहाँ फेंका हुआ है। इस चतुर कलाकार में इस रचना-कौशल की अच्छी सूझ थी। इसलिये जिस काफ़िए को जिस विषय पक्ष के उपयुक्त समझता था, उसी में बाँध देता था और इस तरह बाँधता था कि उससे किसी अन्य विषय-पक्ष का भ्रम न होता था। साथ साथ उनकी प्रांजलता और मुहावरे के लालित्य में भी कोई विकार न आता। और इसलिये इन रचना-सिद्धांतों के आधार-स्रोत 'मीर', मिर्ज़ा, 'दर्द', मस्हफ़ी, सैय्यद 'इंशा', 'जुर्अत' बल्कि सभी प्राचीन शायरों को वह बड़े प्रतिष्ठा से याद करते थे, जैसे कि वे इन सबके शागिर्द रहे हों। एक एक के चुने हुए शेर इस प्रेम से पढ़ते थे, जैसे उसी की रचना प्रणाली में इन्होंने प्रशिक्षण पाई हो। और वास्तव में यह उन सबके रचना विशिष्टताओं की उपयुक्त अवसरों पर प्रयोग भी करते थे। फिर भी काव्य-मर्मज्ञ यह जानते हैं कि उनका रुचि साम्य सबसे अधिक 'सौदा' से था। उर्दू कविता को सौदा ने अपने विशेष कौशल से अलंकृत किया है। उनके पश्चात् शेख़ साहिब 'जौक़' के अतिरिक्त किसी और शायर ने उसके सौंदर्य को इतना नहीं निखारा। और इन्होंने तो अपने काव्य-चित्र को ऐसी ऊँची मेहराब पर सजाया कि जहाँ किसी अन्य का हाथ नहीं पहुँचा। 'अनवरी', 'ज़हीर', 'ज़हूरी', उर्फ़ी फ़ारसी भाषा के आकाश में बिजली की तरह कौंध गए। लेकिन शेख़ साहिब के क़सीदों ने अपनी चमक दमक से हिंदोस्तान की पृथ्वी को भी आकाश में परिणत कर दिया। हर उत्सव में यह एक कसीदा कहते थे और जो विशेष समारोह आयोजित होते थे, उन अवसरों के लिये भी क़सीदे लिखते थे। उन सबका यदि संग्रह किया जाता तो 'ख़ाकानी हिंद' के क़सीदे 'ख़ाक़ानी शरवानी' के क़सीदों के दुगने होते। जबतक अकबर शाह जीवित रहे तब तक शेख़ साहिब का दस्तूर था कि क़सीदे लिखकर अपने आक़ा वलीअहर को सुनाते। दूसरे दिन वलीअहद उसमें अपने नाम की जगह बादशाह का नाम डलवाकर ले जाते और शाही दरबार में उसे सुनवाते। खेद इस बात का है

कि युवावस्था की ये सब रचनाएँ बरबाद हो गई । जो क़सीदे उपलब्ध हैं, वह उनकी वृद्धावस्था के प्रसाद हैं।

एक बार नवाब हामिद अली ने बड़े शौक़ से एक आशिक़ाना मस्नवी लिखने के लिये इनसे अनुरोध किया । बादशाह की अपनी फ़रमाईशों की इतना भरमार रहती थी कि नवाब साहिब के अनुरोध का पालन करने के लिये इन्हें अवकाश ही न मिलता । मगर संयोगवश उन्हीं दिनों रमज़ान का महीना आ गया और बादशाह ने रोज़ा रखना आरंभ कर दिया । इसलिये ग़ज़ल कहना स्थगित कर दिया । किंतु इनका अभ्यास क्यों रुके ? और फिर काव्य के इस नए प्रयोग के अभ्यास के लिये इनका मन लालायित था । उन्होंने नवाब साहिब के लिये मस्नवी का लिखना आरंभ किया । विषय-विस्तार इतना हो गया कि इन्होंने लगभग ३०० शेर लिख डाले । मगर इधर रमज़ान के महीने का अंत हुआ और बादशाह के ग़ज़लों की रचना भी फिर आरंभ हुई । मस्नवी वहीं की वहीं रह गई । बीच में कभी कभी फिर मनमें उमंग उठी । मगर कभी एक दिन कभी दो दिन बस २०-२५ शेर हुए फिर रह गए । मैंने लड़कपन में जब होश सँभाला और इनके पास बराबर रहने लगा तो कई बार इन्होंने इस रचना के बारे में विभिन्न प्रसंगों में चर्चा उठाई और कभी कभी उसके शेर कहीं कहीं से पढ़ा करते थे । एक दिन मैंने इस रचना की पांडुलिपियाँ जिधर-तिधर से निकलवाईं । बहुत कम ऐसा था, जो पढ़ा जा सकता था । किंतु अवकाश के समय उन्हें निकाल निकाल कर उनसे पढ़वाता गया और स्वयं लिखता गया । रचना अपूर्ण थी, किंतु फिर भी लगभग पाँच सौ शेर से ज्यादा हुए और सच तो यह है कि इसका हर एक मिस्रा स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य था । मेरी साफ़ लिखी हुई पांडुलिपि भी उन्हीं अन्य रचनाओं के साथ थी, जिनकी प्रतियाँ मैं ख़लीफ़ा इस्माईल के पास जाकर तैयार किया करता था । इसलिये उनके साथ इस रचना की प्रतिलिपि भी नष्ट हो गई । इस रचना की आख्या थी 'नामए जाँसोज' । इसमें पहले खुदा और पैग़ंबर की स्तुतियां थीं, फिर साक़ीनामा, फिर माशूक की प्रशस्ति, उसी में उसका नखशिख वर्णन, उसके बाद सभी ऋतुओं की स्मृतियाँ और उसमें चारों ऋतुओं की छबि और आनंदोल्लास, मगर उनमें शब्द-लालित्य, उसके अर्थ की बारीकी और सुकोमलता, बनावट की चुस्ती, अंदाजों की चपलता, क्या कहूँ । ऐसा लगता था कि सामरी के जादू और जादू के तिलिस्म उसके आगे धुआँ होकर उड़ जाते हैं ।

इन्होंने कई मुखम्मस लिखे, कई रुबाइयाँ और सैकड़ों तारीख़ें भी लिखीं । किंतु तारीखों की कमाई बादशाह के हिस्से में आई, क्योंकि बहुत सी, बल्कि सभी, तारीखें उन्हीं के अनुरोध से और उन्हीं के नाम से लिखी गईं । मर्सिया कहने का उन्हें अवसर नहीं मिला । बादशाह का नियम था कि शाह आलम और अकबर शाह की तरह मुहर्रम के अवसर पर कम से कम एक सलाम अवश्य कहते थे । शेख़ साहिब भी इसी एक सलाम को अपनी उपासना और आराधना का साधन समझते थे । इन्होंने हज़ारों गीत, टप्पे, ठुमरियाँ, होलियाँ भी रचीं।

वह बादशाह बहादुरशाह 'जफर' के नाम से ही संसार में प्रसिद्ध हैं। और ऐसी रचनाओं के द्वारा वे स्वयं अपने लिये ख्याति कमाना भी न चाहते थे। मेरे लिये और उनके अन्य श्रद्धालुओं के लिये सबसे बड़े गर्व की बात यह है कि ईश्वर ने उन्हें इतनी उत्कृष्ट वाक्पटुता और उच्चस्तरीय काव्य कौशल से विभूषित किया, फिर भी उन्होंने अपने सारे जीवन में एक शेर भी किसी की निंदा में न लिखा। हालाँकि उन्हें हजारों व्यक्तियों ने अपने व्यवहार से दुखी किया होगा। ईश्वर सब को उसकी सद्प्रवृत्तियों का फल देता है। उनकी महिमा देखो कि शेख़ साहिब ने ६८ वर्ष की उम्र पाई, किंतु ईश्वर ने किसी के मुँह से उन्हें बुरा न कहलवाया।

प्रायः काव्य-रचना में नए आविष्कारों और नई विद्याओं के प्रयोग पर ये चिंतन करते रहते थे। और कुछ ऐसे आविष्कारों का प्रयोग इन्होंने अपनी रचनाओं में शुरू भी किया, किंतु वे अधूरे ही रहे। क्योंकि बादशाह की फ़र्माइशें इन्हें दम लेने का अवकाश न देती थीं। और मजा तो यह था कि बादशाह स्वयं इस प्रकार के अविष्कारों के बादशाह थे। इतना था कि नई बातें निकालते थे, किंतु उन्हें समेट न सकते थे। उनका किया और कहा हुआ शेख़ साहिब को संभालना पड़ता था।

वह अपनी ग़ज़ल बादशाह को सुनाते न थे। अगर किसी तरह उन तक पहुँच जाती तो वह उसी ग़ज़ल की जोड़ तोड़ में स्वयं ग़ज़ल कहने की कोशिश करते थे। शेख़ साहिब की हैरानी यह थी कि यदि कोई नई ग़ज़ल उनके लिये कह कर दें और वह अपनी ग़ज़ल से ओछे स्तर की हो तो बादशाह भी कोई बच्चे न थे। सत्तर वर्ष की काव्य-मर्मज्ञता और मूल्यांकन का अनुभव रखते थे। डर यह था कि वे अपने लिये कही हुई ग़ज़लों की निम्नता को ताड़ जाते थे। और अगर उनके लिये अपनी स्वयं की ग़ज़लों से चुस्त ग़ज़लें लिख कर दें तो अपनी रचना को आप ओछा दिखाना यह तो जरा कठिन काम है। विवश होकर अपनी ग़ज़ल में उनका उपनाम लगाकर उन्हें दे देते थे। बादशाह अपनी रचनाओं के लिये स्वयं ज़रूरत से ज्यादा चिंतन और मनन का भार उठाना न चाहते थे। किंतु जब शेख़ साहिब की काव्य-प्रवृत्तियों और रुचि के आवेग का किसी नई दिशा में मोड़ देखते तो उनके अनुकूल बराबर ग़ज़लों का तार बाँध देते थे कि उनकी जो कुछ नवीनता या खूबी हो, इन की रचनाओं में भी आ जायँ।

सामान्य रचना शैली

इनकी रचनाओं के अंतर्विषय की विभिन्नता को देखकर ऐसा लगता है, मानो कि इन्होंने उनके विषयों के तारे आकाश से उतार लाए हों। मगर अपने शब्द-विन्यास के द्वारा वह उन्हें ऐसे भव्य आसन पर बिठाते कि वह पहले से भी ऊँचे दिखलाई देते हैं। ऐसा लगता है कि जैसे उन्हें रचना-सौष्ठव रूपी दरबार से शब्द साम्राज्य पर प्रशासकीय अधिकार मिल गया हो। जिससे कि हर प्रकार के विचार और भाव को जिसमें और जिस ढंग से चाहते हैं, कह जाते हैं। कभी उन्हें अलंकारों से सुसज्जित करते हैं, कभी उन्हें बिल्कुल सादे वेशभूषा में प्रस्तुत करते हैं। कभी

उन्हें उपमाओं की सुगंधि से बसाते हैं। मगर जिस किसी ढंग से कहते हैं ऐसा कुछ कह जाते हैं कि बात दिल में तीर की तरह लग जाती है और मुंह से कभी वाह निकलती है कभी आह। ऐसा प्रतीत होता है जैसे इनके ओठों पर सुंदर और तैयार पढ़े हुए शब्दों से भरा हुआ एक ख़ज़ाना रखा हो। इन्होंने शाब्दिक विन्यास की हज़ारों विधाएँ प्रयोग की हैं। किंतु शब्दों का इतना उपयुक्त प्रयोग करते हैं कि मानों प्रत्येक शब्द उसी स्थान के लिये बनाया गया हो। वह एक रुचिविशेषज्ञ की भाँति हर विषय की रुचि-विशिष्टता को आँकते हैं कि कौन सा विषय है, जो सादगी में फबेगा और कौन सा रंगीनी में। एक कुशल चित्रकार की भांति वह अपनी तूलिका से उन विषयों के रंगों की धूप-छाँह बड़े मनोहारी ढंग से चित्रित करते हैं। उसी प्रकार उनके विषयों की सूक्ष्मता को भी अपने भावपूर्ण शब्दों द्वारा बड़ी कुशलता से अभिव्यक्त करते हैं। शेख साहिब की एक विशिष्टता यह भी है कि महीन से महीन भाव और टेढ़े से टेढ़े विषय को इस सुगमता से व्यक्त कर जाते हैं, जैसे कि वह एक शरबत का घूंट है, जिसे उन्होंने हृदय में उड़ेल दिया हो। उनके इसी गुण से कुछ अनजान व्यक्तियों को यह भ्रम हो जाता है कि इनकी रचनाओं में उच्चस्तरीय और गहन विषयों का अभाव है और यह कि इनके विषय सीधे और इनके विचार सादे होते हैं। वह यह नहीं जानते कि उन होंठों में यह दैवी गुण था कि जो शब्द उनसे ढलकर निकलते थे, वह अनायास उनकी ज़बान पर इस तरह ढलकते आते थे, जैसे रेशम के धागे पर मोती। ऐसा लगता है जैसे उनकी भाषा ने किसी आईने की पारदर्शिता और स्निग्धता उड़ाकर आत्मसात कर ली हो अथवा उन्होंने अपने प्रयोग किए गए शब्दरूपी मोतियों पर स्वयं कोई ऐसी आब चढ़ा दी हो, जिससे कि उनकी रचना में ऐसा मनोहारी लालित्य पैदा हो गया है। सच बात तो यह है कि उनकी कविजन्य-प्रकृति उनके हर एक कोमल और सूक्ष्म विचार को उसी तरह प्रांजल बना देती है, जैसे आईनागार शीशे पर कलई करके उसे एक ऐसा हलब्बी आईना बनाता है जिसमें हर एक चीज़ एक दम साफ़ दिख जाती है। इसीलिये इनकी रचनाएँ जनसाधारण के लिये सुबोध होती हैं और सभी के हृदय पर प्रभाव भी करती हैं।

इनकी रचनाओं की एक यह भी विशिष्टता है कि शेर का यदि कोई शब्द भूल जाय तो जब तक वही शब्द अपने स्थान पर फिर न जमा दिया जाय, वह शेर फीका लगता है। एक बार लखनऊ में मीर अनीस के साथ बात चीत करते हुए मैंने शेख़साहिब का एक शेर पढ़ा :—

कोई आवारः तेरे नीचे ऐ गर्दूं न ठैरेगा।
व-लेकिन तू भी गर चाहे कि मैं ठैरूँ न ठैरेगा॥

उन्होंने पूछा कि 'यह शेर किसका है?' मैंने कहा कि 'शेख़ साहिब का है।' दो चार बातें करके उन्होंने फिर कहा कि 'ज़रा वह शेर पढ़िएगा'। मैंने फिर पढ़ा। उन्होंने दोबारा उसे स्वयं पढ़ा। फिर बातें होने लगीं। चलते समय फिर कहा कि 'ज़रा वह शेर पढ़ते जाइएगा'। और उसके साथ यह भी कहा कि 'किसी गुणी शायर की

रचना की यह विशिष्टता होती है कि जो शब्द जिस स्थान पर उसने बिठा दिया है उसी तरह पढ़ा जावे तो ठीक होता है नहीं तो शेर अपनी जगह से गिर जाता है ।'

उनकी रचनाओं के विषय जिस तरह दिल को भले लगते हैं, उसी तरह उन्हें पढ़ने में ज़बान को मज़ा आता है । उनके शब्दों के विन्यास में एक प्राकृतिक सुगठन होती है, जो रचना में ओज उत्पन्न करती है । और वह ओज केवल उनके हृदय के आवेग को ही नहीं व्यक्त करता, बल्कि सुनने वाले के हृदय में भी उमंग पैदा करता है। और इनकी रचनाओं का यही स्वाभाविक गुण है' जिसकी वजह से उनमें 'सौदा' के रचना-सौंदर्य की झलक मिलती है ।

इनके दीवान को जब ध्यानसे देखते हैं तो उसमें हर रंग के दृश्य दिखाई देते हैं। और इसीलिये उनके देखने से मन कभी ऊबता नहीं । वे प्रत्येक शब्द की नब्ज़ पहचानते थे और विषयों के भी अच्छे वैद्य थे। जिस तरह उनका ठीक उपयोग और सामंजस्य बैठता था, उसी तरह उन्हें बिठाते थे, चाहे कल्पनाओं की उड़ान में हो, प्रेमालाप में हो अथवा अध्यात्म-विवेचन के प्रसंग द्वारा हो। इनके सीने में जो दिल था, मानों एक आदमी का दिल न था, हज़ारों आदमियों के दिल थे। इसलिये इनकी रचनाएँ चुंबक की तरह हर एक के दिल को अपनी ओर खींचती हैं। वह प्रत्येक हृदय की भावनाओं को प्रयोग में लाते थे और उनका इस तरह प्रयोग करते थे, जैसे वह उन्हीं के दिल की बातें हों ।

आलोचनाएँ

इनकी रचनाओं में अकसर लोग खोंट भी निकालते रहते हैं। इनकी एक पुरानी ग़ज़ल का शेर है :—

'सर बक्ते ज़ब्ह अपना उसके ज़ेरे पाय है ।
यह नसीब, अल्ला हो-अकबर, लोटने की जाय है ।।'

लोगों ने कहा कि इस प्रकार शेर की पंक्तिओं के अंत में (   ) जोड़ना उचित नहीं । किंतु ऐसी आलोचना उनकी नासमझी के कारण है। इसका प्रयोग अधोलिखित फ़ारसी के शेरों में देखिए :—

दख़्ते कि अकनू रिफ्त अस्त पाय ।
व-नीरुए मरदे वर - आयद ज़ जाय ।।
ऐ ज़दः बरतर अज गुमाँ दामने किब्रियाए रा ।
दस्त व-तू कुजा रसद अक़्ल शिकस्तः पाए रा ।।

एक पुरानी ग़ज़ल शाह नसीर के मुशायरे में समस्या के रूप में आई थी :—

दानः ख़िरमन है हमे क़तरः है दरिया हमको ।
आए है जुज़ में नज़ारे कुल का तमाशा हमको ।।

इसपर आपत्ति की गई कि ठीक शब्द 'जुज़्व' वाव (   ) के सहित है। केवल जुज़ शुद्ध नहीं। इस आपत्ति का भी वही हाल था। अमीर ख़ुसरो कहते हैं :—

'हर चः कुनद दजुज़ व दर कुल असर।
कुल्ली व जुज़ यश बूद जाँ ख़बर'॥

और मीर तक़ी कहते हैं :—

जुज़ मर्तबए कुल को हासिल करे है आख़िर।
एक क़तरा न देखा जो दरिया न हुआ होगा॥

एक दिन मैं 'ओज' से मिला और बातचीत के सिल्सिले में अपने स्वर्गीय उस्ताद के इन पंक्तियों की चर्चा की :—

'मुक़ाबिल उस रुख़े रौशन के शम्अ गर हो जाय।
सवा वह धौल लगाए कि बस सहर हो जाय॥

कई दिन के बाद वह रास्ते में फिर मिले, तो देखते ही खड़े हो गए और कहा :—

'यहाँ जो बर्गे गुले ख़ुरशीद का खड़का हो जाय।
धौल दस्तारे फ़लक पर लगे तड़का हो जाय॥

और कहा कि 'देखा, मुहावरा यूँ बाँधा करते हैं।' मैं समझ गया कि यह उस्ताद के मिस्रों पर फबती कस रहे हैं कि 'सहर हो जाय' जो उस्ताद ने बाँधा था, वह मौंजू नहीं। मगर अनजान बनकर मैंने कहा कि 'हाँ, सचमुच' पात के खड़कने का आपने खूब तर्जुमा किया और वह भी मिसाल के रूप में। मेरी ओर देखकर हँसे और कहा कि "वाह भाई, आख़िर तो शागिर्द ठहरे। हमारी बात ही बिगाड़ दी।"

दूसरे दिन जब मैं उस्ताद के पास गया और इस मुठभेड़ की चर्चा चली, तो उस्ताद ने कहा कि 'शम्अ' को सुबह होते हाथ मार कर बुझा देते हैं। इस शेर से मेरा आशय यह है कि 'शम्अ' अगर माशुक़ के रूख़ का मुक़ाबला करे तो इस गुस्ताख़ी की सज़ा में सबा (प्रातः समीर) उसे ऐसी धौल मारे कि वह बुझ जाय और ऐसी बुझे कि सह्र (भोर) हो जाय। यानी वह आलोक रहित हो जाय।

वश हमारी ज़बान में इसके लिये एक उपयुक्त मुहावरा भी है कि 'ऐसी धौल लगी कि तड़का हो गया'। मुहावरे के प्रयोग से मज़ा भी मिला, बल्कि एक भाव के व्यक्त करने के लिये एक और उपयुक्त साधन मिला और उससे भाषा और प्रशस्त हुई। फिर उसमें आपत्ति की क्या बात है और यह भी देखो, वह मुहावरा था, तो क्या हुआ ?

एक शेर 'नासिख़' का भी इसी ढंग का है :—

जो सितमगर हैं कभी वह फूलते फलते नहीं।
सब्ज़ होते खेत देखा है कभी शमशीर का॥

मुहावरे में 'तलवार का खेत' कहते हैं, 'शमशीर का खेत' नहीं।
उनकी एक ग़ज़ल का शेर है :—

मुँह उठाए हुए जाता है कहाँ तू कि तुझे।
है तेरा नक्श़-क़दम चश्मनुमाई करता॥

नवाब कुतुब हुसैन ख़ाँ 'नासिद' अपनी पुस्तक 'तल्ख़ीस मुअल्ला' में लिखते हैं कि 'तुझे' शब्द दूसरे मिस्रे में लाना चाहिए, पहले मिस्रे में नहीं। इस छोटी सी बात का जवाब तो मुझे नहीं आता।

एक बार इनकी प्रस्तुत काव्य-रुचि ने एक नया चमत्कार दिखलाया। यह घटना उस समय की है जब शेख़ साहिब का अपने उस्ताद शाह नसीर के इस्लाह लेनी बंद हो गई थी, मगर आना जाना जारी था। शाह साहिब को जाकर एक ग़ज़ल सुनाई। उन्होंने उसको सराहा कहा कि मुशायरे में इसे अवश्य पढ़ना। संयोग वश मत्ले के शुरू में ही आरंभिक शब्द की कमी रह गई थी। जब वहाँ ग़ज़ल पढ़ी तो शाह साहिब ने आवाज़ दी कि 'भई मियाँ इब्राहीम, वाह मत्ला तो खूब कहा' शेख़ साहिब कहते थे कि 'उसी समय मुझे खटका हुआ। लेकिन मुझे तुरत एक उपयुक्त शब्द सूझ गया। मैंने उस मत्ले को दोबारा पढ़ा :—

जिस हाथ में ख़ातम लाल की है, गर उसमें ज़ुल्फ़े सरकश हो।
फिर ज़ुल्फ़ बने वह दस्ते मूसा, जिसमें अख़गर-आतश हो॥

शेर की कमी को इतनी जल्द समझ कर पूरी कर लेने पर उन्हें इतना विस्मय हुआ कि उन्हें ऐसा लगा कि शायद हमने उस शब्द को पहले जान बूझ कर छोड़ दिया था। फिर यह आपत्ति उठाई गई कि ग़ज़ल की 'यह बह्र' (छंद) प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि किसी उस्ताद ने इस बह्र में ग़ज़ल नहीं कही। शेख़ साहिब ने उत्तर दिया कि '१६ बह्रें आसमान से नहीं उतरीं। उपजाऊ रुचियों से ही समय समय पर वे निकलीं।' यह स्पष्टीकरण आपत्तिकारियों ने उस समय स्वीकार न किया मगर फिर 'मुनीर' ने भी इसी बह्र में एक ग़ज़ल कही।

एक बार शेख़ साहिब ने मुशायरे में एक गज़ल पढ़ी, जिसका मत्ला था :—

नर्गिस के फूल भेजे हैं बटुए में डाल कर।
ईमा यह है कि भेज दें आँखें निकाल कर॥

शाह साहिब ने कहा कि 'मियाँ इब्राहीम, फूल बटुए में नहीं होते। यह कहो :—

'नर्गिस के फूल भेजे हैं दोने में डालकर'।

इन्होंने कहा कि 'दोने में रखना होता है, डालना नहीं होता। यूँ कहिए कि :—

"बादाम दो जो भेजे हैं बटुए में डालकर।
ईमा यह है कि भेज दे आँखें निकाल कर॥"

शाह नसीर के यहाँ प्रत्येक वर्ष एक उर्स हुआ करता था। उसमें फ़ातिहा के बाद खिचड़ी खिलायी जाती थी। पूर्ववत् शेख़ साहिब भी इस उर्स में सम्मिलित हुए। फ़ातिहा के बाद सब कोई खाना खाने बैठे। शाह साहिब एक हाथ में चम्चा दूसरे में एक बड़ा प्याला लिए हुए आए। उसमें दही था, जो कि विशिष्ट अतिथियों के सामने परसते आते थे। इनके सामने आकर खड़े हुए और चम्चा भरा। इन्हें जुकाम हुआ था। परहेज़ के ख़्याल से पूछा कि यह क्या है ? शाह शाहिब ने कहा, 'संखिया है, संखिया। देखो खाओगे तो मर जाओगे'। उस्ताद ने हँस दिया और कहा कि :—

'भला तुम ज़हर दे देखो असर होवे तो मैं जानूँ'

यद्यपि यह पुराना मिस्रा मियाँ 'मज्जूब' का था। मगर खाने का मौका था इसलिये सबको बड़ा मज़ा आया।

जिन दिनों शाह साहिब से नोंकझोंक चल रही थी मुंशी फ़ैज़ 'पारसा' नाम के दिल्ली कालेज में गणित के प्राध्यापक थे। और उन दिनों जवानी के आलम में उन्हें शायरी करने का बड़ा जोश था। उन्होंने कालेज में बड़े धूमधाम से मुशायरों का आयोजन किया और उसे उर्दू साहित्य के प्रोत्साहन का एक विशेष साधन ठहरा कर अपने अंग्रेज प्रिंसिपल से सहायता और सहयोग की अपेक्षा की। उन दिनों कालेज अजमेरी दरवाज़े के बाहर था। शहर के सभी दरवाज़े रात में ९ बजे बंद हो जाते थे। गढ़ कप्तान से यह अनुमति ली गई कि मुशायरे की रात को २ बजे तक अजमेरी दरवाजा खुला रहे। ये मुशायरे इस धूमधाम से होने लगे कि फिर कोई ऐसा मुशायरा दिल्ली में हुआ ही नहीं। शहर के प्रतिष्ठित व्यक्ति और सभी ख्यातिप्राप्त शायर इसमें सम्मिलित होते थे। मगर सबकी दृष्टि शाह साहिब और शेख़ साहिब की ओर होती थी। एक मुशायरे में शाह साहिब ने एक ग़ज़ल पढ़ी जिनके अंत्यानुप्रास थे 'क़फ़स की तितलियाँ,' ख़स की तितलियाँ'। दूसरे मुशायरे में यही मिस्रा तरह ठहराया गया सभी शायर इसपर ग़ज़लें कह कर लाए। शेख़ साहिब ने दो ग़ज़लें लिखीं और उसपर कुछ वाद-विवाद छिड़ गया। इसपर इन्होंने आवेश में कहा कि इस वर्ष जो मुशायरा हो, उसमें और तरहों की ग़ज़लों के अतिरिक्त एक ग़ज़ल इस अंत्यानुप्रास में हुआ करे। दो मुशायरों में ऐसा ही हुआ। ऐसे मुशायरों में जन-साधारण भी भाग लेते थे। तीसरे मुशायरे में जब इन्होंने ग़ज़ल पढ़ी तो कुछ लोगों ने इस पर कुछ आक्षेप किए, जिन्हें शेख़ साहिब के पक्षवालों ने समझा कि वह शाह साहिब के इशारे से किए गए हैं। विशेष कर जब कि शाह साहिब के साहिबजादे शाह बज़ीरुद्दीन 'मुनीर' ने यह शेर भी पढ़ दिया—

गरचे क़न्दोले सुख़न को मढ़ लिया तो क्या हुआ
ढांच में तो हैं वहीं अगले बरस की तितलियां॥

इसपर झगड़ा ज्यादा बढ़ गया और मुशायरा बंद कर दिया गया कि कहीं ऐसा न हो कि बात का बतंगड़ हो जाय।

उन्हीं दिनों एक बार मीर मुहम्मद ख़ां आज़मुद्दौला ने, जो अपना तखल्लुस 'सरवर' करते थे और पुराने शायर थे, उर्दू में शायरों के बारे में एक पुस्तक लिखी। संयोगवश शेख़ साहिब उनके कोठे के सामने से गुज़रे। उन्होंने बुलाया और कुशल-क्षेम पूछने के बाद कहा कि 'हमारी पुस्तक समाप्त हो गई। इसकी तारीख तो कह दो।' उन्होंने कहा कि 'अच्छा सोचूँगा'। मीर साहिब ने कहा 'सोचने की सही नहीं। अभी कह दो'। कहते थे कि ईश्वर की कृपा से उनकी उपाधि (आज़मुद्दौला) और तख़ल्लुस 'सरवर' दोनों को ध्यान में रखते हुए विचारा तो 'दरियाए आज़म' उपयुक्त ठहरा। मन में हिसाब लगाया तो तारीख़ के अंक भी ठीक निकले। इन्होंने झट कह दिया। जो लोग वहाँ उपस्थित थे, वे इनके आशुमतित्व पर हैरान रह गए।

'शहीदी' दिल्ली आए। शहर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों से उनकी भेंट हुई। नवाब अब्दुल्ला ख़ाँ सदरुस्सदूर कविता के बड़े प्रेमी थे। उनसे एक मुशायरे में मियाँ शहीदी ने कहा कि आज हिंदोस्तान में तीन शेख़ हैं—लखनऊ में 'नासिख़' दिल्ली में 'ज़ौक़', दकन में 'हफ़ीज़'। उन्होंने 'नासिख़' को प्रथम पद देने का कारण पूछा। मियां शहीदी ने 'चमन की शाख़' या 'समन की शाख़' वाली ग़ज़ल पढ़ी। नवाब साहिब ने उनके इस बात की चर्चा शेख़ साहिब से की। उन्होंने इस ग़ज़ल पर एक बहुत बड़ी ग़ज़ल कही, जिसमें प्रत्येक शेर विभिन्न क़ाफ़िए में बाँधा। और यह भी चुनौती दी कि अब जो कोई इस अनुप्रास में ग़ज़ल कहेगा वह हर एक क़ाफ़िए को जिस ढंग से मैंने बाँध दिया है, उससे अलग करके न बाँध सकेगा। नवाब अब्दुल्ला ख़ाँ के अनुरोध से यह ग़ज़ल लिखी गई थी और उन्हीं के माध्यम से यह बातें हुई थीं। उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि मुशायरे में लाग डाँट के साथ यह ग़ज़लें पढ़ी जायं। मगर मियाँ 'शहीदी' बिना सूचना दिए ही दिल्ली को छोड़ चुके थे। नवाब ने उनके पीछे आदमी दौड़ाया। उसने बरेली में उन्हें जा पकड़ा। किंतु उन्होंने दिल्ली वापस आने से इन्कार किया। यदि ईश्वर ने शेख़ साहिब का दीवान पूरा किया तो यह ग़ज़ल कविता प्रेमियों की नज़र से अवश्य गुज़रेगी।

एक दिन नित्य के नियम के अनुसार शेख़ साहिब बादशाह के पास गए। उन दिनों उनके एक बेटे मिर्ज़ा शाह रुख़ ने बहुत सा रियासती कारोबार अपने अधीन कर रखा था और प्रायः उनके निकट बराबर हाज़िर रहते थे। इन्हें देखते ही बोले कि 'लीजिए, वह भी आ ही पहुँचे'। मालूम हुआ कि बादशाह की एक ग़ज़ल है। इसके हर शेर में वे एक मिस्रा अलग से जोड़कर त्रिभुजाकार (तीन मिस्रों का एक शेर) बनाना चाहते हैं। मगर उसमें नवीनता यह कि जो मिस्रा अलग से लगे वह पुराने नियम के अनुसार के ऊपर न लगा कर नीचे लगाया जाय, जिससे कि प्रत्येक बंद में एक एक मतला पूरा होता जाय। बादशाह ने यह ग़ज़ल शेख़ साहिब को दी और कहा कि 'उस्ताद, इसपर मिस्रा लगा दो'। इन्होंने क़लम उठाकर एक शेर पर दृष्टि डाली और तुरत मिस्रा लगा दिया। और इसी तरह दूसरे में, तीसरे में। लगातार मिस्रा लगाते चले गए। और जितना समय उनपर दृष्टि

डालने में लेते उतने ही समय में अविलंब उसे पढ़कर सुना देते। सब हैरान हो गए। बल्कि मिर्ज़ा शाह रुख़ ने कहा कि 'उस्ताद ऐसा लग रहा है कि आप इसे घर से कह कर लाये थे'। बादशाह बोले 'भला इन्हें क्या ख़बर कि यहाँ क्या हो रहा था और जब कि रचना में एक ऐसे नवीन आविष्कार की बात थी ?'

बरसात का मौसिम था। बादशाह नियमानुसार कुतुब साहिब गए हुए थे। उनके पुत्र मिर्ज़ा फ़खरू जो कि अंत में वलीअहद भी हो गए थे, एक दिन चाँदनी रात में तालाब के किनारे चाँदनी की बहार देख रहे थे। शेख़ साहिब पास खड़े थे। उन्हें भी शेर का शौक़ था और शेख़ साहिब के शागिर्द थे। उनकी ज़बान से यह मिस्रा निकला--'चाँदनी देखे अगर वह महजबी तालाब पर'। इनसे कहा कि 'उस्ताद, इसपर जरा मिस्रा लगाइए'। इन्होंने फौरन कहा--
'ताब अक्से रुख़ से पानी फेर दे महताब पर'।

+ \+ \+

नवाब हामिदअली ख़ाँ के श्वसुर नवाब फज़ल अली ख़ाँ और शेख़ साहिब में बड़ी मित्रता थी। इसलिये नवाब हामिद अली ख़ाँ भी इनसे बड़े प्रेम और आदर से मिला करते थे। एक दिन दीवान ख़ास में खड़े हुए शेर सुनने सुनाने का मज़ा ले रहे थे, नवाब साहिब ने ख़्वाजा वज़ीर का यह मतला पढ़ा :--

जानवर जो तेरे सद्क़े में रिहा होता है
ऐ शहे-हुस्न वह छुटते ही हुमा होता है ।।

शेख़ साहिब ने कहा कि सद्क़े में अकसर कौवा छुड़वाते हैं। इसलिये ज्यादा उपयुक्त शेर होगा :--

जाग़ भी गर तेरे सद्क़: में रिहा होता है
ऐ शहे हुस्न, वह छुटते ही हुमा होता है ।।

+ \+ \+

एक बार क़िले में मुशायरा था, हकीम आग़ा जान 'ऐश'[†] जो एक वयोवृद्ध, अभ्यस्त और विनोदप्रिय शायर थे, उस्ताद के पास ही बैठे थे। ग़ज़ल की आधार भूमि थी हुदहुदलशुअरा--एक व्यक्ति अब्दुल रहमान नाम के पूरब की ओर से

[†] हकीम आग़ा जान साहिब 'ऐश' बादशाही और ख़ान्दानी हकीम थे। विद्या के आभूषण और काव्यप्रियता के सुंदर वेशभूषा से सुसज्जित। सौजन्यता और शिष्टता की मूर्ति, विनोदप्रिय मधुरभाषी, प्रफुल्ल आकृति, जब देखो यही मालूम होता था कि मुस्करा रहे हैं। इसके साथ साथ इन्हें कविता बड़ी प्रिय थी। रुचि इतनी हास्यप्रिय और मनोरंजन और चुटकुलों से भरी, जिसे शायरी की जान कहते हैं। ग़ज़लें भाषा की प्रांजलता, विषयों का लालित्य और मुहावरों की सुघरता के कारण फूलों की छड़ी की तरह लगती थीं। और

Channel eGangotri Hindu

दिल्ली आए। अभ्यस्त और विनोदप्रिय शायर थे, उस्ताद के पास हो बैठे थे। ग़ज़ल की आधारभूमि थी 'यार दे', 'बहार दे', 'रोज़गार दे'। हकीम आग़ाजान ने एक शेर अपनी ग़ज़ल में पढ़ा :—

ऐ शम्अ सुवह होती है रोती है किस लिए।
थोड़ी सी रह गई है इसे भी गुज़ार दे॥

उनकी ज़बान ऐसी थी कि जैसे मनोरंजक चुटकुलों की फुलझड़ी। मैंने इन्हें दो बार उस्ताद के साथ मुशायरे में देखा था। इस समय मानों उनकी तस्वीर आँखों के सामने फिर गई। मझोला कद, सुडौल शरीर, सिर पर एक अंगुल सफ़ेद बाल, वैसी ही दाढ़ी, उस गोरे सुर्ख़-सफ़ेद रंगत वाले चेहरे पर कैसी भली मालूम होती थी। गले में मलमल का कुर्ता जैसे बदन पर चमेली का ढेर पड़ा हँस रहा हो। मैं उन दिनों देहली कालेज में पढ़ता था। उस्ताद की मृत्यु के बाद अपनी काव्यप्रियता के जोश और इनके काव्य-कौशल के आकर्षण ने इनकी खिदमत में भी पहुँचाया। अब उन सूरतों के लिये आँखें तरसती हैं और नहीं पातीं। सन् १८५७ के विद्रोह के कुछ ही दिनों बाद इनकी मृत्यु हुई। ईश्वर उनकी आत्मा को सद्गति दे।

और हकीम साहिब के घर के पास एक मकतब में लड़के पढ़ाने लगे। हकीम साहिब के सगे संबंधियों के भी कुछ लड़के वहाँ पढ़ते थे। इनमें एक लड़का सिकंदरनामा पढ़ा करता था। हकीम साहिब हर सातवें दिन नियमपूर्वक हर एक लड़के से उसका पाठ सुना करते थे। सिकंदरनामें का पाठ जब सुना तो उसमें अजीब अजीब बातें सुनने में आईं। उस लड़के से कहा कि तुम अपने मौलवी साहिब को किसी वक्त हमारे पास भेजना। मौलवी साहिब दूसरे ही दिन तशरीफ़ लाए। हकीम साहिब तो आख़िर हकीम ही थे। भेंट होते ही जरा बातचीत के बाद नब्ज पहचान ली। मालूम हुआ कि समझ बूझ तो ज्यादा नहीं है लेकिन यह मजेदार आदमी थोड़ा सा चंग पर चढ़ाने से महफ़िल की रौनक़ हो सकता है। पूछा कि 'आप शेर का भी कुछ शौक रखते हैं?' मौलवी साहिब ने कहा, 'शेर कहना क्या मुश्किल है? जरूर कह सकता हूँ। हकीम साहिब ने कहा कि 'एक जगह मुशायरा होता है। आठ नौ दिन में होने को है। तर्ह का मिस्रा यह है। आप भी ग़ज़ल कहिए तो मुशायरे में ले चलें'। मौलवी साहिब को मुशायरा क्या होता है इसकी भी जानकारी न थी। हकीम साहिब ने उन्हें उसके बारे में बताया। मौलवी साहिब ने कहा कि अभी तो कई दिन हैं। इस अर्से में बहुत कुछ हो सकता है। ग़ज़ल कह कर लाए तो सुभान अल्लाह। और अपना तखल्लुस भी 'मौलवी साहिब' ही रखा। हकीम साहिब ऐसे हँसोड़ स्वभाव वाले व्यक्ति के लिये ऐसा उल्लू भगवान ही भेजता है। उन्होंने उनके ग़ज़ल की बहुत तारीफ़ की और जगह जगह पर उस ग़ज़ल की इस्लाह कर उसपर खूब नमक मिर्च छिड़का। मौलवी साहिब इन इस्लाहों से

देखो सबको रोजी देनेवाला भगवान कैसा सामान करता है। क़सीदा तैयार हुआ और हकीम साहिब ने हुदहुद को उड़ाकर दरबार में पहुँचा दिया। खेद है सारा क़सीदा उपलब्ध नहीं। केवल चार शेर याद हैं। यह नमूना उपहारस्वरूप प्रस्तुत कर रहा हूँ :--

जो तेरी मद्ह में मैं चोंच अपनी वा कर दूँ,
तो रश्के बाग़ - अरम अपना धोंसा कर दूँ ॥
जो आके रेज़ करे मेरे आगे मौसीक़ार,
तो ऐसे कान मरोड़ूँ कि बेसुरा कर दूँ ॥
जो सरकशी करे आगे मेरे हुआ आकर,
तो उसके नोच के पर शक्ल नेवला कर दूँ ॥
मैं खाने वाला हूँ नेमत का और मेरे लिये,
फ़लक कहे है मुक़र्रर मैं बाजरा कर दूँ ॥

बादशाहों और अमीरों को, बल्कि सर्वसाधारण की तबीयत को, इस तरह के मस्ख़रापन की खुराक अनुकूल पड़ती है। जफ़र तो एक स्वयं एक शौक़ीन शायर थे। मौलवी साहिब को 'तायरुल अराकीन शहपरलमुल्क, हुदहुदलशुअरा, मिनक़ार जंग बहादुर' का ख़िताब दिया और ७ रुपए महीने उनका वेतन निश्चित कर दिया।

बहुत प्रसन्न हुए। यह देख कर हकीम साहिब का मन और बढ़ा। मौलवी साहिब की चुग्गी दाढ़ी, उसपर लंबी और नुकीली। सर मुँडा हुआ और उस पर नाम निकली हुई पगड़ी। हकीम साहिब ने कहा कि शायरों को तख़ल्लुस भी ऐसा रखना चाहिए जो सुनने में अच्छा लगे और लोगों का मनोरंजन भी हो। और उससे शायर की शान भी मालूम होती हो। अच्छा होता यदि आप अपना तख़ल्लुस 'हुदहुद' करें। यह हज़रत सुलेमान का विश्वस्त पक्षी था और शुभ संदेशों का वाहक था, इत्यादि इत्यादि। मौलवी साहिब ने बड़ी खुशी से इस तख़ल्लुस को मंजूर कर लिया। मुशायरे के दिन जलसे में गए। जब उनके सामने शमए महफ़िल आई तो हकीम साहिब ने उनका परिचय दिया और प्रशंसा में अवसर के उपयुक्त कुछ शब्द कहे। सबका ध्यान इनकी ओर गया। जब इन्होंने ग़ज़ल पढ़ी तो मस्ख़रों ने तालियाँ बजाई। बहुतों ने टोपियाँ उछालीं और कहकहों से इतना शोर गुल मचा कि और सब शायर फीके पड़ गए। मौलवी साहिब बहुत खुश हुए। इस तरह मुशायरों में ग़ज़लें कहते रहे और कुछ अमीरों के जलसों में भी आते जाते रहे। मगर शायरी के इस नए चस्के और मुशायरों और जलसों की आवाजाही से इन्हें अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा। हकीम साहिब ने सोचा कि इनकी रोजी के लिये कोई साधन अवश्य ढूँढ़ना चाहिए। इनसे कहा कि बादशाह की तारीफ़ में कसीदा कहो तो तुम्हें एक दिन दरबार में ले चलें।"

इस तरह मियाँ हुदहुद की शायरी की नींव पड़ गई। फिर तो सर पर लंबे लंबे काकुल हो गए। उनमें चमेली का तेल पड़ने लगा और दाढ़ी दोधारी होकर कानों से बातें करने लगी।

एक साल बरसात ने बरस कर इनका मकान गिरा दिया। घोंसले की खोज में भटकते फिरे। कोई मकान न मिला। हकीम साहिब से शिकायत की। हकीम साहिब ने कहा कि 'शहर में बादशाही मकानात बहुतेरे पड़े हैं। क्या हुदहुद के घोंसले को भी उनमें जगह न मिलेगी? देखो मैं इसका बंदोबस्त करता हूँ'। झट उनकी ओर से कविता में एक आवेदन पत्र प्रस्तुत किया गया। उनके कुछ शेर याद हैं:—

जुज़ तेरे शाहंशाह, कह किसके आगे रोइए,
किससे कहिए जाके यह ग़म को हमारे खोइए।।
तुझको है हक़ ने किया मुल्के सुख़न का शहसवार,
हैं बजा करने समंदे-तब्अ को पोइए।।
हैफ़ आता है कि फ़न्ने शेर में क्यों खोई उम्र,
काश्के हम सीखते इससे बनाने बोइए।।
संगलाख़ ऐसी ज़मीं है सोच एदिल ता कुजा,
फ़िक्र कीजे सिर्फ इसमें और पत्थर ढोइए।।
रिश्तए उम्रे शहंशाहे जहाँ जहाँ होवे दराज़,
या ख़ुदा खुलते रहें दुनिया में जबतक मोइए।।

शेख़ साहिब की ग़ज़ल में भी इसी प्रसंग का एक शेर था। शायराना बड़प्पन के होते हुए भी उनका लिहाज़ हद से ज़्यादा करते थे। मेरे पिता उनकी बग़ल में बैठे थे। उनसे कहने लगे कि 'मज़मून लड़ गया। अब मैं वह शेर न पढ़ूँगा'। मेरे पिता ने कहा, "क्यों न पढ़ोगे? न पहले से उन्होंने आप का शेर सुना था, न आपने उनका। ज़रूर पढ़ना चाहिए। इससे भी विभिन्न रुचियों

देदे इसको भी ज़मीं थोड़ी कि बन घर घोंसले,
मारता फिरता तेरा हुदहुद है टामक टोइए।।

एक साल सरकार शाही से वेतन मिलने में देर हुई। हुदहुद ने हकीम साहिब से इसके बारे में उलहना दिया। यहाँ जिस तरह पेट के और रोगों के लिये इलाज थे उसी तरह भूक मिटाने का भी नुसख़ा तैयार था। एक रचना राजा देवी सिंह की स्तुति में तैयार हुई। राजा साहिब को उन्हीं दिनों वेतन बाँटने का कार्य सुपुर्द हुआ था। उस रचना के चार शेर इस समय याद हैं उन्हें लिखा हूँ:—

जहाँ में आज देवी सिंह तो राजों का राजा है,
ख़ुदा का फ़ज़्ल है जो क़िले में तू आ विराजा है।।

Shamsher eGangotri Urdu

का अंदाज़ लगाया जा सकता है कि दोनों कल्पनाएँ एक मंजिल पर पहुँचीं लेकिन किस किस अंदाज़ से पहुँची।" हकीम साहिब के बाद ही इनके पास शम्अ आई और इन्होंने अपना शेर पढ़ा :—

'ऐ शम्अ, तेरी उम्र तबई है एक रात,
रो कर गुज़ार या इसे हँस कर गुज़ार दे'॥

एक दिन एक साधारण सा दरबार था। उसमें उस्ताद भी उपस्थित थे। उसी समय एक मुर्शिदज़ादे वहाँ आए। वह शायद किसी मुर्शिदज़ादी या किसी बेगम की ओर से कुछ निवेदन करने आए थे। उन्होंने धीमे-धीमे बादशाह से कुछ कहकर वापस जाने लगे। हकीम अहसनुल्ला ख़ाँ भी वहीं उपस्थित थे। उन्होंने

सुलेमाँ ने है तेरे हाथ में दी जिज्क़ की कुंजी,
तू सरदारों का सरदार महाराजों का राजा है॥
शिकम अह्ले-जहाँ के सब हैं शुक्राने बजा लाते,
दमामा तेरा जाकर गुंबदे गरदूँ पे बाना है॥
किसी को दे न दे तन्ख़ाह तू मुख़्तार है इसका,
मगर हुदहुद को देदे, क्यों? यहाँ हुदहुद का खाजा है॥

हकीम साहिब सदा शायरी की चिंता में रहते थे। उसमें जो हास्यात्मक विषय ध्यान में आते उन्हें ठीक कर हुदहुद की चोंच में डाल देते। वह इनके बल्कि दो चार और जानवरों के लिये भी काफ़ी होता। उनके कुछ शेर याद हैं। मनोरंजन के लिये लिखता हूँ।

हुदहुद का मज़ाक़ है निराला सब से,
अंदाज़ है एक नया निकाला सब से॥
सरे दफ़्तर लश्करे सलेमां है यह,
उड़ता भी है देखा बाला बाला सब से॥
रास्त आईनों का नफ़रत है कज आईनों से,
तीर निकला जो कमाँ से तो गुरेज़ाँ निकला॥
आशियाँ से जो ग़ज़ल पढ़ने को हुदहुद आया,
गुल पड़ा पेश-रवे मुल्के सुलेमाँ आया॥

हकीम साहिब के इशारे पर हुदहुद काव्योद्यान के बुलबुलों को ठोंके भी मारता था। कभी कभी मुशायरे में ऐसी ग़ज़लें पढ़ता था, जिनके शब्द तो सुघर और रंगीन होते थे, किंतु ग़ज़ल नितांत अर्थहीन होती थी। और कहता था कि यह जनाब ग़ालिब के अंदाज़ में ग़ज़ल लिखी है। इस प्रकार का एक शेर याद आता है :—

कहा, 'साहिबे आलम, इस क़दर जल्दी क्या ? यह आना क्या था और तशरीफ़ ले जाना क्या था ?" साहिबे आलम की ज़बान से उसी समय निकला कि 'अपनी खुशी न आए न अपनी खुशी चले।' बादशाह ने उस्ताद की ओर देखकर कहा, 'उस्ताद, देखना क्या। साफ़ मिस्रा हुआ है।' उस्ताद ने तुरत कहा कि, हुजूर ?

लाई हयात आए क़ज़ा ले चली चले,
अपनी खुशी न आए न अपनी खुशी चले ।।

यह उनके अंतिम काल की ग़ज़ल है। इसके दो तीन वर्ष बाद ही उनकी मृत्यु हो गई।

एक दिन उस्ताद दरबार से आकर बैठे थे। उसी समय मैं पहुँचा। खिन्न स्वर में कहने लगे, 'आज एक अजीब घटना हुई। मैं जो हुजूर में गया तो महल में थे। वहीं बुला लिया और मुझे देखते ही कहने लगे, 'उस्ताद, आज मुझे देर तक एक बात का अफ़सोस रहा'। मैंने उसका कारण पूछा तो कहा, 'वह जो क़सीदा तुमने हमारे लिये कहा था, उसके वो शेर याद आ गए। उनकी याद से

मरकज़े मह्वरे गर्दू ब-लबे आब नहीं,
नाखुने क़ौस क़ज़ः शुब्हए मिज़राब नहीं ।।

गालिब तो बहती दरिया थे। इस तरह के ग़ज़लों को सुनते थे और हँसते थे। मोमिन ख़ाँ वगैरह ने 'हुदहुद' का शिकार करने के लिये एक 'बाज' तैयार किया। हुदहुद ने उसके भी पर नोचे। मुशायरे में दोनों की खुश झपटें हुई। मगर बाज़ के शेर को कोई शहरत न मिली। 'हुदहुद' के कई शेर याद हैं:—

जिसे कहते हैं हुदहुद वह तो नर शेरों का दादा है,
मुक़ाबिल तेरे क्या हो, तू तो एक जुर्रः की मादा है।।
गर अबके बाज़ड़ी मैदां में आई सामने मेरे,
तो दुम में पर न छोड़ूँगा यही मेरा इरादा है।।
मुक़र्रर 'बाज' जो अपना तख़ल्लुस है किया तूने,
हुआ मालूम यह इससे कि घर तेरा कुशादा है।।
अदब ऐ बेअदम, अब तक नहीं मुझको ख़बर इसकी,
कि 'हुदहुद' सब जहाँ के दायरों का पीरजादा है।।

कुछ दिनों के बाद 'बाज़' उड़ गया और फिर यारों ने एक कौवा तैयार किया और उसने 'जाग़' तख़ल्लुस रखा। इन्होंने उसकी भी खूब ख़बर ली। वह भी कुछ दिनों में आँधी का कौआ होकर ग़ायबगुल्ला हो गया:—

जूँ आया है बदल अबके अद्द कौए की,
उसकी है पांव ता सर वही खूं कौए की।।

मेरे मन में बड़ा उल्लास हुआ। मगर साथ ही यह विचार उठा कि अभी तो तुम यह क़सीदे हमारे लिये कहते हो। हम मर जाएँगे तो जो तख़्त पर बैठेगा, उसके लिए कहोगे। मैंने निवेदन किया, 'आप इसकी कोई चिंता न करें। ख़ेमा पीछे गिरता है, उसके खूंटे और क़नात पहले ही उखड़ जाते हैं। हम हुजूर के पहले ही उठ जाएँगे। आप यह ख्याल करें। अर्श आरामगाह के दरबार के लोग आप के दरबार में कहाँ थे? बस यही समझ लीजिए कि जो जिसके होते हैं वह उसी के साथ जाते हैं। नया मीर मजलिस नई मजलिस जमाता है और अपने मजलिस का सामान भी अपने साथ ही लाता है'। यह सुनकर बादशाह के नेत्रों आँसू से भर आए और मेरी आँखों में भी आँसू आ गए। लेकिन हमने यह सोचा कि हम सदा नमाज़ के बाद बादशाह की सलामती के लिये दुआ माँगते हैं। ईश्वर जानता है कि अपने ख़्याल में इस तरह की बात कभी नहीं आई। लेकिन बादशाह को हमारी आगे की ज़िंदगी के लिये कोई चिंता नहीं। मियाँ, दुनिया में कोई किसी का नहीं होता'।

शेख़ साहिब शारीरिक दुर्बलता के कारण रोजा न रखते थे। फिर भी किसी के सामने खाते-पीते न थे। कभी दवा या शर्बत या पानी भी पीना होता तो कोठे पर घर में जाकर पी आते। एक बार मैंने इसका कारण पूछा। कहा कि—'मियाँ रोज़ा न रखकर हम ख़ुदा के सामने पापी हैं। पर वह तो सभी जगह है। उसकी तो शरम नहीं हो सकती, किंतु उसके बंदों को तो शरम रहे'।

रमज़ान का महीना था। गर्मी खूब पढ़ रही थी। संध्या का समय था। नौकर ने नीलोफ़र का शर्बत केवड़े में घोलकर कोठे पर तैयार किया और कहा कि ज़रा ऊपर चलिए। चूँकि वह उस समय कुछ लिखवा रहे थे, व्यस्तता के कारण उसकी बात न समझे और कारण पूछा। उसने ईशारे से बताया।

वही काँ काँ, वही क़ीं क़ीं वही टाँ टाँ उसकी,
बात छोड़ी नहीं हाँ एक सरे मू कौए की॥
पहले जाना था यही सबने कि कौआ होगा,
फिर जो मालूम किया, है यह वहू कौए की॥
बन के कौआ जो यह आया है तो ऐ हुदहुद-शाह,
दुम कतर देने को कुछ कम नहीं तू कौए की॥

जो जानवर 'हुदहुद' की होड़ में खड़े होते थे, वे ठहर न सकते थे। कुछ दिनों में हवा हो जाते थे, क्योंकि उनके पालने वालों में उतना धीरज और सामर्थ्य न था। बराबर इनके ढब की ग़ज़ल कह कर लोगों का मनोरंजन बनाए रखना और उनकी ग़ज़लों को मुशायरों की अन्य ग़ज़लों की जोड़ तोड़ में प्रस्तुत करना कोई आसान काम न था। सबसे बड़ी बात यह थी कि उनकी जीविकोपार्जन के लिये कोई स्थायी प्रबंध न था। इनके लिये बादशाह ने तो व्यवस्था कर ही दी थी। और इधर उधर से चरचुग कर जो चारा मार लाते थे, उससे इनकी चटोरपन भी निभ जाती थी।

कहा कि 'ले आ यहीं । यह हमारे दोस्त हैं। इनसे क्या छिपाना' । जब उसने कटोरा ला कर दिया तो उन्होंने उसी समय रची गई उन्होंने पंक्तियाँ कहीं :—

पिला मैं आशिकारा हमको किसकी साक़िया चोरी,
खुदा की जब नहीं चोरी तो फिर बंदे की क्या चोरी ।

महबूब अली ख़ाँ ख़्वाजासरा बादशाही सरकार में मुख़्तार थे और क्या महल और क्या दरबार, उनका सभी स्थानों में पूरा आधिपत्य था लेकिन जूआ बहुत खेलते थे। किसी बात पर रुष्ट हो गए और हज की ठानी। एक दिन मैं उस्ताद के पास बैठा था कि किसी आदमी ने आकर कहा कि ख़ाँ साहिब काबा जाते हैं। ये ज़रा रुक कर मुस्कराए और यह मत्ला पढ़ा :—

जो दिल क़िमारख़ाने में बुत से लगा चुके,
वह काबातैन छोड़ के काबः को जा चुके ।।

मेरे पिता ने वक़्फ़ करने के विचार से एक इमामबाड़ा बनवाया। एक दिन वह उस्ताद के पास गए और उनसे तारीख़ के लिये कहा। उसी समय उन्होंने हज़रत इमाम के ताजिए रखने की जगह ज़रा सी देर में कहा 'ताज़ियत गाहे इमामे दौरन' यह पूरी तारीख़ है। हकीम मीर फ़ैज़ अली उनके उस्ताद भी वहाँ थे और उन्हीं का आप इलाज भी किया करते थे। एक दिन मैं उस्ताद के पास था। नौकर ने आकर कहा कि आज मीर फ़ैज अली की मृत्यु हो गई। उससे बारंबार पूछ कर इस दुःखद समाचार की पुष्टि कराई और शोकातुर होकर उठकर टहलने लगे। कुछ सोचकर बोल उठे, 'हाय, मीर फ़ैज़ अली'। और मुझसे कहा कि 'देखो तो यही तारीख़ है न ?' मैंने हिसाब किया तो तारीख ठीक निकली।

एक सज्जन ने आकर शेख़ साहिब से कहा कि 'मेरे मित्र का नाम गुलाम अली है। और उनके पिता का नाम गुलाम मुहम्मद है। आप (ऐसा सजा कोई वाक्य या पद इस तरह कहना कि उसमें किसी का नाम बड़ी सुंदरता से आ जाय) कहला दो जिसमें दोनों के नाम आ जायँ'। आपने सुनकर वादा किया और कहा कि 'दो तीन दिन में आप आइएगा। इंशा अल्लाह, हो जाएगा'। वह चले गए। ड्योढ़ी से बाहर निकले ही होंगे कि इन्होंने अपने नौकर से कहा 'मुहम्मद बख़्श, उन्हें बुलाना तो। खूब हुआ। इनके तक़ाज़े से जल्दी छुट्टी मिल गई'। मेरी ओर मुड़कर कहा :—

'पेदर गुलाम मुहम्मद पेसर गुलाम अली'

दीवान चंदु लाल ने इनकी कविता सुनकर एक मिस्रा तरह भेजा और बुला भेजा। आपने ग़ज़ल कहकर भेजी और मत्ले में लिखा :—

आजकल गरचे दकन में है बड़ी क़द्रे सुख़न,
कौन जाए 'ज़ौक़' पर दिल्ली की गलियाँ छोड़कर ।।

उन्होंने कुछ चीजें और ५०० रुपए भेजे। मगर यह न गए। एक दिन मैंने न जाने का कारण पूछा। जवाब में इन्होंने यह कहानी कही :—

"कोई मुसाफ़िर दिल्ली में महीना बीस दिन रहकर वापस चला। यहाँ एक कुत्ता उससे हिल गया था। वह भूख का मारा साथ हो लिया। शाहदरा पहुँच कर दिल्ली याद आई और वहाँ रह गया। वहाँ के कुत्तों को देखा कि उनकी गर्दनें मोटी बदन तैयार, रोएँ चिकने चिकने। एक कुत्ता इन्हें देखकर खुश हुआ और दिल्ली का समझ कर बहुत आवभगत की। दिल्हाइयों के बाजार में ले गया हलवाई की दुकान से एक बालूशाही उड़ा कर सामने रखा। भठियारे की दूकान से एक कुल्हा झपटा। यह दावतें खाते और दिल्ली की बातें सुनाते रहे। तीसरे दिन बिदा माँगी। उसने रोका। इन्होंने दिल्ली के सैरतमाशे और अन्य मनोरंजक बातों की चर्चा की। अंत में वहाँ से चले और अपने मित्र कुत्ते को भी दिल्ली आने का अनुरोध किया। उसे भी यह बात ध्यान में रही और एक दिन दिल्ली की ओर चला। पहले ही रास्ते में मरघट के कुत्ते, मुर्दाखोर, लाल लाल आँखें, काले काले मुंह दिखाई दिए। यह उनसे लड़ते-भिड़ते निकले। यमुना नदी मिली, देर तक किनारे पर फिरते रहे। आख़िर नदी में कूद पड़े और मरखप कर तैरते हुए पार पहुँचे, शाम हो गई थी। शहर में गली कूचों के कुत्तों से बचबचा कर डेढ़ पहर रात बीती थी। जब अपने मित्र से भेंट हुई। यह बेचारे अपनी दशा पर लज्जित हुए, किंतु दिखावे के लिये बड़े खुश हुए और कहा, 'ओहो, इस समय तुम कहाँ' ? मन में सोचा कि रात ने परदा रखा नहीं तो दिन को यहाँ क्या धरा था ? उसे लेकर इधर उधर फिरने लगे। यहाँ चाँदनी चौक है। यह यमुना नदी है। यह जामा मस्जिद है। आखिर मेहमान ने कहा, 'यार भूख के मारे जान निकली जाती है। सैर फिर हो जाएगी, कुछ खिलवाओ तो सही'। इन्होंने कहा, 'अजब बे वक्त तुम आए हो। अब क्या करूँ'। सँयोगवश जामा मस्जिद के सीढ़ियों पर मुहम्मद जान कबाब वाला अपनी मिर्चों की हाँड़ी भूल गया था। इन्होंने कहा 'लो यार, बड़े किस्मत वाले हो'। वह दिन भर का भूखा था। मुँह फ़ाड़ कर हाँडी पर टूटा। और साथ ही मुँह से भेजे तक जैसे बारूद उड़ गई। छींकते हुए पीछे हटा और जल कर कहा, 'वाह साहिब यही आप की दिल्ली है ? इन्होंने कहा कि 'इसी चटख़ारे के मारे यहाँ पड़े हैं'।

+ \+ \+

शेख़ साहिब की आदत थी कि सात आठ बजे शौच के लिये जाते थे और तीन चार चिलमें हुक्क़े की वहीं पीते थे। मैं छुट्टी के दिन उस समय वहाँ आया करता था और दिन भर वहीं रहता था। ड्योढ़ी में था। वह पाँव की आहट पहचानते थे। वहीं से पूछते कि 'तुम हो'। मैं उन्हें आदाब अर्ज करता। छोटी सी अँगनाई थी। पास ही चारपाई पड़ी रहती थी। मैं वहाँ बैठ जाता वह कहते, 'अजी हमारा वह शेर उस दिन तुमने क्या पढ़ा था ?' एक दो शब्द उसके पढ़ भी देते

मैं सारा शेर कह देता। कहते, 'हाँ, अब इसे यूँ बना लो'। एक दिन हँसते हुए पाख़ाने से निकले। फर्माया कि "लो जी, तैंतीस बरस के बाद आज इस्लाह देनी आई है"। हाफ़िज़ 'वीरान' वहाँ बैठे थे। पूछा, "हजरत, यह क्यों कर।" बोले, 'एक दिन शाह नसीर किसी शागिर्द के ग़ज़लों को इस्लाह दे रहे थे।' उसमें मिस्रा था :--

'खाती कमर है तीन बल एक गुदगुदी के साथ'

वह हमारे अभ्यास का आरंभिक काल था। इतनी बात ध्यान में आई कि यहाँ कुछ और होना चाहिए और तब से बराबर यह मिस्रा खटकता रहता था। आज उस समस्या का समाधान हो गया। मैंने पूछा, 'कैसे हुआ?' उन्होंने कहा, 'कमर को ऊपर डाल दो--

बल बे कमर कि जुल्फ़ मुसल्सल के पेच में,
खाती है तीन तीन बल एक गुदगुदी के साथ।।

काबुली दरवाज़ा पास ही था। शाम को बाहर निकलकर घंटों टहलते थे। मैं प्रायः साथ होता था। पुस्तकों की बातें, साहित्यिक विषयों की चर्चा रहती। शेर कहते। एक दिन बादशाह की एक ग़ज़ल कह रहे थे, 'तीर हमेंशा', 'तस्वीर हमेंशा'। सोचते सोचते कहने लगे 'तुम भी तो कुछ कहो'। मैंने कहा, 'क्या अर्ज करूँ?' कहा 'मियाँ, इसी तरह आता है। हूँ हाँ, गूँ गाँ कुछ तो कहो। कोई मिस्रा ही सही' मैंने कहा :--

'सीने से लगाए तेरी तस्वीर हमेंशा'

कुछ ठहरकर बोले, हाँ दुरुस्त है

आजाए अगर हाथ तो क्या चैन से रहिए,
सीने से लगाए तेरी तस्वीर हमेशा।।

अब जो कभी दिल्ली जाना होता है और उस जगह से गुज़रते हैं तो आँसू निकल पड़ते हैं।

एक मत्ले पर बादशाह ने कई बार जाल फेंके। मगर यह टाल गए। मत्ला इन्होंने दिया, किंतु बात आगे न बढ़ी :—

क्या कहूँ उस अब्रुए पैवस्तः के दिल बस में है,
एक तआमः मछलियाँ दो कशमकश आपस में है।।

बादशाह (बहादुरशाह 'ज़फ़र') के चार दीवान हैं। पहले की कुछ ग़ज़लें शाह नसीर द्वारा शोधी हुई हैं। कुछ मीर काज़िम हुसैन 'बेक़रार' के द्वारा। किंतु पहले दीवान का आधे से अधिक और शेष तीन दीवान आदि से अंत तक शेख साहिब के ही शोध किए हुए हैं। जिस प्रकार के असम और रुखड़े भूमि पर रचनाएँ की गई हैं, उनको इतनी सुघरता से निभाते हुए देखकर तबीयत खुश हो जाती है।

मेरे पिता कहा करते थे कि बादशाह सचमुच शायरी की ज़मीन के बादशाह हैं, क्योंकि मज़मूनों की उन्हें बड़ी सुंदर सूझ थी। किंतु शेख़ साहिब ही उस ज़मीन को हरा भरा करते थे। नहीं तो सूख के ऊसर हो जाती। बादशाह की मूल रचनाओं का प्रारूप कोई पूरा शेर, कोई डेढ़ मिस्रा, कोई एक, कोई आधा मिस्रा—बस केवल बह्‌र (छंद) और क़ाफ़िये (अन्त्यानुप्रास) का ढाँचा भर नज़र आता था। बाक़ी लापता। शेख़ साहिब उन हड्डियों पर माँस मज्जा चढ़ा कर उन्हें सौंदर्य और प्रेम की पुतलियाँ बना देते थे। कोई नई बात कह देने के लिये बराबर आग्रह रहता था। कुछ शेर उस ग़ज़ल के लिखता हूँ, जिसके प्रत्येक शेर के नीचे शेख़ साहिब ने एक मिस्रा जोड़ा है :—

या तो अफ़सर मेरा शाहाना बनाया होता,
या मेरा ताज गदायानः बनाया होता,
वरना ऐसा जो बनाया न बनाया होता ।।
नशए इश्क़ का गर ज़ौक़ दिया था मुझको,
उम्र का तंग न पैमाना बनाया होता,
दिल को मेरे खुमो खुमख़ाना बनाया होता ।।
इस ख़िरद ने मुझे सरगश्तः व हैरान किया,
क्यों ख़िरदमंद बनाया न बनाया होता,
तूने अपना मुझे दीवाना बनाया होता ।।
रोज़ मामूरए दुनिया में ख़राबी है 'ज़फ़र',
ऐसी बस्ती से तो वीराना बनाया होता,
बल्कि बेहतर तो यही था न बनाया होता ।।

एक बुड्ढा चूरन मिर्चन की पुड़िया बेचता फिरता था और आवाज़ देता था, 'तेरे मन चले का सौदा है खट्टा और मीठा'। बादशाह ने सुना। एक दो मिस्रे इस पर लगाकर उस्ताद के पास भेज दिए। कई वेश्याएँ सेवा में नियुक्त थीं। उन्हें याद करवा दिए। दूसरे दिन बच्चा बच्चा इसे गाने लगा। इसके दो बंद याद रह गए—

ले तेरे मन चले का सौदा है खट्टा और मीठा,
कुँजड़े की सी हाट है दुनिया जिन्स है सारी इकट्ठी,
मीठी चाहे मीठी लेले, खट्टी चाहे खट्टी ।।
ले तेरे मन चले का सौदा है खट्टा और मीठा,
रूप रंग पर भूल न दिल में देख अक़्ल के बैरी,
ऊपर मीठी नीचे खट्टी अमवा की सी कैरी ।।
ले तेरे मन चले का सौदा है खट्टा और मीठा,

एक फ़क़ीर सदा लगाता था, “कुछ राहे ख़ुदा देजा, जा तेरा भला होगा”। बादशाह को पसंद आई। शेख़ साहिब से कहा। इन्होंने बारह दोहरे उसपर लगा दिए। वर्षों तक घर घर से इसी गाने की ध्वनि आती रही और गली गली लोग गाते फिरते थे :—

कुछ राहे खुदा देजा - जा तेरा भला होगा,
मुहताज ख़राबाती या पाक नमाज़ी है।
कुछ कर न नज़र इस पर, वाँ नुक्त : नवाज़ी है ॥
कुछ राहे खुदा दे जा - जा तेरा,भला होगा,
दुनिया के किया करता है सैकड़ौं तू धंधे।
पर काम खुदा रा भी करले कोई याँ बंदे ॥
कुछ राहे खुदा दे जा - जा तेरा भला होगा,
दुनिया है सारा इसमें तू बैठा मुसाफ़िर है।
और जानता है याँ से जाना तुझे आख़िर है ॥
कुछ राहे खुदा दे जा - जा तेरा भला होगा,
जो रब ने दिया तुझको तू नाम पे रब के दे।
गर याँ न दिया तूने वाँ देवेगा क्या बंदे ॥
कुछ राहे खुदा दे जा - जा तेरा भला होगा,
देवेगा उसी को तू वह जिसको है दिलवाता।
पर है यह ‘जफ़र’ तुझको आवाज़ सुना जाता ॥
कुछ राहे खुदा दे जा - जा तेरा भला होगा,

+ + +

इस तरह की हज़ारों चीजें थीं। टप्पे, ठुमरियाँ, पहेलियाँ, सेठनियाँ, कहाँ तक लिखूं। एक दिन टहल रहे थे। हाफ़िज़ जी ने निकट जाकर ध्यान दिया तो पाया कि कुछ गुनगुना रहे हैं और चुटकी से जूती पर खट खट करते जाते हैं। पूछा कि ‘आपने फ़ारिग़ होने में बड़ी देर लगाई’। कहा कि बादशाह ने चलते चलते एक ठुमरी के दो तीन अंतरे सुनाए थे और उसे पूरा कर देने के लिए कहा था। इस वक्त उसी का ख्याल आ गया था’। पूछा कि ‘यह जूती पर आप चुटकी क्यों मारते थे ?’ उत्तर दिया कि ‘देखता था इसके शब्द ताल पर ठीक बैठते हैं या नहीं’।

हाफ़िज़ वीरान कहते थे कि एक दिन अजीब तमाशा हुआ। बादशाह की एक गज़ल बना रहे थे, जिसका मतला था :—

अब्रू की उसके बात ज़रा चल के थम गई।
तलवार आज माहे लक़ा चल के थम गई ॥

दो तीन शेर बन चुके थे कि ख़लीफ़ा इस्माईल दरबार से लौट कर आए और कहा कि 'अभी अभी एक अजीब घटना देखी। जब मैं भवानी शंकर के छत्ते के पास पहुँचा तो देखा कि खरी बावली की ओर दो तीन आदमी खड़े हैं और आपस में झगड़ रहे हैं। बातों बातों में ऐसी बिगड़ी कि तलवार खिंच गई और दो तीन आदमी ज़ख्मी भी हुए'। यहाँ चूँकि शेख साहिब से ग़ज़ल के तलवार चलके थम जाने वाले शेर हाफ़िज वीरान सुन रहे थे, हँस कर बोले कि 'हज़रत, आप क्या वहाँ मौजूद थे ?' उन्होंने धीरे से कहा कि 'यहीं बैठे बैठे सब कुछ दिखाई दे जाता है।' इससे मेरा आशय यह नहीं कि उनमें कुछ चमत्कारी शक्ति थी या वे छिपी हुई बातें जान लेते थे। यह केवल एक अजीब सँयोग सा था। लोगों के मनोरंजन के लिये उसकी चर्चा कर दी। इससे भी बढ़कर यह घटना है कि एक दिन बादशाह के यहाँ इनकी एक ग़ज़ल हुई जिसका मत्ला था :--

आज अब्रू की तेरे तस्वीर खिंच कर रह गई।
सुनते हैं भूपाल में शमशीर खिंच कर रह गई ॥

फिर मालुम हुआ कि उसी दिन भूपाल में तलवार चली थी। ऐसी घटनाएँ ऐतिहासिक और अन्य विवरणात्मक कृतियों में एक स्थान से दूसरे स्थान में नक़ल कर ली जाती है। इसीलिए इन किंवदंतियों को अधिक विस्तार न देकर यहीं समाप्त करता हूँ।

+ \+ \+

एक बार दोपहर का समय था। बातें करते करते सो गए। आँख खुली तो कहा कि 'अभी स्वप्न में देखा कि कहीं आग लगी है'। इतने में ख़लीफ़ा साहिब आए और कहा कि पीरबख़्श सौदागर की कोठी में आग लग गई थी। बहुत कुशल हुआ कुछ नुकसान नहीं हुआ'।

एक रात शेख़ साहिब मेरे पिता के पास आकर बैठे। कहा कि 'बादशाह की ग़ज़ल कहनी है। लाओ यहीं कह लें।' कई फ़रमाइशें थीं। उनमें से इस अन्त्यानुप्रास चुना 'मुहब्बत क्या है', 'सूरत क्या है', 'मुसीबत क्या है, 'मैंने कहा कि 'हज़रत' इस तरह की ज़मीन बहुत खिलती हुई नहीं है'। आत्मविश्वास भरे स्वर में कहा, 'कहने वाले खिला ही लेते हैं'। फिर से दो मत्ले पढ़े :-

न भूल ऐ आरसी, गर यार को तुझ से मुहब्बत है।
नहीं है एतबार उसका यह मुँह देखे की उल्फ़त है ।।–सौदा
बगोले से जिसे आसेब और सरसर से ज़हमत है।
हमारी ख़ाक यूँ बरबाद हो, ऐ अब्र रहमत है ।।–मीर

कहते थे कि "बादशाह ने एक ग़ज़ल का प्रारूप दिया और अनुरोध किया कि इसे अभी शोध कर दे जाना। वर्षा ऋतु थी। बादल घिर रहे थे। नदी चढ़ाव पर

थी । मैं दीवान ख़ास में जाकर उसी ओर मुँह कर एक जगह बैठ गया और ग़ज़ल लिखने लगा । थोड़ी देर के बाद पाँव की आहट मालूम हुई। देखा कि पीछे एक अंग्रेज खड़ा है । मुझ से पूछा, "आप क्या लिखता है ?" मैंने कहा, "ग़ज़ल" । पूछा "आप कौन है ?" मैंने कहा "शायरी कविता में आपके लिये दुआ करता रहता हूँ" । पूछा 'किस ज़बान में ?' मैंने कहा, 'उर्दू में' । पूछा, 'आप क्या क्या ज़बानें जानता है ? 'मैंने कहा, 'फारसी, अरबी भी जानता हूँ' । पूछा, 'उन ज़बानों में भी कहता है ?' मैंने कहा 'कोई ख़ास अवसर हो तो उनमें भी कहना पड़ता है । वर्ना उर्दू ही में कहता हूँ । यह मेरी अपनी ज़बान है, जो कुछ आदमी अपनी ज़बान में कह सकता है, दूसरे की ज़बान में नहीं कह सकता' । फिर पूछा, 'हमारा उच्चारण, बोलने का ढंग उसके अनुकूल नहीं हैं । वह हमें आती नहीं है' । साहिब ने कहा, 'बोल, यह क्या बात है ? देखिए. हम आपका ज़बान बोलता है' । मैंने कहा, 'उम्र ज़्यादा हो जाने पर दूसरे की भाषा नहीं आ सकती । बहुत कठिनाई होती है' । उन्होंने फिर कहा कि 'वेल, अम आपकी तीन जबान हिंदोस्तान में आकर सीखा । आप हमारा एक ज़बान नहीं सीख सकता ? यह क्या बात है ?" और इस बात को बढ़ाना चाहा । मैंने कहा, 'साहब, हम ज़बान का सीखना उसे कहते हैं कि उसमें बात चीत, हर क़िस्म का लिखना बोलना उस तरह करें, जिस तरह स्वयं उस जबान के बोलनेवाले करते हैं । आप कहते हैं, "अम आपका तीन ज़बान सीखा' । भला यह क्या ज़बान है और क्या सीखना है ? इसे ज़बान का सीखना और बोलना नहीं कहते । इसे तो ज़बान को ख़राब करना कहते हैं" ।

ग़ज़लें

मेरे सीने से तेरा तीर जब ऐ जंगजू निकला ।
दहाने ज़ख़्म से ख़ूँ होके हर्फ़े आरज़ू निकला ॥
मेरा घर तेरा मन्जिलगाह हो ऐसे कहाँ तालेअ ।
ख़ुदा जाने किधर का चाँद आज ऐ माह-रू निकला ।
फिर अगल आस्मां तो शौक़ में तेरे है सर गर्दां ।
अगर खुर्शीद निकला तेरा गर्मे जुस्तजू निकला ॥
भए इशरत तलब करते थे नाहक़ आस्मां से हम ।
कि आख़िर जब उसे देखा फ़क़ल ख़ाली सुबू निकला ॥
तेरे आते ही आते काम आख़िर हो गया मेरा ।
रहो हसरत कि दम मेरा न तेरे रूबरू निकला ॥
कहीं तुझको न पाया गरचे हमने इक जहाँ ढूँढ़ा ।
फिर आख़िर दिल ही में देखा, बगल ही में से तू निकला ॥
ख़जल अपने गुनाहों से हूँ मैं यां तक कि जब रोया ।
तो जो आँसू मेरी आँखों से निकला सुर्ख़रू निकला ॥

घिसे सब नाखुने तदबीर और टूटी सरे सोज़न ।
मगर था दिल में जो काँटा न वह हरगिज कभू निकला ।
उसे अय्यार पाया यार समझे 'ज़ौक़' हम जिसको ।
जिसे यां दोस्त अपना हमने जाना वह अदू निकला ॥

× × ×

लिखिये उसे ख़त में कि सितम उठ नहीं सकता ।
पर ज़ोफ़ से हाथों में कलम उठ नहीं सकता ॥
बीमार तेरा सूरते तस्वीरे निहाली ।
क्या उट्ठे सरे बिस्तरे ग़म-उठ नहीं सकता ॥
आती है सदाए जरसे नाक़ए लैला ।
पर हैफ़ कि मजनूं का क़दम उठ नहीं सकता ॥
जूँ दानए रोईदा तहे ख़ाक हमारा ।
सर ज़ेब गर अंबोरा अलम उठ नहीं सकता ॥
हर दाग़ अवासी मेरा इस दामने तर से ।
जूं हर्फ़ सरे काग़ज़े नम उठ नहीं सकता ॥
इतना हूँ तेरी तेग़ का शर्मिंदए एहसास ।
सर मेरा तेरे सर की कसम उठ नहीं सकता ॥
परदा दरे कावा से उठाना तो है आसाँ ।
पर परदए रूख़सारे सनम-उठ नहीं सकता ॥
क्यां इतना गर अंवार है जो रख़्ते सफ़र भी ।
ऐ राह रवे मुल्के अदम-उठ नहीं सकता ॥
दुनिया का ज़रो-माल किया जमा तू क्या जौक़ ।
कुछ फ़ाएदा, बेदस्ते करम उठ नहीं सकता ॥

+ + +

इलाही किस बेगुनाह को मारा समझ के क़ातिल ने कुश्तनी है ।
कि आज कूचः में उसके शोरे बअय्येज़ंविन क़तलतुनी है ॥
ज़मीं पे नूरे क़मर के गिरने में साफ़ इज़्हारे रौशनी है ।
कि जो हैं रौशनज़मीर उनको फ़रोग़ उनकी फ़रौतनी है ॥
ग़मे जुदाई में तेरे ज़ालिम कहूँ मैं क्या मुझपे क्या बनी है ।
जिगर-गदाज़ी है, सीना कावी है, दिलख़राशी है, ज़ांकनी है ॥

बशर जो उस तीरह ख़ाकदां में पड़ा ये उसकी फ़रौतनी है ।
वगरना क़न्दीले अर्श में भी उसी के जल्वे की रौशनी है ।।
हुए हैं इस अपनी सादगी से हम आशना जंगो आशती से ।
अगर न हो ये तो फिर किसी से न दोस्ती है न दुश्मनी है ।।
कोई है काफ़िर कोई मुसल्मां जुदा हर एक की है राहे ईमां ।
जो इस के नज़्दीक रहबरी है वह उसके नज़्दीक रहज़नी है ।।
हुए हैं तर गिरयए नदामत से इस क़दर आस्तीनो दामन ।
कि मेरी तर-दामनी के आगे अरक़् अरक़ पाकदामनी है ।।
नहीं है क़ानेअ को ख़ाहिशे ज़र-वह मुफ़िलिसी में भी है तवंगर ।
जहाँ में मानिन्द कोमियाँ-गर हमेंशा मुहताजो दिल-ग़नी है ।।
लगा न इस बुत्कदे में तू दिल यह है तिलिस्मे शिकस्ते ग़ाफ़िल ।
कि कोई कैसा ही खुश शमाइल सनम है आख़िर शिकस्तनी है ।।
तकल्लुफ़े मन्ज़िले मुहब्बत न कर चला-चल तो बे तकल्लुफ़ ।
कि जा-बजा ख़ारज़ारो वह् शल से ज़ेरपा फ़र्श सोज़नी है ।।
खुदंगे मिज़गां से जौक़ उसके दिल अपना सीना सेपर है जब से ।
मिसाल आईना सख्त जानी से सीना दीवार आहनी है ।।

× × ×

ददियाए अश्क चश्म से जिस आन वह गया ।
सुन लिजियो कि अर्श का एवान वह गया ।।
वल बे गुदाज इश्क कि खूं होके दिल के साथ ।
सीनः से तेरे तीर का पैकान वह गया ।।
ज़ाहिव शराव पीने से काफ़िर हुआ मैं क्यों ?
क्या डेढ़ चुल्लू पानी से ईमान वह गया ।।
है मौज़े वहरे इश्क़ वह तूफ़ां कि अल्हफ़ीज़ ।
बेचारा मुश्ते ख़ाक था इन्सान वह गया ।।
दरयाए इश्क में दगे तहरीर हाले दिल ।
किश्ती की तरह मेरा क़लमदान वह गया ।।
ये रोए फूट फूट के पाँओं के आवले ।
नाला से एक सूए बयावान वह गया ।।
था तो वहा में बेश पर उस लव के सामने ।
सब मोल तेरा लाल वदख़्शान वह गया ।।

किशती सवार उम्र है वहरे फ़िना में जिस्म ।
जिस दम वहा के ले गया तूफ़ान वह गया ।।
पंजाब में भी वह न रही आबो ताव हुस्न ।
ऐ ज़ौक़ पानी अब तो वह मुल्तान वह गया ।।

+ + +

पाक रख अपना दहाँ ज़िकरे ख़ुदाए पाक से ।
कम नहीं हरगिज़ ज़बां मुंह में तेरे मिस्वाक से ।।
जब बनी तीरे हवादिस की कमां अफ़लाक से ।
ख़ाक का तूदा बना इन्सां की मुश्ते ख़ाक से ।।
जिस तरह देखे क़फ़स से वाग़ को मुर्ग़ असीर ।
झांकता है यूं तुझे दिल सीनए सद-चाक से ।।
तेरे सैदे नीम जाँ की जां निकलती ही नहीं ।
बाँध रखा है उसे भी तूने क्या फ़ितराक से ।।
मुजको दोज़ख़-रश्के जन्नत हो अगर मेरे लिए ।
वां भी आतिश हो किसी के रुएआतिशनाक से ।।
आफताबे हश्र है यारव कि निकला गर्म गर्म ।
कोई आँसू दिल जलों के दीदए नमनाम से ।।
चश्म को बे पर्दा हो कि तरह नज्ज़ारः नसीब ।
जबकि वह पर्दा-नशीं पर्दा करे इदराक से ।।
बैतसाक़ी नामः की लिक्खो कोई जाए दुआ ।
मैं परस्तों के कफ़न पर चोब किल्के ताक से ।।
एब ज़ाती को कोई खोता है हुस्ने आरज़ी ।
ज़ेब बद अन्दाम को हो ज़ौक़ क्या पोशाक से ।।

+ + +

जीना हमें असलन नज़र अपना नहीं आता ।
गर आज भी वह रश्क मसीहा नहीं आता ।।
मज़कूर तेरी बज़्म में किसका नहीं आता ।
पर ज़िक्र हमारा नहीं आता नहीं आता ।।
देता दिले मुज़्तिर को तेरी कुछ तो निशानी ।
पर ख़त भी तेरे हाथ का लिखा नहीं आता ।।
क्या जाने उसे वहम है क्या मेरी तरफ से ।
जो ख़ाब में भी रात को तन्हा नहीं आता ।।

आया है दम आँखों में दगे हसरते-दीदार ।
पर लब पे कभी हर्फ़े तमन्ना नहीं आता ।।

किस दम नहीं होता क़लक़े-हिज्र है मुझको ।
किस वक्त मेरा मुंह को कलेजा नहीं आता ।।

मैं जाता जहां से हूँ—तो आता नहीं यांतक ।
काफ़िर तुझे कुछ ख़ौफ़ ख़ुदा का नहीं आता ।।

हम रोने पे आजाएँ तो दरया ही बहाएँ,
शब्नम की तरह से हमें रोना नहीं आता ।
हसती से ज्यादा है कुछ आराम अदम में,
जो जाता है याँ से वह दोबारा नहीं आता ।
आना है तो आजा कि कोई दम की है फुरसत,
फिर देखिए आता भी है दम या नहीं आता ।
ग़ाफ़िल है वहारे चमने उम्र—जवानी,
कर सैर - कि मौसम ये दोबारा नहीं आता ।
साथ उनके हैं हम साय: की मानिंद व लेकिन,
उस पर भी जुदा हैं कि लिपटना नहीं आता ।
दुनिया है वह सैय्याद कि सब दाम में उसके,
आ जाते हैं लेकिन कोई दाना नहीं आता ।
दिल माँगना मुफ़्त और ये फिर उसपे तक़ाज़ा,
कुछ क़र्ज़ तो बंदे पे तुम्हारा नहीं आता ।
बेजा है वला उसके न आने की शिकायत,
क्या कीजिएगा फ़र्माइए अच्छा नहीं आन्ता ।
जाती रही जुल्फ़ों की लटक दिल से हमारे,
अफ़सोस कुछ ऐसा हमें लटका नहीं आता ।
जो कूचए क़ातिल में गया फिर वह न आया,
क्या जाने मज़ा क्या है कि जीता नहीं आता ।
आए तो कहाँ जाए—न-ता-जी से कोई जाए,
जब तक उसे गुस्सा नहीं आता नहीं आता ।
क़िस्मत ही से लाचार हूँ ऐ ज़ौक़ वगरना,
सव फ़न में हूँ मैं ताक़ मुझे क्या नहीं आता ।

+ \+ \+

मज़े ये दिल के लिये थे न थे ज़वाँ के लिये,
सो हमने दिल में मज़ा सोज़िशे निहाँ के लिये।

नहीं सावात बलंदीए इज़्ज़ोशाँ के लिये,
कि साथ औज के पस्ती है ग्रास्माँ के लिये।

हज़ार लुत्फ़ हैं जो हर सितम में जाँ के लिये,
सितम शरीक हुआ कौन आस्माँ के लिये।

फ़रोग़े इश्क़ से है रौशनी जहाँ के लिये,
यही चराग़ है इस तीरह-ख़ाकदाँ के लिये।

सबा जो आए ख़सो-ख़ार गुलिसताँ के लिये,
क़फ़स में क्योंकि न फड़के दिल आशियाँ के लिये।

दमे उरुज है क्या फ़िक्र बुर्दवाँ के लिये,
कमंदे आह तो है वामे आस्माँ के लिये।

सदा तपिश पे तपिश है दिले-तिपाँ के लिये,
हमेशा ग़म पे है ग़म जाने ना-तवाँ के लिये।

हजर के चूमने ही पर है हज्जे काबा अगर,
तो बोसा हम ने भी उस संगे आस्ताँ के लिये।

न छोड़ तू किसी आलम में रास्ती कि ये शै,
असा है पीर को और सैफ़ है जवाँ के लिये।

जो पास मेह्रो मोहब्बत कहीं यहीं विकता,
तो हम भी लेते किसी अपने मेह्रवाँ के लिये।

ख़लिश से इश्क़ के है ख़ार पैरहन तने-ज़ार,
हमेशा इस तेरे मज्नूने ना-तवाँ के लिये।

तपिश से इश्क़ की यह हाल है मेरा गोया,
वजाए मग्ज़ है सीमाव उस्तुख़ाँ के लिये।

मेरे मज़ार पे किस वजह से न वरसे नूर,
कि जान दी तेरे रुए-अरक़-फ़िशाँ के लिये।

इलाही कान में क्या उस सनम ने फूंक दिया,
कि हाथ रखते हैं कानों पे सब अज़ाँ के लिये।

नहीं है ख़ाना वदोशों को हाजते सामाँ,
असासा चाहिए क्या ख़ानए-कमाँ के लिये।

न दिल रहा न जिगर दोनों जल के ख़ाक हुए,
रहा है सीनः में क्या चश्म ख़ूँफ़िशाँ के लिये।
न लौहे-गोर पे मस्तें के हो न हो ताबीज,
न हो तो ख़िश्ते ख़ुमे-मैं कोई निशाँ के लिये।
अगर ऊमीद न हमसाया हो तो ख़ानए-यास,
बाहिश्त है हमें आराम ज़ावेदाँ के लिए।
वह मोल लेते हैं जिस दम कोई नई तलवार,
लगाते पहले मुझी पर हैं इम्तेहाँ के लिये।
सरीह चश्म सुख़नगो तेरी कहे न कहे,
जवाब साफ़ है पर ताक़तो तवाँ के लिये।
रहे हैं हौल के बरहम न हो मिज़ाज कहीं,
वजा है हौले दिल उनके मिज़ाजदाँ के लिये।
मिसाल न है मेरा जब तलक कि दम में दम,
फूँगाँ है मेरे लिए और मैं फूँगाँ के लिये।
चले हैं दैर को मुद्दत में ख़ान्क़ाह से हम,
सिकश्त तौबा लिए अरमुग़ा मूग़ाँ के लिये।
बुलंद होवे अगर कोई मेरा शोलए आह,
तो एक और हो खुर्शीद आस्माँ के लिये।
बबाले दोश है इस नातवाँ को सर लेकिन,
लगा रखा है तेरे ख़ंजरो सिनाँ के लिए।
बयाने दर्दे मुहब्बत जो हो तो क्यों कर हो,
ज़बाँ न दिल के लिए है न दिल ज़बाँ के लिये।
इशारा चश्म का तेरे यकायक ऐ क़ातिल,
हुआ बहारा मेरी मर्गे-ना-गहाँ के लिये।
बनाया आदमी को ज़ौक़ एक जुज़्वेब-ज़ईफ़,
और इस ज़ईफ़ से कुल काम दो जहाँ के लिये॥

× × ×

नवाब असग़र अली ख़ाँ 'नसीम के मुशायरे में उपर्युक्त ग़ज़ल का तरह प्रस्तुत किया गया था। वह और इनके उस्ताद मोमिन ख़ाँ साहिब उस्ताद के पास आए और बड़े आग्रह से उन्हें ले गए। यह पहला मुशायरा था, जिसे हमने अपनी आँखों देखा। इस मुशायरे में ग़ालिब नहीं आए थे। मगर ग़ज़ल कह कर भेजी

थी। उन दोनों उस्तादों की ग़ज़लों का उपयुक्त स्थानों पर उल्लेख किया गया है। काव्य-रसिकों का उनसे मनोरंजन होगा।

नज्मुद्दौला दबीरुलमुल्क मिर्ज़ा असदुल्लाह ख़ाँ 'ग़ालिब'

मिर्ज़ा ग़ालिब की विशेष काव्यात्मक अभिरुचि फ़ारसी के गद्य और पद्य के प्रति था। और उसी भाषा में की गई रचनाओं का इन्हें गर्व भी था। किंतु चूंकि इनकी उर्दू भाषा में भी अनेकों कृतियाँ छपी हैं और हिंदोस्तान के अमीरों और रईसों में जिस तरह ये फ़ारसी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् माने जाते हैं, उसी तरह उर्दू भाषा में भी इनके प्रगाढ़ विद्वत्ता की मान्यता है। इसलिये इस वृत्त में इनकी भी चर्चा अपेक्षित समझी गई।

इनका नाम असदुल्लाह था और पहले 'असद' तख़ल्लुस करते थे। झज्जर में में एक कोई और निर्मर्याद और अदने से कवि भी 'असद' तख़ल्लुस रखते थे। एक दिन किसी ने उनका यह शेर इनके सामने पढ़ा :--

"असद तुमने बनाई यह ग़ज़ल खूब,
अरे ओ शेर, रहमत है खुदा की।"

सुनते ही इस तख़ल्लुस से इन्हें घृणा हो गई, क्योंकि इनके स्वभाव की एक यह भी विशिष्टता थी कि सर्वसाधारण के साथ कोई समानता या तुलना होने में यह अपनी हीनता मानते थे। इसलिये सन् १२४५ हि० (सन् १८२८ ई०) में असदुल्ला अल ग़ालिब नाम के आधार पर 'ग़ालिब' तख़ल्लुस अपनाया। किंतु जिन ग़ज़लों में 'असद' तख़ल्लुस था, उन्हें उसी तरह रहने दिया।

वंशक्रम तूरान के बादशाह अफ़ासियाब से मिलता है। जब तूरानियों के भाग्य ने पल्टा खाया और इनके साम्राज्य का चिराग़ गुल हो गया तो इनकी दुर्दशा-ग्रस्त जनता जंगलों और पहाड़ों में चली गई। किंतु ये बहादुर और लड़ाकू थे। तलवार हाथ से न छोड़ी। साहसी होने के कारण सिपहगीरी से जीविकोपार्जन करने लगे। सैकड़ों वर्ष के बाद इनके भाग्य फिर खुले और तलवार ही के बल से इन्हें फिर ताज मिला। इन्होंने सिल्जक़ी वंश की नींव डाली। किंतु भाग्य का चक्र परिवर्त्तनशील है कई पीढ़ियों के बाद उसने फिर मुँह मोड़ा और समरक़ंद में जिस तरह और शरीफ़ घराने के लोग रहते थे, बस उसी तरह सिल्जक़ी राजघराने के लोग भी रहने लगे।

मिर्ज़ा साहिब के दादा घर छोड़ कर निकले। शाहआलम का राज्यकाल था। उसी समय वे दिल्ली आए। यहाँ भी सल्तनत में कुछ न रहा था। केवल पचास घोड़े और नक़्क़ारें और निशान से शाही दरबार में प्रतिष्ठा पाई। और अपनी योग्यता और एक प्रतिष्ठित कुल के वंशज होने के नाते निजी सीर और रिसाले के वेतन के एवज़ में भासो का एक परगना जीवन वृत्ति के लिये पुरस्कार में

मिला। शाह आलम के मृत्यु के बाद गृहयुद्ध का उपद्रव छिड़ा और उसमें इनका यह इलाक़ा भी जाता रहा। 'गालिब' के पिता अब्दुल्लाबेग ख़ाँ लखनऊ जाकर नवाब आसफुद्दौला के दरबार में पहुँचे। कुछ समय के पश्चात् हैदराबाद में जाकर नवाब निज़ाम अली ख़ाँ बहादुर की सरकार में तीन सौ सवारों की मंसबदारी के पद पर नियुक्त हुए। कई वर्ष बाद गृह कलह के कारण यह नौकरी भी जाती रही। वहाँ से घर आए और अलवर में राजा बख़्तावर सिंह की सेवा में नौकरी की। यहाँ किसी लड़ाई में आहत हुए। उस समय मिर्जा की आयु केवल पाँच वर्ष की थी। इनके सगे चचा, नसरुल्ला बेग ख़ाँ, मरहठों के अधीन अकबराबाद के सूबेदार थे। उन्होंने इस दुर्रे यतीम* को अपनी संरक्षता में ले लिया। सन् १८०६ ई० में जेनरल लोक का आधिपत्य हुआ तो इनके चाचा सूबेदार से कमिश्नर हो गए और उन्हें सवारों को भर्ती करने का सुपुर्द हुआ। वे चार सौ सवार के अफ़सर नियुक्त हुए। और सत्रह सौ रुपया मासिक वेतन मिलने लगा और इनके आजीवन गुज़ारे के लिये सूनसान के परगना में डेढ़ लाख रुपये साल की जागीर की व्यवस्था भी अंग्रेजों ने कर दी।

इस तरह अपने चचा की अभिभावकता में मिर्ज़ा का पालन पोषण होने लगा। लेकिन दुर्भाग्यवश उनकी भी आकस्मिक मृत्यु हो गई। रिसाला तितर बितर हो गया। जागीर भी ज़ब्त हो गई। पूर्वज़ों ने लाखों रुपये की संपत्ति छोड़ी थी। किंतु भाग्य के सामने किसका बस चलता है? वह धन और वैभवपूर्ण वातावरण में पला हुआ व्यक्ति जो एक राजोचित बुद्धि और हृदय लेकर जन्मा था, उसे केवल काव्यसाम्राज्य के प्रभुत्व और कल्पनाओं के वैभव से संतोष रखकर गरीबी में जीवन बिताना पड़ा। कालांतर में जीविकोपार्जन के अनेकों उपाय और साधन मिले, किंतु सब खेल बन बन कर बिगड़ गए। अंत में किसी दोस्त ने इनके पास अनुरोधपूर्वक लिखा कि निज़ाम दकन की स्तुति में एक क़सीदा लिखकर एक व्यक्ति विशेष के द्वारा उनके पास भेज दो। उसके उत्तर में इन्होंने उस दोस्त के पास एक क्षोभ और निराशापूर्ण पत्र लिखा "मैं पाँच वर्ष का था कि मेरे पिता की मृत्यु हुई नौ वर्ष का था, जब कि चचा मर गए। उनकी जागीर के बदले में मेरे और मेरे सगे संबंधियों के लिए नवाब अहमद बख़्श ख़ाँ के साझे में दस हज़ार रुपए वार्षिक आय की जागीर की व्यवस्था हुई, किंतु उन्होंने उसमें से कुछ न दिया। केवल तीन हज़ार रुपया वार्षिक और उसमें मेरा निजी अंश साढ़े सात सौ रुपया वार्षिक देने पर राज़ी हुए। मैंने अंग्रेज़ी सरकार में जागीर के आय को इस प्रकार अपहरण और कटौती के विषय में आवेदन दिया। काल बुक साहिब बहादुर, रेज़िडेंट, देहली और ईस्टरलिंग साहिब बहादुर, सेक्रेटरी, गवर्नमेंट, कलकत्ता दोनों मेरे अंश की जागीर दिलवाने पर सहमत हुए। किंतु इसी बीच रेज़िडेंट तो अपने पद से हटा दिए गए और सेक्रेटरी की अचानक मृत्यु हो गई।

---

* यह शब्द युग्मार्थी है—(१) अनाथ बालक और (२) एक बड़ा और आबदार मोती जो सीप में अकेला पैदा हुआ हो।

कालोपरांत देहली के बादशाह ने मेरे लिए पचास रुपया मासिक वेतन निश्चित करने की कृपा की। इसके दो ही वर्ष बाद इनके वलीग्रहद की मृत्यु हो गई। ग्रवध के बादशाह वाजिदग्रली शाह ने प्रशंसात्मक रचनाग्रों के लिए पाँच सौ रुपये वार्षिक मानदेय निश्चित किया। वह भी दो वर्ष से ग्रधिक न जिये। यानी यद्यपि वह स्वयं ग्रभी तक जीवित हैं, किंतु दो ही वर्ष के बाद उनकी सल्तनत जाती रही। दिल्ली की सल्तनत कुछ दिनों ग्रौर टिकी। मुझे सात वर्ष रोटी देकर तबाह हुई। मेरे जैसा ग्रपने उपकार करनेवालों का हत्यारा ग्रौर कृतघ्न शायद ही जन्मा होगा। ग्रब मैं जो दकन के निज़ाम की ग्रोर मुड़ूँ तो निश्चय हो या तो उन्हें मौत ले जायगी या वे ग्रपने निज़ामत से हाथ धो बैठेंगे। उनकी रियासत मिट्टी में मिल जायगी। उनके मुल्क में गधों के हल फिर जायेंगे।'

नवाब ग्रहमदबख़्श द्वारा जागीर के ग्राय-विभाजन में ग्रपने प्रति किये गए ग्रन्याय से दु:खित होकर मिर्ज़ा साहिब सन् १८३० ई० में कलकत्ता गए ग्रौर गवर्नर जनरल से मिलना चाहा। वहाँ सरकारी कार्यालय में छानबीन की गई। उसमें से ऐसा कुछ मालूम हुग्रा कि इन्हें ग्रपने कलोचित संमान ग्रौर प्रतिष्ठा के साथ कोई नौकरी दे दी जाय इत्यादि।

लेकिन मिर्ज़ा साहिब की कलकत्ता यात्रा भी नितांत ग्रसफल रही। युवावस्था ग्रभी पूरी भी न हुई थी कि पूर्वजों की सारी पूँजी स्वाहा करके दिल्ली फिर वापस लौटे। यहाँ यद्यपि इनका रहन-सहन ग्रमीराना शान में था ग्रौर शहर के ग्रमीरों से मिलना जुलना भी होता था, किंतु ग्रपने गर्वीले हौसलों ग्रौर ख़र्चीले रहन सहन के कारण इनके दिन सदा ग्रार्थिक कठिनाई में बीतते थे। फिर भी इतने खुशमिज़ाज थे कि ग्रपने इन कठिनाइयों की ग्रधिक परवा न कर हमेशा ग्रामोद प्रमोद में ग्रपनी चिंताग्रों को भुलाने का प्रयास करते थे। क्या खूब कहा है :—

मै से ग़रज़ निशात है किस रुसियाह को।
यहगुन: बेख़ुदी मुझे दिन रात चाहिए॥

जब दिल्ली तबाह हुई तो इनकी तबाही ग्रौर मुसीबतें ग्रौर बढ़ गईं। इधर शाही किले की तनख़्वाह जाती रही। उधर पेंशन बंद हो गई। ग्रौर इन्हें दिल्ली से रामपुर जाना पड़ा। नवाब साहिब से बीस पचीस वर्षों का संबंध था। वे इनके सन् १८५५ ई० में शागिर्द हुए थे ग्रौर ग्रपना तख़ल्लुस 'नाज़िम' रखा था। यदाकदा ग्रपनी ग़ज़लें मिर्ज़ा साहिब के पास भेजा करते थे ग्रौर यह उनपर इस्लाह करके वापिस भेज देते थे। कभी कभी पारिश्रमिक के रूप में कुछ रुपया भी चला ग्राता था। उस समय शाही दरबार से वेतन मिलना जारी था ग्रौर ब्रिटिश सरकार से पेंशन भी मिलती थी। इसलिए रामपुर से प्राप्त साहाय्य को एक ग्रौर दैवी देन समझते थे। किंतु जब दिल्ली की दशा बिगड़ी तो जीवननिर्वाह का केवल यही ग्राधार रह गया। नवाब साहिब रामपुर ने सन् १८५९ ई० से इनके लिए एक सौ रुपये का मासिक वेतन निश्चित कर दिया ग्रौर इन्हें ग्राग्रह के साथ ग्रपने पास

बुलाया। जब यह गए तो ख़ांदानी संमान के अतिरिक्त जाती दोस्ती और शागिर्दी के नाते इनसे बड़े स्नेह से मिले और जब तक अपने साथ रखा बड़े आदर और सत्कार के साथ इनका अतिथ्य किया। और इनके मानदेय में एक सौ रुपये मासिक की वृद्धि भी कर दी। किंतु मिर्ज़ा साहिब को दिल्ली के बिना चैन कहाँ? कुछ दिनों के बाद नवाब से विदा होकर फिर वहीं चले आए। चूँकि उस समय सरकारी पेंशन फिर मिलने लगी थी। इसलिये जीवन के शेष दिन वहीं बिताए।

जीवन के अंतिम काल में इनकी बुढ़ापा इनके लिये बड़ी कष्टदायक हो गई थी। कान से सुनाई न देता था। तस्वीर की तरह लेटे रहते थे। किसी को कुछ कहना होता था तो वह लिखकर रख देता था। यह उसे देखकर जवाब दे देते थे। ख़ुराक दो तीन वर्ष पहले से ही बहुत कम हो गई थी। सुबह पाँच सात बादाम का शर्बत, बारह बजे गोश्त का शोरबा, संध्या समय चार कबाब तले हुए। अंत में ७३ वर्ष की आयु में सन् १८६९ ई० (स० १२८५ हि०) में इस असार संसार से चल बसे। और बंदए आसिम ने तारीख लिखी। 'शाह गालिब व मुर्द'। मरने से कुछ दिन पहले इन्होंने यह शेर कहा था और इसे अकसर गुनगुनाते रहते थे :—

दमे-वापसी बर-सरे-राह है।
अज़ीज़ो अब अल्लाह ही अल्लाह है॥

मिर्ज़ा साहिब की जीवन-परिस्थिति और स्वभाव

यह बात निस्संदेह है कि मिर्ज़ा साहिब हिंदोस्तानियों में फ़ारसी के एक अत्यंत कुशल कवि और लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् माने जाते हैं। किंतु इन्हें औपचारिक विद्योपार्जन का कोई अवसर नहीं मिला था। और यह वास्तव में एक बड़ी प्रशंसनीय बात है कि एक अमीर घराने का वंशज, जिसके बचपन ही में बड़े बूढ़ों की सरपरस्ती का हाथ उठ गया हो, केवल अपने स्वाभाविक प्रवृत्तियों के द्वारा ही ऐसी अद्भुत और इतने उच्चस्तर की योग्यता प्राप्त कर ले। उसकी कैसी जन्मजात प्रतिभा रही होगी, जिसके आधार पर उसकी कल्पनाओं में इतनी ऊँची उड़ान, रचनाओं में इतना चमत्कार, विचारों में ऐसा लालित्य, शब्दों में इतना गांभीर्य और ऐसी विचित्र अर्थ-पूर्णता, और शैली में ऐसे अनोखेपन का संचार हुआ। कहीं कहीं तो उन्होंने बड़े रोचक ढंग से इस बात को कहा कि उनकी तबियत को फ़ारसी भाषा से स्वाभाविक अभिरूचि और अनुकूलता थी। इन्होंने मुफ्ती मीर अब्बास साहिब को अपनी कातए बुरहान भेजकर एक पत्र लिखा। उसमें कहते हैं, "भूमिका और उपसंहार में मैंने जो कुछ लिखा सब सच लिखा है। आप से पुस्तक के मूलपाठ की यथार्थता के संस्ताव की अपेक्षा है। किंचित् आप को इसकी रचना शैली भी रुचिकर लगेगी और इसकी अभिव्यंजना में भी रोचकता का अभाव न मिलेगा। विद्या और कला विहीन हूँ। किंतु पचपन वर्ष से काव्य रचना में अभ्यास करता रहा हूँ। भगवान् का मैं बड़ा आभारी हूँ कि मेरी प्रेरणाएँ शुद्ध और रुचि स्वस्थ है। फारसी भाषा में मेरी रुचि

जन्मजात है और आशा है कि अंतकाल तक बनी रहेगी । फारस के निवासियों की तरह न्यायशास्त्र में भी रुचि आरंभ से ही रही है।"

हरमुज्द नाम का एक पारसी जंदोपाजंद का एक प्रसिद्ध विद्वान् था। उसने इस्लाम धर्म ग्रहण किया और अपना नाम अब्दुस्समद रखा। अपने भ्रमण काल में हिंदोस्तान की ओर आ निकला और संयोगवश उनकी भेंट मिर्ज़ा गालिब से हो गई। यद्यपि उस समय इनकी आयु केवल चौदह साल की थी, किंतु दोनों की रुचियाँ इतनी एक सी थीं कि वह इनके प्रति इतना आकर्षित हुआ कि दो वर्ष तक इनके घर में वह मेहमान के रूप में रहा और उससे इन्होंने फ़ारसी-काव्य-कौशल के संबंध में बहुत कुछ बातें सीखी। उस विद्वान् के उपयोगी संसर्ग का इन्हें बड़ा गर्व था। और वस्तुतः यह गर्व की बात भी थी।

मेरी बड़ी इच्छा थी कि शब्दों की तूलिका के द्वारा मिर्ज़ा साहिब का चित्र प्रस्तुत करूँ। किंतु फिर याद आया कि इन्होंने एक स्थान पर इसी साधन से अपना चित्र स्वयं खींचा है। मैं उससे अच्छा चित्र क्या बना सकूँगा ? इसलिये यहाँ केवल उसी स्वनिर्मित चित्र की प्रतिलिपि प्रस्तुत करना ही श्रेयस्कर होगा। लेकिन उससे पहले आप यह जान लें कि मिर्ज़ा हातिम अली (उपनाम 'मेहर') नाम के एक व्यक्ति आगरे में रहते थे। मिर्ज़ा ने अपने जीवन के अंतिम काल में अपने इस सह-नागरिक बंधु से पत्राचार शुरू किया। ये एक छबीले और बाँके जवान थे। इनसे उनसे देखापेखी न हुई थी। किंतु एक ही जगह के रहनेवाले थे, शेरशायरी में समान अभिरुचि थी और विचारों की समता, और सहधर्मिता आदि के नाते थे, उनकी ख्याति से परिचित थे। शायद किसी जल्से में मिर्ज़ा साहिब ने कहा कि 'सुनता हूँ कि मिर्ज़ा हातिम अली 'मेहर' बड़े तरहदार आदमी हैं। उन्हें देखने को जी चाहता है।" मिर्ज़ा हातिम अली को जब यह ख़बर मिली तो मिर्ज़ा ग़ालिब को उन्होंने एक पत्र लिखा और उसमें अपनी शकल सूरत का भी विवरण लिखा। जब उस पत्र के उत्तर में मिर्ज़ा जी स्वयं अपनी तस्वीर खींचते हैं उसे देखना चाहिए :--

"भई, तुम्हारी तरहदारी की चर्चा तो मैंने मुग़लजान[1] से उस समय सुनी थी, जब वह हामिदअली ख़ाँ की रखेली थी। और उसमें मुझे काफी बेतकल्लुफ़ी थी। अकसर मुग़लजान से पहरों इख़्तिलात (चुम्माचाटी) हुआ करते थे। उसने तुम्हारे उन शेरों को भी मुझे दिखाया, जो तुमने उसकी तारीफ में लिखा था। किंतु तुम्हारे सुडौलपन की चर्चा सुनकर मुझे रश्क न हुआ। क्योंकि मेरा जिस्म भी काफी सुडौल है। और न तुम्हारे गेहुए रंग पर ही मुझे डाह हुआ कि जवानी में मेरा रंग चंपई था और आँखवाले लोग उसका काफ़ी बखान किया करते थे। अब जो कभी मुझको वह अपना रंग याद आता है, तो छाती पर साँप फिर जाता है। हाँ, जिस बात से मुझे डाह हुई, और मैं खून की घूंट पीकर रह गया, वह इस

---

[1] एक वेश्या का नाम।

बात पर कि तुम्हारी दाढ़ी खूब घुटी हुई है। बस, उस घुटी दाढ़ी के याद आ गए। क्या कहूँ जी पर क्या गुज़री। शेख़ अली 'हज़ी' का शेर याद आया :--

ता दस्त रहम बूद जदमे चाक गरेवाँ।
शर मिदंगी अज़ ख़िरकए पश्मीनं: न दारम ।।

मेरे जब दाढ़ी मूँछ में बाल सफ़ेद आ गए तो तीसरे दिन चींटी के अंडे गालों पर दिखाई देने लगे। इससे बुरा यह हुआ कि आगे के दो दाँत टूट गए। लाचार मैंने मिस्सी लगानी भी छोड़ दी और दाढ़ी भी छोड़नी पड़ी। (यानी दाढ़ी बढ़ा ली)। मगर यह याद रखिए कि इस भोंडे शहर दिल्ली में मुल्ला, हाफ़िज, बिसाती नैचाबंद, धोबी, भिश्ती, भठियारा, जुलाहा, कुंजड़ा, सभी की एक ही वर्दी है--मुँह पर दाढ़ी और सर पर बाल। इसलिये मैंने जिस दिन दाढ़ी रखी उसी दिन सर मुँड़ाया।" इस जुमले से भी यह पता चलता है कि यह अपना अंदाज़ सबसे निराला रखना चाहते थे। उनकी वेशभूषा भी प्राय: विदेशियों जैसी ही होती थी। सिर पर कुलाहे पापाख न रखते थे किंतु काले पोस्तीन की लंबी टोपी अवश्य लगाते थे। और यह उनके लिये ज़रूरी भी था। क्योंकि फ़ारसी साहित्य रचना को वे केवल एक शौक़िया चीज़ न समझते थे बल्कि उसकी सभी बातों को बड़ी निष्ठा से निवाहते थे। और केवल वेशभूषा या बोलचाल में ही नहीं बलिक वह अपने पुरातनत्व की सभी बातों में आस्था रखते थे। इनके बचेखुचे कुल प्रतिष्ठा में दो बार दैवी आघात पहुंचा। पहिला जब कि चचा की मृत्यु हुई। दूसरा जब सन् १८५७ ई० में बिना उसमें किसी प्रकार का भाग लिये हुए विद्रोह के जुर्म में इन्हें पेंशन के साथ साथ दरबार के संमान और मानदेय से हाथ धोना पड़ा। इस संबंध में बीसियों मित्रों के नाम उर्दू में लिखे गए इनके पत्र मिलते हैं, जिन सब में इन्होंने अपनी हार्दिक व्यथा को व्यक्त किया है। इनके शब्दों से मानों इनकी शोकातुर भावनाओं का खून टपकता है। उस समय उनके हृदय पर जो गुज़री होगी, वह तो भगवान ही जानते हैं। लेकिन कालोपरांत उन्हें अपने ख़ांदानी अधिकार फिर मिले जिससे इन्होंने अपने पूर्वजों के नाम को उजागर रखा।

सन् १८४२ ई० में अंग्रेजी सरकार ने दिल्ली कालेज की व्यवस्था में आमूल सुधार करने का विचार किया। टाम्सन साहिब, जो कई वर्ष तक उत्तर और पश्चिम प्रदेशों के लेफ्टिनेंट गवर्नर रह चुके थे, उस समय सेक्रेटरी थे। वह अध्यापकों के साक्षात्कार के लिये दिल्ली गए और यह इच्छा व्यक्त की कि जिस तरह एक सौ रुपए मासिक वेतन का अध्यापक अरबी पढ़ाने के लिये नियुक्त किया गया था वैसे ही फ़ारसी के लिये भी एक अध्यापक नियुक्त किया जाय। लोगों ने उन्हें कुछ फ़ारसी के विद्वानों का नाम बताया। उनमें मिर्ज़ा ग़ालिब का नाम भी आया। आमंत्रित होने पर जब मिर्ज़ा साहिब उनसे मिलने गए तो उनके आने की सूचना साहिब को दी गई। मगर यह अपनी पालकी से उतर कर इस प्रतीक्षा में ठहरे रहे कि पुराने शिष्टाचार के अनुसार सेक्रेटरी साहिब उनके स्वागत के लिये स्वयं उनके पास आए।

जब न यह इधर से गए और न वह उधर से आए और इसमें कुछ विलंब हुआ तो सेक्रेटरी साहिब ने अपने जमादार से इसका कारण पूछा। उसने बाहर आकर इनसे पूछा कि 'आप अंदर क्यों नहीं चलते ?' इन्होंने कहा कि 'साहिब मेरे स्वागत को बाहर नहीं निकले। मैं क्योंकर जाता ?' जमादार ने जाकर यह बात साहिब से कही। साहिब बाहर आए और कहा कि 'जब आप गवर्नर के दरबार में रईस की हैसियत से पधारेंगे तो आपके लिये वह संमान प्रदर्शन किया जाएगा लेकिन इस समय आप नौकरी के लिये आए हैं। उस संमान के अधिकारी नहीं हैं'। मिर्ज़ा साहिब ने निवेदन किया कि 'मैंने यह आशा की थी कि गवर्नमेंट की नौकरी से अपनी प्रतिष्ठा और बढ़ाऊँ न कि यह कि अपने पूर्वजों की प्रतिष्ठा को भी गँवा बैठूं।" साहिब ने कहा हम सरकारी नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते।' इसी बात पर मिर्ज़ा साहिब उनसे विदा होकर वापिस लौट आए। फिर साहिब ने मोमिन ख़ाँ को बुलाया। उनसे एक फ़ारसी की पुस्तक पढ़वा कर सुनी और मौखिक बातचीत करके अस्सी रुपए मासिक वेतन पर उन्हें अध्यापक नियुक्त किया। उन्होंने सौ रुपए से कम पर काम करना स्वीकार न किया। साहिब ने कहा कि अगर सौ रुपए लेना हो तो हमारे साथ चलो। लेकिन मोमिन खाँ के दिल ने यह न माना कि वह दिल्ली को इतना सस्ता बेच डालें।

मिर्ज़ा का खुला दिल और खुले हाथ थे। इसलिये इन्हें सदा आर्थिक कठिनाई रहती थी। किंतु इन कठिनाइयों के बावजूद अमीरी के हौसले बने रहे। उर्दू में लिखे गए इनके कई पत्रों से इनकी इस अवस्था का पता चलता है। अपने प्रिय शागिर्द मिर्ज़ा तफ्त[1] को एक पत्र में लिखते हैं :—'सौ रुपए की हुंडी वसूल कर ली। चौबीस रुपए दारोगा की मारफत उधार लिए थे वह दिए। पचास रुपए महल में भेज दिए। छब्बीस रुपए बाक़ी बचे वह बक्स में रख लिए। कुली सौदा लेने बाजार गया है। जल्द आ गया तो आज वर्ना कल यह खत डाक में भेज दूंगा। खुदा तुमको जीता रखे और इस भलाई के लिये तुम्हारा भला करे। भाई, बुरी आ बनी है। अंजाम अच्छा नज़र नहीं आता। क़िस्सा मुख्तसर यह है कि क़िस्सा तमाम हुआ।'

केदारनाथ आपके दीवान थे। महीने महीने आकर चिट्ठा बांट देते थे। मिर्जा साहिब एक बार कहीं यात्रा में गए। वहाँ से पत्रों द्वारा उनके लिये आदेश भेजते रहते थे। एक पत्र में लिखते हैं, 'हुंडी में बारह दिन की मीयाद थी। छः दिन बाकी थे। मुझको सब्र कहाँ ? मिती काटकर रुपए ले लिए। उधार लिए हुए रुपए सब वापस कर दिए। उसके भार से मुक्त हुआ। आज मेरे पास सैंतालिस रुपए

---

[1] फारसी भाषा के एक हिंदू कवि। फारसी के आशिक़ थे, इसलिये हिंदू होते हुए भी मिर्ज़ा तफ्तः के नाम से बड़े खुश होते थे। उम्र में मिर्ज़ा ग़ालिब से भी बड़े मालूम होते थे। पेशाब पाखाने की एक चौकी जो रोगी के पलंग के पास लगा दी जाती थी।

बक्से में हैं। और चार बोतल शराब भी। और तीन बोतल गुलाब के तोशःखाने में मौजूद हैं। खुदा का बहुत शुक्र है।'

एक और जगह अपनी बीमारी का हाल किसी को लिखते हैं: "महलसरा (अंतःपुर) दीवानख़ाने से बहुत पास है। पर इतनी सकत नहीं कि वहाँ तक जा सकूं। सुबह को नौ बजे खाना यहीं आ जाता है। पलंग पर से खिसक कर नीचे उतरा। हाथ मुंह धोकर खाना खाया। फिर हाथ धोए। कुल्ली की। पलंग पर जा पड़ा। पलंग के पास हाजती लगी रहती है। उठाकर और हाजती में पेशाब कर लिया और पड़ रहा।"

नवाब इलाहींबख्श़ ख़ाँ की बेटी से मिर्ज़ा साहिब का व्याह हुआ था। शादी के समय इनकी उम्र तेरह साल की थी और यद्यपि अपने आचार व्यवहार में बिल्कुल स्वच्छंद थे किंतु एक कुलीन घराने के थे। घराने की लाज का ख्याल करके अपनी स्त्री के आदर सम्मान का विशेष ध्यान रखते थे। लेकिन वैवाहिक जीवन का प्रतिबंध उनके स्वभाव के नितांत प्रतिकूल था। इसके बारे में जब कोई इन्हें छेड़ता तो हँसी में टाल जाते थे। इस विषय में उनके मित्रों से भी कुछ चुटकुले सुने और उनके पत्रों में भी कहीं कहीं इसका जिक्र मिलता है। एक पुराने शार्गिद से इस प्रकार की बातें निःसंकोच किया करते थे। उसने इनके एक और शागिर्द उमराव सिंह की बीबी के मरने का हाल मिर्जा साहिब के पास लिखा और यह भी लिखा की कि "नन्हें नन्हें बच्चे हैं। अब और शादी न करे तो क्या करे? फिर बच्चे कौन पाले?" अब मिर्जा साहिब उस पत्र के जवाब में लिखते हैं, 'उमराव सिंह के हाल पर उसके वास्ते दया और अपने वास्ते ईर्ष्या होती है। अल्लाह अल्लाह। एक वह हैं कि दो बार उनकी बेड़ियाँ कट चुकी हैं और एक हम हैं कि एक ऊपर पचास बरस से जो फाँसी का फंदा गले में पड़ा है तो न फंदा ही टूटता है न दम ही निकलता है। उसको समझाओ कि भाई, तेरे बच्चे को मैं पाल लूंगा। इस बला में फिर क्यों फंसता है।

जब इनकी पेंशन फिर मिलने लगी तो एक और सज्जन को लिखते हैं 'तुम्हें मेरे जान कि क़सम। यह सच जानो कि अगर मैं अकेला होता तो इस थोड़ी सी आमदनी से भी अपने को कितना समृद्ध और सुखी समझता'। मिर्ज़ा साहिब अपनी बौद्धिक उपज के लिहाज से जितने भाग्यशाली थे शारीरिक उपज यानी वंशधरों के मामले में उतने ही भाग्यहीन थे। एक पत्र में वे लिखते हैं:—"सात बच्चे हुए। मगर बरस बरस दिन के भीतर ही सब मृत्युलोक को सिधारे।' उनकी स्त्री के भांजे, और इलाही बख्श ख़ाँ के नाती जैनुलाब्दीन ख़ाँ थे। वह भी शेर कहा करते थे और अपना तखल्लुस 'आरिफ' रखते थे। 'आरिफ' युवावस्था में ही मर गए और दो नन्हें नन्हें बच्चे छोड़ गए। मिर्जा साहिब की बीबी इन बच्चों को बहुत चाहती थीं। इसलिये मिर्जा साहिब ने उन्हें अपने बच्चों की तरहा पाला। बुढ़ापे में उन्हें गले का हार किए फिरते थे। जहाँ जाते वह पालकी में साथ

होते थे। उनके आराम के लिये खुदा तकलीफ सहते थे। उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। खेद है कि मिर्ज़ा के बाद ये दोनों भी कम उम्र में ही मर गए।

इनके श्वसुर इलाहीबख्श के भाई नवाब अहमद बख्श के एक वंशज नवाब अलाउद्दीन ख़ाँ साहिब को अपने बचपन से ही मिर्ज़ा साहिब की तकलीफ़ों को देखकर बड़ा अफ़सोस होता था। मिर्ज़ा ग़ालिब से उन्हें काव्य-कौशल रूपी धन का लाभ होता था और उसके बदले में वे उनकी दैनिक जीवन की आवश्कताओं की पूर्ति का प्रबंध कर दिया करते थे। इनके भाई अमीनुद्दीन खां लोहारू के नवाब भी इनकी सेवा और सहायता के लिये बराबर कुछ न कुछ करते रहते थे। एक बार नवाव अलाउद्दीन ख़ाँ को मिर्ज़ा साहिब लिखते हैं :—

'मियाँ। बड़ी मुसीबत में हूँ। महलसरा (अन्तःपुर) की दीवारें गिर गई हैं। पाखाना ढह गया है। छतें टपक रही हैं। तुम्हारी फूफी कहती है कि 'हाय दबी। हाय मरी। दीवानखाने का हाल महलसरा से भी बुरा है। मैं मरने से नहीं डरता। लेकिन ज़िन्दगी की इन दिक़्क़तों से घबरा गया हूँ। छत छलनी हो गई हैं। बादल दो घंटे बरसे तो छत चार घंटे बरसता है। मालिक अगर चाहे कि मरम्मत करे तो क्यों कर करे? मेंह खुले तो सब कुछ हो। और मरम्मत के सामान के बीच में रहूँ कैसे? अगर तुम से हो सके तो बरसात तक भाई से मुझको वह हवेली, जिसमें मीर हसन रहते थे, अपनी फूफी के रहने को और कोठी में नीचे की दालान के साथ वह बालाखाना (कोठा), जिसमें इलाहीबख्श रहते थे, मेरे रहने को दिलावा दो। बरसात बीत जायगी, मरम्मत हो जायगी, फिर साहब, मेम और बाबा लोग अपने पुराने घर में आ रहेंगे। तुम्हारे वालिद के और एहसान और मदद के लिये जहाँ मैं आभारी हूँ वहाँ ज़िन्दगी के आख़िरी वक़्त इस मुरव्वत का ऐहसान और भी सही—ग़ालिब'।

मिर्ज़ा के दोस्त-अहबाब बहुतेरे थे। दोस्तों से दोस्ती ऐसा निबाहते थे कि उनसे आत्मीयता और सहृदयता के अतिरिक्त अपनी विनोद-प्रियता के कारण इनके इर्द गिर्द शरीफों और रईसों के घराने के लोग बराबर जमा रहते थे। इन्हीं की संग सोहबत में अपना ग़म ग़लत करते थे, और यही इनके और उनके जीवन का ढंग था। मज़ा यह कि दोस्तों के लड़कों से भी यह उसी प्रकार आत्मीयता का व्यवहार करते थे, जैसा दोस्तों से। उधर उन होनहार युवकों का इनके चारों ओर अदब के साथ बैठना। इधर इनका बुज़ुर्गों जैसा लतीफ़ों के फूल बरसाना। उधर उन श्रद्धालुओं का मौन मुस्कराना और यदि बोलना तो मर्यादा के बाहर न जाना इधर फिर भी अपनी विनोदप्रियता और चुलबुले स्वभाव से इनका बाज़ न आना एक विचित्र मनोहारी वातावरण रहता था। मिर्ज़ा साहिब इन्हीं आमोद-प्रमोद और मनोरंजन की रंग-रेलियों में ज़माने की मसीबतों को टालते गए और अप्रिय जीवन

को प्रिय बनाते, हंसते खेलते चले गए। इस तरह मीर मेहदी, मीर सरफराज हुसेन नवाब यूसुफ मिर्जा इत्यादि को उर्दू में लिखे गए इनके अनेकों ऐसे पत्र हैं, जो कि आँखों के सामने इन जलसों का हुबहु चित्र प्रस्तुत करते हैं।

जमाने की बेवफ़ाई के कारण मिर्ज़ा को वह आर्थिक संपन्नता और भौतिक सुख उपलब्ध न हुआ, जिनके कि अपनी कुलीनता और काव्य-कौशल के नाते वे सचमुच अधिकारी थे, और इन्हीं दो बातों का मिर्जा को विशेष गर्व था। किंतु इसके लिये वह अपने जी को जलाकर अपने हृदय को क्षुब्ध और संकीर्ण न होने देते थे। बल्कि ऐसी बातों को वे हंसी में उड़ा देते थे। इन दोनों बातों के प्रमाण में इनके दो पत्र दिए जाते हैं। एक पत्र मीर मेहदी साहिब के नाम है, जो कि इस समय के एक कुलीन घराने के सदस्य थे और इनके प्रमुख शागिर्दों में थे, और दूसरा पत्र मुंशी हरगोपाल साहिब 'तफ्त' के नाम है, जिनकी चर्चा आगे की जा चुकी है।

'मीर मेहदी, तुम मेरी आदतों को क्या भूल गए? रमज़ान के मुबारक महीने में जामा मस्जिद की रात में होने वाली नमाज़ को क्या मैंने कभी छोड़ा है? मैं इस महीने में रामपुर में क्योंकर रुकता? नवाब साहिब बड़े इसरार (आग्रह) से रोक रहे थे और बरसात के आमों का लालच दे रहे थे। मगर भाई, मैं तो वहाँ से निकल आया और ऐसे मुहूरत से निकला कि चाँद की रात के दिन यहाँ आ पहुँचा एतवार को चाँद की पहली तारीख़ थी। उसी दिन से हर सुबह को हामिद अली खाँ की मस्जिद में जाकर मौलवी जाफ़र अली साहिब से क़ुरान सुनता हूँ। रात में जामा मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ता हूँ। कभी अगर जी चाहता है तो शाम को महताब बाग़ में जाकर रोज़ा खोलता हूँ। और ठंडा पानी पीता हूँ। वाह वाह, क्या अच्छी तरह उम्र बीत रही है। अब असल हक़ीक़त सुनो। लड़कों को साथ ले गया था। वहाँ उन्होंने मेरा नाक में दम कर दिया। उनको अकेले वापस कर देने में मैं डरा कि कहीं राह में कोई हादसा (दुर्घटना) हुआ तो जन्म भर बदनामी रहेगी। इसलिये जल्द चला आया। नहीं तो गर्मी बरसात वहीं काटता। अब अगर जीता रहा तो बरसात बाद अकेला ही जाऊँगा और बहुत दिनों तक यहाँ न आऊँगा। नवाब साहिब से करार यह हुआ कि जुलाई सन् १८५९ ई० से, जिसका यह दसवाँ महीना है, वह हर महिने मुझे सौ रुपये भेजेंगे। अब की बार जो मैं वहाँ गया तो उन्होंने सौ रुपये महीने खुराक़ खर्च के लिये और दिया। यानी रामपुर रहूँ तो दो सौ रुपया महीना पाऊँ और दिल्ली रहूँ तो सौ रुपए। भाई सौ दो सौ की बात नहीं। असल बात यह है कि जो देते हैं, दोस्ती और शागिर्दी के नाते देते हैं। मुझे नौकर नहीं समझते। जब मिलते हैं दोस्तों की तरह गले मिलते हैं और उसी तरह ताज़ीम (आदर सत्कार) भी करते हैं। लड़कों से मैंने उन्हें नजर दिलवाई थी। सो भाई ग़नीमत है। अगर रोज़ी अच्छी तरह मिल जाय तो खुदा का शुक्र है। कमी के लिये शिकायत क्या? अंग्रेजी सरकार से दस हज़ार रुपए साल ठहरे थे। उसमें से मुझको मिले कुल साढ़े सात सौ रुपए साल। लेकिन इज्ज़त में वह पाया जो रईसज़ादों के लिये होता है।

बादशाह अपने बेटों के बराबर प्यार करते थे। बख्शी, नाजिर, हकीम किसी से कम नहीं। मगर माली फायदा सिर्फ नाम को।

सो, मेरी जान, यहाँ भी वही नक्शा है। कोठरी में बैठा हूँ। टट्टी लगी हुई है। हवा आ रही है। पानी का झमझम धिरा हुआ है। हुक्का पी रहा हूँ। यह ख़त लिख रहा हूँ। तुमसे बातें करने को जी चाहा ये बातें कर लीं।'

ख़त मुंशी हर गोपाल 'तफ्त' के नाम :—

'बस अब तुम इस्कंदराबाद में रह गए। कहीं और क्यों जाओगे? बंक घर का रुपया खा चुके हो। अब कहाँ से खाओगे? मियाँ, न तुम्हें समझाने का हमें हक़ है, न तुममें समझने की समाई (क्षमता) है। क़िस्मत का एक चक्कर है, जो चला जाता है। और जो होना है वह हुआ जाता है। अपना बस चले तो कुछ किया जाय। कहने की कोई बात हो तो कहा जाय। मिर्जा अब्दुल कादिर 'बेदिल' ने खूब कहा है :—

नग्वते जाचः व क़रते असबाब कुदाम।
ज़ों हो सहाव गुज़र या न गुज़र मी गुजर्द॥

मुझको देखा कि न आज़ाद हूँ न कैद में हूँ। न रोगी हूँ न तंदुरुस्त। न ख़ुश हूँ न नाखुश। न मुर्दा हूँ न ज़िंदा। न जिए जाता हूँ। जब मौत आएगी मर भी रहूँगा। न किसी का शुक्र है न किसी की शिकायत है। जो कहता हूँ बस ज़िंदगी की इस कहानी की चर्चा होने पर कहता हूँ।'

मिर्ज़ा के सारे कुनबे और पूर्वज सुन्नी मत के थे। मगर जानकार लोगों के द्वारा और इनकी रचनाओं से भी यह प्रमाण मिलता है कि यह शीया थे। किंतु अपनी धार्मिक आस्थाओं की अभिव्यक्ति अपने धर्मानुराग द्वारा करते थे न कि तबर्रा और तकरार के द्वारा इसलिये प्रायः इन्हें लोग नसीरी कहते थे और वह यह सुनकर ख़ुश होते थे। एक स्थान पर यह कहते हैं :—

मंसूर फ़िर्क़ए अली अल्लाहियाँ मनम,
आवाज़ए अना असरल्लाह वर अफ़गनम॥

इनके सभी सगे संबंधी और घनिष्ठ मित्र सुन्नी मत के थे। किंतु इससे उनकी पारस्परिक आत्मीयता में कोई अंतर न पड़ता था। ये मौलाना फखरुद्दीन के वंश के मुरीद थे। दरबार और दरबारियों के बीच कभी यह भेद न खोलते थे। और यही धार्मिक परिपाटी दिल्ली के अधिकांश ख़ांदानों की थी।

उर्दू की रचनाओं में इनका एक वरणनात्मक दीवान लगभग ८०० शेरों का है, जो कि सन् १८४७ ई० में संग्रह किया गया और मुद्रित हुआ। इसमें कुछ पूरी कुछ अधूरी ग़ज़लें हैं। और कुछ विभिन्न शेर भी हैं। गज़लों के लगभग १५०० शेर, कसीदों के १६२ शेर, मस्नवी के ३३ शेर फर्अक़र १११ शेर, रुबाइयाँ १६, दो तारीखें

जिनके ४ शेर हैं। सच तो यह है कि मिर्जा ग़ालिब को उनके काव्यकौशल के लिये संसार में जितनी ख्याति मिली उसकी तुलना में उनकी रचनाओं में गुंधे हुए विचार और उनमें पिरोए शब्दों के अर्थ की गूढ़ता हजारों गुना अधिक हैं। बल्कि किसी किसी शेर का अर्थ तो इतना गूढ़ हैं कि उनका आशय हम जैसे अल्प बुद्धिवालों को समझ पाना दुष्कर मालूम होता है। जब उनकी रचनाओं की दुर्बोधता की. अनर्गल आलोचना कुछ अधिक मात्रा में चारो ओर होने लगी तो इस महान अनपेक्षी कवि ने अपने एक ही शेर से सबको जवाब दे दिया :—

न सताइश की तमन्न, न सिल की परवा,
न सही गर मेरे अशआर में मानी न सही।।

और एक रुबाई भी कही :—

मुश्किल है ज़बस कलाम मेरा ऐ दिल,
सुन सुन के उसे सुख़नवराने कामिल।।
आसान करने की करते हैं फरमाइश,
गोयम मुश्किल वगर न गोयम मुश्किल।।

एक दिन उस्ताद (ज़ौक) से मिर्ज़ा साहिब के विचारों की सूक्ष्मता, फ़ारसी की रचना शैली और कुछ शायरों की विभिन्न रुचियों इत्यादि के बारे में चर्चा हो रही थी। मैंने कहा कि मिर्ज़ा साहिब का जो शेर साफ़ निकल जाता है, वह अत्यंत सुंदर और बढ़िया होता है। उन्होंने कहा कि जो शेर मिर्ज़ा का बढ़िया होता है, उसकी तो लोगों को ख़बर भी नहीं होती। शेर उनके मैं तुम्हें सुनाता हूँ। उन्होंने कई शेर पढ़े। केवल एक अब तक याद है :—

दरियाए माआसी तुनुक आबी से हुआ खुश्क।
मेरा सरे-दामन भी अभी तर न हुआ था।।

इसमें संदेह नहीं कि अपने नाम के गुण के अनुसार मिर्ज़ा ग़ालिब काव्यात्मक विषयों और कल्पनाओं के एक ओजस्वी और सक्षम कलाकार थे। इनकी शैली की दो प्रमुख विशिष्टताएँ हैं—एक तो रचना में अर्थ का चमत्कार और विचारों की सूक्ष्मता, जो कि उनका विशेष गुण था और दूसरे चूँकि फ़ारसी भाषा का अभ्यास अधिक था और उससे उनकी काव्यरुचि की स्वाभाविक अनुकूलता भी थी, इसलिये प्रायः वे शब्दों का इस ढंग से प्रयोग करते थे, जो कि उन शब्दों के साधारण बोल चाल के प्रयोग से भिन्न होते थे। लेकिन उन्होंने जो शेर स्पष्ट और सीधे शब्दों में कहे हैं, वे बड़े प्रांजल और सुंदर हैं। कभी कभी कुछ विनोदप्रिय शायर इनकी रचनाओं की दुर्बोधता पर फ़ब्तियाँ भी कसते थे। एक बार मिर्ज़ा किसी मुशायरे में गए। वहाँ हकीम आग़ाजान 'ऐश' ने, जो एक ओजस्वी और विनोदप्रिय शायर थे, इनकी रचनाओं की ओर संकेत करते हुए ये शेर पढ़े :—

अगर अपना कहा तुम आप ही समझे तो क्या समझे।
मज़ा कहने का जब है एक कहे और दूसरा समझे॥
कलामे मीर समझे और ज़बाने मीरज़ा समझे।
मगर इनका कहा यह आप समझें या ख़ुदा समझे॥

इसलिये जीवन के अंतिम काल में वे अपनी रचनाओं में विचारों की सूक्ष्मता को विशेष महत्व देते थे। उस समय की उनकी ग़ज़लें ज्यादा सरल और स्पष्ट हैं और पहले की ग़ज़लों की भाषा से उनका अंतर साफ दिखलाई दे जाता है। बुज़ुर्गों और विश्वस्त लोगों से मालूम हुआ कि इनका दीवान वास्तव में बहुत बड़ा था, जो दीवान उपलब्ध है, वह केवल इनकी चुनी हुई रचनाओं का संकलन है। मौलवी फज़ल हक़ साहिब जो एक असाधारण विद्वान् थे, एक ज़माने में दिल्ली की ज़िला-कचहरी में शरिश्तादार थे। उसी समय मिर्ज़ा ख़ाँ उर्फ़ मिर्जाख़ानी साहिब कोतवाल-शहर थे। वह मिर्जा 'क़तील' के शागिर्द थे। फ़ारसी भाषा में गद्य और पद्य दोनों में अच्छी रचनाएँ करते थे। यह दोनों विद्वान् मिर्ज़ा साहिब के हार्दिक मित्र थे। इन दोनों के साथ मिर्ज़ा साहिब की अकसर गोष्ठी जमती थी और शेर सखुन की चर्चा हुआ करती थी। उन्होंने मिर्ज़ा साहिब की ग़ज़लों को सुना और दीवान को देखा तो मिर्ज़ा साहिब को समझाया कि ये शेर साधारण लोगों की समझ में न आएँगे। मिर्ज़ा ने कहा कि 'इतना कुछ कह चुका। अब इन सबको सुधारा कैसे जा सकता है?' उन्होंने कहा, 'खैर, हुआ सो हुआ। इसमें से चुन लो और मुश्किल शेर निकाल डालो।' मिर्ज़ा साहिब ने दीवान उनके हवाले कर दिया। दोनों महानुभावों ने देखकर उनमें से कुछ शेर चुन कर उनका एक संग्रह तैयार कर लिया। वह यही दीवान है, जो कि आज हम आँखों से लगाए फिरते हैं।

ऊद हिंदी—इस पुस्तक में मिर्ज़ा की कुछ आलोचनात्मक रचनाएँ हैं, कुछ गद्य निबंध और कुछ पत्र भी हैं। प्रायः पत्रों में उन लोगों के उत्तर हैं, जिन्होंने किसी क्लिष्ट शेर के माने पूछे या कोई बात फ़ारसी या उर्दू भाषा के संबंध में पूछी।

उर्दूए मुअल्ला (सन् १८६९ ई०) मिर्ज़ा के कुछ शागिर्दों और दोस्तों ने, जितने उर्दू के पत्र उनके हाथ आए, एक जगह पर क्रमानुसार संग्रह किया और उस संग्रह का नाम मिर्ज़ा ने स्वयं—'उर्दूए मुअल्ला' रखा। इन पत्रों की शैली ऐसी है, मानो आप सामने बैठे बातों के फूल बिखेर रहे हैं। मगर ऐसा है कि उनकी बातें भी ख़ास फारसी की रोचक तराशों और उम्दा तरकीबों से अलंकृत होती थी। उनमें कुछ शब्द प्रयोग कम पढ़े लिखे हिंदुस्तानियों के कानों को अपरिचित लगे तो वह जानें। शायद यह जनसाधारण में फ़ारसी भाषा की शिक्षा और ज्ञान के कम प्रचार के कारण हो। इन पत्रों में कहीं कहीं ऐसे शब्द और मुहावरे प्रयोग किए गए हैं, जैसे :—

"क्या जिगर ख़ूँ कुन इत्तिफाक़ है",
"अब दुरंगोरंज़ी की तक़सीर माफ़कीजिए", ।

“पस चाहिए को अल की आरामिश का तर्क करना”,
“और ख्वाही वाबू साहिब के हमराह रहना”, ।
“यह रुत्बः मेरी अर्ज़िश के फौक है”,
“सर्माया-ए-साजिशे-क़लमर्दे हिंदोस्तान हो” ।

कहीं कहीं फ़ारसी भाषा के ही मुहावरों का अनुवाद कर दिया है, जैसा कि ‘मीर’ और ‘सौदा’ इत्यादि उस्तादों की रचनाओं की चर्चा के प्रसंग में लिखा गया है। उसी तरह से उन्हीं पत्रों में लिखते हैं :––

“इस कदर उज्र चाहते हो” । यह मुहावरा उनके क़लम से इसलिये निकला कि “उज्रख़्वास्तन’ जो फारसी का मुहावरा है, वह इनकी ज़बान पर चढ़ा हुआ था।

हिंदोस्तानी ‘उज्र करना’ या ‘उज्रोमाज़रत करनी’ बोलते हैं। ‘नज़र इस दस्तूर पर अगर देखो तो मुझे उस शख़्श से ख़स बराबर इलाक़ा अज़ीज़दारी का नहीं”। यह भी अनुवाद “नज़र बरीज़ाब्तः” का है। “मुंशी नबीबख़्श तुम्हारे ख़त न लिखने का गिला रखते हैं। ‘गिलः हा दारंद’ और ‘शिकवः हा दारंद’ फ़ारसी के मुहावरे हैं।” क्यों, महराज, कुल में आना, मुंशी नबीबख़्श के साथ गज़ल ख्वानी करनी, और हमको याद न लाना”। ‘याद आवर्दन’ खास इरानी भाषा का मुहावरा है। हिंदोस्तानी ‘याद करना’ बोलते हैं। ‘जो आप पर मालूम है, वह मुझ पर मजहूल न रहे। हरचे बर शमा मन्कशफ़ अस्त बर मनख़फ़ी न मानद।’

इन पत्रों के लिखने की शैली भी एक विशेष प्रकार की है कि उसमें विनोद-पूर्ण चुटकुले और चुलबुली बाते बड़े मज़े में अदा की गई हैं। यह इनकी अपनी एक खूबी थी कि आप मजा ले लिया और औरों को लुत्फ़ दे गए। यह कौशल दूसरे के लिये असाध्य होता। यदि कोई यह चाहे कि वह कोई ऐतिहासिक विवरण, या कोई सांस्कृतिक विचार, या ज्ञानात्मक विषय, या किसी विशेष सांसारिक कारबार की चर्चा पत्रों के जरिए मिर्जा की शैली में करे तो यह शायद किसी दूसरे के लिये संभव न हो।

इस पुस्तक में उनके कई पत्र मूलरूप में दिए गए हैं। उनसे उनके जीवन की प्रत्यक्ष और परोक्ष परिस्थितियों की साफ झलक भी दिखाई पड़ती है। उनसे यह भी पता चलता है कि सांसारिक झमेलों और विपत्तियों से वह सदा दुःखी रहते थे। किंतु जीवन के उमंगों के आवेश में वे उनकी परवाह न कर उन्हें हँसी में उड़ा देते थे।

इन पत्रों के पढ़ने से पूरा मज़ा उसी व्यक्ति को मिल सकता है, जो स्वयं उनकी परिस्थितियों से, उन लोगों की चाल-ढाल से, जिनको वे पत्र लिखे गए हों और दोनों पक्षों के निजी मामलों से भली भाँति परिचित हो, अन्यथा उनमें लिखी हुई बातें औरों के समझ में शायद न आए। इस पुस्तक (उर्दूए-मुअल्ला) में ‘कलम’, ‘इलतमास’ को स्त्रीलिंग और ‘पेंशन’ ‘बेदाद’ ‘बारक’ को पुल्लिंग में प्रयोग किया है। एक जगह कहते हैं, “मेरा उर्दू बनिस्बत औरों के, फ़सीह होगा।”

लतायफ़ ग़ैबी––इस छोटी सी पुस्तक में रचना का लक्ष्य मुंशी सादत अली की ओर है। यद्यपि इसकी भूमिका के अन्त में लेखक के नाम की जगह सैफ़ुल हक़ का नाम लिखा है। मगर इसकी शैली और उसमें दिए गए चुटकुले स्पष्ट कहते हैं कि इसके लेखक मिर्ज़ा ही थे। वास्तव में यह वही मियां दाद ख़ाँ हैं, जिनके नाम कई पत्र मिर्ज़ा साहिब के उर्दू मुअल्ला में मिलते हैं। एक पत्र में उनसे कहा है कि 'साहब, मैंने तुमको सैफुलहक का ख़िताब दिया। तुम मेरे फ़ौज के सिपहसालार हो।'

तेग तेज़––मौलवी अहमद अली, प्रोफ़ेसर, मदरसा हुगली ने कातअ बुरहान के जबाब में 'मुवब्दुल् बहरान' लिखी थी। इसके कुछ हिस्सों का जवाब मिर्ज़ा साहिब ने लिखा और उसका नाम तेग़ तेज रखा।

सात-ए- बुरहान––इस पुस्तक के अन्त में कुछ पृष्ठ सैय्यद अब्दुल्ला के नाम से हैं। वह भी मिर्ज़ा साहिब के हैं।

फारसी भाषा में मिर्ज़ा ग़ालिब की रचनाएँ

फारसी कृतियों का कोई विवरण अथवा समीक्षा देना किसी उर्दू साहित्य के इतिहासकार का काम नहीं है। इसलिये मैं उनकी केवल सूची दे रहा हूँ।

क़सीदे––हम्द और नात और इमामों की स्तुति देहली के बादशाह, शाहे अवध, गवर्नरों और उच्च पदस्थ अंग्रेजों की तारीख़ में लिखे हैं।

ग़ज़लों का दीवान––क़सीदों के दीवान के साथ सन् १८३३ और १८३५ ई० में संकलित किया गया। और हस्तलिखित प्रतिलिपियों के माध्यम से ऐसी रचनाओं में रूचि रखने वाले लोगों में प्रचारित हुआ। अब तक यह कई बार छप चुका है।

पंज-अहंग––इसमें पाँच रचना काल के पाँच अध्याय फारसी के उन साहित्यकारों के संबंध में लिखे हैं, जो इनकी शैली के अनुसार रचना करना चाहते है। यह एक उत्कृष्ट कृति है।

सन् १८६२ ई० में 'क़ातए बुरहान' छपी। कुछ संशोधन के बाद उसको फिर छपवाया और उसका दरफ़्श क़ादियानी' नाम रखा। इसमें बुरहान क़ातअ' की अशुद्धियों को बताया है। किन्तु फारसी के अधिकारी साहित्यकारों ने इसके लिये इनपर तीव्र आपेक्ष किये हैं, और इनकी आलोचनाओं का विरोध किया है।

नामएगालिब––'कातए बुरहान' के कई व्यक्तियों ने उत्तर लिखे। मेरठ में एक अंधे अध्यापक हाफ़िज अब्दुल रहीम नाम के थे। उन्होने उन सब का जवाब 'सातए बुरहान' लिखा। मिर्जा साहिब ने पत्र की शैली में हाफ़िज साहिब को प्रत्युत्तर के रुप में कई पृष्ठ लिखे और उनका नाम 'नामए गालिब' रखा।

मेहरनीम रोज़––हकीम अहसनुल्ला ख़ाँ बादशाह के निजी हकीम थे। उन्हें इतिहास में रुचि थी। और आप गुणियों और कलाकारों से विशेष स्नेह रखते थे।

मिर्ज़ा ने उनके सुझाव पर इस पुस्तक का पहले एक अंश लिखा इसीके आधार पर सन् १८५० ई० में दरबार में इनकी रसाई हुई और इतिहासकार के पद पर इनकी नियुक्ति हुई। और नजमुद्दौला दबीरुलमुल्क मिर्ज़ा असदुल्ला ख़ाँ ग़ालिब बहादुर निज़ामजंग का इन्हें ख़िताब मिला। पहले खंड में अमीर तैमूर से हुमायूँ तक का ऐतिहासिक वृत्तांत दिया और इस ग्रंथ का नाम मेहरनीम रोज़ रखा। विचार था कि अकबर से लेकर बहादुर शाह तक का वृत्तांत दूसरे खंड में लिखें और उसका 'माह नीममाह' नाम रखें। किंतु इसी बीच सन् १८५७ का विद्रोह छिड़ गया।

दस्तनबू—इस पुस्तक में ११ मई सन् १८५७ ई० से पहली जुलाई सन् १७५८ ई० तक विद्रोह का विवरण, शहर की तबाही कहानी, आप बीती, ये सभी १५ महीनों का वृत्तांत लेखनीबद्ध किया है।

सब्दचीन—दो तीन फारसी भाषा में कसीदे, कुछ गजलें, कुछ पत्र, जो दीवान में न दिए जा सके थे, उनका संग्रह 'सब्दचीन' में किया गया है।

अपने अंतिम काल में यह अपनी रचनाएँ अपने पास न रखते थे। उर्दू की रचनाएँ नवाब हुसेन मिर्ज़ा साहिब के पास रहती थीं और वह उन्हें क्रमानुसार व्यवस्थित करते जाते थे। फ़ारसी की रचनाएँ नवाब ज़ियाउद्दीन अहमद खाँ साहिब को भेज देते थे। मिर्ज़ा ग़ालिब ने उनका 'नय्यरे रख्शाँ' तखल्लुस करके उन्हें अपना मुख्य शिष्य और प्रथम खलीफ़ा (प्रतिनिधि) के पद से विभूषित किया था। इनके दूसरे खलीफ़ा नवाब अलाउद्दीन ख़ाँ साहिब थे।

उनके पत्रों से पता चलता है कि वे साहित्य-रचना में बड़ी जिज्ञासा और चिंतन को प्रयोग में लाते थे और उसे परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करने में काफ़ी परिश्रम करते थे। इसीलिए मरने से १०-१५ वर्ष पहले वे पत्र बराबर उर्दू में ही लिखने लगे थे। एक दोस्त के पत्र में स्वयं लिखते हैं :—

'बंदः नवाज, ज़बान फारसी में ख़तों का लिखना तो मैंने पहले ही तर्क कर दिया था। बुढ़ापे और उसकी कमजोरी की वजह से दिमाग़ी मिहनत करने की कुवत मुझमें नहीं रही और यह बात है कि :—

मुज़महिल हो गए क़ूए गालिब,
वह अनासिर में ऐतदाल कहां ?

कुछ आप ही के साथ नहीं। और सब दोस्तों को जिनसे ख़त किताबत रहती है उर्दू ही में ख़त लिखा करता हूँ। जिन जिन साहबों की ख़िदमत में आगे मैंने फ़ारसी ज़बान में ख़त लिखे और भेजे थे उनमें से जो साहब अभी मौजूद हैं उनसे भी जरूरत पड़ने पर इसी मुरव्वज (प्रचलित) जबान में ख़त लिखा करता हूँ।'

उर्दूएमुअल्ला में मिर्जा हातिम अली बेग 'मेहर' को भेजे गए एक पत्र में लिखते हैं :—

'मेरा एक कत्अः † है, जो मैंने कलकते में कहा था। मौका यह था मेरे एक दोस्त मौलवी करमहुसेन थे। उन्होंने एक मजलिस में एक साफ और बेरेशा चिकनी डली (सुपारी) अपनी हथेली पर रखकर मुझसे कहा कि इसके लिये (उपमा स्वरूप) कुछ शेर कहिए। मैंने वहीं बैठे बैठे नौ दस शेरों का एक कत्अः लिखकर उनको दी और बदले में उस डली को उनसे ली।

है जो साहिब के क़फे दस्त पै यह चिकनी डली।
ज़ेब देता है इसे जिस क़दर अच्छा कहिए॥

आमए-अंगुश्त-बदनदाँ कि इसे क्या लिखिए।
नातक: सर वगरेबाँ कि इसे क्या कहिए॥

अख्तरे सोख्तए कैस से निस्बत दीजे।
खाले-मश्कीने रुखे दिल्कशे लैला कहिए॥

हिज्र अलासूद व दीवारे हरम कीजे फ़र्ज़।
नाफ़ए आहुए बयाबाने खुतन का कहिए॥

सूमिए में इसे ठहराइए गर मुहरे निमाज़।
मैक़दः में इसे ख़िश्ते ख़मे सहबो कहिए॥

मिस्सी आलूदः सर अंगुश्त हसीनाँ लिखिए।
सरे पिस्तान परीज़ाद से माना कहिए॥

अपने हज़रत के क़फ़े दस्त को दिल कांजिए फ़र्ज़।
और इस चिकनी सुपारी को सवेदा कहिए॥

मतलब यह कि बीस-बाईस फब्तियाँ हैं। शेर सब कब याद आते हैं? भूल गया।'

नवाब ज़ीनतमहल बादशाह के स्वभाव और रुचियों से बहुत परिचित थीं। मिर्ज़ा जवाँबख़्स उनके बेटे थे और बावजूद इस बात के कि अन्य कई राजकुमारों से छोटे थे, बादशाह उन्हीं को उत्तराधिकारी बनाने के लिये इच्छुक और प्रयत्नशील थे, जब उनके विवाह का अवसर आया तो बड़ी धूमधाम से सामान किया गया। मिर्ज़ा ग़ालिब ने यह सेहरा कह कर बादशाह के हुजूर में भेजा :—

सेहरा

खुश हो ऐ बख़्त कि है आज तेरे सर सेहरा।
बाद शहज़ादः जवाँबख़्त के सर पर सेहरा॥

---

† उर्दू या फारसी नज्म की एक किस्म जिसमें गजल की तरह काफिए की पाबंदी होती है, और जिसमें कोई एक बात कही जाती है।

क्या ही इस चाँद से मुखड़े पे भला लगता है।
है तेरे हुस्ने दिल अफ़रोज़ का ज़ेवर सेहरा।।

सर पे चढ़ना तुझे फबता है पर ऐ तरफ़े कुलाह।
तुझको डर है कि न छीने तेरा लंबर सेहरा।।

नाव भर कर ही पिरोए गए होंगे मोती।
वर्ना क्यों लाए हैं किश्ती में लगाकर सेहरा।।

सात दरिया के फराहम किए होंगे मोती।
तब बना होगा इस अंदाज का गज भर सेहरा।।

रुखपै दौला के जो गर्मी से पसीना टपका।
है रगे अब्रे गुहरबार सरासर सेहरा।।

यह भी यक बेअदबी थी कि क़बा से बढ़ जाय।
रह गया आन के दामन के बराबर सेहरा।।

जी में इतराएँ न मोती कि हमी है एक चीज।
चाहिए फूलों का भी एक मुक़र्रर सेहरा।।

जब कि अपने में न समावें खुशी के मारे।
गूंथे फूलों का भला फिर कोई क्योंकर सेहरा।।

रुख़े रोशन की दमक गौहरे ग़ल्ताँ की चमक।
क्यों न दिखलाए फ़रोग़े यह व अख़्तर सेहरा।।

तार रेशम का नहीं है यह रगे अब्रोबहार।
लाएगा ताब गर अबारिए ग़ौहर सेहरा।।

हम सुख़न फह्म हैं 'गालिब' के तरफ़दार नहीं।
देखें इस सेहरे से कहदे कोई बेहतर सेहरा।।

इस मक्ते को सुनकर बादशाह को यह भ्रम हुआ कि इसमें उनपर कुछ आक्षेप है। उन्हें ऐसा लगा कि इसमें मिर्ज़ा ग़ालिब ने यह दावा किया है कि इस सेहरे के बराबर कोई सेहरा कहने वाला नहीं। किंचित् इससे उनका तात्पर्य यह था कि बादशाह ने जो शेख़ इब्राहीम 'ज़ौक़' को अपना गुरु और राजकवि बनाया। उसमें उन्होंने शायरी के गुणों के मूल्यांकन में अपनी अक्षमता का परिचय दिया और पक्षपात किया। इसलिये शेख़ साहब नित्यक्रम के अनुसार जब दरबार में हाज़िर हुए तो बादशाह ने मिर्ज़ा ग़ालिब का वह सेहरा उन्हें दिया कि 'उस्ताद, इसे देखिए', उन्होंने पढ़ा और अपने स्वभावानुकूल बोले, "जी हुजूर दुरुस्त है।" बादशाह ने कहा कि 'उस्ताद, तुम भी एक सेहरा कह दो। इन्होंने अर्ज किया,

'बहुत खूब।' बादशाह ने आग्रहपूर्वक कहा कि 'अभी लिख दो और जरा मक्तआ पर भी ध्यान रखना।' उस्ताद वहीं बैठ गए और यह सेहरा कहा :--

सेहरा

ऐ जवाँ वख़्त मुवारक तुझे सर पर सेहरा।
आज है यमन व सआदत का सेर पर सेहरा।।
आज वह दिन है कि लाए दुरे अंजम से फलक।
किश्तिए जरमें महे नौ में लगा कर सेहरा।।
ताबिशे हुस्न से माबिदे शुआए खुरशीम।
रुख़े पुरनूर पै है तेरे मुनव्वर सेहरा।।
वह कहे सिल्लेअला - यह कहो सुभानअल्लाह।
देखे मुखड़े पे जो तेरे महव अख़तर सेहरा।।
ताबनी और वने में रहे अख़लास वहम।
बूँधे सूरए अखलाठ को पढ़कर सेहरा।।
धूम है गुलशने आफ़ाक़ में इस सेहरे की।
गाएँ मुरगाने नवासंज न क्योंकर सेहरा।।
रुए फ़र्ख पै जो हैं तेरे वरसते अनवार।
तार वारिश से वना एक सरासर सेहरा।।
एक को एक पै तज्मीं है दमे आराइश।
सर पे दस्तार है दस्तार के ऊपर सेहरा।।
एक गुरह भी नहीं सरकान शहर में छोड़ा।
तेरा वनवाया है ले ले के जो गौहर सेहरा।।
फिरती खुशबू से है इतराइ हुए वादे बहार।
अल्लाह अल्लाह रे फलों का मुअत्तर सेहरा।।
सर पे तुर है मुजय्यन तो गले में वद्धी।
कँगना हाथ में ज़ेवा है तो मुँह पर सेहरा।।
रुनुमाई में तुझे दे यह व खुरशीद फ़लक।
खोल दे मुँह को जो तो मुँह से उठाकर सेहरा।।
कसरते तार नज़र से है तमाशाइयों के।
दम नज़ारः तेरे रुलनकू पर सेहरा।।
दुरेखुशआबे मज़ामीं से बना कर लाया।
वास्ते तेरे तेरा जौक सनागर सेहरा।।

जिसको दावा है सुखन का यह सुनादे उसको ।
देख इस तरह से कहते हैं सुखनवर सेहरा ।।

गायिकाएँ दरबार की सेवा में बराबर रहती थीं। उसी समय उन्हें यह सेहरा मिला। शाम तक शहर की गली गली कूचे कूचे में इस सेहरे की चर्चा होने लगी। दूसरे ही दिन अख़बारों में भी छप गया। मिर्ज़ा ग़ालिब भी बड़े नज़र के ताड़नेवाले थे। समझ गए कि सोचा था कुछ और हो गया कुछ। फिर क्षमा याचना के लिये बादशाह के पास यह कित्अ भेजा :—

क़ित्अ दर माज़रत

मंज़ूर है गुज़ारिशे अह्वाल वाकई ।
अपना बयाने हुस्न तबीयत नहीं मुझे ।।

सौ पुश्त से है पेशए आबा सिपहगरी ।
कुछ शायरी ज़रीयए इज्ज़त नहीं मुझे ।।

आज़ादः रौ हूँ और मेरा मस्तक है सुलहफुल ।
हर्गिज़ कभी किसी से अदावत नहीं मुझे ।।

क्या कम है यह शरफ़ कि ज़फ़र का गुलाम हूँ ।
माना कि जाह व मंसब व सखत नहीं मुझे ।।

उस्तादे शह से हो मुझे परख़ाश का ख़्याल ।
ये ताब ये मजाल ये ताक़त नहीं मुझे ।।

जामे जहाँ नुमाँ है शहंशाह का ज़मीर ।
सौगंद और गवाही की हाजत नहीं मुझे ।।

मैं कौन और रेख़्तः हाँ उससे मुद्दआ ।
जो इन बसाते ख़ातिरे हज़रत नहीं मुझे ।।

सेहरा लिखा गया ज़रए इम्तिशाले अम्र ।
देखा कि चारः ग़ैर अताअत नहीं मुझे ।।

मक्त्अ में आ पड़ी है सुख़न गुस्तरानः बात ।
मक्सूद उससे क़ित्अ मुहब्बत नहीं मुझे ।।

रुए सुख़न किसी की तरफ हो तो रुसियाह ।
सौदा नहीं, जुनूँ नहीं, वहशत नहीं मुझे ।।

क़िस्मत बुरी सही पै तबीयत बुरी नहीं ।
है शुक्र की जगह कि शिकायत नहीं मुझे ।।

सादिक़ हूँ अपने क़ौल का 'ग़ालिब' ख़ुदा गवाह।
कहता हूँ सच कि झूट की आदत नहीं मुझे ॥

फारसी शायरी के लतीफे

कलकत्ते में कई समृद्ध ईरानी घराने और बहुत से फ़ारसी के आलिम फाज़िल विद्वान् रहते थे। मगर अफ़सोस है कि यहाँ मिर्ज़ा की विद्वत्ता और योग्यता को इतना महत्त्व न दिया गया, जितना उसे दिया जाना चाहिए था। वास्तव में उन्हें यथोचित मान्यता मिलनी चाहिए थी और अवश्य मिलती। किंतु संयोगवश इसमें एक पेंच पड़ गया। बात ऐसी हुई कि मिर्ज़ा ने किसी जल्से में एक फ़ारसी की ग़ज़ल पढ़ी। उसमें एक शब्द के प्रयोग पर कुछ व्यक्तियों ने आपत्ति की। और आपत्ति उस नियम के अनुसार की गई, जिसका उल्लेख मिर्ज़ा क़तील ने अपनी एक पत्रिका में किया था। मिर्ज़ा ने इस नियम के बारे में सुनकर कहा कि "क़तील कौन होता है? और मुझे 'क़तील' से क्या काम? वह तो फ़रीदाबाद का एक खत्री है। मैं अह्ले ज़बान के सिवाय किसी को नहीं समझता।" आपत्तिकारी लोग अधिकतर मिर्ज़ा क़तील के शागिर्द थे। इसलिये आतिथ्य के शिष्टाचार के नाते इस टिप्पणी को सुनी अनसुनी कर गए और सभी ने हर्षध्वनि से मिर्ज़ा का अनुमोदन किया। मिर्ज़ा को आश्चर्य हुआ और इस विचार से कि इस फ़िसाद का किसी तरह अंत हो जाय, मेलजोल का तरीका अपनाया और एक मस्नवी लिखी। और इसमें कोई संदेह नहीं कि यह रचना उत्कृष्ट की। इसमें इन्होंने उस विवादास्पद घटना की सारी बातें बड़े सुंदर ढंग से कही। आपत्ति जो की गई उसका औचित्य स्वीकार किया। इनकी ओर से मस्नवी उनके प्रतिद्वंद्वियों के जल्से में पढ़ी गई तो बजाय इसके कि वे लोग जैसी अच्छी लिखी गई थी, उसकी सराहना करते और मेहमान से अपनी ओर से किए गए आक्षेपों के लिये क्षमा माँगते, एक ने जान बूझकर यह सवाल पूछा कि इस मस्नवी का नाम क्या है? मालूम हुआ कि "बादे मुख़ालिफ़' इसपर दूसरे ने गुलिस्ताँ का वह फिक्रा पढ़ा, 'यके अज़ मुलहारा बाद मुखालिफ़ दर शिकम पेचीद' और सबने हँस दिया।

+ \+ \+

दिल्ली में मुशायरा था। मिर्ज़ा ने अपनी एक फ़ारसी की ग़ज़ल पढ़ी। मुफ्ती सदरुद्दीन ख़ाँ साहिब और मौलवी इमामबख़्श साहिब 'सहबाई' जल्से में उस्थित थे। मिर्ज़ा साहिब ने जिस समय यह मिस्रा पढ़ा—'बवादर्द कि दराँ खिज्र रा असा खफ्त अस्त' अर्थात् 'असा का प्रयोग अशुद्ध है। मिर्ज़ा ने कहा कि 'हज़रत, मैं हिंदोस्तानी ख़ांदान का हूँ। इसलिये आपने मेरा 'असा' पकड़ लिया। उस शीराज़ी (शीराज़ के रहनेवाले शायर) का 'असा' न पकड़ा जिसने कहा है, 'दिले बहम्लए अव्वल आसाए शेख़ बख़फ़्त'। उन्होंने कहा कि 'असल मुहावरे पर एतराज़ नहीं। एतराज़ इस बात पर है कि उसका मौज़ूँ जगह पर इस्तेमाल नहीं किया गया।'

फ़ाकामस्ती के लतीफ़े

(१) एक बार मिर्ज़ा पर बहुत कर्ज़ हो गया। कर्ज़ देनेवालों ने इनपर नालिश कर दी। प्रतिवाद के लिये ये तलब हुए। मुफ्ती साहिब की अदालत थी। जिस समय पेशी में गए यह शेर पढ़ा :—

कर्ज़ की पीते थे मय लेकिन समझते थे कि हाँ।
रंग लाएगी हमारी फ़ाकामस्ती एक दिन॥

+ + +

(२) मिर्ज़ा साहिब को एक अप्रत्याशित दुर्घटना के कारण कुछ दिन जेलखाने में इस तरह बिताने पड़े जैसे कि हज़रत यूसुफ को मिस्र के कैदखाने में बिताने पड़े थे। जेल में कपड़े मैले हो गए। उसमें जूएँ पड़ गईं। एक दिन बैठे उसमें से जूएँ बीन रहे थे। एक रईस वहीं कुशल-क्षेम पूछने के लिये पहुँचे। पूछा, 'क्या हाल है'? आपने यह शेर पढ़ा :—

हम ग़मज़द जिस दिन से गिरफ्तार बला हैं।
कपड़ों में जूएँ बख़ियों के टाकों से सिवा है॥

जिस दिन जेलख़ाने से निकलने लगे और कपड़ों के बदलने का मौका आया तो वहाँ का कुर्ता वहीं फाड़कर फेंका और यह शेर पढ़ा :—

हाय, उस चार गिरह कपड़े की क़िस्मत 'ग़ालिब'।
जिसकी क़िस्मत में हो आशिक़ का गरेबाँ होना॥

+ + +

(३) हुसेन अली ख़ाँ, उनका छोटा लड़का, एक दिन खेलता खेलता आया कि 'दादाजान, मिठाई मँगवा दो।' आपने कहा कि 'पैसे नहीं।' वह संदूकची खोलकर इधर उधर टटोलने लगा। आपने कहा :—

दरम दवाम अपने पास कहाँ?
चील के घोंसले में माँस कहाँ?

सरकार से पेंशन प्रति मास मिल जाती थी। दिल्ली के विद्रोह के बाद यह आदेश निकला कि अब छः माही मिला करेगी। इस अवसर पर एक दोस्त को लिखते हैं :—

'रस्म है मुर्दे की छमाहौ एक। ख़ल्क़ का है इसी चलन पे मदार॥
मुझको देखो कि हूँ वक़ैदे हयात। और छमाही हो साल में दो बार॥

मगर ये दो शेर वास्तव में एक कसीदे के हैं, जिसको लिखकर दिल्ली के शाही दरबार से छःमाही तनख़्वाह की जगह माहवारी वेतन का आदेश प्राप्त किया था। फ़ारसी के क़सीदों में भी उन्होंने कहीं कहीं फेरबदल किया है। किंतु यह कोई असाधारण बात नहीं। 'अनवरी' इत्यादि शायरों ने भी ऐसा ही किया है।

कुछ अन्य मनोरंजक लतीफ़े

(१) मौलवी फजहलक़ साहिब मिर्ज़ा के बड़े दोस्त थे। एक दिन मिर्ज़ा उनसे मिलने गए। उनकी यह आदत थी कि जब कोई घनिष्ठ मित्र आता तो ख़ालिकबारी का यह मिस्रः पढ़ा करते थे---'बिया बिरादर, आओ रे भाई'। जब मिर्ज़ा साहिब पहुँचे तो उनके संमान में उठ खड़े हुए और यही मिस्रः कहकर उनका स्वागत किया। अभी बैठे ही थे कि मौलवी साहिब की रंडी भी दूसरे दालान से से उठकर इनके पास आन बैठी। मिर्ज़ा ने बेसाख़्ता कहा, "हाँ, साहिब, अब वह दूसरा मिस्राः भी कह डालिए, 'बिनशीं मादर, बैठ री माई'।।

(२) मिर्ज़ा के 'कात्अ बुरहान' के बहुत से लोगों ने जवाब लिखे हैं और इन्हें बहुत बुरा भला कहा है किसी ने इनसे कहा कि 'हज़रत, आप ने अमुक व्यक्ति की आलोचनाओं का जवाब न लिखा? इन्होंने कहा "भाई, अगर कोई गधा तुम्हें लात मारे तो तुम उसका क्या जवाब दोगे?"

(३) बहन बीमार थीं। आप उनसे कुशलक्षेम पूछने गए। उनसे पूछा, 'क्या हाल है?' वह बोली कि 'मर रही हूँ। क़र्ज़ कि चिंता है कि सर पर लिये जाती हूँ।' आपने कहा कि 'बुआ, भला इसकी क्या चिंता? खुदा के यहाँ क्या मुफ्ती सदरूद्दीन खाँ बैठे हैं जो डिगरी करके पकड़वा बुलाएँगे?'

(४) एक दिन मिर्ज़ा के एक शागिर्द ने आकर कहा, "हज़रत, आज मैं अमीर ख़सरो की क़ब्र पर गया। मज़ार पर खिरनियाँ मैंने खूब खाई। खिरनियों का खाना था कि मानो मेरे लिये खुशबयानी (वाक-माधुर्य) का दरवाजा खुल गया है। देखिये तो मैं कितना साफ़ और सही बोलने लगा हूँ।' मिर्ज़ा ने कहा कि 'अरे मियाँ, तीन कोस क्यों गये? मेरे पिछवाड़े के पीपल की पिप्लियाँ क्यों न खा लीं? दिमाग की चौदह परतें चमक जातीं'।

(५) मिर्ज़ा के कई शागिर्दों ने उनसे कहा कि आपने हज़रत अली की प्रशस्ति के रूप में बहुत से और बड़े जोर के क़सीदे कहे हैं। मगर उनके साथियों में से किसी की प्रशंसा में कुछ न कहा? मिर्ज़ा ने ज़रा ठहर कर कहा कि 'उनमें कोई ऐसा दिखा दीजिए तो जिसकी तारीफ़ में मैं कुछ कहूँ। मिर्ज़ा साहिब की विनोदप्रियता उन्हें ऐसे रंग में डुबोए रहती थी कि अकसर अपरिचित लोग उनपर नास्तिक होने का आरोप लगाते थे। और चूँकि यह रंग उनके व्यक्तित्व पर अजीब सा लगता था, इसलिए उनके दोस्त उनसे इस प्रकार की विनोदपूर्ण बातें सुनकर चौंकते थे। और जितना ही वे चौंकते थे, वह और भी अधिक छींटे उड़ाते थे। वे शराब पीने के आदी थे। फिर भी वे शराब पीना पाप समझते थे और मुहर्रम के महीने में तो न पीने का नियम वे अनिवार्य रूप से पालन करते थे।

(६) ग़दर के कुछ दिनों बाद पंडित मोतीलाल, जो उन दिनों पंजाब गवर्नमेंट के अनुवादक थे, पंजाब के चीफ़ कमिश्नर साहिब के साथ दिल्ली गए। स्वदेशप्रेम और काव्यप्रेम के नाते मिर्ज़ा साहिब से मिलने गए। उन दिनों मिर्ज़ा साहिब

की पेंशन बंद थी । मिर्ज़ा हताश और दुखी होने के कारण शिकवा शिकायत से भरे बैठे थे । बातचीत के सिलसिले में कहने लगे कि "उम्र भर मैंने एक दिन शराब न पी हो तो काफिर नहीं । और एक बार भी नमाज पढ़ी हो तो मुसलमान नहीं । फिर भी मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि सरकार ने मुझे बागी मुसल्मानों में किस तरह शामिल समझा ।'

(७) भूपाल से एक सज्जन दिल्ली की सैर को आए । मिर्ज़ा साहिब से भी मिलने के इच्छुक थे, इसलिये एक दिन इनके यहाँ आए । उनके रंगढंग और वेषभूशा से मालूम होता था कि बड़े परहेजगार और संयमी व्यक्ति हैं । मिर्ज़ा उनसे बड़े आदर शिष्टता से मिले । मगर रोज़ के पीने का समय था । चुस्की ले रहे थे । ग्लास और शराब की बोतल आगे रखी थी । उन बेचारे को यह खबर न थी कि मिर्ज़ा को पीने का शौक़ है । उन्होंने किसी शरबत की बोतल का ख्याल करके उसे हाथ में उठा लिया । पास में बैठे हुए किसी व्यक्ति ने कहा कि 'जनाब, यह शराब है' । भूपाली सज्जन ने झट बोतल हाथ से रख दिया और कहा कि मैंने तो शरबत के धोके में उठाया था ।" मिर्ज़ा साहिब ने मुस्करा कर उनकी ओर देखा और कहा कि 'ज़हे नसीब, धोके में नजात हो गई ।'

(८) एक बार रात में आँगन में बैठे थे । चाँदनी रात थी । तारे छिटके हुए थे । आप आसमान को देखकर कहने लगे कि जो काम कोई बिना दूसरे की सलाह लिए करता है वह बेढंगा होता है । खुदा न सितारे आस्मान पर बिना किसी से सलाह के बिछाए । जभी बिखरे बिखरे लगते हैं । न कोई सिलसिला, न जंजीर, न बेल न बूटा ।

(९) एक मोलवी साहिब जो जमायत के थे, रमजान के दिनों में मिलने आए । सूर्यास्त के पहले को निमाज हो चुकी थी । मिर्ज़ा ने ख़िदमतगार से पानी माँगा । मोलवी साहिब ने कहा कि 'हज़रत, गज़ब करते हैं । रमज़ान में रोज़े नहीं रखते ?" मिर्ज़ा ने कहा, "सुन्नी मुसलमान हूँ । चार घड़ी दिन से रोजा खोल लिया करता हूँ ।"

(१०) रमज़ान का महीना था । आप नवाब हुसेन मिर्ज़ा के यहाँ बैठे थे । पान मँगाकर खाया । एक सज्जन जो बड़े मज़हबी और परहेज़गार थे, उस समय वहाँ उपस्थित थे । उन्होंने आश्चर्य से पूछा कि "क़िब्ला, आप रोजा नहीं रखते ?" मिर्ज़ा मुस्कराकर बोले, "शैतान ग़लिब है ।"

यह लतीफ़ा विनोदप्रिय लोगों में इस तरह मशहूर है कि आलमगीर का मन सरमद की ओर से फिर गया था, क्योंकि यह बात उनके ध्यान में बराबर बनी रहती थी कि जो उस समय शहर के क़ाजी थे, एक दिन सरमद को भाँग पीते हुए पकड़ा था । पहले तो इन दोनों में हँसी मज़ाक़ के साथ बहुत से सवाल जवाब हुए आखिर जब क़ाजी ने कहा कि 'नहीं, हम लोगों के लिए धार्मिक आदेश इसके खिलाफ़ है । तू हुक्म इलाही की अवहेलना करता है' । इसपर सरमद ने कहा कि क्या करूँ बाबा, शैतान क़वी है ।"

(११) जाड़े का मौसिम था। एक दिन नवाब मुस्तफ़ा खाँ साहिब मिर्ज़ा के घर आए। आपने उनके आगे शराब का ग्लास भरकर रख दिया। वह इनका मुँह देखने लगे। आपने फ़र्माया कि—'लीजिए'। चूँकि उन्होंने शराब पीनी छोड़ दी थी। इसलिये कहा कि "मैंने तो तोबः कर ली है"। आप आश्चर्यित होकर बोले कि "हैं, क्या जाड़े में भी ?"

(१२) एक सज्जन ने मिर्ज़ा को सुनाने के लिए कहा कि, 'शराब पीना बड़ा पाप है।' आपने हँसकर कहा कि 'भला जो पीये तो क्या होता है ?' उन्होंने कहा कि 'मामूली सी बात तो यह है कि उसका दुआ क़बूल नहीं होती। मिर्ज़ा ने कहा कि "आप जानते हैं कि शराब पीता कौन है ? पहले तो वह कि एक बोतल ओल्डटोम की सब सामान के साथ सामने हाज़िर हो, दूसरे बेफिक्री हो, तीसरे अच्छी सेहत हो। आपही बताइये कि जिसे यह सब कुछ नसीब हो उसे और चाहिए क्या, जिसके लिये वह दुआ करे ?"

मिर्ज़ा साहिब को अपनी मृत्यु से बीस वर्ष पहले अपनी मृत्यु तिथि के लिये एक उपयुक्त मिस्रा हाथ आया। वह इन्हें बहुत पसंद आया :—

मन्कि बाशम कि जावदाँ बाशम।
चूँ नज़ीरी न मानद व तालिबे मुर्द॥
दर बपुर्सन्द दर कदा में साल ?
मुर्द ग़ालिब बगो कि ग़ालिब मुर्द॥

इस हिसाब से ग़ालिब की मृत्यु सन् १२७७ हि० में होनी चाहिए थी। इसी वर्ष शहर में भयंकर महामारी फैली। हज़ारों आदमी मर गए। उन दिनों दिल्ली की तबाही का घाव हरा था। इसलिये मीर मेंहदी साहिब के एक पत्र के उत्तर में लिखते हैं :— "इस वबा (महामारी) की क्या पूछते हो ? मौत के तरकश में यही एक अचूक निशाने वाला तीर बाक़ी रह गया था। क़त्ल ऐसा आम, लूटपाट ऐसी ज़बरदस्त, काल इतना बड़ा फिर वबा क्यों न हो ? दस साल पहले ही मैंने कहा था :—

"हो चुकी ग़ालिब बलाएँ सब तमाम।
एक मर्गे नागहानी और है।"

मियाँ सन् १२७७ हि० की बात गजल न थी। किंतु मैंने इस आम महामारी में मरना अपने लिये ठीक न समझा। यह मेरी शान के ख़िलाफ़ होता। अब यह फ़िसाद खत्म हो तो समझ लिया जायगा"।

गज़लें

शुमारे सब्हः मरगूबे बुते मुश्किल पसंद आया।
तमाशाए बयक बुर्दने सद-दिल पसंद आया॥

ब फ़ैजे बेदिली नौमीदिए आवेद आसाँ है।
कुशायश को हमारा ओक़दए मुश्किल पसंद आया।।
हवाए खब्ज़ गुल आईनए वे मोहरिए क़ातिल।
कि अंदाज़े बखूँ ग़ल्तीदने क़ातिल पसंद आया।।

× × +

दहर में नक़शे वफ़ा तसल्ली न हुआ।
है यह वह लफ़ज़ कि शर्मिन्दए मानी न हुआ।।
सब्ज़ए ख़त से तेरा काकुले सरकश अदवा।
ये ज़मुंरद भी हरीफ़े दमे उफ़ई न हुआ।।
मैंने चाहा था कि अंदोह वफ़ा से छूटूँ।
वह सितमगर मेरे मरने पे भी राज़ी न हुआ।।
दिल गूज़र-गाहे ख़्याले मै-ओ-साग़र ही सही।
गर नफ़स जादए सर मंज़िले तक़वा न हुआ।।
हूँ तेरे वादा न करने में भी राज़ी कि अभी।
गोश भिन्नत कशे गुल्बाँग तसल्ली न हुआ।।
किस से महरुमीए क़िस्मत की शिकायत कीजिए।
हमने चाहा था कि मर जाएँ सो वह भी न हुआ।।
मर गया सदमए यह ज़ुंबिशे लब से ग़ालिब।
न तवानी से हरीफ़े दमे ईसा न हुआ।

+ + +

कल के लिये कर आज न ख़िस्सत शराब में।
यह सूए ज़न है साक़ीए कौसर के बाब में।।
है आज क्यों ज़लील कि कल तक न थी पसंद।
गुस्ताख़ीए फ़रिश्तः हमारी जनाब में।।
जाँ क्यों निकलने लगती है तन से दमे समाअ।
गर वह सदा समाई है चंगो रबाब में।।
रौ में है रख़शे उम्र कहाँ देखिए थके।
न हाथ बाग पर है न पा है रकाब पर।।
उतना ही मुजको अपनी हक़ीक़त से बोद है।
जितना कि वह्मे ग़ैर से हूँ पेचो ताब में।।

अस्ले शहूदो शाहिदो मशहूद एक है।
हैराँ हूँ फिर मुशाहिदा है किस हिसाब से।।
है मुश्तमिल नुमूदे सुवर पर वजूदे वह्र।
याँ क्या धरा है क़तर-ओ मौजो हुवाव में।।
शर्म एक अदाए नाज़ है अपने ही से सही।
हैं कितने बेहिजाव कि है यूँ हेजाव में।।
आराइशे जमान से फ़ारिग़ नहीं हनोज़।
पेशे नज़र है आईना दाएम नक़ाव में।।
है ग़ैव ग़ैव जिसको समझते हैं हम शहूद।
हैं ख़ाव में हनोज़ जो आगे हैं ख़ाव में।।
ग़ालिव नदीम दोस्त से आती है बूए दोस्त।
मश्ग़ूल हक़ हूँ बंदगीए बू-तराव में।।

+ \+ \+

आह को चाहिए इक उम्र असर होने तक।
कौन जीता है तेरी जुल्फ़ के सर होने तक।।
दाम हर हल्क़ः में है हल्क़ए सद गाम नेहंग।
देखें क्या गुज़रे है क़तरे पे गौहर होने तक।।
आशिक़ी शब्र तलव और तमन्ना बेताव।
दिल का क्या रंग करूँ ख़ूने जिगर होने तक।।
हम ने माना कि तग़ाफ़ल न करोगे लेकिन।
ख़ाक हो जायंगे हम तुमको ख़बर होने तक।।
परतवे ख़ार से है शब्नम को फ़िना की तालीम।
मैं भी हूँ एक इनायत की नज़र होने तक।।
यक नज़र बेश नहीं फ़र्सते हसती ग़ाफ़िल।
गमीए वज़्म है इक रक़्स शरर होने तक।।
ग़मे हस्ती का असद किससे हो जुज़ गर्म इलाज।
शम्अ हर रंग में जलती है सेहर होने तक।।

× × ×

ये न थी हमारी क़िस्मत कि वेसाले यार होता।
अगर और जीते रहते यही इंतज़ार होता।।

तेरे वादे पर जिए हम तो ये जान छूट जाना ।
कि खुशी से मर न जाते अगर ऐतबार होता ।।

तेरी नाजुकी से जाना कि बँधा था अह्द बूदा ।
कभी तू न तोड़ सकता अगर इस्तेवार होता ।।

कोई मेरे दिल से पूछे तेरे तीरे नीम कश को ।
यह ख़लिश कहाँ से होती जो जिगर के पार होता ।।

ये कहाँ की दोस्ती है कि बने हैं दोस्त नासेह ।
कोई चारह - साज़ होता कोई ग़मगुसार होता ।।

रगे संग से टपकता वह लोहू कि फिर न थमता ।
जिसे ग़म समझ रहे हो ये अगर शरार होता ।।

ग़म अगरचे जाँ गुसल है पे कहाँ वचें कि दिल है ।
ग़मे इश्क़ गर न होता ग़मे रोज़गार होता ।।

कहूँ किस से मैं कि क्या है शबे-ग़म बुरी वला है ।
मुझे क्या बुरा था मरना अगर एक वार होता ।।

हुए मर के हम जो रुसवा हुए क्यों न ग़र्क़ दरया ।
न कभी जनाज़ा उठता न कहीं मज़ार होता ।।

उसे कौन देख सकता कि यगाना है वह यकता ।
जो दुई की बू भी होती तो कहीं दो चार होता ।।

ये मसाइले तसव्वुफ़ ये तेरा बयान ग़ालिब ।
तुझे हम वली समझते जो न बादाख़ार होता ।।

× × ×

दर्द मिन्नत कसे दवा न हुआ ।
मैं न अच्छ हुआ बुरा न हुआ ।।

जमा करते हो क्यों रक़ीबों को ।
इक तमाशा हुआ गिला न हुआ ।।

हम कहाँ क़िस्मत आज़माने जाएँ ।
तू ही जब खंजर आज़मा न हुआ ।।

कितने शीरीं हैं तेरे लब की रक़ीब ।
गालियाँ खा के बे मज़ा न हुआ ।।

है ख़बर गर्म उनके आने की ।
आज ही घर में बोरिया न हुआ ॥

क्या वह नमरुद की खुदाई थी ।
बंदगी में मेरा भला न हुआ ॥

जान दी दी हुई उसी की थी ।
हक़ तो यूँ है कि हक़ अदा न हुआ ॥

ज़ख़्म गर दब गया लोहू न थंबाँ ।
काम गर रुक गया रवा न हुआ ॥

रह्ज़नी है कि दिल सेतानी है ।
लेके दिल दिलिस्ताँ रवाना हुआ ॥

कुछ तो पढ़िये कि लोग कहते हैं ।
आज ग़ालिब ग़ज़ल सरा न हुआ ॥

+ + +

कोई ऊमीद बर नहीं आती, कोई सूरत नज़र नहीं आती ।
मौत का एक दिन मोअय्यन है, नींद क्यों रात भर नहीं आती ॥

आगे आती थी हाले दिल पे हँसी, अब किसी बात पर नहीं आती ।
जानता हूँ सवाबे ताअत को, पर तबीयत उधर नहीं आती ॥

है कुछ ऐसी ही बात जो चुप हूँ, वरना क्या बात कर नहीं आती ।
क्यों न चीखूँ कि याद करते हैं, मेरी आवाज़ गर नहीं आती ॥

दाग़े दिल गर नज़र नहीं आता, बू भी ऐ चारागर नहीं आती ।
हम वहाँ हैं जहाँ से हम को भी, कुछ हमारी ख़बर नहीं आती ॥

मरते हैं आरज़ू में मरने की, मौत आनी है पर नहीं आती ।
काबा किस मुँह से जाओगे ग़ालिब, शर्म तुमको मगर नहीं आती ॥

+ + +

हुस्ने मह गरचे बहंगामे कमाल अच्छा है ।
उससे मेरा महे खुशो जमाल अच्छा है ॥

बोसा देते नहीं और दिल पे है हर लह्ज़ा निगाह ।
जी में कहते हैं कि मुफ़्त आए तो माल अच्छा है ॥

और बाज़ार से ले आए अगर टूट गया ।
साग़जे जम से मेरा जामे सफ़ल अच्छा है ॥

बेंतलब दें तो मज़ा उस में सेवा मिलता है ।
वह गदा जिसको न हो खुए सवाल अच्छा है ।।

उनके देखे से जो आजाती है मुँह पर रौनक ।
वह समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है ।।

देखिए पाते हैं इशाक़ बुतों से क्या फ़ैज़ ।
इक बरहमन ने कहा है कि ये साल अच्छा है ।।

हम सुख़न तेशा ने फ़रहाद को शीरीं से किया ।
जिस तरह का कि किसी में हो कमाल अच्छा है ।।

क़तरा दरया में जो मिल जाए तो दरया हो जाय ।
काम अच्छा है वह जिसका कि मआल अच्छा है ।।

ख़िज्र सुल्ताँ को रखे ख़ालिक़े अकबर सर सब्ज़ ।
शाह के बाग़ में ताज़ा नेहाल अच्छा है ।।

हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन ।
दिल के खुश रखने को ग़ालिब ये ख़याल अच्छा है ।।

+ + +

मंजूर थी ये शक्ल तजल्ली को नूर की ।
क़िस्मत खुली तेरी क़दो रुख़ के ज़हूर की ।।

इक खूँ चवाँ कफ़न में करोड़ों बनाओ हैं ।
पड़ती है आँख तेरे शहीदों पे हूर की ।।

वाएज़ न तुम पियो न किसी को पिला सको ।
क्या बात है तुम्हारी शराबे तहूर में ।।

लड़ता है मुझसे हश्र में क़ातिल कि क्यों उठा ।
गोया अभी सुनी नहीं आवाज़ सूर की ।।

आमद बहार की है जो बुल्बुल है नग़मः संज ।
उड़ती सी इक ख़बर है ज़वानी तयूर की ।।

गोवाँ नहीं ये वाँ के निकाले हुए तो हैं ।
कावा से इन बुतों को भी निस्बत है दूर की ।।

क्या फ़र्ज़ है कि सबको मिले एक सा जवाब ।
आओ न हम भी सैर करें कोहे नूर की ।।

कर्मी सही कलाम में लेकिन न इस क़दर।
कि जिससे बात उसने शिकायत ज़रूर की।।

ग़ालिब गर इस सफ़र में मुझे साथ ले चलें।
हज का सवाब नज़र करूँगा हुज़ूर की।

+ \+ \+

नवेदा मन है बेदादो दस्त जाँ के लिये।
रही न तर्ज़े सितम कोई आसमाँ के लिये।।

बला से गर मिज़एयार तिश्नए खूँ है।
रखूँ कुछ अपनी भी मिज़गाने खूँ फ़िशाँ के लिये।।

वह ज़िंद: हम हैं कि रौशनास ख़ल्क़ ऐ ख़ज़र।
न तुम को चोर बने उम्रे जावदाँ के लिये।।

रहा बला में भी मैं मुब्तिलाए आफ़ते रश्क।
बलाए जाँ है अदा तेरी इक जहाँ के लिये।।

फ़लक न दूर रख उससे मुझे कि मैं ही नहीं।
दराज़दस्तीए क़ातिल के इम्तेहाँ के लिये।।

मिसाल ये मेरी कोशिश की है कि मुर्ग़ इस पर।
करे क़फ़स में फ़राहम ख़स आशियाँ के लिये।।

गदा समझ के वह चुप था मेरी जो शामत आए।
उठा और उठ के क़दम के कदम मैंने पास्वाँ के लिये।।

बक़दरे शौक़ नहीं जर्फ़ तिन्सुनाए ग़ज़ल।
कुछ और चाहिए बुरअत मेरे बयाँ के लिये।।

दिया है ख़ल्क़ को भी ता उसे नजर न लेंगे।
बना है ऐश तजम्मुल हुसैन खाँ के लिये।।

ज़बाँ पे पर ख़ुदाया ये किसका नाम आया।
कि मेरे नुत्क़ ने बोसे मेरी ज़बाँ के लिये।।

नसीर दौलतो दीं और मईने मिल्लतो मुल्क।
बना है चर्ख़ बरीं जिसकी अस्ताँ के लिये।।

ज़बाना अह्द में उसकी है मह्वे आराइश।
बनेंगे और सितारे अब आसमाँ के लिए।।

वरक़ तमाम हुआ और मद्ह बाक़ी है।
सफ़ीना चाहिए इस बह्रे बेकराँ के लिये ।।

आदए ख़ास से ग़ालिब हुआ नुकता सरा।
सलाएआम है याराने नुकतादाँ के लिये ।।

+ \+ \+

मिर्ज़ा सलामतअली 'दबीर'

यह किसी शायर घराने के न थे । लड़कपन में मर्सिया पढ़ते थे । बचपन के इस चस्के ने इन्हें मर्सियागोई मंच की सीढ़ी से इस कला के कोठे पर पहुँचा दिया। मीर मुज़फ़्फ़र हुसेन 'ज़मीर' के शिष्य हुए और जो कुछ इन्हें गुरु से उपलब्धि हुई, उसे सँवार कर और अधिक परिष्कृत और परिमार्जित रूप में प्रस्तुत किया। सारे जीवन में शायद ही कभी कोई ग़ज़ल या शेर कहा हो। नहीं तो इन्होंने केवल मर्सियागोई के कौशल को ही अपनाया और उसे इस स्तर पर पहुँचा दिया कि और किसी को उसके आगे बढ़ने की गुंजाइश ही न छोड़ी । इन्होंने शुरू से ही इस काम को अपने जीवन का मात्र पाथेय समझा और अपने सारे संकल्प और सद्प्रवृत्तियों को उसी पर आधारित रखा । रूचि भी ऐसी भावभीनी पाई थी, जो इस कला के लिए नितांत उपयुक्त और अनुकूल थी। साथ साथ उनको सहृदयता, संयम, अतिथि-सेवा और उदारता के गुणों ने उनके काव्य-कौशल को और भी अधिक दीप्ति प्रदान किया ।

कहा जाता है कि काव्य-कला एक ईश्वरीय देन है । कवि में एक जन्मजात प्रतिभा होती है । और इसीलिए उसकी भावनाओं और कल्पनाओं में एक दैवी प्रेरणा, उमंग और उछाह होता है । बचपन से दिल में चुलबुलाहट थी। शुरू के अभ्यास के समय उस्ताद मीर ज़मीर की कोई लफ़्ज़ी इस्लाह इन्हें न रूचि। उस वक्त शेख़ नासिख़ जीवित थे । मगर बूढ़े हो गये थे । ये उनके पास चले गये । शेख़ नासिख़ घर के सहन में मोढ़े बिछाए जलसा जमाये बैठे थे । इन्होंने निवेदन किया कि 'हज़रत, इस शेर में मैंने तो यह कहा है और उस्ताद ने यह इस्लाह दी है ।" उन्होंने कहा कि 'उस्ताद ने उचित इस्लाह दी है ।" इन्होंने फिर कहा कि "हज़रत, किताबों में तो इस तरह आया है" । उन्होंने कहा कि नहीं, जो तुम्हारे उस्ताद ने बताया है वही दुरूस्त है" । इन्होंने फिर निवेदन किया कि 'हज़रत, आप कृपा कर एक बार किताब को तो देखें" । शेख़ साहिब ने झुँझलाकर कहा, 'अरे, तू किताब को क्या जाने ? हमारे सामने किताब का नाम लेता है, हम किताबें देखते-देखते ख़ुद किताब बन गये" । ऐसे गुस्सा हुए कि लकड़ी सामने रखी थी वह लेकर उठे और यह भागे। उन्हें भी इतना गुस्सा आ गया था कि दरवाज़े तक इनका पीछा किया ।

लखनऊ के लड़ाने और भड़कानेवाले भी ग़ज़ब के थे । जो मिर्ज़ा दबीर की भी जवानी का आलम था । और उस समय इनकी मर्सियागोई भी तरुणाई पर पहुँच चुकी थी । बस, जवानी की बुढ़ापे से मुठभेड़ हो गई । नवाब शर्फ़द्दौला मीर ज़मीर के बड़े क़द्रदाँ थे । उन्हें हज़ारों रूपये उपहार के रूप में देते थे । शुरू में इसलिये कि दबीर मीर ज़मीर के शार्गिद थे और बाद में इसलिये कि दबीर स्वयं एक अत्यंत कुशल मर्सियागो हो गए, वह उसकी भी क़द्रदानी करते थे । नवाब साहिब के मजलिस में पहले मिर्ज़ा दबीर और उनके बाद मीरज़मीर मर्सिया पढ़ा करते थे ।

एक अवसर पर मिर्ज़ा दबीर ने एक मर्सिया लिखा, जिसका मत्ल: था :—

'दस्ते ख़ुदा का क़ुव्वते बाज़ू हुसैन है'

मीर ज़मीर के सामने जब इसे इस्लाह के लिये रखा, तो उन्हें इसकी नई कल्पना, वर्णन की शैली और विषयों का क्रम बहुत पसंद आया । उसे बड़े ध्यान से देखा और उसे सँवारा । उसी बीच नवाब के यहाँ एक मजलिस होने वाली थी । अपने पट्टशिष्य से कहा कि "भई, उस मजलिस में हम इसी मर्सिये को पढ़ेंगें" । मिर्ज़ा ने उन्हें सलाम करके मर्सिया उन्हीं को दे दिया ।

घर में आए तो कुछ दोस्तों से इस बात की चर्चा की । उस मर्सिये का प्रारूप उनके पास था ही । उसे भी सुनाया । कुछ तो यारों का भड़काना । कुछ इस कारण कि उमंग और अभिकांक्षा के फूल सदा प्रशंसा के शबनम के प्यासे रहते हैं । नवाब को भी इस बात की ख़बर पहुँच गई और उस ओर से ईनाम पाने का कुछ संकेत मिला । अंत में परिणाम यह हुआ कि उधर तो उस्ताद मर्सिये को शोध कर इस विचार से ले गये कि उसे पढ़ेंगे । इधर मिर्ज़ा दबीर पूर्ववत् अपनी मर्सिया पढ़ने मंच पर पहले चढ़े और वहीं मर्सिया पढ़ी । बड़ी तारीफें हुई और मर्सिया बहुत सफल रहा । उस्ताद जो कि बराबर शागिर्द के पढ़ने पर खुशी दिखाते थे । और तारीफें करके दिल बढ़ाते थे । इस बार चुप बैठे रहे । कुछ क्रोध, कुछ शागिर्द की कृतघ्नता, कुछ उस मर्सिये पर किए गये परिश्रम की निरर्थकता और फिर यह चिंता कि अब मैं पढ़ूँगा तो क्या पढ़ूँगा और इससे बढ़कर क्या पढ़ूँगा, जिसमें मेरी उस्तादी का रुत्बा बढ़े और नहीं तो उस रुत्बे से गिरे भी तो नहीं । अंत में मिर्ज़ा के बाद उन्होंने उसी सोधे हुए मर्सिये को पढ़ा और किसी तरह अपनी उस्तादी की पगड़ी सँभालते हुए मंच से उतरे ।

लेकिन उस दिन से उनका दिल अपने शागिर्द की ओर से फिर गया । चार लोगों ने शागिर्द को उस्ताद के मुक़ाबले में खड़ा कर उसे स्वयं उस्ताद बना दिया । फिर तो दोनों का एक ही मजलिस में मिलजुल कर मर्सिया पढ़ना ख़त्म हो गया । काल के नियम के अनुसार कुछ दिन की होड़ और संघर्ष के बाद शागिर्द को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला और वह आगे बढ़ा । और वृद्धावस्था की स्वाभाविक क्षीणताओं

और अक्षमताओं ने उस्ताद को आराम करने के लिये मजबूर किया और वह अपने पुराने प्रतिद्वंदी मीर 'ख़लीक़' की तरह बेकारी और निठल्लेपन के कोने में पड़े रहे। इधर मीर 'अनीस' और मिर्ज़ा 'दबीर' की नोंक झोंक का बाज़ार गर्म होने लगा।

दोनों के अपने अपने काव्य-कौशल ने काव्य मर्मज्ञों की भीड़ को दो पक्षों में बाँट दिया——आधे 'अनीसिए' हो गये, आधे 'दबीरिये'। इनकी रचनाओं के परखने का मज़ा जब है कि इन दोनों उस्ताद के चार-चार, पाँच-पाँच सौ मर्सिये स्वयं पढ़ो और फिर मजलिसों में सुन कर देखो कि हर एक की रचना सुनने वालों पर कैसा प्रभाव डालती है और अपनी प्रतिक्रिया में कितनी सफल या असफल होती है। बिना इसके मज़ा नहीं। मैं इस दृष्टिकोण से मीर अनीस के जीवनवृत्त में कुछ कहने का प्रयास करूँगा। किंतु तुलनात्मक रूप से इतनो तो यहाँ भी कहना चाहता हूँ कि मीर अनीस रचना-सौष्ठव, भाषा-लालित्य, मुहावरों की मिठास, शब्दों का विन्यास, शैली-सौंदर्य, पदविराम की उपयुक्तता, अभिव्यंजना-प्रणाली और अंतर्विषय का अनुक्रम इन सभी बातों में अनुपम हैं। और यही विशिष्टताएँ उनकी मितभाषिता का कारण रहीं। मिर्ज़ा दबीर शब्दाडंबर, विषय-बाहुल्य, विषयों में स्थान-स्थान पर शोकोत्पादक संकेत, हृदय व्यथित कर देनेवाले संदर्भ, हृदय को शोकोत्तप्त और द्रवीभूत करने की क्षमता, जो मर्सिया का असल तात्पर्य है, वह इन कौशलों के राजा था। उनके आलोचकों की यह आपत्ति युक्तिपूर्ण है कि इन्होंने कुछ ऐसी पुरातन कथाएँ और हृदय-विदारक घटनाएँ इन्होंने रचनाबद्ध की हैं, जो कि इनके लिये उचित न था। किंतु प्रायः मनुष्य की ऐसी मानसिक प्रवृत्ति होती है कि जब वह किसी विषय के एक उद्देश्य को ध्यान में रख कर उस पर एकाग्रचित्त और अनन्यमनस्क हो कर चिंतन करता है तो उसके अन्य पक्षों को भूल सा जाता है। इन्हें ऐसी मजलिसों में अपनी रचनाएँ पढ़नी होती थीं, जहाँ हजारों आदमी दोस्त दुश्मन सभी इकट्ठे होते थे। इनकी प्रशस्ति श्रोताओं के रोने धोने, रचना के लालित्य और विषयों की नवीनता पर आधारित होती थी। इसीलिए सबको रुलाना और सबके मुँह से प्रशस्ति निकालने की अभिलाषा और नए विषयों की चर्चा के आवेश में जो कुछ भी ये लिख गए, उसमें आश्चर्य किस बात का? छिद्रान्वेषण एक छोटी सी बात है। जहाँ चाहा दो शब्द जड़ दिए। जब कोई व्यक्ति उसमें अपना सारा जीवन खपाए तब पता चलता है कि कितना कहा और कैसा कहा। इस प्रसंग में एक कथानक याद आया जो इस कला के सिद्धांतों से संबंध रखता है। काव्य-रसिकों के विनोदार्थ उसका उल्लेख यहाँ अपेक्षित होगा।

मिर्ज़ा दबीर की तरुणाई का ज़माना था और इनकी शायरी भी ठीक तरुणावस्था में थी। इन्होंने एक बड़े धूमधाय का मर्सिया लिखा। उसकी एक बढ़िया, व्याख्यात्मक भूमिका बाँधी। युद्धस्थलीय (रज़्मिया) और सभास्थलीय (बज़्मियः) विवरणों पर कलाओं का उद्‌गार दिखलाया। वर्णन में एक नवीन आविष्कार यह किया कि शामी सेना को एक बलिष्ठ पहलवान तैयार करके युद्धस्थल में उतारा।

उसकी भयावह आकृति युद्धस्थल में आगमन की आन बान, उसके अनगिनित और भारी भरकम अस्त्रशस्त्र, इत्यादि के वर्णन का एक झंझावात खड़ा कर दिया। इस मर्सिए के पढ़े जाने के पहले ही शहर में इसकी धूम मच गई थी। एक मजलिस का आयोजन किया गया। उसमें साधारण श्रोताओं के अतिरिक्त, शायरों और काव्य-रसिकों को विशेष रूप से आमंत्रित किया गया। निश्चित दिन सर्वसाधारण की एक ख़ासी भीड़ इकट्ठी हो गई। लोग इतने आग्रह से बुलाए गए थे कि ख़्वाजा आतिश तक अपने बुढ़ापे और अस्वस्थता के बावजूद तशरीफ़ लाए। मर्सिया शुरू हुआ। मर्सियागोई के शिष्टाचार के अनुसार मजलिस श्रोताओं के वाह वाह के स्वर से गूँज उठी। रोना बिलखना भी खूब हुआ। ख़्वाजा साहिब मौन, सर झुकाए, दोनों घुटनों को टेके, झूमते रहे। मिर्ज़ा साहिब मर्सिया पढ़ कर मंच से उतरे। जब लोगों का आवेश उल्लास कम हुआ तो ख़्वाजा साहिब के निकट जा बैठे और कहा कि 'हज़रत, जो कुछ मैंने अर्ज़ किया आपने सुना? उन्होंने कहा, 'हूँ'। भई सुना"। इन्हें इतनी संक्षिप्त समीक्षा से संतोष कब होता? आपने कहा, "आप के सामने मर्सिया पढ़ना तो अनधिकार चेष्टा है। लेकिन आपने उसे ध्यान से सुना?" उन्होंने कहा "भई सुना तो सही। मगर मैं सोचता यह हूँ कि यह मर्सिया था या लंकोर बिन नादान[1] की दास्तान थी। वाहरे उस्ताद कामिल, इतने से फ़िक्रे में जीवन भर के लिये मिर्ज़ा दबीर को इस्लाह दे गया।

मिर्ज़ा साहिब का २९ मुहर्रम सन् १२९२ हि० को ७२ वर्ष की आयु में परलोकवास हुआ। इस दीर्घावधि में इन्होंने लगभग तीन हज़ार मर्सिए लिखे होंगे। खुदा और पैग़ंबर की स्तुत्यात्मक रचनाओं और रुबाइयों की तो कोई गणना नहीं। एक मर्सिया बेनुक़्त लिखा जिसका मत्ला है :—

'हम तालए हुमा मेरा दहमेरसा हुआ'

इसमें अपना तख़ल्लुस 'दबीर' की जगह 'उतारिद' लिखा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इनकी कला के द्वारा हिंदोस्तान में मर्सियागोई अपनी चरमसीमा पर पहुँच गई। न अब वैसा समय आएगा और न वैसे शायर पैदा होंगे।

मीर बबरअली 'अनीस' की शिक्षादीक्षा लखनऊ में हुई और यहीं इन्होंने शायरी सीखी। शायरी इनकी पैतृक कला थी। और इन्होंने अपने पिता ही की शागिर्दी भी की और जिस तरह अपने दोनों भाइयों से उम्र में बड़े थे, उसी तरह काव्य-कौशल में भी उनसे अधिक क्षमता रखते थे। शुरू में इन्हें गजल कहने का शौक़ था। एक अवसर पर ये कहीं मुशायरे में गए और ग़ज़ल पढ़ी। वहाँ

---

[1] लंधोर बिन सादान अमीर हम्ज़: द्वारा लिखी गई एक काल्पनिक कहानी है। उसमें चरितनायक लंधोर की कपोलकल्पित शक्ति और अप्राकृतिक शारीरिक बल की तुलना में रुस्तम व इस्फ़ंदयार शाहनामा के पृष्ठों में अपना मुँह छिपा लेते हैं।

इनकी बड़ी प्रशंसा हुई। इस ख़बर को सुनकर इनके पिता को बड़ी प्रसन्नता हुई। दूसरे दिन अपने होनहार बेटे से पूछा कि कल रात को कहाँ गए थे? इन्होंने उस मुशायरे की सब बातें कहीं। बाप ने जब ग़ज़ल सुना तो कहा, 'भई, अब इस ग़ज़ल को सलाम करो और ऐसी काव्य-रचना में अपने स्वभाविक रुचि को लगाओ, जिससे दीन दुनिया दोनों के लिये कुछ पूँजी बटोर सको।' आज्ञाकारी बेटे ने उसी दिन से उधर से अपनी दृष्टि फेरी। उसी ग़ज़ल के अंत्यानुप्रास में सलाम (ईशस्तुति) लिखा। दुनिया को छोड़ दीन की परिधि में आ गए और सारा जीवन इसी परिधि के अंदर व्यतीत किया। इनकी सद्वृत्तियों के प्रसाद स्वरूप इसी ने इन्हें दीन और दुनिया दोनों के लाभ उपलब्ध कराए। उस समय तक यह और इनके समकालीन शायर अपने उस्तादों की आज्ञा का पालन करना उतना ही धार्मिक उत्तरदायित्व समझते थे, जितना भगवान् की आराधना करना। पिता की आज्ञानुसार सलाम, मर्सिए, नौहे रुबाइयाँ कहने लगे। इनके मर्सियों की विस्तार ३५–४० बंद तक होती थी।

प्रकृति की यह विशिष्टता है कि जब पेड़ पौधे पुराने हो जाते हैं तो उन्हें निकाल कर फेंक देती है और उनकी जगह नए पौधे उगाती है। 'ज़मीर' और मीर 'ख़लीक़' को बुढ़ापे के छपरखट पर लिटाया। और मीर 'अनीस' को पिता के स्थान पर मंच पर बिठाकर उनकी पदोन्नति की। उधर मिर्ज़ा 'दबीर' इनके प्रतियोगी के रूप में उभरे। यद्यपि वे खांदानी शायर न थे, किंतु वे मीर 'ज़मीर' के वरिष्ठ शिष्य थे। जब ये दोनों तरुण शायर मजलिसों में अपने अपने काव्य-कौशल का प्रदर्शन करने लगे तो ऐसा लगा कि मानो इस कला के मेघ आकाश में गरजते बरसते उमड़ आए हों और नए कलात्मक आविष्कारों और नवीन रचना शैलियों की झड़ी बरसने लगी हो। उस समय बड़ी बात यह थी कि बादशाह से लेकर अमीर ग़रीब सभी शीया मत के अनुयायी थे। इसलिये इन नौजवानों की कला के प्रोत्साहन के लिये जो श्रद्धालु गुणग्राही मिले वह उनसे संख्या में अधिक और विद्वत्ता में ठोस थे जो इनके पूर्वजों को मिले थे। उनकी शायरी ने उन्हें जितनी प्रतिष्ठा दी उससे अधिक तो किंचित स्वर्ग ही में मिले। उस समय की गुणग्राहकता जो इन्हें मिली उसके फलस्वरूप इन्हें केवल मौखिक प्रशंसा और आदर संमान ही नहीं प्राप्त हुआ बल्कि ये रुपए पैसे, भेंट और उपहार इत्यादि से भी पर्याप्त मात्रा में पुरस्कृत हुए। इन पुरस्कारों और प्रेरणाओं ने इनकी कल्पनाओं की उड़ान को अप्रत्याशित ऊँचाई पर पहुँचने में मदद दी। दोनों गुणवान शायरों ने यह प्रमाणित कर दिया कि वास्तव में शायर हम हैं और हमीं ऐसे शायर है कि हर रंग के विषय, हर ढंग से विचार और हर प्रसंग की घटना का अपने शब्दों के जोड़बंद के जादू के द्वारा ऐसा तिलिस्म बाँध सकते हैं कि सुननेवालों को चाहे रुला दें, चाहे हँसा दें और चाहे विस्मय विमूढ़ बना दें।

उनकी ये गर्वोक्तियाँ बिलकुल उचित और तथ्यपूर्ण थी। क्योंकि उनके साहित्यिक प्रमाण सबके सामने उपस्थित हैं और उनके लिए किसी दलील की

आवश्यकता न थी। सिकंदरनामें में, जिसकी प्रशंसा में लोगों के होंठ सदा सूखे रहते हैं, कुछ युद्ध क्षेत्रों का उल्लेख है––रज़्मजंगवार', 'जंगदारा', 'जंगरुस', 'जंगफौर', 'जंगफ़ग़फूर' इत्यादि। इसी तरह इस किताब में मुहफ़िलों और उनके समारोहों के कुछेक विवरण हैं। शाहनामा जिसके साठ हजार शेर फ़िरदोसी के जीवन भर की कमाई हैं. लेकिन 'अनीस' और 'दबीर' ने तो मानो नए नए विषयों की धारा बहा दी थी। एक ही विषय को सैकड़ों नहीं हजारों रंग में रँगकर प्रस्तुत किया। हर मर्सिये का रूप नया, कल्पना नई, रज़्म अलग बज़्म (समारोह) अलग और हर युद्धस्थल का विषय अछूता, तलवार नई, कटार नई घोड़ा नया, चाल नई। और किसी भी प्राकृतिक सुषमा का वर्णन हो––प्रातःकाल का वातावरण हो, क्या कहना रात का बिदा होना, पौ फटना, सूर्य की किरणों की पहली झलक सूर्य का उदय होना, पक्षियों का कलरव। संध्याकाल है तो परदेसियों की शाम जैसी उदासी, कभी रात का सन्नाटा, कभी सितारों की छाया को चाँदनी और अँधेरे के साथ रंग बिरंगे रूप में दर्शाना। तात्पर्य यह है कि जिस दृश्य को लिया, उसका एक तिलिस्मी समा खड़ा कर दिया। विषयों की कल्पना की भी कोई हद नहीं। जो मर्सिये ४०-४५ से अधिक न होते थे, वह डेढ़ सौ दो सौ की भी सीमा पार कर गए। मीर अनीस ने कम से कम दस हजार मर्सिये तो ज़रूर कहे होंगे। और सलामों की तो कोई गिनती नहीं। वे तो जैसे उनकी साँसों से निकलते थे। रुबाइयाँ तो वे बातों में कहते थे।

दोनों उस्तादों के साथ उनके पक्षधरों के दो जत्थे हो गए। एक 'अनीसिए' कहलाते थे, एक 'दबीरिए'। यद्यपि कभी कभी इनकी सारहीन गर्वोक्तियों और निरर्थक आपत्तियों ने व्यर्थ और अशोभनीय आपसी तकरार भी पैदा किए, फिर भी इनसे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक हुआ। क्योंकि प्रशस्तियों की प्रत्याशा ने दोनों उस्तादों के नए रचनात्मक आविष्कारों के लिये उनकी चिंतन-क्षमता और काव्य-साधना को आकाश से भी ऊँचा उछाल दिया। दोनों समुदाय अपने दावों की पुष्टि में जो युक्तियाँ प्रस्तुत करते थे, कोई तौल में अधिक होती थी, कोई माप में। इसलिए कोई भी निर्णय एकपक्षी न हो पाता था।

अनीसिए 'अनीस' की शायरी की प्रांजलता, वर्णन-लालित्य और मुहावरों के सुंदर प्रयोग जैसे गुणों का गानकर उनकी ओर आकर्षित करने का प्रयास करते थे।

दबीरिए 'दबीर' के शब्दालंकरण, कल्पना की ऊँची उड़ान और विषयों की नवीनता और बहुलता को 'अनीस' की तुलना में और प्रशस्त दिखलाते थे।

अनीसी पक्षधर यह कहते थे कि जिन गुणों को तुम अपने गर्व की पूंजी समझते हो, वे सब काव्य-शौष्ठव के न्यायालय में विचार किये जाने के बाद तिरस्कृत हो चुके हैं। क्योंकि उनसे तो केवल कोहकंदन और काह बदावर्दन (पहाड़ खोदा और तिनका निकला) वाली कहावत चरितार्थ होती है।

इसके उत्तर में दबीरी पक्षधर यह कहते थे कि तुम जिसे भाषा और भाव की दुरूहता कहते हो, वह तो काव्य-कला के रत्न हैं। इसे साहित्यज्ञ अलंकारिक शैली कहते हैं। तुम्हारे रचना कौशल के बाहों में यदि विद्याबल हो तो पर्वतों को खोदे और इन रत्नों को निकाले। अनीस की रचनाओं में है क्या ? केवल ज़बानी बातों का जमाख़र्च।

अनीसी समुदाय इस उत्तर पर तुनकते थे और कहते थे कि कौन सी कल्पना तुम्हारे काव्य-चमत्कार में है जो हमलोगों के रचना लालित्य में नहीं तुम नहीं जानते ? जिसे तुम बातों का जमाखर्च कहते हो, वह काव्य की प्रांजलता और वर्णन शैली का गुण है। इसे अह्ले मुस्तना[१] कहते हैं। यह गुण एक ईश्वरीय देन है। केवल पुस्तकें पढ़ने और काग़ज़ काला करने से नहीं आता।

दबीरिए इस बात को सुनकर किसी मर्सिए की भूमिका, या युद्धस्थल में प्रवेश, या युद्ध-क्षेत्र में किसी वंश-विशिष्ट की शूरता के वर्णन-संबंधी पदों को पढ़ना शुरू कर देते, जिनमें प्राय: कुरान के आयतों या हदीसों के फ़िक्रे भी प्रयोग किए होते थे।

अनीसिए कहते थे 'इससे किस काफ़िर को इन्कार है। मगर क्या इतना ही पढ़िएगा ? यदि इससे आगे बढ़िए और उसके अर्थ की ओर ध्यान दीजिए तो, बस, सारा रचना-क्रम बिखर जाएगा। हज़रत, केवल शब्दाडंबर के धूमधाम से कुछ नहीं होता। अर्थ को सुबोध बनाना ही वास्तविक गुण है। इस कसौटी पर आपका सोना खरा न निकलेगा। यह वाग्पटु गुणियों का ही काम है। जिसको काव्य-कला के ये सिद्धांत पूर्वजों से थाती में मिले हैं, वही इसके मर्म को जानते हैं।

दबीरिए उसके प्रत्युत्तर में दबीर की रचनाओं की सुरुचि-संपन्नता, विषयों की विविधता, शब्दों की बहुलता दिखाते थे और ठीक बेठीक कहे जाते थे कि "देखिए, क्या मुहावरा है ?" "देखिए, साफ़ बोलचाल है" इसके साथ यह भी कहते थे कि किसका मुँह है, जो रात को बैठे और मर्सिए की सौ बंद कह कर उठे ? बरस दिन तक कलम घिसा और मुहर्रम पर १०-१५ मर्सिए लिखकर तैयार किए तो कौन सा बड़ा काम किया ? वह भी दो और भाइयों से राय लेकर और बहस में पसीने बहा कर।

अनीसिए कहते थे कि ठीक है। रात भर में जो सौ बंद कहे जाते हैं, वे उखड़े पखड़े, क्रमहीन और बेअसल ही होते हैं, इसीलिये उनके अर्थ का अनर्थ हो जाता है। इसके साथ साथ उनके कुछ ऐसे अर्थहीन मिस्रे भी पढ़ देते थे, जिनमें मुहावरों के अनुपयुक्त प्रयोग, या घटिया क़िस्म की उपमाएँ या बेढंगे अलंकार होते थे।

इन आलोचनाओं और प्रत्यालोचनाओं की अदला बदली में दबीरिए कहते थे कि 'जो मान्यता हमारी रचनाओं को मिलती है वह किसी दूसरे को नसीब कहाँ ? जिस मजलिस में इनका मर्सिया पढ़ा गया कुहराम मच गया। उनके विषय कितने

प्रभावोत्पादक और कैसी व्यथा और करुणा से भरे होते हैं ? उनके शब्दों को तो ज़रा देखो, जैसे श्रद्धा और आस्था के 'अमृत में डूबे हुए हों'।

अनीसिए कहते थे, "वह क्या पढ़ेंगे ? उनकी आवाज तो ज़रा देखिए। और उन्हें मर्सिया पढ़ना तो आता ही नहीं"। तात्पर्य यह कि इन झगड़ालू दावेदारों को कोई दलील चुप न कर सकती थी। हाँ, कभी कभी विवशता यह होती थी कि जब दोनों के गले थक जाते थे तो उनकी आवाज़ें बंद हो जाती थीं। और न्याय मध्यस्थ होकर कहता था कि "दोनों अच्छे, दोनों अच्छे।" कभी कहता "वह सूरज हैं, यह चाँद, कभी वह चाँद, यह सूरज।"

लखनऊ के निठल्ले बेफिक्रे दूसरों को लड़ाने में बड़े चतुर हुआ करते थे और लड़ाकर तमाशा देखने के बड़े शौकीन थे। दबीर तो ग़ैर ही थे। अनीस को उनके भाइयों से लड़ा दिया। बहुत दिनों तक बिगड़ी रही। जब वे मीर अनीस के पास आते तो कहते "हुजूर, जब तक आपके इस्लाह किए हुए मर्सिए हैं, ये पढ़े जायें। जिस दिन आपका बिन देखा मर्सिया पढ़ा, बस कलई खुल जाएगी।" भाइयों से कहते, "हुजूर, उम्र में बड़ा होना एक चीज़ है। लेकित भाषा की रोचकता दूसरी चीज है। यह नेमत तो आप ही के हिस्से की है।"

लेकिन सच तो यह है कि इन्हीं महान् विभूतियों की बदौलत उर्दू का पद्य साहित्य सशक्त हुआ और हमारी भाषा प्रशस्त हुई। हम इनके प्रति किन शब्दों में कृतघ्नता प्रगट करें ? हमारे लिये उनकी निजी मान्यता के बाद विवाद में पड़ना धृष्टता होगी। किंतु इनती बात तो अवश्य कहेंगे कि काव्य-परिधि का जितना क्षेत्र इनकी लेखनी द्वारा परिसीमित था, उसका एक बहुत बड़ा अंश इनकी उद्दीप्त कल्पनाओं पर आधारित उनके शब्दालंकार, भयावह युद्धस्थलों और घटनाओं के रोमांचकारी वर्णन और मोहफ़िलों के क़िस्से कहानियों ने दबा दिए। इसलिये मर्सियागोई का क्षेत्र अपेक्षया सफाई रह गया और यह एक खेद का विषय है कि इस संकीर्णता के कारण मर्सियागोई का जो असल उद्देश्य था, उसे इसके शायर खो बैठे।

जब तक लखनऊ आबाद रहा, और जब कभी किसी और शहर में जाने की चर्चा होती तो दोनों महानुभाव यही कहते कि मर्सियों को इसी शहर के लोग समझ सकते हैं और कोई इसकी क़द्र क्या जानेगा ? और हमारी ज़बान के लुत्फ़ को क्या समझेगा ?" लेकिन लखनऊ की तबाही के बाद पहले पहल सन् १८५० ई० में मिर्ज़ा दबीर मुर्शिदाबाद बुलाए गए और वह वहाँ गए। और बराबर इलाहाबाद और बनारस आते जाते रहे। मीर अनीस का पहले सन् १८५९ ई० और फिर सन् १८६० ई० में नवाब क़ासिमअली ख़ाँ के अनुरोध और आग्रह से अज़ीमाबाद (पटना) भी आना जाना रहा, फिर सन् १८७१ ई० में जब कि अरस्तूजाह ग़ुफ़ांपनाह के बड़े बेटे मौलवी सैय्यद शरीफहुसेन ख़ाँ साहिब हैदराबाद में थे, तो उनके कहने पर नवाब तहव्वरजंग बहादुर ने मीर अनीस को आमंत्रित किया। अब भी अपने

पुराने प्रतिबंधों के कारण वे बाहर जाना न चाहते थे। किंतु मौलवी शरीफ़हुसेन के आग्रह को टाल भी न सकते थे। इसलिये जाने के लिये विवश हुए। हैदराबाद के निवासियों ने इनके काव्य-कौशल को इतना समादृत किया, जैसा कि उचित था। मजलिसों में लोग इतनी अधिक संख्या में आते थे कि आलीशान इमारतों में भी काफ़ी जगह न होती थी। दरवाज़ों पर पहरे खड़े कर दिए जाते थे और यह प्रतिबंध लगा दिया जाता था कि विशिष्ट व्यक्तियों और विद्वानों के सिवा किसी को आने न दिया जाय। और किसी अमीर के साथ दो आश्रित व्यक्तियों के अलावा और कोई आदमी न जाने पाए। इस पर भी लोगों की इतनी भीड़ इकट्ठी हो जाती थी कि लोग खड़े रहने को ग़नीमत समझते थे। और इसी में ख़ुश होते थे कि हमने सुना तो सही।

मीर अनीस साहिब जब वहाँ से लौटे तो वादे के अनुसार इलाहाबाद उतरना पड़ा। एक मजलिस का बड़े धूमधाम से आयोजन हुआ। मेरे पुराने मित्र मौलवी ज़काउल्ला साहिब, जो म्योर कालेज के प्रोफ़ेसर हैं--और उनसे बढ़कर काव्य-मर्मज्ञ दूसरा कौन होगा? इस मजलिस का हाल मुझसे स्वयं बयान करते थे। वह कहते थे कि हज़ारों की भीड़ जमा थी। उनके कौशल और उनकी रचना के विषय में क्या बयान करूँ। श्रोता विमुग्ध और भावविभोर थे। वह शख्स मेज़ पर बैठा पढ़ रहा था और यह मालूम होता था कि कोई जादू कर रहा है। ज़काउल्ला साहिब उनके बन्द की टेक पढ़ते थे और उसका रस लेते थे।

उम्र गुजरी है इसी दश्त की सैयाही में।
पाँचवी पुश्त है शब्बीर की मद्दाही में॥

उनकी, बल्कि उनके घराने की ज़बान की, उच्चकोटि की उर्दू भाषा के लिये सारे लखनऊ में प्रमाण और मानक के रूप में मान्यता थी। और यह स्वयं भी ऐसा ही समझते थे। फिर भी मीर अनीस के स्वभाव में बड़ी विनम्रता थी। शिष्टता के नाते वार्तालाप में बोल चाल को इतना बचाए हुए ले चलते थे कि हर एक शब्द काँटे की तोल होते थे और बातें संतुलन की रेखा से कुछ नीचे ही रहती थीं। किसी जल्से में अपनी कविता सुनाते तो किसी किसी मुहावरे पर इतना कह उठते थे कि यह मेरे घर की ज़बान है। लखनऊ के लोग इस तरह नहीं बोलते। इससे यह भी मालूम होता था कि उस समय तक वे अपने को लखनऊ निवासी नहीं कहना चाहते थे।

मौलवी शरीफ़हुसेन ख़ाँ साहिब कहते थे कि हैदराबाद में एक दिन कुछ प्रतिष्ठित सज्जन बैठे थे। एक साहिब इनकी शायरी की प्रशंसा करने लगे। इन्होंने कहा "भाई, शायर कौन है? मैं तो दुखड़े का कहनेवाला हूँ। वह भी नहीं मालूम कि जिस तरह चाहिए कह सकता हूँ या नहीं। "मैं सन् १८५७ ई० में स्वयं भी उनसे मिला और लोगों से भी सुना। ये मितभाषी थे। और वाक्य ऐसे बोलते थे, जैसे मोती की तरह पिरोए हों। अरस्तू जाह मौलवी रजबअली ख़ाँ बहादुर लखनऊ के चीफ़ कमिश्नर थे। एक दिन कुछ उच्च पदाधिकारी उनके यहां बैठे थे। मीर अनीस

भी वहाँ उपस्थित थे । कहीं से आए । चूँकि बहुत अच्छे आम थे, मौलवी साहब ने तस्ले में पानी भरवाकर आमों को उसमें रखवा दिए और सब साहिबों से उन्हें खाने के लिये अनुरोध किया । एक हकीम साहिब जो उन लोगों के साथ बैठे हुए थे, हरारत की शिकायत कर रहे थे । मगर आम खाने में उन लोगों के साथ बैठ गए । किसी ने उनसे कहा "हकीम साहिब अभी तो आप तबीयत खराब होने की शिकायत कर रहे थे ।" हकीम साहिब इस टोक पर बग़लें झाँकने लगे । लेकिन मीर अनीस ने तुरत उनका पक्ष लेकर कहा––"हकीम का काम हिकमत से ख़ाली नहीं होता" ।

जिस तरह इनकी रचनाएँ अनुपत होती थीं, वैसे ही इनका पढ़ना भी अत्यंत मधुर और प्रभावोत्पादक होता था । इनका स्वर, इनका डीलडौल, इनकी मुखाकृति तात्पर्य यह कि इनकी सभी बातें इस कौशल के लिये अत्यंत उपयुक्त और अनुकूल थीं । इनका और इनके भाइयों का भी यह नियम था कि एक बड़ा आइना सामने रखकर एकांत में जा बैठते थे और मर्सिया पढ़ने का अभ्यास करते थे । मुख की मुद्रा, शरीर और अंगों की हरकत और सभी बातों का निरीक्षण करते थे और स्वयं उसकी उपयुक्तता या अनुपयुक्तता को ध्यान में रखकर उसे सुधारते थे ।

"बनाके आइना देखे हैं पहले आईनागर ।
हुज़ूर अपने भी ऐबो हुनर को देखते हैं ॥

––ज़ौक़

यह बात निर्विवाद है कि मिर्ज़ा दबीर के पढ़ने में वह खूबी न थी । किंतु उनके भी स्वर में आकर्षण और प्रभावोत्पादकता थी । उनकी मर्सिया कोई और भी पढ़ता था तो प्रायः रोने-रुलाने में सफल होता था और यही वास्तव में मर्सिया का मौलिक उद्देश्य है ।

––:०:––

उपसंहार

उर्दू शायरों की मजलिस का यह पाँचवाँ दौर भी ख़त्म हो चुका, लेकिन श्रोता और अभ्यागत यह सोचकर उदास और सशंक बैठे हैं कि शायद अब इस दौर का ही ख़ात्मा नहीं हुआ बल्कि हिंदोस्तान के लोगों की आमोद-प्रमोद और हर्षोल्लास की चिरसंगिनी, आशिक़ाना शायरी का ही ख़ात्मा हो गया। क्योंकि हिंदोस्तान में शायरी की शुरु ज़माने से बहती धारा, यानी आशिक़ाना शायरी की धारा बहकर अब सूख चली थी। उसका प्रवाह अब थम सा गया था। और इस मजलिस के लोग दुख और शोक भरे शब्दों में मानों अब कह रहे हैं, 'ऐ इस उठती हुई मजलिस के गुणी और प्रतिष्ठित शायरों, तुम तो जा रहा हो, लेकिन हुस्न और इश्क़ के चर्चे भी अपने साथ लिए जा रहे हो। क्योंकि इश्क़ के बाज़ार की गर्मागर्मी थी, तो तुम्हारे दम से थी। हुस्न का सिंगार और निखार था, तो तुम्हारे क़लम से था। तुम्हीं क़ेस और कोहकन का नाम लेने वाले थे। और तुम्हीं लैला व मजनूं की प्रेम-कथा को अमर बनाने वाले थे।" लेकिन ऐसा तो वे ही कहेंगे, जो केवल इस अशाश्वत, भौतिक शरीर में ही विश्वास करते हैं और उसी को पूजते हैं। वही यह कहते हैं कि तुम गए और मुशायरे हो चुके। नहीं, नहीं। तुम्हारी रचनाओं और काव्य-कृतियों, तुम्हारी जीवन-कथाओं और कहानियों की जब तक चर्चा रहेगी, तुम हमारे बीच मौजूद रहोगे। और लोगों ने श्रद्धा से तुम्हारे गौरव-मुकुट को जिन प्रशस्ति सूचक फूलों से सजाए हैं, वे सदा लहलहाते रहेंगे। और तुम्हारे गले में जो सदा-बहार फूलों के हार हैं, उनतक कभी ख़िज़ाँ (पतझड़) का हाथ न पहुँचेगा।

मानव-जीवन की अनंत धारा बह रही है। इसके किनारे युग-युग जन-जीवन के जल्से होते रहते हैं। इन जल्सों में भाग लेने वाले उस अनंत धारा से सिंचित अमृत-रस का पान करते हैं। बीती हुई घटनाओं का चित्र जलधारा में खिंचता जाता है। तरंगें अस्थायी जन-जीवन से प्रतिक्षण विदा ले रही हैं, ऐसा मालूम होता है। किंतु, शायरों, तुम्हारे उन जल्सों की स्मृतियाँ तुम्हारी रचनाओं के द्वारा अपने समय-समय की जीवन-दशा को एक मूक-भाषा में वर्णन करती रहेंगी। तुम्हारी रचनाएँ उस समय की जीती-जागती, बोलती-चालती तस्वारें हैं। ऐसा मालूम होता है कि बेज़बान मूरतें मुंह खोलकर बोल रही हैं। ऐसा लगता है कि एक मूक अभिनय हो रहा है—काल्पनिक आकृतियाँ अपने हाव-भाव ऐसे स्वच्छंद रूप से प्रदर्शन कर रही हैं कि कोई जानदार भी इतने मुक्त मनोभाव से यह दृश्य प्रस्तुत नहीं कर सकता।

मेरे अमर कलाकारों, तुम्हारा जीवन एक विलक्षण प्रकार का मनोहारी जीवन है। कोई तुम्हें बुरा कहे, तुम्हें बुरा नहीं लगता। कोई भला कहे तुम्हें खुशी

नहीं होती। तुम्हें कोई रंज नहीं कर सकता। तुमसे किसी को रंज नहीं पहुँच सकता। तुम एक अपनी अलग शांति और संतोष की दुनिया के रहनेवाले हो। वहाँ एक मौन, शांत, सुखी और निश्चिंत जीवन व्यतीत करते हो। तुममें स्वर नहीं, किंतु भाँत भाँत की बोलियाँ बोलते हो, राग अलापते हो। पता नहीं, तुम हो या नहीं हो। मगर हो जरूर। तुम मर चुके हो, फिर भी जीवित हो। ऐ पत्र निर्मित ग्रंथाश्रमों के निवासियो, तुम्हारी कृतिताँ ही तुम्हारे बसे हुए घर हैं। जब आंखें खोलकर उन्हें देखता हूँ तो तुम रेखाओं और अमर प्रतीकों की वेषभूषा में हँसते बोलते, चलते-फिरते दिखाई देते हो। और वैसे ही दिखते हो, जैसे कि तुम थे। काल अपनी अथक गति से इतनी दूर निकल आया। किंतु तुम अपने स्थान पर पूर्ववत् स्थिर हो। तुम्हारी रचनाएँ ही तुम्हारे आचार-व्यवहार, तुम्हारे कर्म-धर्म के प्रतीक हैं। इन्हीं के द्वारा तुम आनेवाली पीढ़ियों से अपने हृदय के के उद्गार व्यक्त करते रहोगे। उन्हें नसीहतें दोगे। उन्हें समझाओगे। उनके उदास मन को बहलाओगे। मुरझाई तबीयतों में जान डालोगे। मंद चेतनाओं को सुचेत करोगे। सोते दिलों को गुदगुदाओगे। उल्लास को उदासी में और उदासी को उल्लास में अदलते-बदलते रहोगे।

ऐ समृद्ध भिखारियों, ऐ उच्चासीन ख़ाकसारों, तुम्हारे सत्कर्म, तुम्हारी सद्वृत्तियाँ तुम्हें एक अच्छे ज़माने में इस दुनिया में लाई। किंतु अफ़सोस तुम्हारी शायरी ने बहुत थोड़ी उम्र पाई। भाग्य ने तुम्हें अनुकूल साधन और सद्भावपूर्ण कद्रदाँ बख़्शे, जिनकी बदौलत तुम्हें अपनी स्वाभाविक रुचियों और स्वस्थ मनोवेगों के इज़हार के लिये उपयुक्त और पर्याप्त सामग्री मिली। अब न वह साधन मिलेंगे। नहि वह कद्रदाँ होंगे। न कोई तुम्हारे लगाए हुए इस शायरी के पौधे को हरा भरा रख सकेगा। न इनमें तुमसे अच्छे कोई फल फूल लग सकेगा। हाँ तुम्हारी दिखाई हुई राह पर आँख मूँदकर चलने वाले, लकीर के फ़क़ीर, तुम्हारे ही मिलन और विरह, संयोग और वियोग, शोक और उल्लास, हुस्न और इश्क़ की बातें दुहराएँगे। उन्हीं शब्दों का, उन्हीं भावोक्तियों का उलट फेर करेंगे और तुम्हारे चर्वित हुए निवालों को अपने मुँह में स्वाद ले लेकर चर्वण करते रहेंगे।

तुमने अपनी कीर्ति की एक ऐसी पक्की और ऊँची इमारत बनाई है, जो इस ज़माने के सैकड़ों वर्ष बाद भी यात्रियों को दूर से दिखाई देती रहेगी। वह दैवी दुर्घटनाओं, और विद्रोह के तूफ़ानों और विप्लव के झंझावातों में स्थिर और अविचलित खड़ी रहेगी। और ज़माने के भूचालों को हँसकर चुनौती देगी, और कहेगी कि, 'ज़रा आओ, हमें गिराओ तो सही।'

अगरचे तुमने अपने महलों को अधिकतर हुस्न और इश्क के जलसों के लिये बनाए हैं फिर भी तुमने उनमें ऐसे साज सामान और मसाले लगाए हैं कि आने वाली पीढ़ियाँ जिस मसरफ़ के लिये भी चाहें, उनकी इमारतों के निर्माण में तुम्हारी वास्तुकला से उन्हें निदेश और सहायता मिलेगी। जिन पत्थरों पर तुमने बेलबूटे बना-

कर और गुलकारी और पच्चीकारी करके उन्हें उस इमारत में केवल वास्तु सौंदर्य के लिये लगाया है, हम उन्हें वहाँ से उखाड़ लेंगे और कृतज्ञतापूर्ण हृदय से लगाकर उन्हें आँखों से लगाएँगे और उनसे किसी ऐसे मेहराब को सुसज्जित करेंगे जो अपनी मजबूती से देश हरेक अदबी और इल्मी इमारत को मज़बूती देंगे और अपनी स्थापत्य रुचिरता से लोगों के दिल को खुश करेंगे। क्योंकि यद्यपि तुम्हारे शब्दों की बढ़िया तराशें, और उनके मनोहारी प्रयोग, तुम्हारी भावभीनी, उपमा और अलंकार रचित शैली आशिक़ाना प्रसंगों के लिये ही इस्तेमाल की गई हैं, फिर भी यदि उनका सुंदर और विवेकपूर्ण ढंग प्रयोग किया जाय तो वे सभी ज्ञान-विज्ञान के विभागों और कला विषयक साहित्य-निर्माण में हमारे तात्पर्य की अभिव्यंजना और शैली के अलंकरण में उपादेय होंगे।

हमारे पथ प्रदर्शकों ! तुमने कैसे पुनीत चरणों से यात्रा आरंभ की थी, कैसे मुबारक हाथों से पथ में दीप जलाते गए थे कि जहाँ तक ज़माना आगे बढ़ता है तुम्हारे पद चिह्न ही हमारे रहनुमा होते हैं और तुम्हारे जलाए हुए दीपों की लौ से और दिए जलते जाते हैं, और जहाँ तक हम आगे बढ़ते हैं, तुम्हारे ही पद चिह्नों के सहारे, तुम्हारे ही दीपों के प्रकाश में हम बढ़ते जाते हैं। ज़रा अपने पाक क़दमों को आगे बढ़ाओ, मैं उन्हें चूमूँ और आँखों से लगाऊँ। अपने मुबारक हाथ मेरे सिर पर रखो और मेरा सलाम क़बूल करो।

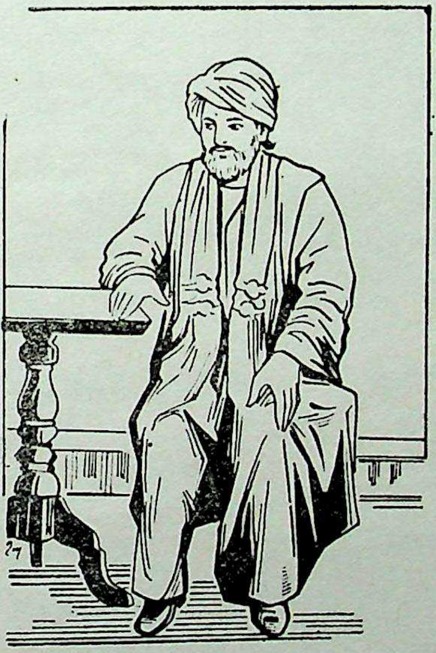

प्रो० मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद'
आबेहयात के लेखक
जन्म—१८३१ ई० । मृत्यु १९१० ई०
पृष्ठ—११

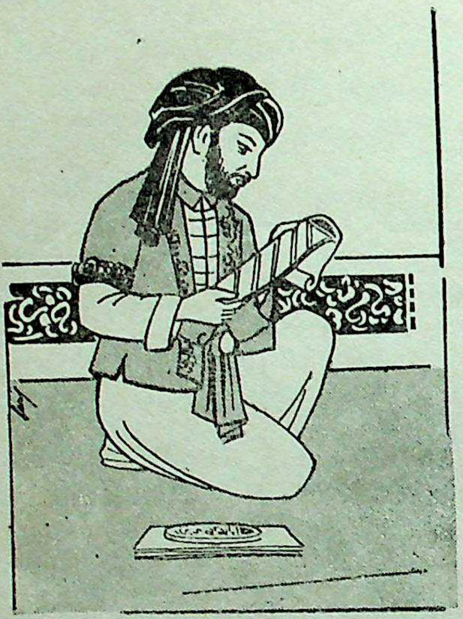

जनाब अमीर खुसरो 'देहलवी'
पृष्ठ--५७

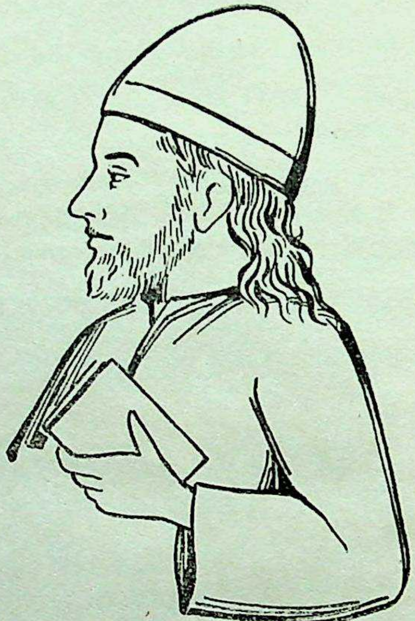

जनाब शम्स वली उल्लाह 'वली'
पृष्ठ--७२

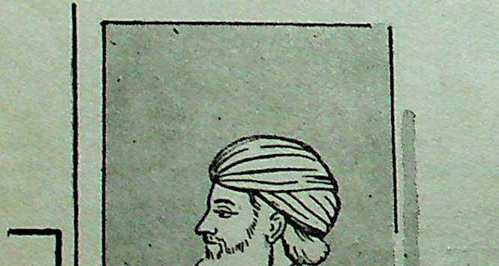

जनाब मिर्ज़ा जाने जानाँ 'मज़हर'
पृष्ठ १२६

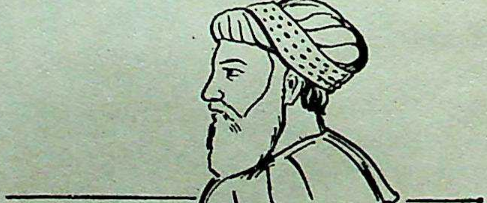

जनाब मिर्ज़ा मोहम्मद रफ़ी 'सौदा'
जन्म—११२५ हि०। मृत्यु—११९५ हि०
पृष्ठ—१३६

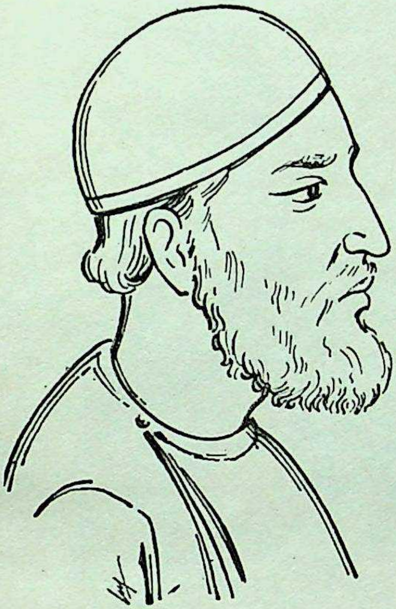

जनाब ख़्वाजा मीर 'दर्द'
मृत्यु ११२५ हि०
पृष्ठ १७४

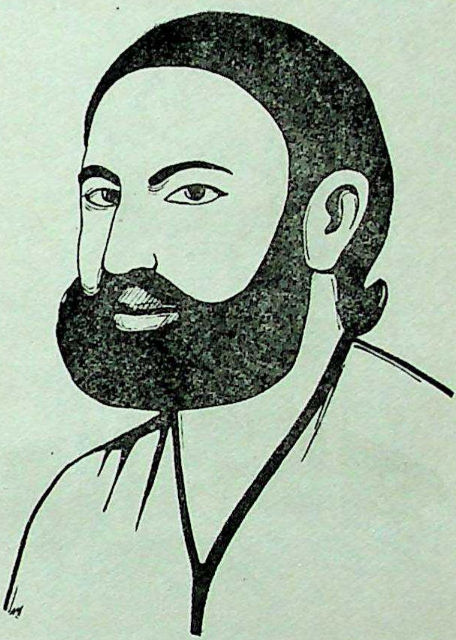

जनाब मीर मुहम्मद तक़ी 'मीर'
मृत्यु--१२२५ हि०
पृष्ठ--१६४

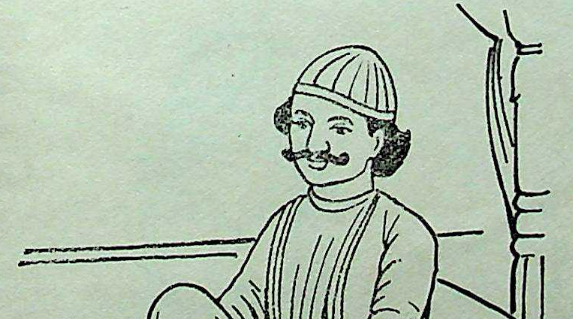

जनाब मीर ग़ुलाम हसन 'हसन'
मृत्यु—१२०१ हि०
पृष्ठ--२४८

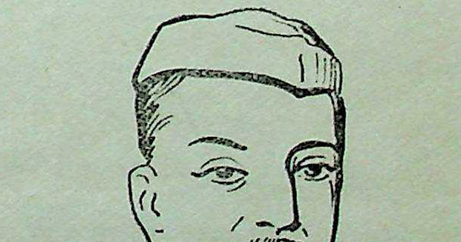

पंडित दयाशंकर 'नसीम'
पृष्ठ--२५०

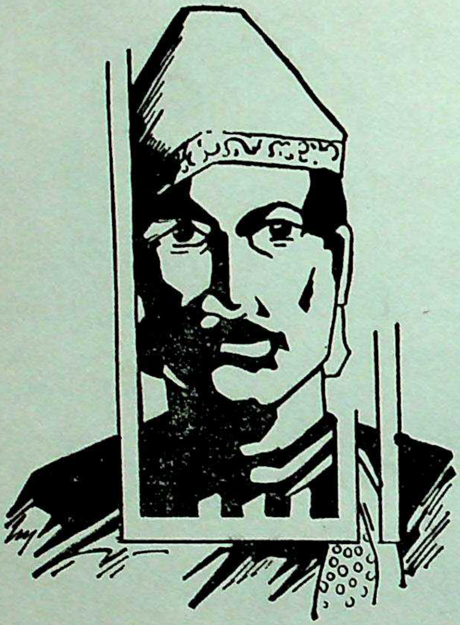

जनाब सैयद इन्शा अल्लाह खाँ 'इन्शा'
पृष्ठ--२६१

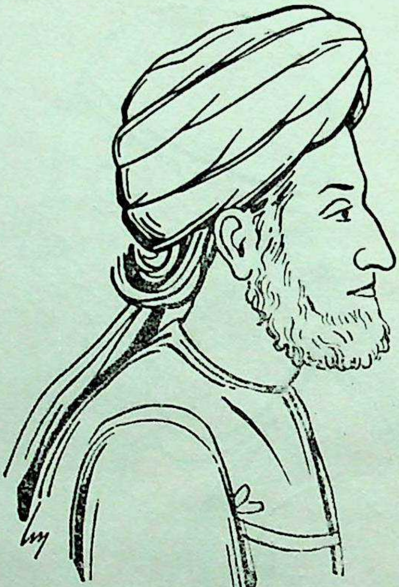

जनाब शेख़ गुलाम हम्दानी 'मस्हफ़ी'
पृष्ठ--३१०

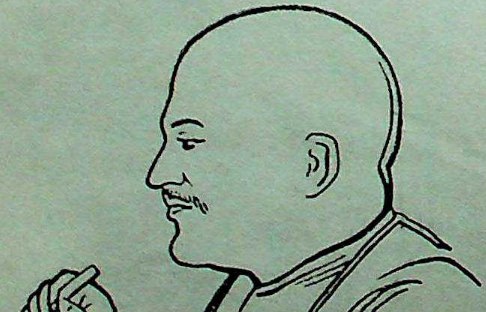

जनाब शेख़ इमाम बख़्श 'नासिख़'
पृष्ठ--३४२

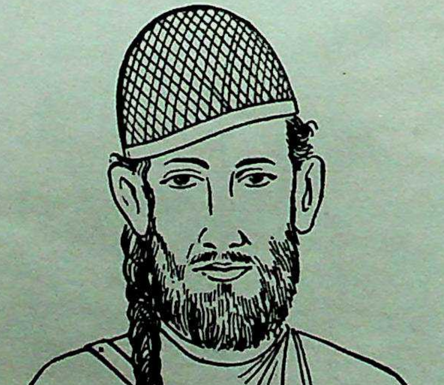

जनाब ख़्वाजा हैदर अली 'आतिश'
पृष्ठ--३८५

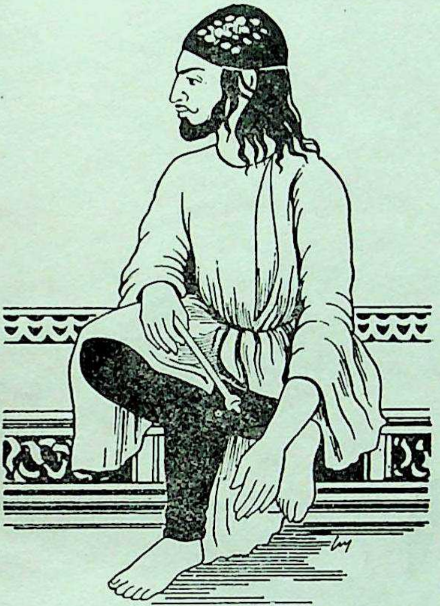

जनाब हकीम मोमिन ख़ान साहिब 'मोमिन'
पृष्ठ—४१३

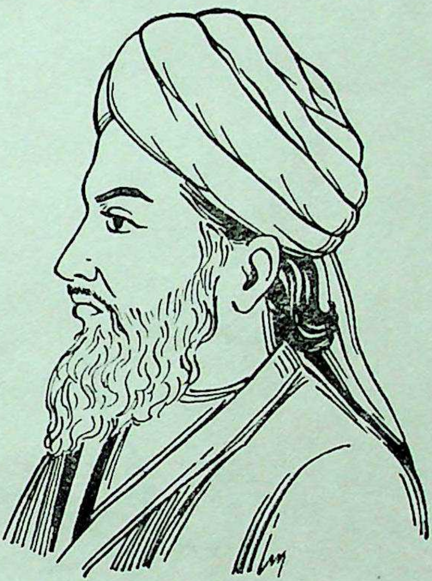

जनाब शेख़ इब्राहीम 'ज़ौक़'
जन्म १२०४ हि०
पृष्ठ—४३३

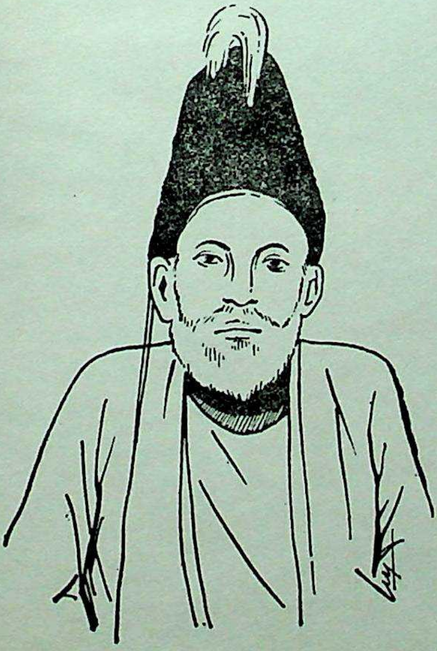

जनाब मिर्ज़ा असदुल्लाह ख़ाँ 'ग़ालिब'
मृत्यु—१२८५ हि०
पृष्ठ—४८६

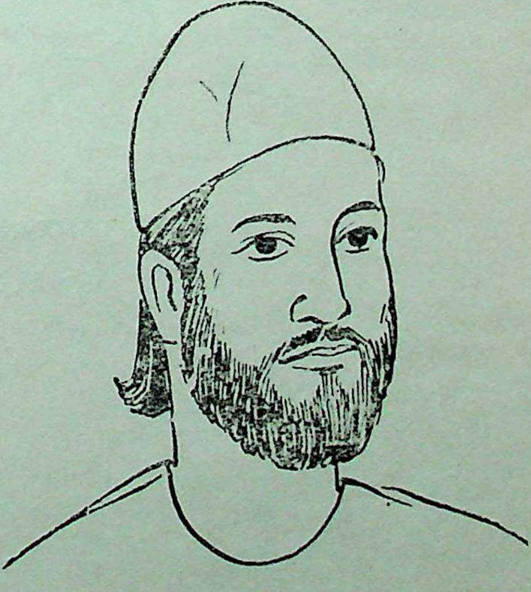

जनाब मिर्ज़ा सलामत अली 'दबीर'
मृत्यु—१२९२ हि०
पृष्ठ—५२०

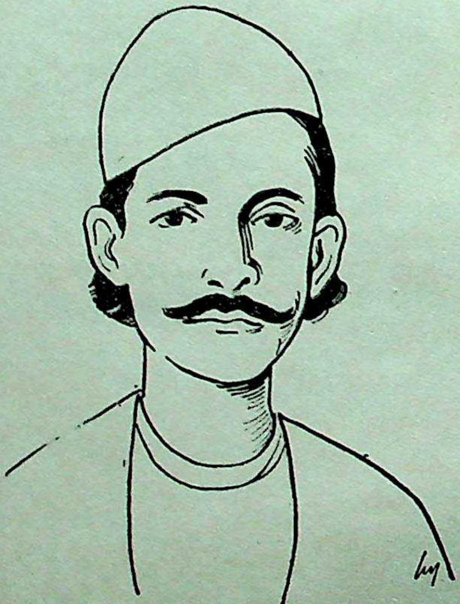

जनाब मीर बाबर अली 'अनीस'

पृ० ५२३